स्वर्गीय-श्री विनयकुमार 'रुइया' (मुम्बई) स्मारकं—

श्रीराजस्थान-संस्कृत-कालेज-ग्रन्थमालाया नवीनं कुसुमं

श्रीनारायणपण्डितविरचितः

हितोपदेशः

'अभिनवराजलक्ष्मी'-संस्कृत-टीकालङ्कृतः,

विस्तृत-भाषाटीका-विभूषितश्च।

सम्पादकः, परिष्कर्त्ता च-

आचार्यः-श्रीसीतारामशास्त्री, एम्. ए.

'व्याकरणाचार्यः', 'साहित्यरत्नम्'

प्रिन्सिपल-श्रीराजस्थान-संस्कृत-कालेज, मीरघाट, काशी।

संस्कृतटीकाकाराः-

श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिणः,

व्याकरणाचार्याः, न्यायाचार्याः, दर्शनाचार्याः,

भू० प्रिन्सिपल-श्रीराजस्थान-संस्कृत-कालेज, मीरघाट, काशी

प्रकाशक-भार्गवपुस्तकालय, गायघाट, बनारस १.

ब्रांच-कचौड़ीगली, बनारस।

तीयं संस्करणम् १०००]   १९५५   [मूल्य

मुम्बई-नगरी स्थित, भारत विदित, दानवीर-'रुइया' परिवार के

सुप्रसिद्ध, विद्यानुरागी, उदारहृदय,

'दानवीर' सेठ रामनिवासजी 'रुइया'

महोदय के

होनहार सुपुत्र, स्वर्गीय-

विनयकुमार 'रुइया'

(जिनका २४ वर्ष की स्वल्प अवस्था में ही आकस्मिक निधन २३-११-१९५२ को मुम्बई हो गया)

की

कारुणिक-स्मृति में

संस्कृत-साहित्य का यह सुप्रसिद्ध महत्त्वपूर्ण नीति ग्रन्थ

सादर समर्पित—

—टीकाकार ।

१-१-१९५५ ई०

तृतीय संस्करणकी भूमिका

महामहोपाध्याय नारायणपण्डितविरचित 'हितोपदेश' नामक जगत्प्रसिद्ध नीतिशास्त्र और बालकोपदेशशास्त्र का 'अभिनवराजलक्ष्मी' नामक सुन्दर, सरल, विस्तृत, संस्कृत टीका सहित, तथा विस्तृत, सशोधित, सरल भाषाटीका सहित यह परिवर्द्धित परिष्कृत तृतीय संस्करण संस्कृत सेवी विद्वानों तथा परीक्षार्थी छात्रों के समक्ष उपस्थित करते हुए हमें बड़ी प्रसन्नता हो रही है।

हितोपदेश का परिचय—

हितोपदेश और पञ्चतन्त्र ये दोनों ही ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनसे छोटे २ बालकों को संस्कृत भाषा का ज्ञान बड़ी ही सरलता से कराया जा सकता है। क्योंकि–इन दोनों ग्रन्थों में छोटी २ रोचक कथाएं–जो व्यावहारिक ज्ञान, लोक व्यवहार, आर्य सभ्यता, रीति, साधारणनीति, राजनीति आदि के हितकारी उपदेशों से परिपूर्ण हैं–रोचक और सरल तथा सुबोध भाषा में दी गई हैं, अत बालक इनको बड़े चाव और प्रेम से पढते हैं, और इस प्रकार कथाओं के बहाने उत्तम उत्तम उपदेश बालकों के हृदय पट पर अनायास ही अङ्कित हो जाते हैं। और उसके साथ ही साथ संस्कृत भाषा का सुदृढ संस्कार और परिचय भी उन्हें सरलता से प्राप्त हो जाता है।

इसीलिए इस ग्रन्थ का 'हितोपदेश' (हितकारी उपदेश–शिक्षा देनेवाला) यह नाम भी ग्रन्थकार ने सार्थक ही रक्खा है।

हितोपदेश की विशेषता—

इस हितोपदेश में पुरातन नीतिशास्त्रों से तथा पुराण और इतिहास आदि ग्रन्थों से नीति और व्यवहार शास्त्र के महत्त्वपूर्ण सुभाषित श्लोकों का कथाओं के प्रसङ्ग में ही बीच बीच में सुन्दर रूप से समावेश किया गया है, जिससे पढने वालों को संस्कृत के सुमधुर सुभाषितों का रसास्वाद भी अनायास ही हो जाता है, तथा साथ ही साथ राजनीति और व्यवहार की सूक्ष्मतम निगूढ ग्रन्थियों के विश्लेषण करने का प्रौढ ज्ञान भी उन्हें प्राप्त हो जाता है।

किं बहुना, इस ग्रन्थ में सम्पूर्ण नीतिशास्त्र का सारांश (निचोड) कूट २ कर भर दिया गया है, अत एव यह हितोपदेश बालक, युवा एव वृद्ध सभी के

र समान रूप से हितकारी तथा उपदेशप्रद है। इसकी संस्कृत भी इत
ल और सुबोध है, कि संस्कृत भाषा का थोड़ा सा ज्ञान रखने वाले व्यक्ति
से अनायास ही समझ सकते हैं। और कठिन स्थलों में हमारी संस्कृत टीका
हायता प्रदान करती ही है। भाषाटीका में भी मूल ग्रन्थ के भाव को सम
का पूर्ण प्रयत्न किया गया है। अत यह संस्करण सर्व साधारण के लिए बहु
लाभ की वस्तु सिद्ध होगा। और परीक्षार्थी छात्रों को तथा छोटे २ बाल
संस्कृत भाषा का अनुवाद सीखने में तथा संस्कृत भाषा में प्रवीणत
करने में भी यह पूर्ण सहायक होगा।

हितोपदेश के निर्माण का समय—

हितोपदेश के निर्माता नारायण पण्डित कब हुए और उन्होंने हितोप
बनाया-इस विषय में यद्यपि कोई पुष्ट प्रमाण तो नहीं मिलते हैं, परन्तु
में शिशुपाल वध (माघ) आदि काव्यों से भी अनेक श्लोक उद्धृत कि
अत. यह कहा जा सकता है, कि माघ के बाद ही यह हितोपदेश बन
अत. यह ग्रन्थ विक्रम सवत् ७०० के निकट ही बना होगा—ऐस
सकता है। कुछ विद्वान् इसको इससे भी पहिले का बना हुआ मानते हैं।
इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है, कि यह ग्रन्थ बहुत ही पुराना है, तथा
और विदेशों में (इग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मन, रूस, जापान, चीन, बर्मा,
अफगानिस्तान, लङ्का आदि में) इसका बहुत ही आदर और प्रचार है।
हमारी टीका टिप्पणियों से विभूषित इस ग्रन्थ की (हमारे अन्यान्य
तरह ही) उन देशों में भी बहुत माँग है। इससे उत्साहित होकर हमने इस
(तृतीय) संस्करण में टीका और टिप्पणी पूर्वापेक्षया और भी बहुत बढ़ा
इससे इसकी उपादेयता और भी बढ़ गई है।

आशा है—छात्रगण तथा विद्वान् लोग हितोपदेश के इस सर्व
नवीन संस्करण से अधिकाधिक लाभ उठावेंगे।

श्रीरामप्रधान संस्कृत कालेज
ऑगरा, बनारस
१९५५ ई०

निवेदक—
आचार्य-श्रीसीतारामशास्

ॐ

श्रीगणेशाय नमः।

श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिकृतया-
अभिनवराजलक्ष्मीटीकया, भाषाटीकया च विराजितो

हितोपदेशः ।

तस्य च मित्रलाभो नाम प्रथमं प्रकरणम् ।

❀ अथ मङ्गलाचरणम् ❀

सिद्धिः साध्ये सतामस्तु प्रसादात्तस्य धूर्जटेः ।
जाह्नवीफेनलेखेव यन्मूर्ध्नि शशिनः कला ॥ १ ॥

॥ श्रीः ॥

❀ श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिकृता-अभिनवराजलक्ष्मीः ❀

नुमोऽनवद्यसद्व्यन्यविद्योद्भासितदिङ्मुखान् ।
मरुमण्डलमार्तण्ड-स्नेहिरामाभिधान् गुरून् ॥ १ ॥
महागणपतिं ध्यात्वा, गुरून्नत्वा सतां मुदे ।
हितोपदेशगीरेषा[1] राजलक्ष्मीर्वितन्यते ॥ २ ॥

[अन्वयः] तस्य धूर्जटेः प्रसादात् सतां साध्ये सिद्धिरस्तु—यस्य (धूर्जटेः) मूर्ध्नि शशिनः कला-जाह्नवीफेनलेखेव—(शोभते)।

अथ भाषाटीका ।

जिन महादेवजी के शिर पर शुक्लपक्ष की द्वितीया के चन्द्रमा की कला गङ्गा के फेन की तरह शोभायमान होती है, उन (महादेवजी) के प्रसाद से सज्जनों के सभी कार्य सिद्ध होवें ॥ १ ॥

१. हितः=हितावहः—उपदेशः—हितोपदेशः। उपचारात्तत्प्रतिपादको ग्रन्थोऽपि हितोपदेशः। यद्वा—हित उपदेशो यस्याऽसौ हितोपदेश इति विग्रहो बोध्यः।

❀ अथ कथामुखम् ❀

अतो हितोपदेशोऽयं पाठ्यं संस्कृतोक्तिषु ।
वाचां सर्वत्र वैचित्र्यं, नीतिविद्यां ददाति च ॥ २ ॥
अजराऽमरवत्प्राज्ञो विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत् ।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् ॥ ३ ॥

सिद्धिः=अभीष्टलाभः । साध्ये=कर्त्तव्ये कर्मणि । सतां=सज्जनानाम् । प्रसादात्=कृपातः । धूर्जटेः=शिवस्य । जाह्नव्याः = गङ्गायाः, फेनाः=वारिकणाः, तेषां लेखा=पङ्क्तिः । शशिनः=द्वितीया चन्द्रमसः । कला=रेखा शिवमूर्ध्निस्थितस्य स्वच्छावदातस्य शुक्लपक्षद्वितीयाचन्द्रमसोऽत्र शिवशिरोगतगङ्गाफेनरेखामाय बाढ्यम् ॥ उपचारादन्योऽपि,

अत्र—हितः = हितावहः—उपदेशः-हितोपदेशः । ‘हितोपदेश’ इति निमहो बोध्यः ॥१॥ हितोपदेशः । यद्वा—हित उपदेशो यत्राऽसौ ‘हितोपदेश’ इति निमहो बोध्यः ॥१॥ अत इति । अय—मया वक्ष्यमाणो हितोपदेशः=तन्नामा ग्रन्थः, संस्कृतोक्तिषु=संस्कृतभाषणादिषु, पाठ्य बोधाय—ददाति । च=किञ्च=सर्वत्र = सर्वेषु विषयेषु, वाचां वैचित्र्य=नानाविधोक्तिचातुर्यञ्च,—ददाति । विद्या—नीतिविद्या = राजनीतिव्यवहारकौशलञ्च, ददाति = शिक्षयति ॥२॥

प्राज्ञः=विद्वान्, अजराऽमरवत् = जरामरणवर्जितमात्मानं मन्यमान इव विद्यां=पर्मशास्त्रादिकं, कलाकलापविज्ञान, ज्ञानञ्च, अर्थं=धनञ्च, चिन्तयेत् अभ्यसेत्, उपार्जयेत् । धर्मन्तु—मृत्युना केशेषु गृहीत इव=कालकवलित

यह हितोपदेशनामक ग्रन्थ पढ़ने वालों को संस्कृत बोलने में कुशलता है, और सब विषयों में नाना भाषाओं में बोलने की नाना प्रकार की सुन्दर रीतियाँ सिखाता है और नीतिविद्या भी सिखाता है ॥ २ ॥

बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि अपने (आत्मा) को अजर अमर समझ कर विद्या तथा धन को कमावे । परन्तु धर्माचरण के समय —को अपने सिर पर बैठी ही समझे । अर्थात्—विद्या तथा धन

सर्वद्रव्येषु विद्यैव द्रव्यमाहुरनुत्तमम्।
अहार्यत्वादनर्घत्वादक्षयत्वाच्च सर्वदा ॥ ४ ॥
संयोजयति विद्यैव नीचगाऽपि नरं सरित्।
समुद्रमिव दुर्धर्षं नृपं, भाग्यमतः परम् ॥ ५ ॥

निरा मान पश्यन् कालक्षेपमकुर्वन्सद्य एव—आचरेत्=सेवेत, पालयेच्च ॥३॥

सर्वदा=सर्वस्मिन्काले। अन्येन केनाऽपि-अहार्यत्वात्=हर्तुमशक्यत्वात्, अनर्घत्वात्=अमूल्यत्वात्, बहुमूल्यत्वादिति यावत्। अक्षयत्वाच्च=दानादिनाऽप्यक्षीयमाणत्वाच्च-सर्वद्रव्येषु=सर्वधनापेक्षया, विद्यैव-अनुत्तमं=सर्वश्रेष्ठं, द्रव्यं=धनमस्ति (-इति विद्वांसः—) आहुः=प्राहुः ॥ ४ ॥

नीचगाऽपि=निम्नगाऽपि, सरित्=नदी, समुद्रमिव=सागरमिव, विद्या एव=केवलं, नीचगाऽपि,=नीचजनस्थाऽपि सती, दुर्धर्षं=दुरासदं, दुष्प्रापं, दुर्लभदर्शनं। नृपं=राजानं, संयोजयति=तेन सह नरं सङ्गमयति। अतः परं=तेन सह समागमानन्तरं, भाग्यं=नरस्य भाग्यमेव-प्रमाणम्। भाग्यानुसारेण ततो धनरत्नादिलाभ इत्यर्थः। यथा निम्नगाऽपि कुटिलाऽपि च नदी-नौकावहित्रादिना त्याश्रितं सांयात्रिकादिकं जनं समुद्रं प्रति नयति, ततः परं भाग्यानुसारेण व्यापारिणस्ततो महोदधे रत्नादिकं लभन्ते, एवमेव नीचवंशो-

---

में तो मनुष्यको कभी सन्तोष नहीं करना चाहिए, परन्तु धर्म के संपादन करने में कभी विलम्ब भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि न जाने कब मृत्यु सिर पर आजाए ॥३॥

संसार के सब द्रव्यों से उत्तम धन विद्या ही है, क्योंकि न यह चुराई जा सकती है, न इसका कोई मोल ही लगा सकता है और न इसका कभी क्षय (नाश, घटना) ही हो सकता है ॥ ४ ॥

जैसे नदी नीचे बहने वाली भी है तो भी स्वाश्रितों को वह समुद्र से मिला देती है, उसी प्रकार यदि विद्या नीच के पास भी होवे तो भी वह

विद्या ददाति विनयं, विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति, धनाद्धर्मं, ततः सुखम् ॥ ६ ॥
विद्या शस्त्रस्य शास्त्रस्य, द्वे विद्ये प्रतिपत्तये।
आद्या हास्याय वृद्धत्वे, द्वितीयाऽऽद्रियते सदा ॥ ७ ॥

कथमपि कलाकोविदं पुरुषं विद्या राजान्तिकं प्रापयति, ततश्च भाग्यानुसारेण ततो वित्तभूम्यादिलाभो भवतीत्यतो विद्योपासना सर्वस्यैव हितावहेति भावः ॥५॥

विनयं = सौजन्यम्। पात्रता = योग्यताम्। धर्मम्। आप्नोतीति शेषः। विद्याऽभ्यासात् पुमान् विनीतो भवति। विनयेन च पात्रतां = सज्जनतां, योग्यतां च लभते। पात्रभूतः सज्जनो धनं लभते, धनाद्धर्मोपार्जनं शक्यं धर्मम्। ततः = धर्मात्, सुखम् = अनुत्तमसुखलाभो भवति। अतो विद्यैव सर्वसुखसाधनमित्याशयः ॥ ६ ॥

प्रतिपत्तये = ज्ञानाय, यशोलाभाय च—शस्त्रविद्या, शास्त्रविद्या चेति लोके द्विविधा विद्या प्रसिद्धा। तत्र आद्या = धनुर्वेदादिशस्त्रविद्या, वृद्धत्वे = वृद्धावस्थायां। [illegible] सति। हास्याय = उपहासप्रदा। द्वितीया = शास्त्रविद्या तु, सदा = सर्वास्ववस्थासु। आद्रियते = लोकैः मान्यते इत्यर्थः ॥ ७ ॥

विद्या उस मनुष्य को दुर्लभ राजा तक पहुँचा देती है। इसके बाद उस मनुष्य का जैसा भाग्य होता है, वैसा ही उसे राजा से लाभ होता है ॥५॥

और विद्या नम्रता देती है, नम्रता से मनुष्य पात्र (योग्य) बनता है पात्रता (योग्यता) से धन मिलता है, धन से धर्म प्राप्त हो सकता है और धर्म से सुख प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

विद्या दो प्रकार की है। एक शस्त्रविद्या और दूसरी शास्त्रविद्या। दोनों विद्याओं से ही लोक में प्रतिष्ठा होती है। परन्तु पहिली विद्या (शस्त्र की) वृद्धावस्था में हँसी कराती है, परन्तु दूसरी (शास्त्र) विद्या का तो सदा आदर होता है ॥ ७ ॥

यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नाऽन्यथा भवेत् ।
कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते ॥ ८ ॥
मित्रलाभः, सुहृद्भेदो, विग्रहः, सन्धिरेव च ।
पञ्चतन्त्रात्तथान्यस्माद्ग्रन्थादाकृष्य लिख्यते ॥ ९ ॥

अस्ति भागीरथीतीरे पाटलीपुत्रनामधेयं नगरम् । तत्र सर्वस्वामि-

यत् = यस्मात्कारणात्, नवे = नवीने, अपक्वे, बाले च । भाजने = शरावादौ पात्रे, पुंसि च । लग्नः = सक्तः, संस्कारः = गुणाधान, रेखादिकञ्च । न = नैव कदाचिदपि । अन्यथा भवेत् = दूरीभवति; तत् = तस्मात्कारणात्, इह = हितोपदेशे, कथाच्छलेन = शशकूर्मादिकथाव्याजेन, बालानां = बालोपदेशार्थं, नीतिः = राजनीतिर्व्यवहारनीतिश्च, कथ्यते = मया निरूप्यते । मयोपदिश्यते इति यावत् ॥ ८ ॥

इह ग्रन्थे—मित्रलाभादिनाम्ना प्रसिद्धानि चत्वारि प्रकरणानि पञ्चतन्त्राख्य-ग्रन्थात्, तथैव, अन्यस्मादपि तादृशादेव महाभारत-बृहत्कथादिनीतिग्रन्थात्, आकृष्य = आदाय, सङ्क्षिप्य च, लिख्यते = मयोपनिबध्यते ॥ ९ ॥

भागीरथीतीरे = गङ्गायास्तटे । तत्र = पाटलिपुत्रे । स्वामिनः = राज्ञः-

---

क्योंकि नवीन पात्र में तथा छोटे-छोटे बालकों में स्थापित किया हुआ (दिया हुआ) संस्कार व शिक्षण आदि कभी नष्ट नहीं होता है, इस लिये इस ग्रन्थ में कथा के बहाने से मैं बालकों के लिए नीति शास्त्र का सार निकाल कर कहता हूँ ॥ ८ ॥

यह हितोपदेश चार प्रकरणों में विभक्त है । १ मित्रलाभ, २ सुहृद्भेद, ३ विग्रह और ४ सन्धि । इन चारों प्रकरणों को सुप्रसिद्ध 'पञ्चतन्त्र' नामक ग्रन्थ से तथा और भी नीति के ग्रन्थों के आश्रय से लिखता हूँ ॥ ९ ॥

गङ्गा के तट पर पटना नाम का एक नगर है । वहाँ पर एक सुदर्शन

गुणोपेतः सुदर्शनो नाम नरपतिरासीत् । स भूपतिरेकदा केन

पठ्यमानं श्लोकद्वयं शुश्राव—

'अनेकसंशयोच्छेदि, परोक्षार्थस्य दर्शकम् ।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं, यस्य नाऽस्त्यन्ध एव सः ॥ १० ॥
यौवनं, धनसम्पत्तिः, प्रभुत्वमविवेकिता ।
एकैकमप्यनर्थाय, किमु यत्र चतुष्टयम् !' ॥ ११ ॥

गुणाः—प्रजापालनादयः—स्वामिगुणाः । सर्वे च ते स्वामिगुणाश्च-तैरुपेतः इ

त्रिमदः । सकलराजगुणालङ्कृत इत्यर्थः । नरपतिः=राजा । एकदा=एकस्मि

दनि । केनाऽपि=अज्ञातनामधेयेन । श्लोकद्वयमेतदाह—अनेकेति । अनेक

संशयान्—उच्छिनत्ति तच्छीलम्—अनेकसंशयोच्छेदि=नानाविततर्कविनाशकः

परोक्षार्थस्य=अतीतानागतार्थस्य । दर्शकं=बोधकम् । शास्त्रं सर्वस्यापि जन

लोचनं=लोचनमिव मार्गप्रदर्शकमस्ति । यस्य-पुंसः तच्छास्त्रं नास्ति,

लोचनविकलोऽन्ध एवेत्यर्थः ॥ १० ॥

यौवनं=युवावस्था । धनसम्पत्तिः=द्रविणसम्पत्तिः । प्रभुत्वम्=ऐश्वर्यम् ।

अविवेकिता=विचारहीनत्वम् । मूढता । एतदेकैकमपि पुंसाम्-अनर्थाय=विपदे

भवत् । यत्र तु पुंसि तच्चतुष्टयं भवेत्, तत्र किमु=किं नु वक्तव्यम् ! । तत्र

नूनमनर्थप्रसर इत्यर्थः ॥ ११ ॥

नाम का एक राजा राज्य करता था । उस राजा में अच्छे-अच्छे सभी गुण

विद्यमान थे । एक दिन उस राजा ने किसी अज्ञात व्यक्ति से पढ़े जाते हुए दो

श्लोकों को सुना । वे श्लोक ये हैं—

सब प्रकार के संशय को दूर करने वाला, तथा परोक्ष वस्तुओं को भी प्रत्य

कराने वाला शास्त्र ही सबका सच्चा नेत्र है और जिसके पास यह शास्त्र रू

नेत्र नहीं है, वह मनुष्य अन्धे के समान है ॥ १० ॥

युवावस्था, धनसम्पत्ति, प्रभुत्व, अज्ञान, इन चारों में एक भी अ

—इत्याकर्ण्याऽऽत्मनः पुत्राणामनधिगतशास्त्राणां नित्यमुन्मार्गगामिनां शास्त्राऽननुष्ठानेनोद्विग्नमनाः स राजा चिन्तयामास—

कोऽर्थः पुत्रेण जातेन, यो न विद्वान्न धार्मिकः।
काणेन चक्षुषा किं वा, चक्षुःपीडैव केवलम्॥ १२॥

आकर्ण्य=श्रुत्वा। आत्मनः=स्वस्य। न अधिगतानि=न अधीतानि शास्त्राणि यैस्तेषाम्। अनधीतविद्यानाम्। उन्मार्गं गच्छन्ति तच्छीलास्तेषाम्-उन्मार्गगामिनाम्=अपथप्रवृत्तानाम्। शास्त्रस्य=शास्त्रविहितकर्मणः, शास्त्राध्ययनादेर्वा-अननुष्ठानम्=अनादरः, अनाचरणं वा, तेन। उद्विग्नं मनो यस्यासौ तथा—उद्विग्नमनाः=व्याकुलचित्तः॥

कोऽर्थं इति। यः=पुत्रः, न-नैव, विद्वान्, न-नच, धार्मिकः=धर्माचरणप्रवणः, (तेन-) पुत्रेण जातेन=उत्पन्नेनापि, कोऽर्थः=किं प्रयोजनम्। काणेन=दर्शनशक्तिशून्येन, चक्षुषा=नेत्रेण, किं वा=किं नु फलम्? । न किमपि फलमित्यर्थः। केवलं=निरीनम्,-(उलटा)। चक्षुःपीडैव भवति। काणं चक्षुर्नामयेन यदा कदाचन पीडितन्तु भवति, परन्तु तेन चक्षुषा फलन्तु=चक्षुःफल दर्शनादिक—कदापि न भवति। एवं दुष्टपुत्रेण पीडैव भवति, न तु सुखमित्याशयः॥ १२॥

यस्त हो वहाँ अनर्थ (जिस मनुष्य में) ही प्रायः होता है। फिर जहाँ ये चारों एकत्र हों, वहाँ की तो बात ही क्या है?॥ ११॥

इन श्लोकों को सुनकर वह राजा बुरे मार्ग पर चलने वाले और मूर्ख अपने लड़कों की मूर्खता को यादकर व्याकुल हो उठा और विचारने लगा—

उस पुत्र के उत्पन्न होने से ही क्या लाभ है, जो न विद्वान् ही है और न धार्मिक ही है। क्योंकि कानी आँख से कोई लाभ नहीं होता, वह तो केवल पीड़ा ही देने के लिये होती है॥ १२॥

अजात-मृत-मूर्खाणां वरमाद्यौ, न चाऽन्तिमः।
सकृद्दुःखकरावाद्यावन्तिमस्तु पदे पदे ॥ १३ ॥

किञ्च—
वरं गर्भस्रावो, वरमृतुषु नैवाऽभिगमनं,
वरं जातः प्रेतो, वरमपि च कन्यैव जनिता ॥
वरं वन्ध्या भार्या, वरमपि च गर्भेषु वसति-
र्न चाऽविद्वान् रूपद्रविणगुणयुक्तोऽपि तनयः ॥

अजातेति। अजातः=अनुत्पन्नः, मृत=उत्पन्नोऽपि मृतः। मूर्खः=उत्पन्नोऽपि, जीवन्नपि जडः। एषां त्रिविधानां पुत्राणां मध्ये, आद्यौ=अजातमृतौ पुत्रौ तु, वर=किञ्चिच्छ्रेष्ठौ। 'वर'मित्यव्ययमीषदभिप्रेते। अन्तिमः=मूर्खस्तु। नच=नैव वरम्। कुत एतदत आह—सकृदिति। सकृत्=एकवारमेव। अन्तिमस्तु=मूर्खस्तु। पदे—पदे=सर्वदैव, यावज्जीवं। दुःखकर=क्लेशप्रदः ॥ १३ ॥

गर्भस्रावः=गर्भपातः। वरम्=ईषच्छ्रेष्ठ। ऋतुषु=भार्याया ऋतुकाले अभिगमनम्=उपसर्पणम्। जातः=उत्पन्नमात्र एव, प्रेतः=मृतः। यद्वा प्रेत मृत एव। जातः=उत्पन्न इत्यर्थः। गर्भेषु=कुक्षावेव, वसतिः=निवासः। अ[...] सन एव बालस्य गर्भस्थस्येत्यर्थः। रूपद्रविणगुणयुक्तोऽपि=रूप धनयुतो [...] यावनेकगुणशीलोऽपि, अविद्वान्=मूर्खः, तनयः=पुत्रः, न वरम्=नैव पुत्र [...]

अयं श्लोको न सर्वत्रोपलभ्यतेऽतः प्रक्षिप्तोऽयमिति मन्यामहे।

जो लड़का उत्पन्न ही न हो, अथवा उत्पन्न होकर भी तत्काल ही मर [...] या मूर्ख हो, इन तीनों में से पहले के दो अर्थात् जो उत्पन्न ही नहीं हु[आ] [अ]थवा उत्पन्न होकर मर गया है, ये दोनों तो कुछ अच्छे हैं, परन्तु अ[न्तिम] (मूर्ख) पुत्र तो कभी अच्छा नहीं है, क्योंकि प्रथम दो पुत्र तो एकही बार दु[ःख देते] हैं, परन्तु अन्तिम (मूर्ख) तो सदा दुःखदाई होता है ॥ १३ ॥

और चाहे गर्भपात हो जाए, अथवा पुत्रोत्पत्ति के लिए ऋतुकाल में स्त्री के पास गमन ही न किया जाए, या जन्मता ही पुत्र मर जाए, या

किञ्च—

स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ।
परिवर्त्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ? ॥ १४ ॥
गुणिगणगणनाऽऽरम्भे न पतति कठिनी [1]सुसम्भ्रमाद्यस्य ।
तेनाऽम्बा यदि सुतिनी ! वद वन्ध्या कीदृशी [2]भवति ? ॥ १५ ॥

सः = स एव पुत्रः । जातः = सुजातः । येन जातेन सता वंशः = आत्मकुलं, समुन्नतिं = ख्यातिमौन्नत्यञ्च, याति—भजते । परिवर्त्तिनि = परिवर्त्तनशीले, संसारे = अनादावस्मिन्संसारे, को न जायते, कश्च न म्रियते ? । कोटिशो जीवा अस्मिञ्जगति प्रत्यहमुत्पद्यन्ते, विलीयन्ते च, स एव तु सुजन्मा धन्यजीवितो यस्य जन्मना स्वकुलं महीयते इत्याशयः ॥ १४ ॥

गुणीति । गुणिनां = विदुषां ये गणाः = सङ्घाः, तेषां गणनायाः = सङ्कलनायाः, आरम्भे = प्रारम्भावसरे, यस्य = यस्य पुंसो नामनि, कठिनी = खटिनी, लेखनसाधनमिति यावत् । ('खड़िया' 'कलम' 'पेंसिल' इति भाषा)। सुसम्भ्रमात् = सम्भ्रमविशेषेण, सहर्षेणेति यावत् । न पतति = लेखाधारे काष्ठपट्टे, पत्रादौ वा तन्नामोल्लेखार्थं न झटिति प्रसरति । तस्य = पुंसः अम्बा = माता, यदि = यदा, सुतिनी = पुत्रवतीति कथ्यते लोके । यद्वा सा आत्मानं पुत्रवती यदि मनुते । (तर्हि—), वन्ध्या = अपुत्रा, कीदृशी = का खलु, भवति = भण्यते, इति वद ! = कथय तावत् ? । एवञ्च गुणिसमवाये यस्य पुंसः शोभनं यशो वर्त्तते, स एव सुजन्मेति हृदयम् । इतर तु खलु वन्ध्या—

वन्ध्या ही उत्पन्न हो, या सन्तान गर्भ में ही रहे, गर्भ से बाहर उत्पन्न ही न हो, यह सब ठीक है, पर मूर्ख पुत्र यदि सुन्दर भी हो तो भी वह ठीक नहीं है ।

और इस जगत् में उसी का जन्म लेना सरल है, जिसके जन्म से अपने वंश और जाति की उन्नति होती है । अन्यथा (इस तरह तो) इस परिवर्तनशील संसार में कौन नहीं जीता और मरता है ॥ १४ ॥

और गुणियों की गिनती के आरम्भ में जिसके नाम पर सबसे पहले सहसा

१. 'सुसम्भ्रमा यस्य' पा० । २. 'कीदृशी नामे'ति पाठान्तरम् ।

यच—

दाने, तपसि, शौर्ये च यस्य न प्रथितं यशः ।
विद्यायामर्थलाभे च मातुरुच्चार एव सः ॥ १६ ॥

अपरञ्च—

वरमेको गुणी पुत्रो, न च मूर्खशतान्यपि[1] ।
एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति, न च तारागणोऽपि[2] च ॥ १७ ॥

यस्य पुत्रस्य सत्समवाये आदौ गणना न भवति, अथो यस्य नाम सकलजनाऽति-
शायि न भवति, न तु पुत्ररहितैव केवलं वन्ध्येति भावः ॥ १५ ॥
पाद्येति । तपसि = धर्माचरणादौ । शौर्ये = वीरत्वे । अर्थलाभे = धनोपार्जने
च । यस्य = पुंसः । मनः = चित्तं, न प्रथितं = न प्रस्तुतम् । 'यश' इति तु शोभनः
पाठः । स मातुः = जनन्याः, उच्चार एव = मलमेव । नासौ पुत्रः, किन्तु
मातुर्विष्ठैव स इत्यर्थः । तादृशस्य पुंसो जन्म वृथैवेत्याशयः ॥ १६ ॥
यामिति । एकोऽपि गुणी पुत्रो, वरं = श्रेष्ठः । किन्तु मूर्खशतान्यपि =
मूर्खपुत्राणां शतमपि, न च = नैव वरम् । तथा हि—एकोऽपि सूर्यः—तमः
अन्धकारम् । हन्ति = नाशयति । तारागणः = नक्षत्रकोटीरपि, न च = नैव
नाशयितु प्रभवतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

लोगों की कलम न उठे, उस पुरुष के जन्म से भी यदि उसकी माता पु
कहलावे, तो कहो फिर वन्ध्या किसे कहेंगे ? ॥ १५ ॥
और भी—जिस मनुष्य का धन-दान, तपस्या, वीरता, विद्या तथा धनो
में न हुआ, वह मनुष्य केवल माता के मल के समान है ॥ १६ ॥
और भी—१०० भी मूर्ख पुत्रों की अपेक्षा एक ही पुत्र गुणी हो तो भी
अच्छा है, देखो बहुत से तारागणों से अन्धकार दूर नहीं होता है, पर चन्द्रमा
अकेला ही उसे दूर कर देता है ॥ १७ ॥

---

१. 'न च मूर्खशतैरपि' पा० । २. 'न च तारागणैरपी ति' 'न च तारा-
गणाऽन्यदि' इति च पाठान्तरम् । तत्र 'न चे'त्यस्य 'हन्ती'ति सम्बन्धो बोध्यः ।

पुण्यतीर्थे कृतं येन तपः क्वाऽप्यतिदुष्करम् ।
तस्य पुत्रो भवेद्वश्यः, [1]समृद्धो, धार्मिकः, सुधीः ॥१८॥

अर्थाऽऽगमो नित्यमरोगिता च,
प्रिया च भार्या, प्रियवादिनी च ।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या,
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ! ॥ १९ ॥

को धन्यो बहुभिः पुत्रैः कुशूलाऽऽपूरणाऽऽढकैः ।
वरमेकः कुलाऽऽलम्बी, यत्र[2] विश्रूयते पिता ॥२०॥

पुण्येति । येन क्वापि पुण्यतीर्थे अति दुष्कर = कठिनं तपः कृतं, तस्य पुण्यात्मनः पुत्रः—वश्यः = वशंवदः, समृद्धः = गुणगणाऽलङ्कृतो धनी च, धार्मिकः = धर्मात्मा, सुधीः = विद्वांश्च भवति । अतिमहतस्तपसः फलमेतद्यत्पुत्रो विद्वान् विनीतश्च भवतीति भावः ॥ १८ ॥

अर्थेति । राजन् = हे युधिष्ठिर ! नित्यं = निर्बाधः, अर्थागमः = धनागमः, (नित्यम्—) अरोगिता = शरीरसौख्यं, स्वास्थ्यम्, प्रियवादिनी = मधुरभाषिणी, प्रिया = इष्टा भार्या, वश्यः = अनुकूलः । अर्थकरी = धनकरी । एतानि षट् जीवलोकस्य = मर्त्यलोकस्य । जीवानामिति वा । सुखानि = सुखावहानि ॥ १९ ॥

क इति । कुशूलाऽऽपूरणाढकैः = धान्यकोष्ठकपूरणाऽसमर्थैराढकपात्रैरिव स्व-

---

जिस मनुष्य ने किसी पुण्यतीर्थ में कठिन तपस्या की है, उसीका पुत्र—आज्ञाकारी, धनी, धार्मिक तथा विद्वान् होता है ॥ १८ ॥

हे राजन् ! संसार में केवल छः ही सुख हैं । १ नित्य धनप्राप्ति, २ आरोग्यता, ३ प्रियतमा भार्या, ४ मधुर बोलने वाली स्त्री, ५ आज्ञाकारी पुत्र, तथा ६ धन देने वाली विद्या ॥ १९ ॥

जैसे किसी ने कहा भी है—अन्न की कोठी (ओबरी, कोठला) को भरने

---

1. 'सुशीलो धार्मिक' इति पाठान्तरं शोभनम् । २. 'येन' पा० ।

ऋणकर्ता पिता शत्रुर्माता च व्यभिचारिणी ।
भार्या रूपवती शत्रुः, पुत्रः शत्रुरपण्डितः ॥ २१ ॥
अनभ्यासे विषं विद्या, अजीर्णे भोजनं विषम् ।
विषं सभा दरिद्रस्य, वृद्धस्य तरुणी विषम् ॥ २२ ॥

ल्पाशयैस्तुच्छैः, बहुभिः पुत्रैरपि, को धन्यः=श्रेष्ठो धनवांश्च भवति ? । न कोऽपीत्यर्थः । किन्तु—एकः कुलालम्बी=कुलालम्बभूतः पुत्रः, वरं=श्रेष्ठः, यत्र=यस्मिन् पुत्रे जाते सति (येन वा पुत्रेण), पिता विश्रूयते=लोके महीयते, 'धन्यः' इति लोके मण्यते ॥ कुशूलं=धान्यापनम्; ('ओनरी' 'बखारी' इति प्रसिद्धम्) । आढकम्=आढकपरिमितं धान्यपात्रम् (प्रायः अढाई सेरका पात्र वर्त्तन) । धन्यः=धनवान्, श्रेष्ठश्च ।

परे तु—कुशूलाऽऽपूरणसमर्थैः—नारीनाहादिपरिमितैः, आढकपरिमितैश्च पुत्रैः—पुत्रस्थानीयधान्यादिभिः, कः=कः पुमान्, धन्यः='धनी'ति गण्यते ? न कोऽपीत्यर्थः । कुशूलादिमितेनापि धान्यराशिना न कोऽपि धन्यतां लभते परन्तु—एकेन कुलदीपकेन रत्नादिना—कौस्तुभमणिना सागर इव—पिता=जनकः रत्नाकरश्च—धन्यः=धनी श्रेष्ठश्च भवतीत्यर्थमाहुः ॥ २० ॥

ऋणेति । व्यभिचारिणी=परपुरुषरता । शत्रुः—शत्रुरिव, अपयशोहेतुत्वात् । रूपवती—सुन्दरी । भार्या=पत्नी, शत्रुः—शत्रुरिव, विवादेर्ष्यादिहेतुत्वात् । अपण्डितः=मूर्खः ॥ २१ ॥

अनभ्यासे सति—विद्या—विषं=विषवद्दुःखप्रदा, अपमानप्रदानात्, जीविता-

से असमर्थ धान्यपात्रों (अढैया, पसेरी आदि नाप के पात्रों) के समान बहुत से पुत्रों से क्या लाभ है, वंश की सराहना कराने वाला तो एक ही पुत्र अच्छा है, जिससे पिता की प्रसिद्धि और प्रशंसा होती हो ॥ २० ॥

ऋण करने वाला पिता शत्रुतुल्य है, व्यभिचारिणी माता शत्रु तुल्य है, रूपवती स्त्री भी शत्रुतुल्य है और मूर्ख पुत्र भी शत्रुतुल्य है ॥ २१ ॥

बिना अभ्यास के विद्या भी विष है, अजीर्ण होने पर भोजन भी विष है,

यस्य[1] कस्य प्रसूतोऽपि गुणवान्पूज्यते नरः।
[2]धनुर्वंशविशुद्धोऽपि निर्गुणः किं करिष्यति ? ॥ २३ ॥
हा हा पुत्रक ! नाऽधीतं गतास्वेतासु[3] रात्रिषु ।
तेन त्वं विदुषां मध्ये पङ्के गौरिव सीदसि ! ॥ २४ ॥

पदारकत्वात्सन्तापजनकत्वाच्च ॥ २२ ॥

यस्येति । यस्य कस्य=अज्ञातकुलशीलस्य, अकुलीनस्यापि । प्रसूतः=तत उत्पन्नः। संबन्धसामान्यविवक्षया षष्ठी । वंशविशुद्धिरहितोऽपीति यावत् । गुणवान्=गुणी तन्तुयुतो, मौर्वीयुतश्च । पूज्यते=सत्क्रियते, आद्रियते च । वंशविशुद्धोऽपि=श्रेष्ठवंशनिर्मितमपि, धनुः=कोदण्ड, निर्गुणः=ज्यारहितम्, गुणशून्यश्च । किं करिष्यति=किं लक्ष्यं हन्तुं समर्थो भवति ?, नैव । अतो गुणा एव आदरस्थानमित्याशयः ॥ २३ ॥

अनुकम्पितः पुत्रः-पुत्रकः, तत्सम्बुद्धौ रूपम् । एतासु=वृथाऽपयातासु । सीदसि=क्लेशमनुभवसि । शास्त्राऽनभ्यासात् ॥ २४ ॥

दरिद्र मनुष्य के लिए सभी संसार ही विष तुल्य है और वृद्ध पुरुष के लिए उसकी युवती स्त्री भी विष के समान ही है ॥ २२ ॥

गुणी मनुष्य चाहे किसी कुल में उत्पन्न हो, सर्वत्र पूजित ही होता है, परन्तु यदि अच्छे कुल में उत्पन्न होकर भी मनुष्य निर्गुण हो, तो वह क्या कर सकता है, किस काम का है ? जैसे धनुष अच्छे बाँस का बना होने पर भी यदि उसमें गुण (तांत या डोरी) न हो तो वह क्या काम कर सकता है ? कुछ भी नहीं। यहाँ वंश शब्द के दो अर्थ हैं, बांस और कुल ॥ २३ ॥

हे पुत्र ! खेद है कि तुमने बाल्यकाल की बीती हुई रात्रियों में कुछ नहीं पढ़ा, इसीलिए विद्वानों की मण्डली में आज तुम्हारी यह दशा हो रही है, जो दशा कीचड़ में फँसी हुई गाय की होती है ॥ २४ ॥

---

१. 'यत्र कुत्र' पा० । २. 'धनुर्वंशोऽपि' । ३. 'सुगतैतासु' इति पाठः ।

तत्कथमिदानीमेते मम पुत्रा गुणवन्तः क्रियन्ताम् ? ।

आहार-निद्रा-भय-मैथुनञ्च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥२५॥

यत.—

धर्माऽर्थ-काम-मोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते ।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम् ॥ २६ ॥

इदानीं = सम्प्रति । गुणवन्तः = विद्याविनयवन्तः ॥

आहारश्च, निद्रा च, भयञ्च, मैथुनं = रतिश्च—एषां समाहारः—आहार-निद्राभयमैथुनम् । एतत्—नराणां = पुंसां, पशुभिः = गवादिभिः पशुभिः, सामान्यं = तुल्यमेव । हि = यतः । तेषां = नराणाम् । धर्मः = विद्याविनय-धर्माचारादिरेव, अधिकः = असदृशः, तत्राऽवर्तमानः । विशेषः = भेदकः । धर्मेण हीनाः = रहिताः, नरास्तु—पशुभिः समानाः = पशुतुल्या एवेत्यर्थः ॥२५॥

यतः = यस्मात्कारणात् । (क्यों कि) । धर्मार्थकाममोक्षाख्यपुरुषार्थचतुष्टयस्य मध्ये । यस्य—पुंसः एकोऽपि पुरुषार्थः—धर्मादिरूपो न विद्यते, तस्य पुंसः-जन्म = जनन अजागलस्तनस्येव = अजागलस्थितस्तनवल्लम्बमानचर्मखण्डस्येव, निरर्थकं = निष्फलमेव । धर्महीनस्य जायमानस्य पुंसो दुग्धादिरहितचर्मखण्डवत् व्यर्थमेव जन्मेत्याशयः ॥ २६ ॥

अतः किस तरह मेरे ये पुत्र अब भी गुणवान् और विद्वान् बनाये जायँ । क्योंकि—भोजन, नींद, भय और मैथुन ये चार बातें तो मनुष्यों के पशुओं में समान ही हैं, मनुष्य में केवल धर्म (गुण) ही अधिक है, इस लिए धर्महीन (विद्या विनय आदि गुणों से रहित) मनुष्य पशु के समान है ॥ २५ ॥

क्योंकि—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चारों में से जिसके पास एक भी नहीं है, उस मनुष्य का जन्म वैसे ही व्यर्थ है, जैसे बकरी के गले का स्तन (गले में लटकने वाली थैली) ॥ २६ ॥

यथोच्यते—

'आयुः, कर्म च, वित्तं च, विद्या, निधनमेव च।
पञ्चैतान्यपि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः'॥ २७॥

किञ्च—

अवश्यं भाविनो भावा भवन्ति महतामपि।
नग्नत्वं नीलकण्ठस्य, महाऽहिशयनं हरेः'॥ २८॥

अपि च—

यदभावि न तद्भावि, भावि चेन्न तदन्यथा'।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते ?–'॥२९॥

यच्च = यत्तु। 'इत्थं कैश्चिदुच्यते' इति शेषः। अस्य च 'तत्तु कार्याऽक्षमस्य वचन' मित्यग्रिमेणान्वयः।

आयुरिति। आयुः = जीवितकालः, कर्म = जीविकासाधन कर्म, शुभाऽशुभ-माचरणं वा। वित्तं = धनम्। निधनम् = मृत्युः। गर्भस्थस्य = कुक्षिस्थस्यैव। देहिनः = प्राणिनः॥ २७॥

किञ्च = यच्च। 'तदपि कार्याऽक्षमाणामलसानामालस्यवचन'मित्यग्रिमेणा-ऽन्वयः। भावाः = भवितव्यानि। नीलकण्ठस्य = शिवस्य। नग्नत्वं = दिगम्बर-त्वम्। हरेः = विष्णोः, महाहिशयनं = शेषशय्या॥ २८॥

यदिति। यत् = सुखादि, अभावि = न भावि, तत् = न भावि = प्रयत्न-

कुछ लोग जो कहा करते हैं कि—जब मनुष्य गर्भ में रहता है तभी उसकी आयु, कर्म (व्यवसाय), धन, विद्या और मृत्यु का समय ये निश्चित हो जाते हैं॥२७॥

और भी—जो बात अवश्य होने वाली है, वह तो अवश्य ही होती है, उसको तो कोई भी नहीं हटा सकता है। इसमें शिवजी का नग्न रहना और विष्णु का शेषनाग की शय्या पर सोना ही प्रमाण है। अर्थात् यद्यपि ये दोनों संसार के प्रभु हैं, तथापि इनके प्रारब्ध में यही विडम्बना लिखी है॥ २८॥

और भी—जो बात नहीं होने वाली है, वह कभी नहीं होगी और जो होने

—एतत् कार्याऽक्षमाणां केषाञ्चिदालस्य[1]वचनम् ।
न दैवमपि[2] सञ्चिन्त्य त्यजेदुद्योगमात्मनः ।
अनुद्योगेन तैलानि तिलेभ्यो नाऽऽप्तुमर्हति ॥ ३० ॥

सहस्रधाऽपि भङ्क्तुं न शक्यते । चेत्=यदि, भावि=सुखदुःखादिकं भावि तत्—भाविसुखादि । न अन्यथा=न दूरीकर्त्तुं शक्यम् । इति=इत्येव, चिन्ता एव विषं, तद्घ्नन्तीति चिन्ताविषघ्नः=चिन्ताविषापहारी, अगदः=औषधं, किं न=कुतो न । पीयते=सेव्यते । यद्भावि तद्भविष्यत्येव, यच्च न भावि तन्न भविष्यत्येव, दैवाधीनमेव सर्वं, तत्र किं वृथा चिन्तयाऽऽयासेन चेत्याशयः ॥२६॥

एतत्='आयुः कर्म च' (श्लो० २७) इत्यारभ्य 'यद्भावि' (श्लो० २६) इत्यन्तैः श्लोकैर्यदुक्तं दैवस्य बलवत्त्वं तत्, कार्याऽक्षमाणाम्=परिश्रमोद्योगक्लेशाऽसहिष्णूनामलसानाम्, आलस्यसूचकं वचनम्–आलस्यवचनम्=आलस्यवाक्यमेव । एतच्च नैव प्रमाणं भवितुमर्हति । पुरुषार्थेन तु यथावदुद्योग एव कर्त्तव्य इत्याशयः । 'आलस्यवचन'मिति कुत एतदित्यत आह–नेति । दैवमस्ति, तदेव सर्वं कार्यसाधकमिति–सञ्चिन्त्य=विभाव्य, आत्मनः=आत्माधीनम्, उद्योगं=पुरुषार्थं, न त्यजेत् । यतः—अनुद्योगेन=उद्योगविकलेन, आलस्येन च गृहकोणस्थितेभ्योऽपि तैलपूर्णेभ्योऽपि तिलेभ्यः—तैलानि—आप्तुं=प्राप्तुं,

वाली है, यह किसी प्रकार मिट नहीं सकती है इस विचाररूपी औषध को—कि सब चिन्ताओं को नाश करने वाली है—लोग क्यों नहीं पाते हैं ? ॥२६॥

—ये पूर्वोक्त आलस्ययुक्त वचन उन लोगों के हैं, जो कि कार्य करने में असमर्थ हैं और आलसी हैं ।

अतः बुद्धिमान् मनुष्य को अपना उद्योग कभी नहीं छोड़ना चाहिए । क्योंकि बिना उद्योग के किये तो तिल से तेल भी नहीं निकल सकता है ॥३०॥

---

१. 'आलस्यनिरसनं वचन'मिति क्वचित् पाठस्तु शोभन एव ।

२. 'दैवमिति' पा० ।

अन्वय—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
'र्दैवेन देय'मिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या,
यत्ने कृते यदि न सिध्यति, कोऽत्र दोषः ? ॥२१॥

योग्यो भवति । उद्योगाऽभावे हि गृहकोणस्थतिलेभ्योऽपि तैललाभो न भवति, किं पुनरभ्युदयसम्पत्तिसुखादिलाभः । एवञ्च दैवस्य आशां विहाय, पुरुषेण उद्योगोऽवश्यं विधेय इत्यर्थः ॥ २० ॥

अन्वय=किञ्च (और भी) । 'कैश्चिदुक्त' मिति शेषः ।

उद्योगिनमिति । उद्योगशीलं—(पुरुषः सिंह इव—पुरुषसिंहस्तं—) पुरुषसिंहं=सिंहवद्विक्रमशालिनं पुरुषश्रेष्ठं । लक्ष्मीः=सम्पत्तिः । सफलता । स्वयमेव=स्वत एव । उपैति=आगच्छति । 'दैवेनैव देयं सर्वं सुखं दुःखं चेति तु—' कापुरुषाः=उद्योगशक्तिशून्याः कातरा एव, वदन्ति=कथयन्ति, न शूराः । अतो दैवम्=अदृष्टं, निहत्य=तन्मुखप्रेक्षितां विहाय, तदुपेक्ष्येति वा । पौरुषम्=उद्योगं—कुरु । अथ यत्ने=उद्योगे कृते सति, यदि=चेत्, कार्यं न सिध्यति, तर्हि, अत्र=अस्मिन् विषये, कः=को वा पुंसो दोषः, नैव कश्चिद्दोष इत्यर्थः । यद्वा—अत्र=यत्ने एव कः=कोऽपि दोषः=त्रुटिरस्तीति विभाव्यम्, अन्यथा बलवति यत्ने सति अवश्यमेव कार्यं भवत्येवेत्यवधेयमित्यन्ये व्याचक्षते ॥ २१ ॥

और भी—उद्योगशील पुरुषसिंह के पास स्वयं ही लक्ष्मी आती है । 'धन भाग्य से ही मिलता है'—यह तो कायर पुरुष ही कहा करते हैं । इसलिये मनुष्य को भाग्य का भरोसा छोड़कर अपनी शक्ति के अनुसार उद्योग करना चाहिये, यदि उद्योग करने पर भी कार्य की सिद्धि न होवे तो इस उद्योग में क्या दोष है, इसका विचार करो । अर्थात्—देखो कि तुम्हारे इस उद्योग में क्या त्रुटि है, न कि उद्योग को ही छोड़ दो ॥ २१ ॥

यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत् ।
एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति ॥ ३२ ॥

च—

पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते ।
तस्मात्पुरुषकारेण यत्नं कुर्यादतन्द्रितः ॥ ३३ ॥
यथा मृत्पिण्डतः कर्त्ता कुरुते यद्यदिच्छति ।
एवमात्मकृतं कर्म मानवः प्रतिपद्यते ॥ ३४ ॥

यथा एकेन चक्रेण=रथाङ्गेन, रथस्य गतिर्न भवेत्=न भवति, एवं पुरुषकारेण=सहायभूतेन पौरुषेण विना, दैवम्=केवलमदृष्टं, न सिध्यति=नैव फलतीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

पूर्वेति । पूर्वजन्मनि कृतं यत् कर्म—तत्=तदेव, 'दैव'पदवाच्यम्, इतोऽन्यद्दैवं नाम किञ्चिदपि नास्ति । तस्मात्=पुरुषकारेण विना दैवस्य सिद्धेरभावात् पुरुषकारेण=पुरुषार्थमाश्रित्य—अतन्द्रितः=आलस्यवर्जितः, सावधानः सन् पुमान् यत्नं कुर्यात् ॥ ३३ ॥

यथेति । यथा मृत्पिण्डतः—कर्त्ता=कुलालः—यद्यत्=शरावोदञ्चनघटादिकम्, इच्छति=कर्तुं वाञ्छति, तत्तत्—कुरुते=स्वप्रयत्नेन सम्पादयति, एवं=

जैसे एक चक्र से रथ नहीं चल सकता है, उसी प्रकार उद्योग के बिना केवल भाग्य से ही सिद्धि नहीं हो सकती है ॥ ३२ ॥

क्योंकि पूर्वजन्म में किया हुआ कर्म ही दूसरे जन्म में भाग्य कहा जाता है इसलिये मनुष्य को पुरुषार्थ (उद्योग, कर्म) करना ही चाहिए ॥ ३३ ॥

जैसे कुम्हार मिट्टी के पिण्ड से जो जो वस्तु चाहता है, अपनी इच्छा

काकतालीयवत्प्राप्तं दृष्ट्वाऽपि निधिमग्रतः ।
न स्वयं दैवमादत्ते, पुरुषार्थमपेक्षते ॥ ३५ ॥
उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि, न मनोरथैः ।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥ ३६ ॥

पादितया रीत्या, आत्मकृतमेव कर्म = कर्मफलम्, घटादिकञ्च, मानवः=कर्ता, द्यते = लभते, प्राप्नोति ॥ ३४ ॥

काकेति । काकस्याऽऽगमनमिव, तालस्य पतनमिव—काकतालं, काकतालमिव तालीयं=सहसोपनतम् । तद्वत्—काकतालीयवत्=काकागमनेन तालपतनवद्-त्=दैववशात्-प्राप्तं=लब्धं, निधिम्=शेवधिम् = (खजाने को) । अग्रतः= ः, दृष्ट्वाऽपि, दैवं = भाग्यं, स्वतः = स्वयम्, न आदत्ते=न गृह्णाति, किन्तु— ने—पुरुषार्थं = हस्तचालनादिकं पुरुषव्यापारम्, अपेक्षते = आश्रयते एव । रमपेक्षते एव ॥ ३५ ॥

उद्यमेनेति । उद्यमेन = उद्योगेन । मनोरथैः = 'ममेदं भवतु' 'सिध्यतु ममेद'- ादिमनोरथमात्रेण । 'कार्याणि न सिध्यन्ती'ति शेषः । हि = यतः सुप्तस्य वितस्यापि सिंहस्य, मुखे = वदने स्वयमेवागत्य—मृगाः = पशवः—न प्रविशन्ति, । तदर्थं सिंहोऽपि यत्नं करोति । एवमेव सर्वैरपि यत्नो विधेयः ॥ ३६ ॥

सार बनाता है, उसी प्रकार मनुष्य अपने किये हुए कर्म के अनुसार ही पाता है ॥ ३४ ॥

काकतालीय न्याय से (अर्थात् अकस्मात्, भाग्य से) सामने प्राप्त हुए को भी उठाकर रखने में पुरुषार्थ की जरूरत रहती ही है ॥ ३५ ॥

क्योंकि—कार्य की सिद्धि उद्योग से ही होती है, केवल इच्छामात्र से नहीं । कि सोये हुए भूखे सिंह के मुख में मृग स्वयं नहीं चले जाते हैं, किन्तु उसको शिकार पकड़ने के लिए यत्न करना ही होता है ॥ ३६ ॥

मातापितृकृताभ्यासो गुणितामेति बालकः ।
न गर्भच्युतिमात्रेण पुत्रो भवति पण्डितः ॥ ३७ ॥
माता शत्रुः, पिता वैरी येन¹ बालो न पाठितः ।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा ॥ ३८ ॥
रूपयौवनसम्पन्ना, विशालकुलसम्भवाः ।
विद्याहीना न शोभन्ते, निर्गन्धा इव किंशुकाः ॥ ३९ ॥

मातेति । मात्रा च पित्रा च कृतः=कारितः अभ्यासो येनासौ=मातापितृकृताभ्यासः=मातापितृभ्यां कारिताभ्यासः । 'आनङृत' इत्यानङ् । 'मातृपित्रि'ति पाठस्तु न शोभनः । बालकः=पुत्रः—गुणितां=विद्वत्त्वं, गुणवत्त्वञ्च, एति=प्राप्नोति । लभते । केवलं गर्भच्युतिमात्रेण=जन्मग्रहणमात्रेण । पुत्रः=बालकः, पण्डितो न भवति ॥ ३७ ॥

मातेति । येन=पित्रा । स बालः सभामध्ये=विदुषां समवाये । हंसमध्ये बक इव । न शोभते=न प्रतिष्ठां लभते । 'बाल्या'मिति पाठान्तरम् ॥ ३८ ॥

रूपेति । रूपेण=सौन्दर्येण, शरीरकान्त्या च, यौवनेन=युवत्वेन वपुःसंहननादिना च । सम्पन्नाः=शोभिता अपि, किञ्च—विशालकुलसम्भवाः=महाकुलप्रसूता अपि; विद्याहीनाः=मूर्खाः—निर्गन्धाः=सुरूपा अपि गन्धशून्याः, किंशुकाः=पलाशकुसुमानीव, न शोभन्ते=लोके न विराजन्ते ॥ ३९ ॥

माता पिता के अभ्यास कराने से ही बालक गुणी होता है । जन्मते ही कोई पण्डित नहीं हो जाता है । अतः बालकों को उत्तम शिक्षा देनी चाहिए ॥ ३७ ॥

वे पिता माता शत्रु हैं, जिन्होंने अपने बालक पुत्र को नहीं पढ़ाया । क्योंकि हंसों के बीच में बगुले की तरह वह मूर्ख बालक भी विद्वानों के बीच में कभी शोभा नहीं देता है ॥ ३८ ॥

अच्छे कुल में उत्पन्न, सुन्दर, युवा मनुष्य भी विद्याहीन होने से निर्गन्ध पलाश (ढाक) के फूल के समान शोभा नहीं पाते हैं ॥ ३९ ॥

१. 'दन्ना' पा० ।

मूर्खोऽपि शोभते तावत्सभायां वस्त्रवेष्टितः ।
तावच्च शोभते मूर्खो यावत्किञ्चिन्न भाषते ॥ ४० ॥

एतच्चिन्तयित्वा स राजा पण्डितसभां कारितवान् ।

राजोवाच—'भो भोः पण्डिताः ! श्रूयताम् । अस्ति कश्चिदेवम्भूतो विद्वान् यो मम पुत्राणां नित्यमुन्मार्गगामिनामनधिगतशास्त्राणामिदानीं नीतिशास्त्रोपदेशेन पुनर्जन्म कारयितुं समर्थः ? । यतः—

काचः काञ्चनसंसर्गाद्धत्ते मारकतीं द्युतिम् ।
तथा सत्संनिधानेन मूर्खो याति प्रवीणताम् ॥ ४१ ॥

मूर्ख इति । सभायां=विद्वद्गोष्ठ्याम् । तावत्=निश्चयेन । वस्त्रवेष्टितः= महार्घपट्टवस्त्रावृतः, (दुशाला ओढे हुए) । भाषते=वदति ॥ ४० ॥

एवंभूतः=ईदृशः । उन्मार्गगामिनाम्=मर्यादारहितानामपथप्रवृत्तानाम् ।

काच इति । काञ्चन-सुवर्णम् । मारकतीं=मरकतमणिसम्बन्धिनीं, तत्तुल्यामिति यावत् । [मरकतः=पन्ना] । प्रवीणतां=कुशलतां, पाण्डित्यञ्च ॥४१॥

विद्वानों की सभा में अच्छा कपडा पहन कर कदाचित् मूर्ख भी शोभता है, परन्तु वह तभी तक शोभता है, जब तक वह कुछ बोलता नहीं है । अर्थात् उसके बोलते ही उसकी योग्यता (मूर्खता) मालूम हो जाती है ॥ ४० ॥

इस तरह विचार कर उस राजा ने पण्डितों की एक सभा की । और उसने सब पण्डितों से पूछा कि—आप लोगों में कोई ऐसा योग्य विद्वान् है, जो बुरे रास्ते पर चलने वाले मेरे इन मूर्ख पुत्रों को भी नीतिशास्त्र का उपदेश देकर इनका द्वितीय जन्म करा दे, अर्थात् इन्हें सुधार कर विद्वान् कर दे ।

क्योंकि—जैसे काच भी सुवर्ण के सम्बन्ध से मरकतमणि (पन्ना) की सी शोभा को पाता है, इसी प्रकार सज्जनों के संसर्ग से मूर्ख भी चतुर हो जाता है ॥ ४१ ॥

उक्तञ्च—

हीयते हि मतिस्तात ! हीनैः सह समागमात् ।
समैश्च समतामेति, विशिष्टैश्च विशिष्टताम् ॥ ४२ ॥

अत्राऽन्तरे विष्णुशर्मनामा महापण्डितः सकलनीतिशास्त्रतत्त्व बृहस्पतिरिवाऽब्रवीत्—'देव ! महाकुलसम्भूता एते राजपुत्राः, तन्नीतिं ग्राहयितुं शक्यन्ते । यतः—

नाऽद्रव्ये निहिता काचित्क्रिया फलवती भवेत् ।
न व्यापारशतेनाऽपि शुकवत्पाठ्यते बकः ॥ ४३ ॥

हीयते इति । 'तात'इति सम्बोधनम् । हे वत्स ! । हीनैः=अधमैः, म
समैः=स्वात्मतुल्यैः, विशिष्टैः=स्वस्मादधिकैः । विशिष्टता=वैदुष्यं, महत्त्वञ्च ॥
अत्रान्तरे=अस्मिन्नवसरे । तत्त्वज्ञः—रहस्यवित् । बृहस्पतिरिव=बृहस्पति
देव=हे राजन् । ग्राहयितुं=पाठयितुं, बोधयितुञ्च ।
नेति । अद्रव्ये=अयोग्ये, अपात्रे च । निहिता=योजिता, स्थापिता च,
क्रिया=संस्कारः, विद्या च । फलवती=सफला । व्यापारशतेनापि=उपायशते-
नापि । बकः—न अयम्—पाठ्यते=पाठयितुं शक्यते ॥ ४३ ॥

किसी ने कहा भी है कि—'हे तात ! नीचों के सङ्ग-साथ से मनुष्य की बुद्धि हीन हो जाती है, और अपने बराबर बुद्धिमानों के साथ से बुद्धि साधारण रहती है, और अपने से बड़े लोगों के सङ्ग से मनुष्य की बुद्धि उत्कृष्ट (उन्नत) होती है' ॥ ४२ ॥

राजा की बातें सुनकर बृहस्पति के समान सब नीतिशास्त्र के तत्त्व को जानने वाले श्रेष्ठ विद्वान् विष्णुशर्मा कहने लगे कि हे राजन् ! ये राजकुमार उत्तम कुल में उत्पन्न हुए हैं, इसलिये मैं इन कुमारों को नीतिशास्त्र का उपदेश देकर चतुर बना सकता हूँ ।

क्योंकि—अयोग्य पदार्थ में कोई भी सुधार सफल नहीं होता है। देखो—अनेक उपाय करने पर भी कोई भी बगुले को शुक (सुग्गे) की

अन्वय—

अस्मिंस्तु निर्गुणं गोत्रे नाऽपत्यमुपजायते ।
आकरे पद्मरागाणां जन्म काचमणेः कुतः ? ॥ ४४ ॥

अतोऽहं षण्मासाऽभ्यन्तरे तव पुत्रान्नीतिशास्त्राभिज्ञान्करिष्यामि' ।

राजा सविनयं पुनरुवाच—

'कीटोऽपि सुमनःसङ्गादारोहति सतां शिरः ।
अश्माऽपि याति देवत्वं महद्भिः सुप्रतिष्ठितः' ॥ ४५ ॥

अस्मिन्निति । अस्मिन्=भवतां प्रसिद्धे । गोत्रे=वंशे । राजकुले । निर्गुणं=गुणशून्यम्, अपत्यं=तोक, पुत्र इति यावत् । न उपजायते=नोत्पद्यते । यतः पद्मरागमणीनाम् (चुन्नी) । आकरे=खनौ । काचमणेः=काचस्य, जन्म=उत्पत्तिः । कुतः=कस्माद्धेतोर्भवति, नैव संभवतीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

अतः=यतः सत्कुलप्रसूता होते अनायासेन शिक्षयितुं शक्या अतः ।

कीट इति । कीटः=भृङ्गादिः । पामरश्च । सुमनःसङ्गात्=पुष्पसम्बन्धात् । विद्वत्सङ्गाच्च । सतां=सज्जनानां, भद्राणां । शिरः=मस्तकमपि । आरोहति=तत्तुल्यो भवति । अश्मा=पाषाणः । महद्भिः=विद्वद्भिः, श्रेष्ठैश्च । सुप्रतिष्ठितः=स्थापितः ॥ ४५ ॥

वरह कभी नहीं पदा सकता है ॥ ४३ ॥

परन्तु इस (आपके) वंश में मूर्ख सन्तति हो ही नहीं सकती है । जैसे पद्मरागमणि ('लाल' 'चुन्नी') की खान से कभी काच की उत्पत्ति नहीं होती है ॥४४॥

इसलिये हे राजन् ! छः मास के भीतर ही मैं आपके इन पुत्रों को नीतिकुशल बना दूँगा ।

तब वह राजा नम्रतापूर्वक उनसे कहने लगा कि—

पुष्पों के साथ होने से कीड़ा भी बड़े लोगों के सिर पर चढ़ जाता है । और बड़े लोगों से आदर प्रतिष्ठा पाकर पत्थर भी देवता बन जाता है ॥ ४५ ॥

अन्यच्च—

यथोदयगिरेर्द्रव्यं संनिकर्षेण दीप्यते ।
तथा सत्संनिधानेन हीनवर्णोऽपि दीप्यते ॥ ४६ ॥

गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति,
ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः ।
आस्वाद्यतोयाः प्रवहन्ति नद्यः,
समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः ॥ ४७ ॥

तदेतेषामस्मत्पुत्राणां नीतिशास्त्रोपदेशाय भवन्तः प्रमाणम् ।'

यथेति । उदयगिरेः=उदयपर्वतस्य, द्रव्यं=पाषाणवृक्षादिक वस्तुजातमपि दीप्यते=सूर्यसम्पर्कात्प्रकाश्यते । हीनवर्णः=नीचः । दीप्तिरहितोऽपि । दीप्यते=शोभते, प्रकाशते च ॥ ४६ ॥

गुणा इति । गुणाः=दयादाक्षिण्यसत्कुलप्रसूतत्वादयः । गुणज्ञेषु=गुणिजनसमवधाने । गुणा भवन्ति=गुणत्वं वहन्ति । ते=गुणाः । निर्गुणं=गुणशून्यम् । आसाद्य=प्राप्य । दोषा भवन्ति । आस्वाद्यं तोयं यासां ताः—आस्वाद्यतोयाः=सुपेयपानीयाः, मधुरजलाः । प्रवहन्ति=प्रचरन्ति । 'प्रभवन्ती'ति पाठेऽपि स एवार्थः । अपेयाः=क्षारोदकाः । एवञ्च त्वत्सन्निधानेन (भवत्सङ्गेन) मुग्धा मत्पुत्रा विद्वांसो भविष्यन्तीत्याशयः ॥ ४७ ॥

और भी—जैसे उदयाचल की सभी वस्तु सूर्य के समीप होने से चमकने लगती हैं, उसी तरह सज्जनों के संसर्ग से मूर्ख भी विद्वान् हो जाते हैं ॥ ४६ ॥

क्योंकि गुणी मनुष्य के सम्बन्ध से गुण गुण ही रहते हैं, अर्थात् उनका आदर होता है। पर वे ही गुण निर्गुण मनुष्य के सम्बन्ध से दोष हो जाते हैं। देखो, नदियों का जल स्वभाव से ही स्वादिष्ट होता है, परन्तु वही जल जब समुद्र में जाकर पड़ता है, तो वह खारा हो जाता है ॥ ४७ ॥

इसलिये इन मेरे पुत्रों को नीतिशास्त्र के उपदेश के लिये आप स्वतन्त्र

इत्युक्त्वा तस्य विष्णुशर्मणो बहुमानपुरःसरं पुत्रान् समर्पितवान्।

॥ इति कथामुखम् ॥

अथ मित्रलाभः।

अथ प्रासादपृष्ठे सुखोपविष्टानां राजपुत्राणां पुरस्तात्प्रस्तावक्रमेण स पण्डितोऽब्रवीत्—

'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन च मूर्खाणां, निद्रया, कलहेन वा' ॥ १ ॥

प्रमाणम्=स्वतन्त्राः। यथा भवद्भ्यो रोचते तथा पाठनीया इमे, नात्र मम किमपि वक्तव्यमस्तीत्याशयः। त्वदधीना इमे राजपुत्रा अद्यारभ्य मया कृता इति यावत्।

मित्रस्य लाभः-मित्रलाभः। तमधिकृत्य कृतः परिच्छेदः-उपचारान्मित्रलाभः। 'इन्द्रार्था स्थूणा-इन्द्र' इति व्यवहारवत्। यद्वा-मित्रस्य लाभो यत्रेति विग्रहः। प्रासादपृष्ठे=राजभवनोपरितले। (प्रासाद=महल, पृष्ठ=छत)। सुखेन उपविष्टाः=सुखोपविष्टास्तान्, तेषां=निराकुलं स्थितानाम्। पुरस्तात्=अग्रे। प्रस्तावक्रमेण=कथाप्रसङ्गेन। (बातों ही बातों में, 'बातचीत के प्रसङ्ग में')। सः=विष्णुशर्मा।

काव्येति। काव्यञ्च शास्त्रञ्च-काव्यशास्त्रे, ताभ्यां यो विनोदस्तेन। यद्वा-काव्यमेव शास्त्रन्तेन विनोद इति विग्रहः। काव्यशास्त्रपर्यालोचनेनेत्यर्थः। धीमतां=विदुषां। कालः=जीवितसमयः। गच्छति=सुखं याति। मूर्खाणान्तु

है, जैसे चाहें वैसे इन्हें शिक्षा दें। ऐसा कहकर राजा ने बड़े आदर से अपने लड़कों को विष्णुशर्मा को सौंप दिया।

एक दिन ये राजपुत्र महलकी छत पर बैठे थे, उस समय बातचीत प्रसङ्ग में विष्णुशर्मा उनसे कहने लगे, कि—हे राजपुत्रो! सुनो।

बुद्धिमान् मनुष्यों का समय काव्यों व शास्त्रों के विचार में ही बीतता है, परन्तु मूर्खों का समय तो व्यसन (बुरे काम) एवं निद्रा तथा झगड़ों में ही बीतता है॥१॥

सद्भवतां विनोदाय काककूर्मादीनां विचित्रां कथां कथयामि'।

राजपुत्रैरुक्तम्—'आर्य ! कथ्यताम्।'

विष्णुशर्मोवाच—'शृणुत ! सम्प्रति मित्रलाभः प्रस्तूयते। यस्यायमाद्यः श्लोकः—

> 'असाधना, वित्तहीना, बुद्धिमन्तः, सुहृत्तमाः।
> साधयन्त्याशु कार्याणि काककूर्ममृगाऽऽखुवत्' ॥ २ ॥

राजपुत्रा ऊचुः—कथमेतत् ?।

विष्णुशर्मा[1] कथयति—

अस्ति गोदावरीतीरे विशालः शाल्मलीतरुः। तत्र नाना-

व्यसनेन=द्यूतमद्यपानादिव्यसनेन। किञ्च—निद्रया=स्वापेन, कलहेन=विवादेन च। कालो गच्छति ॥ १ ॥

विनोदाय=हर्षाय, कालक्षेपाय च। आर्य=पूज्य !। (आर्य=श्री, श्रजी)। सम्प्रति=इदानीम्। प्रस्तूयते=प्रारभ्यते। यस्य=मित्रलाभस्य। अयम्=वक्ष्यमाणः।

असाधना इति। असाधनाः=उपकरणवर्जिताः। वित्तहीनाः=धनवर्जिताः, (अपि—) बुद्धिमन्तः=मनीषिणः, सुहृत्तमाः=परस्परहितैषिणः, परस्परं मित्रतां गताः सहृदयाः, आशु=शीघ्रम्। काककूर्ममृगाखुवत्=वायस-कच्छप-मृगाखुवत् ॥ २ ॥

एतत्=असाधनैः काककूर्मादिभिराशु कार्यसाधनम्—कथम्=सम्भवति ?।

सः=विष्णुशर्मा।

अतः आप लोगों के मन को बहलाने के लिये मैं कौआ, कछुआ इत्यादि की विचित्र कथाओं को कहता हूँ।

राजपुत्रों ने कहा—हे आर्य ! (जी), आप अवश्य कहिये।

विष्णुशर्मा बोले—सुनो, अब मैं पहले मित्रलाभ की कथाओं को प्रारम्भ करता हूँ। जिसका पहला श्लोक (उपदेश वाक्य) यह है—

उपायरहित, धनहीन पर बुद्धिमान् और दृढ मैत्री वाले पुरुष अपने कार्यों

---

१. 'गोदावरीतीरे' इति पाठान्तरम्।

दिग्देशादागत्य रात्रौ पक्षिणो निवसन्ति। अथ कदाचिदवसन्नायां रात्रावस्ताचलचूडावलम्बिनि भगवति कुमुदिनीनायके चन्द्रमसि, लघुपतनकनामा वायसः कृतान्तमिव द्वितीयमटन्तं व्याधमपश्यत्।

तमवलोक्याऽचिन्तयत्—अद्य प्रातरेवाऽनिष्टदर्शनं जातं, न जाने

विशालः=विस्तीर्णः। शाल्मलीतरुः=शाल्मलीपादपः (सेमलका वृक्ष)। तत्र=तस्मिन् तरौ। नानादिग्देशात्=नानादिगवस्थितेभ्यो देशेभ्यः। कदाचित्=कस्मिंश्चिद्दिने (किसी दिन)। अवसन्नाया-विगलितायां, विशीर्णायां। प्रभातप्रायायामिति यावत्। अस्ताचलचूडावलम्बिनि=अस्तपर्वतशिखरारूढे सति। अस्तंपाते इति यावत्। कुमुदिनीनायके=कैरविणीवल्लभे। चन्द्रमसि=इन्दौ। वायसः=काकः। प्रबुद्धः=सुप्तोत्थितः सन्। द्वितीयम्=अपरं। कृतान्तमिव=यमराजमिव। अटन्तं=जीवविनाशाय भ्रमन्तम्। पाशहस्त=जालहस्तम्। व्याधं=लुब्धकम्। तं=व्याधम्। अद्य=अस्मिन्दिने (आज)। प्रातरेव=उषस्येव। अनिष्टदर्शनम्=अप्रियवस्तुदर्शनम्। अनभिमतम्=अनिष्टम्। दर्श-

---

को उसी प्रकार शीघ्र सिद्ध कर लेते हैं, जैसे कि उन कौआ, कछुआ, मृग और चूहों ने किया था ॥ २ ॥

राजपुत्र बोले—यह कथा कैसे है ?। विष्णुशर्मा कहने लगे कि—

गोदावरी नदी के तट पर एक विशाल सेमर का पेड़ है। वहां रात्रि में चारों तरफ से आकर पक्षिगण निवास करते हैं। एक दिन रात के बीत जाने पर कुमुदिनीनायक चन्द्रमा जब अस्ताचल पर चले गये, तब लघुपतनक नाम के एक कौए ने उठते ही यमराज की तरह भयङ्कर व सामने आते हुए एक व्याध (बहेलिए) को देखा।

उसको देखकर वह सोचने लगा कि 'आज प्रातः काल ही यह अनिष्ट दर्शन हुआ है, न जाने आज क्या होगा'। ऐसा विचार कर वह कौआ उसके पीछे-पीछे घबड़ाया हुआ चलने लगा।

किमनभिमतं दर्शयिष्यति ?' । इत्युक्त्वा तदनुसरणक्रमेण व्याकुलश्चलितः । यतः—

शोकस्थानसहस्राणि, भयस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति, न पण्डितम् ॥ ३ ॥

अन्यच्च विषयिणामिदमवश्यं कर्त्तव्यम्—

उत्थायोत्थाय बोद्धव्यं महद्भयमुपस्थितम् ।
मरणव्याधिशोकानां किमद्य निपतिष्यति ? ॥ ४ ॥

अथ तेन व्याधेन तण्डुलकणान्विकीर्य जालं विस्तीर्णम् ।

यिष्यति = उपस्थापयिष्यति । अभिमतदर्शनं—कर्तुं । अनुसरणक्रमेण = व्याधानुसरणपरिपाट्या । तमनुसरन्निति यावत् । व्याकुलः = चिन्तातुरः ।

शोकेति । सहस्रशः शोककारणानि । शोकावसरा इत्यर्थः । भयस्थानशतानि = शतशो भयहेतवः । दिवसे-दिवसे = प्रतिदिनमेव । मूढं = मूर्खमेव । आविशन्ति = आश्रयन्ते, व्याकुलं कुर्वन्ति । परन्तु पण्डितं = विद्वांसन्तु, न = नैव आविशन्ति ॥ ३ ॥

विषयिणां = विषयानुरक्तानां । गृहस्थानामिति यावत् । कर्तव्यमाह-उत्थायेति । उत्थायोत्थाय = मुहुः प्रबुध्य । उपस्थितं = प्राप्तं । महद्भयं = महाभीतिः बोद्धव्यं = ज्ञातव्यम् । किं ज्ञातव्यमत आह—मरणेति । निपतिष्यति = आपतिष्यति ॥ ४ ॥

क्योंकि—मूर्ख मनुष्य के सामने तो प्रतिदिन हजारों शोक के स्थान एवं सैकड़ों भय के स्थान (अवसर) उपस्थित हुआ ही करते हैं । परन्तु उनसे मूर्ख लोग ही विचलित होते हैं, पण्डित नहीं ॥ ३ ॥

और भी—संसारी जीवों को प्रतिदिन उठकर विचारना चाहिये और सावधान रहना चाहिए कि आज मृत्यु शोक भय आदि विपत्तियों में से कौन विपत्ति आनेवाली है ? । अर्थात् न जाने कब कौन विपत्ति आ जाए, अतः बुद्धिमान् मनुष्य को उसके लिए सदा सावधान रहना चाहिए ॥ ४ ॥

स च प्रच्छन्नो भूत्वा स्थितः। तस्मिन्नेव काले चित्रग्रीवनामा कपोतराजः सपरिवारो वियति विसर्पंस्तांस्तण्डुलकणानवलोकयामास। ततः कपोतराजस्तण्डुलकणलुब्धान्कपोतान्प्रत्याह—'कुतोऽत्र निर्जने वने तण्डुलकणानां सम्भवः ?, तन्निरूप्यतां तावत्, भद्रमिदं न पश्यामि। प्रायेणानेन तण्डुलकणलोभेनाऽस्माभिरपि तथा भवितव्यम्—

'कङ्कणस्य तु लोभेन मग्नः पङ्के सुदुस्तरे।
वृद्धव्याघ्रेण सम्प्राप्तः पथिकः स मृतो यथा'। ५ ॥

विस्तीर्य=विस्तारितम्। प्रच्छन्नः=सुगूढः। वियति=आकाशे। विसर्पन्=गच्छन्, उड्डीयमानः। तण्डुलकणलुब्धान्=तण्डुलखण्डभक्षणोत्सुकान्। सम्भवः=प्राप्तेः सम्भावना। निरूप्यता=सम्यग्विलोक्यताम्। तावत्=प्रथमम्। तथा भवितव्य' मित्यस्य—'पथिकः स मृतो यथे'त्यनेन 'कङ्कणस्ये'ति श्लोकस्येन सहान्वयः।

कङ्कणस्येति। हस्तभूषणविशेषस्येत्यर्थः। (हाथ कंगन)। सुदुस्तरे=अतिदुस्तरे। पङ्के=कर्दमे। ('कीचड़' 'दलदल') ॥ ५ ॥ सः=कपोतराजः।

इसके बाद उस बहेलिये ने चावल के कणों (दानों) को छींट कर अपना जाल फैला दिया और पास में ही कहीं छिपकर बैठ गया। उसी समय अपने परिवार के साथ आकाश में जाते हुए चित्रग्रीव नामक कबूतरों के राजा की नजर उन चावल के कणों पर पड़ी। तब वह कपोतराज चित्रग्रीव तण्डुलकण लोभी कबूतरों से बोला कि—इस निर्जन वन में भला चावल के कणों की सम्भावना कहाँ ?। अतः इसको अच्छी तरह देखना चाहिये। मैं तो इसमें कल्याण नहीं समझता हूँ। प्रायः इन चावल के कणों के लोभ से हम लोगों की भी वैसाही दशा होगी,—

जैसे कि एक पथिक की कङ्कण के लोभ से गहरे कीचड़ में फँस जाने पर

कपोता ऊचुः—कथमेतत्? । सोऽब्रवीत्—

(१) वृद्धव्याघ्र-लुब्धविप्र-कथा

अहमेकदा दक्षिणारण्ये चरन्नपश्यम्—एको वृद्धव्याघ्रः स्नात
कुशहस्तः, सरस्तीरे ब्रूते—'भो भोः पान्थाः ! इदं सुवर्णकङ्कणं गृह्यताम्
ततो लोभाऽऽकृष्टेन केनचित्पान्थेनाऽऽलोचितं—'भाग्येनैतत्सम्भव
किन्त्वस्मिन्नात्मसन्देहे प्रवृत्तिर्न विधेया' । यतः—

अनिष्टादिष्टलाभेऽपि न गतिर्जायते शुभा ।
यत्राऽऽस्ते विषसंसर्गोऽमृतं तदपि मृत्यवे ॥ ६ ॥

कुशहस्तः = दर्भपवित्रपाणिः । आलोचितं = मनसि विचारितम् । भाग्येन
= अनुकूलेन विधिना । एतत् = रत्नाभरणलाभादिकम् । अस्मिन् = सुवर्णकङ्कण
प्रदाने । आत्मसन्देहे = जीवितसंशयप्रदे ।
अनिष्टादिति । अशुभोपायात्, अयुक्तेन मार्गेण, दुष्टाद्वा पुंसः । गतिः =
परिणतिः । शुभा = कल्याणकरी । यत्रेति । विषसंपृक्तममृतमपि मृत्युप्रदं
भवतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

और उसे बूढ़े व्याघ्र के द्वारा पकड़ जाने पर हुई थी (वह मारा गया था) ॥५॥
ये कबूतर बोले—महाराज ! यह कहानी कैसे है ? । कपोतराज कहने लगा—
एक समय मैं दक्षिण के जङ्गल में चर रहा था, तो मैंने देखा कि एक बू
बार स्नान कर, हाथ में कुशा लेकर, तालाब पर कह रहा है कि 'हे पथिक
इस सोने के कङ्कण को लो' । इसके बाद एक पथिक (बटोही) आया और स
से आकृष्ट हो सोचने लगा कि 'ऐसी चीजें बड़े भाग्य से प्राप्त होती हैं' । (
सोचकर—) परन्तु इसमें जीवन का भी सन्देह है, इसलिये इसमें प्रवृत्त
नहीं चाहिए ।
क्योंकि—अनिष्टकारक—(शत्रु) से इष्ट वस्तु मिलने पर भी उसका
...ाम अच्छा नहीं होता है । जैसे अमृत में विष का संसर्ग हो तो वह अमृ

किन्तु सर्वत्रार्थोऽर्जने प्रवृत्तौ सन्देह एव । तथा चोक्तम्—

'न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति ।
संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति, पश्यति' ॥ ७ ॥

तन्निरूपयामि तावत् ।'

प्रकाशं ब्रूते—'कुत्र तव कङ्कणम् ?' । व्याघ्रो हस्तं प्रसार्य दर्शयति । न्योऽवदत्—'कथं मारात्मके त्वयि विश्वासः ? ।

व्याघ्र उवाच—'शृणु रे पान्थ ! प्रागेव यौवनदशायामहमतिदुर्वृत्त ासम् । अनेकगोमानुषाणां वधान्मे पुत्रा मृता, दाराश्च । वंशहीनश्चाहम् । तः केनचिद्धार्मिकेणाऽहमादिष्टः—

इत्थं विमृश्य, पुनर्लोभाकृष्टः स पान्थः कङ्कणं जिघृक्षुर्विभावयति–किन्त्विति । र्थार्जने=धनोपार्जने, तदुपाये च । सन्देहः=जीवितसन्देहः ।

नेति । संशयं=सङ्कटं, प्राणसन्देहम् । अनारुह्य=अननुभूय, अनवाप्य च । द्राणि=श्रेयांसि, सुखं, धनादिसम्पत्तिश्चेति यावत् । पुनः=किन्तु । संशयं= ीवनयद्धाम् । जीवति=जीवन्नेव संशयदोलाया यदि उत्तरति तर्हि—पश्यति= ावश्यं भद्राणि पश्यतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

तस्मात्=जीवितसंशयमारुह्यैव शुभस्य, सम्पदाञ्च लाभस्य सम्भवाद्धेतोः । ावत्=आदौ । निरूपयामि=विलोकयामि, तत्त्वमेतस्य जानामि । प्रकाशं= र्वश्राव्यं । स्पष्टतरमुच्चैः स्वरेणेति यावत् । दर्शयति=कङ्कणं प्रदर्शयति । मारात्मके=मृत्युरूपे, क्रूराशये, हिंस्रस्वभावे । 'मारोऽनङ्गे मृतौ विघ्ने'इत्य-

---

ी मृत्यु का ही कारण होता है ॥ ६ ॥

(पुनः मन ही मन कुछ विचारकर–) किन्तु सब जगह धन कमाने के उपाय ो सन्दिग्ध ही होते हैं । कहा भी है—

मनुष्य बिना संशय में पड़े कभी लाभ नहीं उठा सकता है, यदि संशय में पड़ कर भी जीता बच जाता है, तो वह (लाभ का) सुख भोगता है ॥ ७ ॥

'दानधर्मादिकं चरतु भवान्' इति। तदुपदेशादिदानीमहं स्नानशीलो, दाता, वृद्धो, गलितनखदन्तः कथं न विश्वासभूमिः ? । यतः—

> इज्याऽध्ययनदानानि, तपः सत्यं, धृतिः, क्षमा ।
> अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याऽष्टविधः स्मृतः ॥ ८ ॥

क्वथः। प्रागेव=इतः पूर्वमेव। यौवनदशायां=युवाऽवस्थायाम्। अतिदुर्वृत्तः=नितरां दुष्कर्मा। धार्मिकेण=केनापि धर्मोपदेशकेन, सदाचारेण वा। आदिष्टः=अनुशिष्टः, उपदिष्टो वा।

आदेशमेवाह—दानेति। धर्मः=तीर्थसेवनादिरूपः। आदिपदेन-दयादानादिकं ग्राह्यम्। स्नानशीलः=नित्यं तीर्थस्नायी। नखानि च-दन्ताश्च नखदन्तं। प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः। गलितं नखदन्तं यस्यासौ—गलितनखदन्तः=विशीर्णनखदन्तः। विश्वासभूमिः=विश्वासपात्रम्।

इज्या=यज्ञः। धृतिः=धैर्यम्। मार्गः=पन्थाः। धर्मोपार्जने उपायभूतः॥ ८।

इस तरह विचार कर वह पथिक उस व्याघ्र से कहने लगा कि—अरे! तेरा वह कङ्कण कहाँ है, देखें'?। बाघ ने हाथ पसार कर कङ्कण दिखला दिया। तब पथिक बोला—'तुम तो हिंसक जन्तु हो, तुम्हारा मैं कैसे विश्वास करूँ ?'। व्याघ्र बोला हे पथिक! सुनो, पहले युवावस्था में तो मैं बहुत ही दुराचारी था। अनेक गो ब्राह्मण और मनुष्यों के मारने से मेरे पुत्र और स्त्री सब मर गये और अब मेरे वंश में कोई नहीं रह गया है।

तब किसी धार्मिक ने मुझे उपदेश दिया कि तुम दान व धर्म किया करो। अतः उसी के कहने से मैं नित्य स्नान करता हूँ और दान देता हूँ। और मैं अब बुड्ढा भी हो गया हूँ, मेरे नख दाँत इत्यादि भी सब गिर गये हैं, क्या अब भी मैं विश्वास का पात्र नहीं हूँ ?।

क्योंकि—धर्म के आठ मार्ग हैं, यज्ञ करना, पढ़ना, दान देना, तपस्या करना, सच बोलना, धीरता, क्षमा, और निर्लोभ होना ॥ ८ ॥

तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते ।
उत्तरस्तु चतुर्वर्गो महात्मन्येव तिष्ठति ॥ ९ ॥

मम चैतावाँल्लोभविरहो—येन स्वहस्तस्थमपि सुवर्णकङ्कणं यस्मै कस्मै चिद्दातुमिच्छामि ! । तथापि—'व्याघ्रो मानुषं खादती'ति लोकप्रवादो दुर्निवारः । यतः—

गताऽनुगतिको लोकः कुट्टनीमुपदेशिनीम् ।
प्रमाणयति नो धर्मे, यथा गोघ्नमपि द्विजम् ॥ १० ॥

तत्रेति । तत्र = अष्टविधे पूर्वोक्ते धर्ममार्गे । पूर्वश्चतुर्वर्गः = इज्याध्ययनतपो-
दानात्मकः । दम्भार्थं = लोकसङ्ग्रह—लोकवञ्चनाद्यर्थमपि । सेव्यते = आश्रीयते ।
लोकै'रिति शेषः । उत्तरश्चतुर्वर्गस्तु = सत्य-धृति-क्षमा-ऽलोभात्मको धर्ममार्गस्तु
महात्मस्वेव सम्भवति, न क्षुद्राशयेषु ॥ ९ ॥

लोभविरहः = अलोभः । लोकप्रवादः = लोके रूढं दुर्यशः । जनकोलाहलः ॥

गतेति । लोकः = जनः । जात्यभिप्रायेणैकवचनम् । गतस्य = भूतपूर्वस्य
वादेः—अनुगतम् = अनुसरणम्—गतानुगतं, तेन व्यवहरति—गताऽनुगतिकः
: अनादिगड्डरिकाप्रवाहानुसारी । पूर्वाचरितानुसरणप्रवणः । उपदेशिनीम् =
उपदेशपराम् । धर्मपराम् । कुट्टनीं = शम्भली, कुलटाम् । धर्मे = धर्मविषये । नो
प्रमाणयति = तथा नाद्रियते । यथा गोघ्नमपि = यज्ञेऽतिथिसत्कारादौ च गवां
मारमपि, द्विजं = ब्राह्मणं, प्रमाणयति = विश्वसिति, आद्रियते । पूर्वमनाचार-
मिदानीं धर्मोपदेशपरामपि कुट्टनीं लोको धर्मे न प्रमाणयति, किन्तु यज्ञे गवादि-

इन आठों में से पहले के चारों को (यज्ञ, पढ़ना, दान, तप, इन चारों को)
ताको दिखलाने के लिये पाखण्डी लोग भी कर सकते हैं, परन्तु अन्तिम चार
त्य, धैर्य, क्षमा, अलोभ-सन्तोष) का अनुष्ठान तो महात्मा लोग ही करते हैं॥९॥
और देखो, मैं कितना निर्लोभ हूँ, कि अपने हाथ का सोने का कंकण भी
किसी को दे देना चाहता हूँ। तथापि 'बाघ मनुष्य को खा जाता है' यह
क (लोक प्रसिद्ध) निन्दा (बदनामी) तो हमारी मिट ही नहीं सकती है।
क्योंकि—संसार तो अन्धपरम्परा से ही चलने वाला है, देखो, लोग धर्मोपदे-
(धर्मपरायणा) कुट्टनी को भी कभी प्रमाण नहीं मानते हैं, परन्तु ब्राह्मण यदि

मया च धर्मशास्त्राण्यधीतानि । शृणु—

'मरुस्थल्यां यथा वृष्टिः, क्षुधार्ते भोजनं तथा ।
दरिद्रे दीयते दानं सफलं पाण्डुनन्दन ! ॥ ११ ॥
प्राणा यथाऽऽत्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा ।
आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः' ॥ १२ ॥

अपरञ्च—
प्रत्याख्याने च, दाने च, 'सुखे, दुःखे प्रियेऽप्रिये ।
आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति ॥ १३ ॥

नानाविधिपशुहन्तारं कूराशयमपि द्विजमेव प्रमाणत्वेनाश्रयतीत्यहो गतानुगति
कोऽस्येति भावः ॥ १० ॥

मयेति । 'पाण्डुनन्दन = हे युधिष्ठिर । मरुस्थल्यां = मरुभूमौ । यथा वृष्टिः = ... दरिद्रे = दरिद्राय, यद्दानं दीयते
यथा वृष्टिः सफला, निरन्नबुभुक्षिता, तथा = तथैव । भूतानां = स्वातिरिक्तानां सर्वे
तदपि सफल'मित्यन्वयः ॥ ११ ॥

आत्मनः = स्वस्य । अभीष्टाः = प्रियाः । भूतानां = स्वातिरिक्तानां सर्वे
जीवानामपि । ते = प्राणाः, तथा = तथैव प्रियाः । अत आत्मौपम्येन = स्वात्मा
तुल्यमानं कृत्वा । साधवः = दयालवः ॥ १२ ॥

प्रत्याख्याने इति । प्रत्याख्याने = प्रार्थनाभङ्गे, परतिरस्कारे वा । सुखे

गोघातक भी हो तो भी उसको प्रामाणिक समझते हैं । अर्थात् संसार वास्तविक
अधर्म का विचार नहीं करता है, वह तो केवल लकीर का फकीर ही है ॥ १०
और मैंने धर्मशास्त्र भी पढ़े हैं । सुनो—
हे युधिष्ठिर ! जैसे मरुस्थल (मारवाड़) में वर्षा सफल है और भ
भोजन देना सफल है, वैसे ही दरिद्र को दिया हुआ दान भी सफल होता है
और जैसे मनुष्य अपने प्राणों को प्रिय समझता है, वैसे ही दूसरे
को भी अपने-अपने प्राण प्यारे हैं । इसलिये महात्मा लोग अपनी ही तर
को भी समझ कर सभी जीवों पर समान रूप से ही दया करते हैं ॥ १२
और भी—प्रत्याख्यान (कोई कुछ मांगे तो उसको टाल देना, नाहीं

१ 'सुखदुःखे प्रियाप्रिये' इति पाठान्तरम् ।

अन्वय—

मातृवत्परदारेषु, परद्रव्येषु लोष्टवत् ।
आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति, स पण्डितः ॥ १४ ॥

त्वं चाऽतीव दुर्गतस्तेन तत्तुभ्यं दातुं सयत्नोऽहम् । तथा चोक्तं—

'दरिद्रान्भर कौन्तेय, ! मा प्रयच्छेश्वरे धनम् ।
व्याधितस्यौषधं पथ्यं, नीरुजस्य किमौषधैः' ? ॥ १५ ॥

सुखप्रदाने, दुःखे=क्लेशप्रदाने, दुःखोत्पादने च । प्रिये=इष्टाचरणे, अप्रिये=अनिष्टाचरणे च । आत्मौपम्येन=आत्मानमेव निदर्शनं कृत्वा । प्रमाणं=निश्चयम् । अधिगच्छति=लभते । 'इष्टात्सुखमनिष्टाद्दुःखञ्चोत्पद्यते' इत्यादिकं स्वात्मौपम्येन ज्ञातुं शक्यते इति यावत् ॥ १३ ॥

मातृवदिति । परदारेषु=परकलत्रेषु, मातृवत्=मातृभावेन यः पश्यति । लोष्टवत्=मृत्खण्डवत् । 'पश्यती'ति शेषः । पण्डितः=तत्त्वज्ञः ॥ १४ ॥

दुर्गतः=दरिद्रः । तत्=कङ्कणम् । सयत्नः=यत्नवान् । कौन्तेय=हे कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ! । भर=पालय । ईश्वरे=धनिनि । धनं मा प्रयच्छ=तस्मै धनं मा देहीत्यर्थः । व्याधितस्य=रुग्णस्य । पथ्यं=हितकारकम् । नीरुजस्य=रोगशून्यस्य स्वस्थस्य तु । औषधैः=भेषजैः । किं=किं फलं ? । न किमपीत्यर्थः ॥ १५ ॥

दान, सुख और दुःख में अर्थात् किसी को सुखी या दुःखी बनाना, किसी को भला बुरा करना, इन बातों से लोगों को कितना सुख या दुःख होता है, इसका अनुमान मनुष्य को अपने ऊपर ही करना चाहिए ॥ १३ ॥

और भी—जो मनुष्य दूसरे की स्त्रियों को अपनी माता की तरह समझे, दूसरे के द्रव्य को मिट्टी का ढेला (टुकड़ा) समझे और प्राणिमात्र को अपनी ही तरह समझे, वही सच्चा पण्डित है ॥ १४ ॥

और हे पथिक ! तुम अतिदरिद्र मालूम होते हो, इसी लिये मैं तुमको ही कङ्कण देने के लिये इतना प्रयत्न कर रहा हूँ । कहा भी है—

हे कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ! दरिद्रों का ही पालन पोषण करो, धनियों को दान मत दो, क्योंकि रोगी के लिये ही औषध लाभदायक होता है, पर जो नीरोग हैं,

अन्यच्च—

'दातव्य'मिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे, काले च, पात्रे च, तद्दानं सात्त्विकं विदुः ॥ १६ ॥

तदत्र सरसि स्नात्वा सुवर्णकङ्कणं गृहाण ।'

ततो यावदसौ तद्वचःप्रतीतो लोभात्सरः स्नातुं प्रविशति, तावन्महापङ्के निमग्नः पलायितुमक्षमः ।

(तं) पङ्के पतितं दृष्ट्वा व्याघ्रोऽवदत्—'अहह ! महापङ्के पतितोऽसि, अतस्त्वामहमुत्थापयामि ।'—इत्युक्त्वा शनैः शनैरुपगम्य ते व्याघ्रेण धृतः स पान्थोऽचिन्तयत्—

न 'धर्मशास्त्रं पठती'ति कारणं,
न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मनः ।

दातव्यं = मया अवश्यमिदं कर्म चन सत्वाय देयम्, इति = इति बुद्ध्या, देशे = तीर्थादौ, काले = सूर्यग्रहणादौ । पात्रे = सत्पात्रे, विदुषि, यद्दानं दीयते तत्-सात्त्विकमित्यन्वयः ॥ १६ ॥

तत् = तस्मात् । सरसि = सरोवरे । असौ = पान्थः । तद्वचसि = व्याघ्रवाक्ये । प्रतीतः = विश्वस्तः । 'अक्षम' इत्यस्य—'अभू'दिति शेषः । उपगम्य = समीपं गत्वा । धृतः = आक्रान्तः । इति यावत् ॥ स्वभावपरिवर्तने, कारणं = हेतुः नेति । दुरात्मनः = दुष्टात्मनः ।

उनको औषध (दवा) की क्या आवश्यकता है ? ॥ १५ ॥

और भी—'मुझे यह देना है' इस बुद्धि से जो दान—देश, काल, प[...] समझ कर अनुपकारी (जिससे अपना कुछ लाभ व स्वार्थ न हो) को [...]ता है, वही सात्त्विक (सच्चा) दान है ॥ १६ ॥

इस लिये तुम इस तालाब में स्नान करके इस सुवर्ण के कड़े को ले लो।

इस प्रकार बाघ की मीठी २ बातें सुनकर वह पथिक उसका विश्वास कर ज्योंही [...] करने के लिये तालाब में उतरा त्योंही कीचड़ में फँस गया और निकल न स[...] उसको कीचड़ में फँसा देखकर 'अच्छा मैं निकालता हूँ' ऐसा कहकर ध[...] उसके पास जाकर उस बाघ ने उस पथिक को पकड़ लिया।

तब वह पथिक अपने मन में विचारने लगा, कि—

स्वभाव एवात्र तथाऽतिरिच्यते,

यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः ॥ १७ ॥

किञ्च—

अवशेन्द्रियचित्तानां हस्तिस्नानमिव क्रिया ।

दुर्भगाऽऽभरणप्रायो ज्ञानं भारः क्रियां विना ॥ १८ ॥

शास्त्रपठनं, वेदाध्ययनं वा दुष्टाना खलाना दुरात्मना स्वभावपरिवर्तने न शक्तं
नि, स्वभावस्य सर्वतो बलवत्त्वात् । अतएव हि कटुकषायप्रायतृणादिभक्षणेऽपि,
। पयः = दुग्धं स्वभावेनैव मधुरं भवति, एवं—मधुरपयःपानेऽपि भुजङ्गाना
नात्वो विषमेव भवति, नाऽमृतमिति भावः ॥ १७ ॥

अवश इति । अवशानि इन्द्रियाणि, चित्तं च येषान्ते, तेषाम्—अवशेन्द्रिय-
चित्तानाम् = निरवग्रहेन्द्रियस्वान्तानां पुंसाम् । क्रिया = धर्माचरणादिकं कर्म ।
स्तिस्नानमिव = गजस्नानमिव,—निष्फलम् । स्नानानन्तरमेव धूलिप्रक्षेपादिना पुन-
त्मनो मलिनतापादनात् । दुर्भगाया आभरणानीव—दुर्भगाभरणप्रायः = दुष्ट-
भाग्य—स्त्रीधारितभूषणवत्, ज्ञानं = विद्या, क्रियां विना = तद्विहिताचरणं विना, भार
व । दुर्भगाभूषाभरणैः पत्यादिमनोरञ्जनाऽभावाद्भारवत्त्वं तस्याः क्लेशप्रदमेव ।
था नानाभरणभूषिताऽपि खलु वन्ध्या, दुष्टा कुरूपा वा स्त्री न शोभते, न वा
। पत्युर्मनः प्रीणाति, एवं ज्ञानवानपि तदुक्ताचाररहितो नैव शोभते इत्याशयः ।
त्र प्रायशब्दो बाहुल्येऽव्ययम् । अकारान्तो वा प्रायशब्दः पुंसि । दुर्भगाया
रणं = पालन, तत्तुल्यं निष्फलमिति वाऽर्थः ॥ १८ ॥

धर्मशास्त्र व वेद पढ़ने से ही अथवा कथा वार्ता, उपदेश आदि सुनने से ही
रे दुष्ट सज्जन नहीं हो जाता है, किन्तु सज्जन तो स्वभाव ही से सज्जन होते हैं ।
से, गाय का दूध स्वभाव ही से मीठा होता है ॥ १७ ॥

और भी देखो—जिन मनुष्यों की इन्द्रियाँ और चित्त वश में नहीं है, उनका
ब कार्य हाथी के स्नान की तरह ही निष्फल है । (हाथी स्नान करके भी अपने
ऊपर धूल फेंक कर अपने को पुनः मलिन कर लेता है) । और जो लोग अपने
ान का उपयोग नहीं करते, उनका ज्ञान भी दुर्भगा (पतिपरित्यक्ता अथवा
धवा) स्त्री के भूषण की तरह भारमात्र ही है ।

तन्मया भद्रं न कृतं यत्-अत्र मारात्मके विश्वासः कृतः । तया

उक्तम्—

नदीनां, शस्त्रपाणीनां, नखिनां, शृङ्गिणां तथा ।
विश्वासो नैव कर्तव्यः, स्त्रीषु, राजकुलेषु च ॥ १९ ॥

अपरञ्च—

सर्वस्य हि परीक्ष्यन्ते स्वभावा, नेतरे गुणाः ।
अतीत्य हि गुणान्सर्वान्स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते ॥ २० ॥

अन्यच्च—

स हि गगनविहारी, कल्मषध्वंसकारी,
दशशतकरधारी, ज्योतिषां मध्यचारी ।

नदीनामिति । नदीनाम्=आपगानाम् । शस्त्रपाणीनां=गृहीतायुधानाम् । शृङ्गिणां=शृङ्गायुधानां गोवृषभादीनाम् । नखिनां=नखायुधानां सिंहादीनाम् । राजकुलेषु च=राजगृहेषु च, विश्वासः='मद्वशगा इमे' इ[ति] स्त्रीषु=युवतिषु । विश्रम्भो, नैव कर्तव्यः=न विधेय इत्यर्थः ॥ १९ ॥

सर्वस्येति । सकलस्यापि=गुणिनो, निर्गुणस्य वा, स्वभावाः=प्रकृ[तयः] 'न परीक्ष्यन्ते' इति सत्कारादयः । इतरे=विद्वत्त्वौदार्यकुलशीलत्वादयो—गुणाः । शेषः । पुन एतदेव आह—अतीत्येति । सर्वान् गुणान्-अतीत्य=अतिक्रम्य, स्वभावाः=प्रकृतिरेव, मूर्ध्नि=सर्वेषां गुणानामुपरि, वर्तते=प्रभवतीत्यर्थः ॥२०॥ स इति । सः=त्रिलोकीप्रसिद्धः । गगनविहारी=आकाशसञ्चारी । कल्मष

इस लिये मैंने यह अच्छा नहीं किया जो इस हिंसक जन्तु का विश्वास किया । किसी ने कहा भी है—

नदियों का, शस्त्रधारी मनुष्यों का, नख और सींग वाले जन्तुओं का, स्त्रियों का और राजकुल का (राजा, रानी, राजपुत्र आदि का) विश्वास कभी नहीं करना चाहिए ॥ १९ ॥

और भी—मनुष्यों के गुणों की ओर ध्यान न देकर उनके स्वभाव की ही परीक्षा करनी चाहिए । क्योंकि गुणों की अपेक्षा स्वभाव ही सबसे ऊपर रहता है । अर्थात् स्वभाव ही सब में प्रधान है ॥ २० ॥

और भी—आकाश मार्ग में विहार करने वाले, अन्धकार को नाश करने

विधुरपि विधियोगाद् ग्रस्यते राहुणाऽसौ,
　　लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितुं कः समर्थः' ॥ २१ ॥

—इति चिन्तयन्नेवाऽसौ व्याघ्रेण व्यापादितः, खादितश्च । अतोऽहं ब्रवीमि—'कङ्कणस्य तु लोभेन'—इत्यादि । ❀ ।

अतः सर्वथाऽविचारितं कर्म न कर्त्तव्यम् । यतः—

सुजीर्णमन्नं, सुविचक्षणः सुतः,
　　सुशासिता स्त्री, नृपतिः सुसेवितः ।
सुचिन्त्य चोक्तं, सुविचार्य यत्कृतं,
　　सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम् ॥ २२ ॥

ध्वंसकारी=अन्धकारविनाशकः । दशशतकरधारी=सहस्रकिरणः । ज्योतिषां=तारार्णा । मध्यचारी=मध्यवर्ती । असौ विधुरपि=चन्द्रोऽपि । विधियोगात्=दैवविपर्ययात् । लिखितं=विधात्रा लिखितम् ॥ २१ ॥

असौ=पथिकः । व्यापादितः=हतः ।

अतः=लोभस्य सर्वापत्तिहेतुत्वात् । न कर्त्तव्यं=लोभात्सहसा कार्यं नाऽनुष्ठेयम् । कपोतराजवचनमेतत् । सुजीर्णमिति । सुजीर्णं=सुपक्वम् । सुविचक्षणः=नितरां शिक्षितो विद्वान् । सुतः=पुत्रः । सुशासिता=सुतरां ताडनादिना वशे स्थापिता । सुदीर्घकालेऽपि=गतेऽपि बहुतिथे काले । विक्रियां=विकारम् । न याति=विकृतं न भवति ॥ २२ ॥

वाले, हजारों किरणों वाले, तारागण के मध्य में विहार करने वाले चन्द्रमा को भी भाग्यवश राहु ग्रस लेता है । ठीक ही है, भाग्य में लिखी हुई विधि की रेखा को कोई मिटा नहीं सकता है ॥ २१ ॥

वह पथिक ऐसा सोच ही रहा था, कि वह बाघ उसको मार कर खा गया । इसी लिये मैंने (चित्रग्रीव ने) कहा है, कि—'कङ्कण के लोभ से' इत्यादि । इसलिये भली भाँति विचारे बिना कोई काम नहीं करना चाहिए । क्योंकि—भली भाँति पका हुआ अन्न, बुद्धिमान् पुत्र, शिक्षित स्त्री, अच्छी तरह से सेवित राजा,

एतद्वचनं श्रुत्वा कश्चित्कपोतः सदर्पमाह—'आः! किमेवमुच्यते ?।

[1]वृद्धानां वचनं ग्राह्यमापत्काले ह्युपस्थिते ।
[2]सर्वत्रैवं विचारे तु भोजनेऽप्यप्रवर्त्तनम् ॥ २३ ॥

यतः—

शङ्काभिः सर्वमाक्रान्तमन्नं, पानञ्च भूतले ।
प्रवृत्तिः कुत्र कर्त्तव्या ?, जीवितव्यं कथं नु वा ? ॥ २४ ॥
ईर्ष्यी, घृणी त्वसन्तुष्टः, क्रोधनो, नित्यशङ्कितः ।
परभाग्योपजीवी च, षडेते दुःखभागिनः ॥ २५ ॥

सदर्पं=साटम्बरम्, सगर्वम् । आः—इति तिरस्कारे । वृद्धस्येति । ग्राह्यं = स्वीकार्यम् । आपत्काले = विपत्तिसमये । उपस्थिते=प्राप्ते सति । सर्वत्र = सर्वेषु कार्येषु । एवं विचारे = वृद्धवचनानुसारेणैव सुविचार्यैव प्रवृत्तौ तु । अप्रवर्त्तनम् = अप्रवृत्तिः स्यादित्यर्थः । 'विचारेत्ये'ति पाठान्तरम् ॥ २३ ॥
भोजनादावप्रवृत्त्यापत्तिमेव द्रढयति—शङ्काभिरिति । अन्नं=भक्ष्यम् । भोजनम् शङ्काभिः = वातपित्तकफादिजन्यरोगादिशङ्काभिः । कथं नु = केन प्रकारेण? ॥२४
ईर्ष्यीति । ईर्ष्यी = ईर्ष्यालुः । घृणी = घृणायुक्तः । क्रोधनः = क्रोधी । नित

सोच कर कही हुई बात और विचार कर किया हुआ काम,—ये सब कभी बिगड़ते नहीं है (कभी हानि कारक नहीं होते हैं) ॥ २२ ॥
यह सुनकर उनमें से एक कबूतर बड़े घमण्ड से बोला—ओह ! यह आप क्या कहते हैं ! ।
आपत्ति के समय में ही वृद्धों का वचन मानना चाहिये । सब जगह ऐसा विचार करने से तो फिर भोजन में भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है ॥ २३ ॥
क्योंकि—संसार में सभी बातें शङ्का से भरी हुई हैं, फिर कहाँ प्रवृत्ति की जाय और कहाँ प्रवृत्ति न की जाय और किसी प्रकार जीवन निर्वाह किया जाय? ॥
कहा भी है—दूसरों से ईर्ष्या करने वाला, असन्तोषी, क्रोधी, सदा सन्देह

---

१. 'वृद्धस्ये'ति 'विचारे न भोजनेऽपि प्रवर्त्तन'मिति च पाठान्तरम् ।
२. 'सर्वत्रे'ति ।

—एतच्छ्रुत्वा सर्वे कपोतास्तत्रोपविष्टाः ।

यतः—

सुमहान्त्यपि शास्त्राणि धारयन्तो बहुश्रुताः ।
छेत्तारः संशयानां च क्लिश्यन्ते लोभमोहिताः ॥ २६ ॥

अन्यच्च—

लोभात्क्रोधः प्रभवति, लोभात्कामः प्रजायते ।
लोभान्मोहश्च नाशश्च, लोभः पापस्य कारणम् ॥ २७ ॥

शङ्कितः=सर्वदा सर्वत्र शङ्कितः । परभाग्योपजीवी=परान्नभोजी, पराधीनः । दुःखभागिनः=एते षट् जनाः सर्वदा दुःखिता एव भवन्ति ॥ २५ ॥

सर्वे=चित्रग्रीवप्रमुखाः सर्वेऽपि । तत्र=जालोपरि निकीर्णेषु तण्डुलकणेषु । उपविष्टाः=स्थिताः । जालोपरि स्थिता इति यावत् ।

ननु नीतिशास्त्रकुशलश्चित्रग्रीवोऽपि कथं तत्रोपविष्टोऽत आह—सुमहान्तीति । सुमहान्ति=सर्वसंशयोच्छेदकानि, सुगूढतत्त्वानि । बहुश्रुताः=व्यवहारपटवो, नीतिविदश्च । संशयानां=परसंशयानां, छेत्तारः=निराकरिष्णवः । लोभमोहिताः सन्तः—क्लिश्यन्ते=दुःखमनुभवन्तीत्यर्थः ॥ २६ ॥

लोभादिति । प्रभवति=प्रवर्त्तते, प्रवर्द्धते च । प्रजायते=उत्पद्यते, प्रवर्द्धते च । लोभात्—मोहश्च, नाशश्च । 'उपजायते' इति शेषः । अतो लोभः पापस्य कारणमित्यर्थः ॥ २७ ॥

करने वाला, दूसरे के आश्रय से जीने वाला, ये छः प्रकार के मनुष्य सदा दुःखी ही रहते हैं ॥ २५ ॥

यह सुनकर वे सब कबूतर अपने राजा का वचन नहीं मानकर उस जाल पर (दाना खाने) बैठ गये ।

किसी ने कहा भी है—बड़े २ शास्त्रों को पढ़ने वाले, बहुत बातों को जानने वाले, सब प्रकार के भ्रमों को दूर करने वाले लोग भी लोभ में पड़ कर दुःख भोगते हैं ॥ २६ ॥

और भी—लोभ ही से क्रोध उत्पन्न होता है, लोभ ही से काम उत्पन्न होता है और लोभही से मोह (अज्ञान) भी उत्पन्न होता है और लोभ ही से मनुष्य का नाश भी होता है, अतः लोभ ही सब पापों का मूल कारण है ॥ २७ ॥

अन्यच्च—

असम्भवं हेममृगस्य जन्म,
तथापि रामो लुलुभे मृगाय ।
प्रायः समापन्नविपत्तिकाले
धियोऽपि पुंसां मलिना भवन्ति ॥ २८ ॥

अनन्तरं ते सर्वे जालेन बद्धा बभूवुः । ततो यस्य वचनात्तत्राऽवलम्बितास्तं सर्वे तिरस्कुर्वन्ति । यतः—

न गणस्याऽग्रतो गच्छेत्सिद्धे कार्ये समं फलम् ।
यदि कार्यविपत्तिः स्यान्मुखरस्तत्र हन्यते ॥ २९ ॥

असम्भवमिति । हेममृगस्य=स्वर्णमृगस्य । जन्म=उत्पत्तिः । असम्भवम्=सम्भावनाविषयीभूतमपि न भवति । तथापि रामः=सकलज्ञाननिधिर्भगवान् दाशरथिरपि । मृगाय=स्वर्णमृगमादातुं । लुलुभे=लोभात्तं हन्तुं जगाम । प्रायः=बाहुल्येन । समापन्नाः=सन्निहिताः—या विपदः, तासां कालः=समयः, तस्मिन् । पुंसां=विवेकिनामपि । धियोऽपि=मतयोऽपि । मलिनाः=मलाविलाः, कुण्ठिताः । भवन्ति=जायन्ते । 'इति तर्कवागीशि'ति शेषः ॥ २८ ॥

अनन्तरम्=उपदेशानन्तरम् । यस्य=कपोतविशेषस्य । तत्र=जाले । अवस्थिताः=उपविष्टाः, बद्धाश्च । तं=कपोतम् । अग्रतः=अग्रे । कार्ये=कर्तव्ये कर्मणि । सिद्धे=निष्पन्ने सति । गणस्य=समूहस्य । समं=तुल्यम् । कार्यविपत्तिः=कार्यहानिः । मुखरः=अग्रणीर्भूत्वा प्रवर्तकश्च । हन्यते=वध्यते । विनिश्यते च ॥ २९ ॥

और भी—सोने के मृग का होना यद्यपि असम्भव है, तथापि भगवान् रामचन्द्रजी महाराज भी सोने के मृग के लोभ में पड़ गए थे । ठीक ही है—विपत्ति काल उपस्थित होने पर मनुष्यों की बुद्धि भी मलिन हो जाती है ॥ २८ ॥

इस प्रकार से सब कबूतर जाल में फँस गये । तब जिस कबूतर के कहने से वे सब वहाँ बैठे थे, उसको वे सब भलाबुरा कहने लगे । कहा भी है—किसी कार्य में सबके आगे कभी नहीं होना चाहिये, क्योंकि कार्य

तथा चोक्तम्—

आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः ।
तज्जयः संपदां मार्गो, येनेष्टं तेन गम्यताम् ॥ ३० ॥

तस्य तिरस्कारं श्रुत्वा चित्रग्रीव उवाच—नाऽयमस्य दोषः । यतः—

आपदामापतन्तीनां हितोऽप्यायाति हेतुताम् ।
मातृजङ्घा हि वत्सस्य स्तम्भीभवति बन्धने ॥ ३१ ॥

आपदामिति । इन्द्रियाणाम् = चक्षुरादीनाम्, असंयमः = अनिग्रहः, आपदां = विपदां, दुःखस्य च, पन्थाः = मार्गः । कथितः = नीतिविद्भिः प्रोक्तः । तज्जयः = इन्द्रियनिग्रहश्च । सम्पदां = सम्पत्तीनां, कल्याणस्य च, मार्गः = पन्थाः । येन = येन पथा, इष्टम् = अभीष्टसिद्धिः, तेन गम्यताम् । यदि विपत्तिरभीष्टा तर्हि इन्द्रियाऽसंयममार्गेण गम्यताम्, अथ सम्पदभीष्टा तर्हि इन्द्रियजयोऽनुष्ठीयतामिति भावः । यद्वा—येन इष्टं = सुखं भवेत्, तेन = इन्द्रियजयमार्गेण, गम्यतामित्यर्थो बोध्यः ॥३०॥

तस्य = तण्डुलकणभक्षणे प्रवर्त्तकस्य कपोतस्य । अयम् = जालबन्धनरूपः । दोषः = अपराधः ॥

आपदामिति । आपतन्तीनाम् = आगच्छन्तीनाम् । हितः = हितकारकः प्रियोऽपि, हेतुतां = कारणताम् । आयाति = प्राप्नोति । आगच्छतीति वा । हि = यतः । मातृजङ्घा = मातुर्गोर्जङ्घाकाण्डम् । वत्सस्य = स्वबालवत्सस्य, स्तम्भीभवति = गोदोहनकाले तत्र प्रायो वत्सस्य बन्धनाद्वत्सबन्धनस्तम्भतां याति । बन्ध-

---

की सिद्धि होने पर तो फल में समानता ही रहती है, परन्तु यदि दैवात् कार्य में कोई विघ्न हो गया तो पहिले अगुआ ही मारा जाता है ॥ २९ ॥

कहा भी है—इन्द्रियों को अपने वश में न रखना विपत्ति का मार्ग है । और इन्द्रियों को वश में रखना ही सम्पत्ति का मार्ग है । जिस रास्ते से इच्छा हो जाओ ॥ ३० ॥

उस कबूतर का इस प्रकार अनादर होता देख कर कपोतराज चित्रग्रीव बोले, कि—जाने दो, इसमें इस बिचारे का कुछ भी दोष नहीं है ।

क्योंकि—विपत्ति जब आने वाली होती है, तब अपना मित्र भी उस आने वाली आपत्ति का कारण हो जाता है । जैसे बछड़े के बाँधने के लिये कभी २

अन्यच्च—

स बन्धुर्यो विपन्नानामापदुद्धरणक्षमः ।
न तु भीतपरित्राणे [1]यस्तूपालम्भपण्डितः ॥ ३२ ॥

विपत्काले विस्मय एव कापुरुषलक्षणम् । तदत्र धैर्यमवलम्ब्य प्रतीकारश्चिन्त्यताम् । यतः—

विपदि धैर्यमथाऽभ्युदये क्षमा,
सदसि वाक्पटुता, युधि विक्रमः ।

नोरकरणसकुभावं भजनीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

स इति । यो विपन्नानां = विपद्ग्रस्तानाम्, आपदुद्धरणे = विपत्तिनिरासे, क्षमः = शक्तः, स एव बन्धुः = सुबन्धुः । यस्तु–भीतपरित्राणे = विपन्नरक्षणावसरे, उपालम्भपण्डितः = नानाविधनतिरस्कारवाक्यप्रयोगविशारदः । न तु = नैव बन्धुः ।

वस्तूपालम्भपण्डित इति पाठे तु 'भीतपरित्राणमेव वस्तु = कार्यं, तस्य अवसरे–उपालम्भपण्डितः = 'त्वयेत्थं कुतः कृतम्, मूर्खोऽसी'त्यादितर्जनपर' इत्येवं व्याख्येयम् । यद्वा–भीतपरित्राणे–तदवसरे, वस्तूपालम्भे = स्खलनहेतूपालम्भे पण्डित इत्यर्थः । (वस्तु = कारणकलापः) ॥ ३२ ॥

विस्मयः = अधैर्यम्, व्याकुलत्वम् । किङ्कर्तव्यविमूढतेति यावत् । कापुरुषलक्षणं = कुत्सितपुरुषचिह्नम् । कातरलक्षणमिति यावत् । तत् = तस्मात् । अत्र = विपदि । प्रतीकारः = प्रतसारणोपायः । चिन्त्यतां = विभाव्यताम् ।

विपदीति । महात्मनां = महापुरुषाणाम्–इदं प्रकृतिसिद्धं = स्वभावसिद्धमेव ।

(दूध दूहते समय) उसकी माता (गाय) की पछाड़ भी खूँटे (खम्भ) का काम देती है ॥ ३१ ॥

और भी—मित्र वही है, जो विपत्ति में पड़े हुए प्राणियों को आपत्ति से छुड़ाने में समर्थ हो । और जो भयभीत व विपद्ग्रस्त की रक्षा करने के समय गाली उलहना देने में अपने कर्तव्य की समाप्ति समझता है वह मित्र नहीं, किन्तु वह शत्रु है ॥ ३२ ॥

विपत्ति में घबड़ाना कायर पुरुषों का लक्षण है । इसलिए धीरज धारण करके इस विपत्ति से छूटने का कुछ उपाय सोचना चाहिये ।

1. 'भीतपरित्राणवस्तूपालम्भे'ति पाठः सर्वत्र दृश्यते ।

यशसि चाऽभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ,
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥ ३३ ॥
सम्पदि यस्य न हर्षो, विपदि विषादो, रणे च धीरत्वम् ।
तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम् ॥ ३४ ॥

अन्यश्च—

षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता ।
निद्रा, तन्द्रा, भयं, क्रोध, आलस्यं, दीर्घसूत्रता ॥ ३५ ॥

न्तदित्यत आह—विपदीति । धैर्यं=धैर्यमवलम्ब्य तत्प्रतीकारचिन्तनम् । अभ्यु-
दये=सम्पत्तौ । क्षमा=परानुग्रहः । अभिमानविरहश्च । सदसि=सभायां, वाक्-
पटुता=वाक्पाटवं, वचनचातुरी । युधि=युद्धे, विक्रमः=पराक्रमः यशसि=
कीर्तौ, इच्छा=अभिलाषः, यशोधनत्वमिति यावत् । श्रुतौ=शास्त्रे, व्यसनम्=
निर्हेतुकोऽनुरागः ॥ ३३ ॥

सम्पदीति । हर्षः=प्रमोदः, गर्वश्च । विषादः=दुःखं, वैक्लव्यं, तम्=अनु-
त्तिक्तमकातरं, निर्भयञ्च । भुवनत्रयतिलकं=लोकत्रयरत्नम् । विरलं=क्वचिदेव ।
रत्नमेव ॥ ३४ ॥

हातव्याः=परित्याज्याः, भूतिम्=ऐश्वर्यम् । इच्छता=वाञ्छता । तन्द्रा=
प्रमीला (ऊंघना) । दीर्घसूत्रता=चिरक्रियता (ढीलापन) । 'दीर्घसूत्रश्चिरक्रियः'
इत्यमरः ॥ ३५ ॥

क्योंकि—विपत्ति में धीरता, उन्नति होने पर नम्रता, सभा में बोलने की
शक्ति, युद्ध में वीरता, कीर्ति की इच्छा और शास्त्रों के अभ्यास में व्यसन, ये सब
महात्माओं के स्वभावसिद्ध गुण हैं ॥ ३३ ॥

और जिसको सम्पत्ति में विशेष हर्ष न हो, विपत्ति में विषाद न हो युद्ध में
धीरता हो—ऐसे भुवनत्रय के तिलकस्वरूप पुत्र को विरली ही मातायें उत्पन्न
करती हैं ॥ ३४ ॥

और भी—निद्रा (अधिक सोना), तन्द्रा (ऊँघना) डर, क्रोध, आलस्य,
दीर्घसूत्रता (थोड़े समय में होने लायक काम को बहुत देर में करना) ...
लोगों को अपनी उन्नति चाहने वाले पुरुषों ...

इदानीमप्येवं क्रियतां,—सर्वैरेकचित्तीभूय जालमादायोड्डीयताम्।
यतः—
अल्पानामपि वस्तूनां संहतिः कार्यसाधिका।
तृणैर्गुणत्वमापन्नैर्बध्यन्ते मत्तदन्तिनः॥ ३६॥
संहतिः श्रेयसी पुंसां स्वकुलैरल्पकैरपि।
तुषेणापि परित्यक्ता न प्ररोहन्ति तण्डुलाः॥ ३७॥
—इति विचिन्त्य पक्षिणः सर्वे जालमादायोत्पतिताः।
अनन्तरं स व्याधः सुदूराज्जालापहारकांस्तानवलोक्य पश्चाद्धाव-
न्नचिन्तयत्—

इदानीमपि=सांप्रतं बन्धे सत्यपि। विपत्तिनिपातेऽपि। एवम्=इत्थं, वक्ष्य-
माणप्रकारेण। एकचित्तीभूय=ऐकमत्येन सङ्घीभूय। अल्पानां=स्वल्पानाम्।
निर्बलानामपि, संहतिः=सङ्घः। गुणत्वमापन्नैः=संहत्या रज्जुत्वं प्राप्तैः। मत्त
दन्तिनः=मदोन्मत्ता गजेन्द्रा अपि॥ ३६॥
संहतिरिति। श्रेयसी=कल्याणप्रदा। अल्पकैरपि=स्वल्पबलैरपि। तुच्छैरपि
स्वकुलैः=स्ववर्गीयैः, धनादिभिः हीनाः। तण्डुलाः=धान्यकणाः। न प्ररोहन्ति
नाङ्कुरिता भवन्ति॥ ३७॥
उत्पतिताः=गगने उड्डीय गताः। जालापहारकान्=जालमादायोत्पतित
तान्=कपोतान्।

अतः इस समय हम लोग ऐसा करें कि हम सब लोग एक साथ इस
को लेकर आकाश में उड़ चलें।
क्योंकि—छोटी २ वस्तु भी एक साथ मिलने पर कार्य साधक हो जाती
देखो—तृण (घास फूस) भी जब इकट्ठा होकर रस्सी बन जाते हैं, तब
हाथियों को भी बाँध सकते हैं॥ ३६॥
और अपने कुल के छोटे २ लोगों की भी संहति अच्छी होती है।
चावल भी अपने छिलके (भूसी) से अलग होने पर उग ही नहीं
(अङ्कुरित नहीं हो सकते हैं)॥ ३७॥
ऐसा सोचकर वे सब पक्षी जाल लेकर आकाश में उड़ गए। इसके

'संहतास्तु हरन्त्येते मम जालं विहङ्गमाः।
यदा तु विवदिष्यन्ति वशमेष्यन्ति मे तदा' ॥ ३८ ॥

ततस्तेषु चक्षुर्विषयमतिक्रान्तेषु पक्षिषु स व्याधो निवृत्तः।

अथ लुब्धकं निवृत्तं दृष्ट्वा कपोता ऊचुः—'स्वामिन्! किमिदानीं कर्त्तुमुचितम्?।' चित्रग्रीव उवाच—

'माता, मित्रं, पिता चे'ति स्वभावात्त्रितयं हितम्।
कार्यकारणतश्चाऽन्ये भवन्ति हितबुद्धयः ॥ ३९ ॥

संहता इति। इमे विहङ्गमाः संहताः=मिलिताः सन्तो मे जालं यद्यपि सम्प्रति हरन्ति, तथापि यदा तु विवदिष्यन्ति=परस्परं कलहं करिष्यन्ति, तदा मे वशमेष्यन्तीत्यर्थः। 'निपतिष्यन्ती'ति पाठेऽपि—कलहायमाना, अन्यथा वा निपतिष्यन्तीत्यर्थो बोध्यः ॥ ३८ ॥

ततः=तदनन्तरम्। चक्षुर्विषयं=नेत्रविषयम्। अतिक्रान्तेषु=अपगतेषु। नेत्रपथबहिर्भूतेषु इति यावत्। लुब्धकं=व्याधं, निवृत्तं=व्यपगतम्।

स्वामिन्=प्रभो चित्रग्रीव!। इदानीं=व्याधे निवृत्ते सति। कर्त्तुमुचितं=विधातुं योग्यम्। स्वभावात्=प्रकृत्यैव। हितं=हितकारकम्। अन्ये तु=एतत्त्रितयातिरिक्तास्तु। कार्यकारणतः=कार्यकारणप्रसङ्गेनैव। किमपि कार्यं, कारणं वा उद्दिश्यैव। हितबुद्धयः=हितकारका भवन्ति ॥ ३९ ॥

व्याध उनको जाल ले जाते देख कर उनके पीछे दौड़ा और सोचने लगा कि—

ये सब पक्षी इस समय तो मिलकर मेरे जाल को ले जाते हैं, पर जब ये लड़ते हुए गिरेंगे तो मेरे हाथ अवश्य आवेंगे ॥ ३८ ॥

इसके बाद जब वे कबूतर उस व्याध की दृष्टि के बाहर हो गये (दूर चले गए) तब वह व्याध निराश होकर लौट गया। उसको वापिस गया देख कर कबूतर बोले 'हे प्रभो! अब हमें क्या करना चाहिए'?। तब वह चित्रग्रीव बोला—

माता पिता और मित्र ये तीनों स्वभाव ही से हित चाहते हैं, परन्तु दूसरे लोग तो कार्यवश ही हितैषी हुआ करते हैं ॥ ३९ ॥

तदस्माकं मित्रं हिरण्यको नाम मूषिकराजो गण्डकीतीरे चित्रवने निवसति, सोऽस्माकं पाशांश्छेत्स्यति ।' इत्यालोच्य सर्वे हिरण्यकविवरसमीपं गताः ।

हिरण्यकश्च सर्वदाऽपायशङ्कया शतद्वारं विवरं कृत्वा निवसति ।

अनागतभयं दृष्ट्वा नीतिशास्त्रविशारदः ।
अवसन्मूषिकस्तत्र वृद्धः शतमुखे बिले ॥

ततो हिरण्यकः कपोतावपातभयाच्चकितस्तूष्णीं स्थितः । चित्रग्रीव उवाच—'सखे हिरण्यक ! किमस्मान्न संभाषसे ?' ।

ततो हिरण्यकस्तद्वचनं प्रत्यभिज्ञाय, ससम्भ्रमं बहिर्निःसृत्याऽब्रवीत्—'आः ! पुण्यवानस्मि, प्रियसुहृन्मे चित्रग्रीवः समायातः ।

तत्=तस्मात् । मित्रं=सुहृत् । पाशान्=जालपाशान् । अपायशङ्कया=विपच्छङ्कया । विवरं=बिलम् । अनागतभयम्=अप्राप्तामपि विपत्तिं, दृष्ट्वा=विभाव्य । तत्र=चित्रवने ॥ कपोतावपातभयात्=कपोतभूमिनिपतनजनितं शब्दं श्रुत्वा भयातुरः सन् । चकितः=भीतः । तूष्णीं=मौनमालम्ब्य । तद्वचनं=चित्रग्रीवस्य वचनम् । प्रत्यभिज्ञाय='मित्रस्यैव मे इदं वचनं'—मिति विज्ञाय । ससम्भ्रमं=सत्वरम् । आः—इति हर्षे । पुण्यवान्=भाग्यशाली ।

अतः—हमारा एक मित्र हिरण्यक नाम का चूहों का राजा गण्डकी नदी के तट पर चित्रवन में रहता है । वह अपने दाँतों से हम लोगों के पाश को काट देगा ऐसा परामर्श कर वे सब कपोत हिरण्यक चूहे के विवर (बिल) के पास गये ।

यह हिरण्यक भी विपत्ति के भय से अपने बिल में सौ द्वार बनाकर वहाँ रहता था । वह हिरण्यक कबूतरों के गिरने के शब्द को सुनकर आश्चर्य में पड़ गया और मारे डर के चुपके से दबक कर बैठ गया । तब चित्रग्रीव बोला—हे मित्र हिरण्यक ! हम लोगों से क्यों नहीं बोलते हो ? । तब हिरण्यक उसके वचन को पहचान कर और बाहर आकर बोला—अहो ! मैं धन्य हूँ, आज मेरे पुण्य का उदय हुआ कि मेरे प्रिय मित्र चित्रग्रीव यहाँ आए हैं ।

यस्य मित्रेण सम्भाषा, यस्य मित्रेण संस्थितिः ।
यस्य मित्रेण संलापस्ततो नाऽस्तीह पुण्यवान्' ॥ ४० ॥

पाशबद्धांश्चैतान्दृष्ट्वा सविस्मयः क्षणं स्थित्वोवाच—
'सखे ! किमेतत् ?' ।
चित्रग्रीवोऽवदत्—'सखे ! अस्माकं प्राक्तनजन्मकर्मणः फलमेतत् ।

यस्माच्च, येन च, यथा च, यदा च, यच्च,
यावच्च, यत्र च शुभाऽशुभमात्मकर्म ।
तस्माच्च, तेन च, तथा च, तदा च, तच्च,
तावच्च, तत्र, च, विधातृवशादुपैति ॥ ४१ ॥

यस्येति । यस्य मित्रेण—सम्भाषा=आलापः । संस्थितिः=सहावस्थानम् । (सं)लापः=मुहुर्मुहुः कथा, गोष्ठीबन्धः । ततः = तदपेक्षया । इह = जगति ॥ ४० ॥

एतान्=कपोतान् । सविस्मयः=साश्चर्यः । प्राक्तनजन्मकर्मणः=पूर्वजन्मोपार्जि(त)स्य पापकर्मणः । एतत्=जालबन्धनम् ।

यस्मादिति । यस्माद्धेतोः, येन—करणेन हस्तादिना, यथा च=येन च प्रकारेण, (य)दा च—यस्मिन् काले च, यत्—शुभाशुभं=शुभम् अशुभं वा, आत्मकर्म=स्वस्य (पा)पपुण्य-सुखदुःखादिकं, यावत्=यावन्मित, यत्र=यस्मिन्देशेच भावि, तत्=तस्मात् (का)रणात्, तेनैव—उपकरणेन, तथा=तेनैव प्रकारेण । तदा च=तस्मिन्नेव काले च ।

क्योंकि,—जो अपने मित्र के साथ सम्भाषण (मधुर भाषण) करता है (औ)र जो अपने मित्र के साथ रहता है और जो अपने मित्र के साथ प्रेम पूर्वक (वा)र्तालाप करता है, उससे बढ़कर इस पुण्यवान् संसार में दूसरा कोई नहीं ॥ ४० ॥

(त)ब इन कबूतरों को जालपाश में पड़े हुए देख कर हिरण्यक को बड़ा ही (आ)श्चर्य हुआ और वह बोला—कि हे मित्र ! यह क्या बात है ? ।

चित्रग्रीव बोला—हे मित्र ! यह मेरे पूर्व जन्म के कर्म का ही फल है ।

क्योंकि जो प्राणी—पुण्य अथवा पाप कर्म जिस कारण से, जिस उपाय से, (जि)स प्रकार से, जिस समय में, जैसा, जितना, जिस स्थान पर करता है, वह प्राणी

रोगशोकपरीतापबन्धनव्यसनानि च ।
आत्माऽपराधवृक्षाणां फलान्येतानि देहिनाम्' ॥ ४२ ॥

एतच्छ्रुत्वा हिरण्यकश्चित्रग्रीवस्य बन्धनं छेत्तुं सत्वरमुपसर्पति स्म । चित्रग्रीव उवाच—'मित्र ! मा मैवम् । अस्मदाश्रितानामेषां ताव-त्पाशांश्छिन्धि, तदा मम पाशं पश्चाच्छेत्स्यसि ।

हिरण्यकोऽप्याह—'अहमल्पशक्तिः, दन्ताश्च मे कोमलाः, तदेतेषां पाशांश्छेत्तुं कथं समर्थः ? । तद्यावन्मे दन्ता न त्रुट्यन्ति, तावत्तव पाशं छिनद्मि, तदनन्तरमेषामपि बन्धनं यावच्छक्यं छेत्स्यामि ।'

तत्र=तत्क्षणम् । तावत्=तावत्प्रमाणमेव, तत्रैव देशे—विधातृवशात्=भाग्यवशात् । उपैति=शुभाऽशुभमात्मफलं स्वयमेव नरमुपयाति ॥ ४१ ॥

रोगेति । देहिनां=शरीरिणाम्—परितापः=सन्तापः । बन्धनं=कारादि-प्राप्तिः । तान्येव—व्यसनानि=विपत्तयः । तानि च व्यसनं=विपत्तिश्चेति वा । एतानि=आत्मना कृता ये अपराधाः=पापानि, तान्येव वृक्षास्तेषां=स्वकर्म-वृक्षाणां, फलानि=फलभूतान्येव । स्वकृतैरेव पापैर्दुःखानि जनो लभते, नान्यैरिति भावः ॥ ४२ ॥

सत्वरं=शीघ्रम् । उपसर्पति स्म । उपससर्पेत्यर्थः । एवं=मदीयपाशच्छेदनमादौ मा मा=मा कार्षीः । मा-मेति संभ्रमे द्वित्वम् । अस्मदाश्रितानां=मदधीनानाम् अल्पशक्तिः=स्वल्पबलः । कोमलाः=मृदवः । तत्=तस्मात् । याव-च्छक्यं=यथाशक्ति । एवं=तव निर्बलत्वं, कोमलदन्तत्वञ्च । अस्तु=भवतु एतेषां=मदाश्रितानाम् । लघय=छिन्धि । आत्मपरित्यागेन=स्वशरीरानपे

उसी कारण से, उसी उपाय से, उसी प्रकार से, उसी समय, वैसा ही, उतना ही उसी स्थान पर, उस पाप पुरुष के वश को अवश्य ही (भाग्यवश) पाता है ॥४१

और भी—रोग, शोक, सन्ताप, बन्धन, विपत्ति, ये सब मनुष्य के अपने कि हुए अपराध (पाप) रूपी वृक्ष के ही फल हैं ॥ ४२ ॥

यह सुनकर यह हिरण्यक चूहा चित्रग्रीव के बन्धनों को काटने के लिये शीघ्र

चित्रग्रीव उवाच—'अस्त्वेवम् । तथापि यथाशक्त्येतेषां बन्धनं खण्डय'। हिरण्यकेनोक्तम्—'आत्मपरित्यागेन यत्—आश्रितानां परिरक्षणं, तन्न नीतिविदां सम्मतम् । यतः—

'आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान्रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥ ४२ ॥

अन्यच्च—

'धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राणाः संस्थितिहेतवः ।
तन्निघ्नता किं न हतं ?, रक्षता किं न रक्षितम्' ? ॥ ४३ ॥

त्यागेन, आत्मानं संशयदोलामारोप्य च । परिरक्षणं=परिपालनं, नीतिविदां=नीतिनिपुणानाम् । न संमतम्=न अनुमतम् ।

आपदर्थे=आपत्प्रतीकाराय । रक्षेत्=अर्जयेत् । निभृतं स्थापयेत् । दारान्=कलत्रम् । धनैः=धनदानादिभिः, रक्षेत्=गोपायेत् । आत्मानं=स्वशरीरन्तु । दारैरपि=दाराऽपेक्षयाऽपि, धनैरपि=धनापेक्षयाऽपि च, तद्व्ययेनापि च । रक्षेत्=पालयेत् ॥ ४६ ॥

संस्थितिहेतवः=यथावत्पालनादिहेतवः । तान्=प्राणान् । स्वशरीरमिति यावत् । निघ्नता=विनाशयता । रक्षता=पालयता । धर्मार्थकाममोक्षाख्याश्चत्वारः पुरुषार्थाः ॥ ४४ ॥

तब वह चित्रग्रीव बोला–हे मित्र ! यह ठीक नहीं है । पहिले इन मेरे आश्रितों के बन्धन काटो, पीछे मेरे बन्धन काटना । तब हिरण्यक बोला—मैं कमजोर हूँ, मेरे दाँत भी कोमल है, इसलिए सबका बन्धन कैसे काट सकता हूँ !, अतः जब तक मेरे दाँत नहीं टूटें, तब तक आप का बन्धन तो मैं काटता हूँ, पीछे यथाशक्ति इनका भी बन्धन काटूँगा । चित्रग्रीव बोला—यह ठीक है, पर यथाशक्ति इनके ही बन्धन तुम काटो । तब हिरण्यक बोला—'अपने को विपत्ति में डाल करके अपने आश्रितों की रक्षा करना' यह तो नीति जानने वालों के सम्मत भी नहीं है ।'

क्योंकि–आपत्तिकाल के लिये धन की रक्षा करनी चाहिए, और धन को खर्च कर के भी स्त्री की रक्षा करनी चाहिए, और स्त्री और धन दोनों से भी (उनकी चिन्ता छोड़कर, या उनको देकर भी) सदा अपनी रक्षा करनी चाहिए ॥ ४२ ॥

और भी–धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों के मूल कारण प्राण ही है । अतः जिसने अपने प्राणों का नाश किया उसने किस चीज का नाश नहीं

चित्रग्रीव उवाच—'सखे ! नीतिस्तावदीदृश्येव, किं त्वहमस्मदाश्रितानां दुःखं सोढुं सर्वथाऽसमर्थः, तेनेदं ब्रवीमि । यतः—

'धनानि, जीवितञ्चैव परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत् ।
सन्निमित्ते वरं त्यागो, विनाशे नियते सति' ॥ ४५ ॥

अयमपरश्चाऽसाधारणो हेतुः—

'जातिद्रव्यबलानाञ्च साम्यमेषां मया सह ।
मत्प्रभुत्वफलं ब्रूहि कदा किं तद्भविष्यति ? ॥ ४६ ॥

ईदृशी एव='सर्वथा स्वात्मा रक्षणीय' इत्येवमेव । इदं='मां विहाय मदाश्रितानां पाशांश्छिन्धि' इतीदम् । ब्रवीमि=कथयामि ।

धनानीति । जीवितं=प्राणान् । परार्थे=परोपकाराय । प्राज्ञः=विद्वान् उत्सृजेत्=दद्यात् । विनाशे=मरणे, नियते=निश्चिते सति । सन्निमित्ते=सत्कार्यसिद्धये, परोपकाराय । त्यागः=प्राणपरित्यागः । वरं=किञ्चिच्छ्रेष्ठः ॥४५॥

अपरः=द्वितीयः । असाधारणः=सर्वतो बलवान् । हेतुः=मदुद्धारणम् । हेतुमेवाह—जातीति । एषां=मदाश्रितानां कपोतानाम् । मया सह=मया राज्ञा सह । जातिद्रव्यबलानां=पक्षित्वादिजाति-पार्थिवशरीर-सामर्थ्यानाम् । 'गुणाना'मिति पाठान्तरम् । साम्यं=तुल्यत्वम् । 'वर्तते' इति शेषः । मत्प्रभुत्वफलं=मत्स्वामित्वफलम्, आपदाश्रयपालनं, ब्रूहि=कथय, तत्—कदा=

किया ? । अर्थात् सबका नाश किया । और जिसने उन प्राणों की रक्षा की तो उसने किसकी रक्षा नहीं की ? । अर्थात् सबकी रक्षा की ॥ ४४ ॥

चित्रग्रीव बोला—मित्र ! ठीक है । नीति तो यही है, पर मैं अपने आश्रितों के दुःख को नहीं देख सकता हूँ, इसीलिए ऐसा कहता हूँ ।

किसी ने ठीक ही कहा है, कि—विद्वान् लोगों को अपने धन तथा प्राणों को दूसरों के उपकार के लिए समर्पण कर देना चाहिए । क्योंकि जब उन प्राणों का और धन का नाश होना निश्चित ही है, तो उन्हें सदुपयोग में लगा देना ही अच्छा है ॥ ४५ ॥

और विशेष कारण यह है—कि इन (कबूतर) जाति, द्रव्य, गुण, (या बल)-

अन्यच्च—

'विना वर्त्तनमेवैते न त्यजन्ति ममाऽन्तिकम् ।
तन्मे प्राणव्ययेनाऽपि जीवयैतान्मदाश्रितान्'[1] ॥ ४७ ॥

किञ्च

मांसमूत्रपुरीषाऽस्थिनिर्मितेऽस्मिन्कलेवरे ।
विनश्वरे विहायाऽऽस्थां यशः पालय मित्र ! मे' ॥ ४८ ॥

अपरञ्च पश्य—

'यदि नित्यमनित्येन, निर्मलं मलवाहिना ।
यशः कायेन लभ्यते, तन्न लब्धं भवेन्नु किम् ?' ॥ ४९ ॥

कस्मिन् काले, किं=किंवा भविष्यति । इति त्वमेव ब्रूहि=वद । (तत्=तस्मात्कारणादिति वा योज्यम्) । इदमेव हि मदाश्रयणफलं यदेषां सर्वथा परिरक्षणम् । एतच्च आदावेषामेव पाशच्छेदविधिरित्याशयः ॥ ४६ ॥

विनेति । वर्त्तनं=जीविकां, वेतनञ्च-विनैव, वेतनादिग्रहणं विनाऽपि । ममाऽन्तिकं=मत्सांनिध्यं, न त्यजन्ति=न परिहरन्ति । तत्=तस्मात् । प्राणव्ययेनाऽपि=मत्प्राणोपयोगेनापि । जीवय=पाशच्छेदेनैनान् परिपालय ॥४७॥

मांसेति । पुरीष=विष्ठा । अस्थि=कीकसम् । निर्मिते=विरचिते, परिपूर्णे च । विनश्वरे=विनाशशीले । कलेवरे=शरीरे । आस्थां=यत्नम् । 'आस्थानीयत्नयोरास्थे'त्यमरः ॥ ४८ ॥

सभी मे मेरे बराबर ही हैं, तो फिर मेरे राजा होने का इनको क्या फल होगा ? और यह फल इन्हें मिलेगा—? यह आप ही बतलाइये ॥ ४६ ॥

और भी—बिना किसी प्रकार की जीविका और वेतन के भी ये मेरा साथ नहीं छोड़ते हैं, इसलिये मेरे प्राणों की पर्वाह न करके भी आप पहिले इन (मेरे आश्रितों) को ही बचाइए ।

और भी—हे मित्र ! मांस, मूत्र, विष्ठा, हड्डी आदि से बने हुए मेरे इस नाशशील शरीर के बचाने की इच्छा को छोड़कर आप मेरी कीर्ति की ही रक्षा करो ॥४८॥

---

१. 'ममाश्रितान्' इति पाठान्तरम् ।

अतः—

'शरीरस्य, गुणानां च दूरमत्यन्तमन्तरम् ।
शरीरं क्षणविध्वंसि, कल्पान्तस्थायिनो गुणाः' ॥ ५० ॥

—इत्याकर्ण्य हिरण्यकः प्रहृष्टमनाः, पुलकितः सन्नब्रवीत्—'साधु मित्र ! साधु, अनेनाऽऽश्रितवात्सल्येन त्रैलोक्यस्यापि प्रभुत्वं त्वयि युज्यते । एवमुक्त्वा तेन सर्वेषां बन्धनानि च्छिन्नानि ।

ततो हिरण्यकः सर्वान्सादरं सम्पूज्याऽऽह—'सखे चित्रग्रीव !

नित्य=चिरस्थायियशः । अनित्येन=नश्वरेण । निर्मलं=स्वच्छं—यशः, मलादिना=मलमूत्रपरिपूर्णेन ।। कायेन=शरीरेण । तत्र 'नु'—इति वितर्के । किं लब्धं न भवेत्=सर्वमेव लब्धं भवेदित्यर्थः ॥ ४९ ॥

अत्यन्तं दूरं=नितरां विप्रकृष्टम् । अन्तरं=प्रभेदः । क्षणविध्वंसि=क्षणविनाशि । क्षणभङ्गुरम् । गुणाः=दयादाक्षिण्यादयः । यश इति यावत् । कल्पान्तस्थायिनः=प्रलयपर्यन्तस्थायिनः ॥ ५० ॥

प्रहृष्टमनाः=सन्तुष्टमानसः । पुलकितः=जातरोमाञ्चः । साधु=शोभनम् । सुष्ठु करोषि । आश्रितवात्सल्येन=स्वाश्रितसेवकादिषु प्रदर्शितया कृपया । प्रभुत्वम्=ऐश्वर्यं, स्वामित्वम् । युज्यते=युक्तमिति सम्भाव्यते । जालबन्धनविधौ=

और भी देखो—अनित्य और मूत्र विष्ठा आदि मलों को वहन करने वाले शरीर के बदले में यदि निर्मल और नित्य यश मिले, तो फिर कहो क्या नहीं मिला ? । अर्थात् सब कुछ मिल गया ॥ ४९ ॥

क्योंकि—शरीर में और गुणों में बहुत बड़ा भेद है, शरीर तो क्षण ही में नष्ट हो जाता है, परन्तु गुण प्रलय काल तक रहते हैं ॥ ५० ॥

यह सब सुन कर उस हिरण्यक (चूहे) को आश्चर्य से रोमाञ्च हो गया और प्रसन्न होकर यह बोला, हे मित्र ! तुम धन्य हो, धन्य हो । आश्रितों के ऊपर तुम्हारे इस प्रेम के कारण तुम तीनों लोक के स्वामी होने के योग्य हो । ऐसा क

सर्वथाऽत्र जालबन्धनविधौ दोषमाशङ्क्याऽऽत्मन्यवज्ञा न कर्तव्या। यतः—

'योऽधिकाद्योजनशतात्पश्यतीहाऽऽमिषं खगः।
स एव प्राप्तकालस्तु पाशबन्धं न पश्यति!' ॥ ५१ ॥

अपरञ्च—

शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं,
गजभुजङ्गमयोरपि बन्धनम्।
मतिमताञ्च विलोक्य दरिद्रतां,
'विधिरहो बलवा'निति मे मतिः ॥ ५२ ॥

लबन्धनव्यापारे। दोष=लोभादिक हेतुम्। आशङ्क्य=निमाय्य। ज्ञा=तिरस्कारः।

य इति। यः खगः=गृध्रादिः। योजनशतादप्यधिकात्=पारेशतमपि जनानाम्, आमिषं=स्वभक्ष्यं मांसं, पश्यति। स एव=दूरदृष्टिः खगः, प्राप्तकालः=आसन्नमृत्युः सन्,—पाशबन्ध, न पश्यति=नैव-लक्षयति ॥ ५१ ॥

शशीति। शशिदिवाकरयोः=सूर्याचन्द्रमसोः। ग्रहपीडनं=राहुणा ग्रहणम्। हः, सूर्यादौ पूतनादौ च सैंहिकेयोपरागयो'रिति मेदिनी। गजभुजङ्गमयोः=नेसर्पयोः। बन्धनं=निग्रहं च-विलोक्य। च=पुनः। मतिमतां=विदुषां, द्रितां=दारिद्र्यञ्च विलोक्य। अहो—इति आश्चर्ये खेदे वा। विधिः=दैवं,

---

र उसने पहिले सब कबूतरों के बन्धन काट दिए। इसके बाद सबका आदरपूर्वक चित सत्कार कर यह हिरण्यक बोला—मित्र चित्रग्रीव! इस जाल के फँस जाने अपना दोष समझ कर तुम्हें अपनी निन्दा कभी नहीं करनी चाहिए।

क्योंकि—जो गृध्र आदि पक्षी, सौ योजन (४०० कोस) से अधिक की दूरी भी मांस को देख सकता है, वही पक्षी बुरा समय आने पर अपने फंसाने के लए बिछाये गए जाल को भी नहीं देखता है और उसमें फंसकर अपने प्राण देता है ॥ ५१ ॥

और भी—चन्द्रमा और सूर्य को ग्रहण की पीड़ा, अर्थात् ग्रहण लगना, हाथी

अन्वय—

'व्योमैकान्तविहारिणोऽपि विहगाः सम्प्राप्नुवन्त्यापदं,
वध्यन्ते निपुणैरगाधसलिलान्मत्स्याः समुद्रादपि ॥
दुर्नीतं किमिहास्ति, किं सुचरितं, कः स्थानलाभे गुणः, ?
कालो हि व्यसनप्रसारितकरो गृह्णाति दूरादपि' ॥ ५३ ॥

—इति प्रबोध्याऽऽतिथ्यं कृत्वाऽऽलिङ्ग्य च चित्रग्रीवस्तेन [1]सम्प्रेषितो यथेष्टदेशान्सपरिवारो ययौ।

बलवान्=बलवदिति। मे=मम। मतिः=निश्चयः॥ ५२॥

व्योमेति। व्योमैकान्तविहारिणोऽपि=दूरतरगगनाऽऽरण्यविहारिणोऽपि। विहगाः=पक्षिणः। आपदं=जालबन्धनादिविपदम्। सम्प्राप्नुवन्ति=लभन्ते। निपुणैः=कुशलैः। अगाधसलिलात्=अतलस्पर्शिजलपूर्णात्। समुद्रादपि=सागरादपि, मीनाः=महामत्स्याः, बध्यन्ते=बद्ध्वा गृह्यन्ते। लोकैरिति शेषः। दुर्नीतं=दुश्चरितं, सुचरितं=शोभनमाचरणं वा—किम्?। स्थानलाभे=दुर्धर्षनिरापदद्दुरासदद्दुर्गमस्थानलाभे वा। को गुणः=किं फलम्?। कालः=मृत्युः। व्यसनप्रसारितकरः=विपदवसरे करौ प्रसार्येव। दूरादपि=दुर्गमादपि स्थानात्। गृह्णाति=आदत्ते॥ ५३॥

प्रबोध्य=सान्त्वनावाक्यैर्मनः समाधाय।

और शूरों का बन्धन, पण्डितों की भी दरिद्रता, इन सब बातों को देखकर मैं तो समझता हूँ कि भाग्य ही सबसे प्रबल है॥ ५२॥

और भी—आकाश के एकान्त और अशुभ प्रदेश में विहार करने वाले पक्षी भी आपत्ति में फँस जाते हैं। चतुर लोग अथाह जल वाले समुद्र से भी मछलियों को पकड़ लेते हैं। इसलिये इस संसार में क्या अच्छा है? और क्या बुरा है? और क्या योग्य स्थान की प्राप्ति में भी लाभ है?। अर्थात् कुछ नहीं। क्योंकि कालरूपी शत्रु व्यसन-(विपत्ति) रूपी हाथ पसारे बैठा है, और वह मौका पाते ही दूर से भी प्राणियों को पकड़ लेता है॥ ५३॥

इस प्रकार हिरण्यक ने कपोतराज चित्रग्रीव को समझा-बुझाकर एवं अतिथि

1. 'तेन मैत्रिविश्लेषितोऽपि सपरिवारो यथेष्टदेशान् ययौ' इति पाठान्तरम्।

हिरण्यकोऽपि स्वविवरं प्रविष्टः। अतः—

'यानि कानि च मित्राणि कर्त्तव्यानि शतानि च।
पश्य मूषिकमित्रेण कपोता मुक्तबन्धनाः' ॥ ५४ ॥

अथ लघुपतनकनामा काकः सर्ववृत्तान्तदर्शी साऽऽश्चर्यमिदमाह—'अहो हिरण्यक! श्लाघ्योऽसि। अतोऽहमपि त्वया सह मैत्रीमिच्छामि, अतो मां मैत्र्येणाऽनुग्रहीतुमर्हसि।'

एतच्छ्रुत्वा हिरण्यकोऽपि विवराभ्यन्तरादाह—'कस्त्वम्?'।

स ब्रूते—'लघुपतनकनामा वायसोऽहम्।'

हिरण्यको विहस्याऽऽह—'का त्वया सह (मम) मैत्री?'।

यानीति। यानि कानि = निर्बलानि, सबलानि वा, योग्यानि, अयोग्यानि वा। शतानि = असङ्ख्यातानि। (सैकड़ों)। मुक्तबन्धनाः = कृताः ॥ ५४ ॥

सर्ववृत्तान्तदर्शी = दृष्टकपोतमूषकसकलव्यापारः। श्लाघ्यः = प्रशंसाऽर्हः, धन्यः। मैत्र्येण=सौहार्देन। अनुग्रहीतुम् = अनुग्रहं कर्त्तुम्। विवराभ्यन्तरात् = बिलमध्यादेव। सः = काकः। वायसः = काकः।

सत्कार कर विदा किया। वह कपोतराज चित्रग्रीव भी जहाँ उसे जाना था, वहाँ अपने परिवार सहित चला गया। और हिरण्यक चूहा भी अपने बिल में चला गया।

इसलिए मनुष्य को सभी प्रकार के अपने बहुत से मित्र करने चाहिये। देखो चित्रग्रीव के मित्र चूहे ने कबूतरों को बन्धन से छुड़ा दिया था ॥ ५४ ॥

इसके बाद लघुपतनक नाम का वह कौआ यह सब वृत्तान्त देखकर आश्चर्य में पड़ गया। और हिरण्यक (चूहे) के बिल के पास जाकर बोला—हे हिरण्यक! तुम धन्य हो। इसलिए मैं भी तुम्हारे साथ मित्रता करना चाहता हूँ। अतः मुझे भी अपना मित्र बनाकर अनुगृहीत करो।

यह सुनकर वह हिरण्यक (चूहा) बिल के भीतर से ही बोला—तुम कौन हो?। वह बोला—'मैं लघुपतनक नाम का कौआ हूँ'। तब हिरण्यक हँसकर बोला—'वाह! तुम्हारे साथ हमारी मित्रता कैसी?।"

यतः—

'यद्येन युज्यते लोके बुधस्तत्तेन योजयेत् ।
अहमन्नं, भवान्भोक्ता, कथं प्रीतिर्भविष्यति' ? ॥ ५५ ॥

अपरञ्च—

'भक्ष्य-भक्षकयोः प्रीतिर्विपत्तेरेव कारणम् ।
शृगालात्पाशबद्धोऽसौ मृगः काकेन रक्षितः' ॥ ५६ ॥

वायसोऽब्रवीत्—'कथमेतत् ?' । हिरण्यकः कथयति—

(२) मृग-शृगाल-कथा ।

अस्ति मगधदेशे चम्पकवती नामाऽरण्यानी । तस्यां चिरान्महता स्नेहेन मृगकाकौ निवसतः । स च मृगः स्वेच्छया भ्राम्यन् हृष्टपुष्टाङ्गः केनचिच्छृगालेनाऽवलोकितः ।

यद्येनेति । यत् = यौद्धादि । येन = येन सह । युज्यते = युक्तं भवति । अन्नं = भक्ष्यभूतः । भोक्ता = भक्षकः । प्रीतिः = मैत्री, स्नेहश्च ॥ ५५ ॥

विपत्तेः = आपत्तेः । शृगालात् = मायाविजम्बुकात् । पाशबद्धः = पाशजालबन्धनः । काकेन = क्षुद्रवायसेन ॥ ५६ ॥

चम्पकवती = चम्पारण्यनाम्नी । (चम्पारन) । अरण्यानी = महदरण्यम् । चिरात् = चिरकालेन । हृष्टपुष्टाङ्गः = महत्स्थूलपुष्टशरीरः । शृगालेन = जम्बुकेन ।

क्योंकि—पण्डित को चाहिये कि जिसके साथ मेल (मित्रता) हो सकता है, उसके ही साथ मेल करे । परन्तु मैं तो आपका अन्न (भक्ष्य) हूँ, और आप मेरे भक्षक हैं । भला हमारी तुम्हारी मित्रता कैसे हो सकती है ? ॥ ५५ ॥

और भी—भक्ष्य और भक्षक की प्रीति तो विपत्ति का ही कारण होती है । देखो, उस सियार के फन्दे में आकर यह बिचारा मृग जाल में फँस गया था । परन्तु उसके मित्र कौवे ने ही उसकी रक्षा की थी ॥ ५६ ॥

कौआ बोला,—यह कथा कैसे है ? । हिरण्यक कहने लगा—

मगध देश में चम्पकवती (चम्पारन) नाम का एक बहुत बड़ा जङ्गल है, वहाँ बहुत काल से एक मृग और कौआ बड़े प्रेम से मित्रतापूर्वक रहते थे । और वह

तं दृष्ट्वा शृगालोऽचिन्तयत्—'आः! कथमेतन्मांसं सुललितं भक्षयामि। भवतु। विश्वासं तावदुत्पादयामि।'—इत्यालोच्य उपसृत्याऽब्रवीत्—'मित्र! कुशलं ते?।'

मृगेणोक्तम्—'कस्त्वम्?'।

स ब्रूते—'क्षुद्रबुद्धिनामा जम्बुकोऽहम्, अत्राऽरण्ये बन्धुहीनो मृतवन्निवसामि। इदानीं त्वां मित्रमासाद्य, पुनः सबन्धुर्जीवलोके प्रविष्टोऽस्मि। अधुना तवाऽनुचरेण मया सर्वथा भवितव्यम्।'

मृगेणोक्तम्—'एवमस्तु।'

ततः पश्चादस्तङ्गते सवितरि भगवति मरीचिमालिनि, तौ मृगस्य वासभूमिं गतौ। चम्पकवृक्षशाखायां सुबुद्धिनामा काको मृगस्य चिर-

अवलोकितः = दृष्टः। एतन्मांसं = मृगमांसं। सुललितं = सुमधुरं (चटपटा)। उपसृत्य = समीपं गत्वा। कुशलं = मङ्गलम्। अरण्ये = महावने। बन्धुहीनः = सुहृद्रहितः। सबन्धुः = मित्रसहितः। जीवलोकं = संसारम्। पुनरुज्जीवितोऽस्मीति भावः। अनुचरेण = सहचरेण। एवमस्तु = अस्त्वेवम्। (अच्छा)। सवितरि = सूर्ये। मरीचिमालिनि = मयूखमालिनि। किरण-माला-विराजिते। सहस्रकिरणे।

मृग बहुत ही हृष्ट पुष्ट था, और जङ्गल में स्वच्छन्द इधर उधर घूमा करता था।

एकदिन एक सियार ने उसे देखा और देखकर वह सियार सोचने लगा कि—अहा! इसका मीठा सुस्वादु मांस मैं किस प्रकार खाऊँ?। (कुछ विचार कर) अच्छा पहिले इससे मेल जोल बढ़ाऊँ और विश्वास उत्पन्न करूँ। ऐसा विचार कर उस मृग के पास जाकर वह शृगाल बोला—

हे मित्र! कहिए, आप सकुशल तो हैं?। मृग ने कहा—भाई, तुम कौन हो?। वह बोला—मैं सियार हूँ, मेरा नाम क्षुद्रबुद्धि है। इस वन में मैं मित्रों से रहित होने के कारण मृतक की तरह पड़ा रहता था। इस समय आप ऐसे सज्जन मित्र को पाकर अपने बन्धु बान्धवों के साथ मानों मैं पुनः जीवलोक में प्रविष्ट हुआ हूँ। अब मैं सदा आपके साथ ही रहूँगा। मृग ने कहा—अच्छा, जैसी तुम्हारी इच्छा। इसके बाद मरीचिमाली भगवान् सूर्य जब अस्ताचल पर चले गये, और जब सन्ध्या हो गई, तब वे दोनों (मृग और शृगाल) मृग की निवास भूमि पर गये। वहीं चम्पक (चम्पा) वृक्ष की शाखा पर उस मृग का पुराना

यतः—

'यद्येन युज्यते लोके बुधस्तत्तेन योजयेत् ।
अहमन्नं, भवान्भोक्ता, कथं प्रीतिर्भविष्यति' ? ॥ ५५ ॥

अपरञ्च—

'भक्ष्य-भक्षकयोः प्रीतिर्विपत्तेरेव कारणम् ।
शृगालात्पाशबद्धोऽसौ मृगः काकेन रक्षितः' ॥ ५६ ॥

वायसोऽब्रवीत्—'कथमेतत् ?' । हिरण्यकः कथयति—

(२) मृग-शृगाल-कथा ।

अस्ति मगधदेशे चम्पकवती नामाऽरण्यानी । तस्यां चिरान्महता स्नेहेन मृगकाकौ निवसतः । स च मृगः स्वेच्छया भ्राम्यन् हृष्टपुष्टाङ्गः केनचिच्छृगालेनाऽवलोकितः ।

यद्येनेति । यत् = सौहृदादि । येन = येन सह । युज्यते = युक्तं भवति । अन्नं = भक्ष्यभूतः । भोक्ता = भक्षकः । प्रीतिः = मैत्री, स्नेहश्च ॥ ५५ ॥

विपत्तेः = आपत्तेः । शृगालात् = भक्षकाज्जम्बुकात् । पाशबद्धः = प्राप्तजालबन्धनः । काकेन = सुहृदा वायसेन ॥ ५६ ॥

चम्पकवती = चम्पकवननाम्नी । (चम्पारन) । अरण्यानी = महदरण्यम् चिरात् = चिरकालेन । हृष्टपुष्टाङ्गः = प्रहृष्टपुष्टपीवरतनुः । शृगालेन = जम्बुकेन

क्योंकि—पण्डित को चाहिये कि जिसके साथ मेल (मित्रता) हो सकता है, उसके ही साथ मेल करे । परन्तु मैं तो आपका अन्न (भक्ष्य) हूँ, और आप मेरे भक्षक हैं । भला हमारी तुम्हारी मित्रता कैसे हो सकती है ? ॥ ५५ ॥

और भी—भक्ष्य और भक्षक की प्रीति तो विपत्ति का ही कारण होती है । देखो, उस सियार के फन्दे में आकर वह बिचारा मृग जाल में फँस गया था । परन्तु उसके मित्र कौवे ने ही उसकी रक्षा की थी ॥ ५६ ॥

कौआ बोला,—यह कथा कैसे है ? । हिरण्यक कहने लगा—

मगध देश में चम्पकवती (चम्पारन) नाम का एक बड़ा भारी जङ्गल है, वहाँ बहुत काल से एक मृग और कौआ बड़े प्रेम से मित्रतापूर्वक रहते थे । और वह

तं दृष्ट्वा शृगालोऽचिन्तयत्—'आः ! कथमेतन्मांसं सुललितं भक्षयामि । भवतु । विश्वासं तावदुत्पादयामि ।'—इत्यालोच्य उपसृत्याऽब्रवीत्—'मित्र ! कुशलं ते ? ।'

मृगेणोक्तम्—'कस्त्वम् ?' ।

स ब्रूते—'क्षुद्रबुद्धिनामा जम्बुकोऽहम्, अत्राऽरण्ये बन्धुहीनो मृतवन्निवसामि । इदानीं त्वां मित्रमासाद्य, पुनः सबन्धुर्जीवलोके प्रविष्टोऽस्मि । अधुना तवाऽनुचरेण मया सर्वथा भवितव्यम् ।'

मृगेणोक्तम्—'एवमस्तु ।'

ततः पश्चादस्तङ्गते सवितरि भगवति मरीचिमालिनि, तौ मृगस्य वासभूमिं गतौ । चम्पकवृक्षशाखायां सुबुद्धिनामा काको मृगस्य चिर-

अवलोकितः = दृष्टः । एतन्मांसं = मृगमांसं । सुललितं = सुमधुरं (चरपरा) । उपसृत्य = समीपं गत्वा । कुशलं = मङ्गलम् । अरण्ये = महावने । बन्धुहीनः = सुहृद्रहितः । सबन्धुः = मित्रसहितः । जीवलोकं = संसारम् । पुनरुज्जीवितोऽस्मीति भाव् । अनुचरेण = सहचरेण । एवमस्तु = अस्त्वेवम् । (अच्छा) । सवितरि = सूर्ये । मरीचिमालिनि = मयूखमालिनि । किरण-माला-विराजिते । सहस्रकिरणे ।

मृग बहुत ही हृष्ट पुष्ट था, और जङ्गल में स्वच्छन्द इधर उधर घूमा करता था ।

एकदिन एक सियार ने उसे देखा और देखकर वह सियार सोचने लगा कि—अहा ! इसका मीठा सुस्वादु मांस मैं किस प्रकार खाऊँ ? । (कुछ विचार कर) अच्छा पहिले इससे मेल जोल बढ़ाऊँ और विश्वास उत्पन्न करूँ । ऐसा विचार कर उस मृग के पास जाकर वह शृगाल बोला—

हे मित्र ! कहिए, आप सकुशल तो है ? । मृग ने कहा—भाई, तुम कौन हो ? । वह बोला—मैं सियार हूँ, मेरा नाम क्षुद्रबुद्धि है । इस वन में मैं मित्रों से रहित होने के कारण मृतक की तरह पड़ा रहता था । इस समय आप ऐसे सज्जन मित्र को पाकर अपने बन्धु बान्धवों के साथ मानों मैं पुनः जीवलोक में प्रविष्ट हुआ हूँ । अब मैं सदा आपके साथ ही रहूँगा । मृग ने कहा—अच्छा, जैसी तुम्हारी इच्छा । इसके बाद मरीचिमाली भगवान् सूर्य जब अस्ताचल पर चले गये, और जब सन्ध्या हो गई, तब वे दोनों (मृग और शृगाल) मृग की निवास भूमि पर गये । वहाँ चम्पक (चम्पा) वृक्ष की शाखा पर उस मृग का पुराना

मित्रं निवसति। तौ दृष्ट्वा काकोऽवदत्,—सखे चित्राङ्ग! कोऽयं द्वितीयः?'। मृगो ब्रूते—'जम्बुकोऽयम्, अस्मत्सख्यमिच्छन्नागतः।' काको ब्रूते—'मित्र! अकस्मादागन्तुना सह मैत्री न युक्ता। तन्न भद्रमाचरितम्। तथा चोक्तम्—

'अज्ञातकुलशीलस्य वासो देयो न कस्यचित्।
मार्जारस्य हि दोषेण हतो गृध्रो जरद्गवः' ॥ ५७ ॥

तावाहतुः—'कथमेतत्?'। काकः कथयति—

(३) जरद्गव-बिडाल कथा।

अस्ति भागीरथीतीरे गृध्रकूटनाम्नि पर्वते महान् पर्कटीवृक्षः।

तौ = मृगजम्बुकौ। चिरमित्र=पुरातनः सुहृत्। आगन्तुना = अपरिचितेन। भद्रम्=उचितम्। आचरितम् = अनुष्ठितम्। अज्ञातेति। अज्ञात कुलं, शीलञ्च यस्यासौ = अज्ञातकुलशीलः, तस्य= अविदितवंशस्वभावस्य, अपरिचितस्य। दोषेण = अपराधेन। जरद्गवः=जरद्गवनामा गृध्रः ॥ ५७ ॥ तौ = मृगजम्बुकौ। भागीरथीतीरे=गङ्गातटे। गृध्रकूटनाम्नि = 'गिद्धौर'

मित्र सुबुद्धि नाम का एक कौआ रहता था। उन दोनों को देख कर यह कौ.. बोला—मित्र चित्राङ्ग!, हमारे साथ यह दूसरा कौन है?। मृग बोला—यह सियार है, हमलोगों से मित्रता करने के लिये आया है। कौवा बोला—मित्र! बिना जाने अचानक आये हुए व्यक्ति से मित्रता नहीं करनी चाहिये। किसी ने कहा भी है कि—जिसका कुल और स्वभाव मालूम न हो, उसको अपने पास ठहरने भी नहीं देना चाहिये। क्योंकि देखो, बिल्ली के दोष से यह जरद्गव नाम का गृद्ध मारा गया था ॥ ५७ ॥

मृग और शृगाल कहने लगे कि—यह कथा कैसे है?।

कौवा कहने लगा—

गङ्गा जी के किनारे पर गृध्रकूट (गिद्धौर) नाम का एक पहाड़ है। उ

कोटरे दैवदुर्विपाकाद्गलितनखनयनो जरद्गवनामा गृध्रः प्रतिवसति । अथ कृपया तज्जीवनाय तद्वृक्षवासिनः पक्षिणः स्वाहारात्किञ्चिदुद्धृत्य तस्मै ददति, तेनासौ जीवति, तेषां शावकानां रक्षाञ्च करोति ।

अथ कदाचिद्दीर्घकर्णनामा मार्जारः पक्षिशावकान्भक्षयितुं तत्राऽऽगतः। ततस्तमायान्तं दृष्ट्वा पक्षिशावकैर्भयार्त्तैः कोलाहलः कृतः । तच्छ्रुत्वा जरद्गवेनोक्तम्—'कोऽयमायाति ?' ।

दीर्घकर्णो गृध्रमवलोक्य सभयमाह—'हा ! हतोऽस्मि' । यतः—

नाम्रा प्रसिद्धे । पर्वते=गिरौ । (पटना के पास के गिद्धौर नामक पर्वत व नगर में, पर्कटीवृक्षः=प्लक्षतरुः (पाकर) । कोटरे = निष्कुहे । (खोडरमें) । दैवदुर्विपाकात् = दुरदृष्टवशात् । नखानि च नयने च नखनयनम् । गलितं नखनयनं यस्यासौ—गलितनखनयनः = विशीर्णनखलोचनः । आहारोपार्जनाऽसमर्थः । कृपया=दयया । तज्जीवनाय=गृध्रजीवनाय । उद्धृत्य = निष्कास्य (निकाल कर) । असौ = जरद्गवः । तेषां = पक्षिणां, शावकानां—रक्षां=पक्षिशिशुरक्षाम् । मार्जारः = बिडालः । (बिल्ला) । पक्षिशावकान् =पक्षिबालकान् । तत्र=पर्कटीतरुकोटरे । भयार्त्तैः = भयत्रस्तैः । व्यापादयिष्यति = हनिष्यति ।

पर्वत पर एक बड़ा पाकड़ का वृक्ष था । उसके खोखले में जरद्गव नाम का एक गिद्ध रहता था । दुर्भाग्यवश वृद्धावस्था के कारण उसके नख और दाँत इत्यादि सब गिर गये । उसको इस प्रकार असहाय देख कर उस वृक्ष पर रहने वाले पक्षीगण दया करके अपने-अपने भोजन में से कुछ निकाल कर उसे दे दिया करते थे, जिससे उसकी प्राण रक्षा होती थी । और वह गृध्र भी इसके बदले में उन पक्षियों के बच्चों की रखवाली किया करता था ।

एक दिन दीर्घकर्ण नाम का एक बिलाव पक्षियों के बच्चों को खाने के लिये वहाँ आया । उसको आते देख कर पक्षियों के बच्चों ने डर के मारे हल्ला मचाया । उनका कोलाहल सुन कर, जरद्गव (गृध्र) ने झपट कर पूछा—'यह कौन आ रहा है ?' उस गिद्ध को देख कर डरता हुआ वह बिलाव मन ही मन कहने लगा कि—हा ! अब तो मैं बिना मौत ही मारा जाऊंगा ।

'तावद्भयस्य भेतव्यं यावद्भयमनागतम् ।
आगतं तु भयं वीक्ष्य नरः कुर्याद्यथोचितम्' ॥ ५८ ॥

अधुनाऽस्य[2] सन्निधाने पलायितुमक्षमः । तद्यथा भवितव्यं तद्भवतु । तावद्विश्वासमुत्पाद्याऽस्य समीपमुपगच्छामि ।'

—इत्यालोच्योपसृत्याऽब्रवीत्—'आर्य ! त्वामभिवन्दे ।' गृध्रोऽवदत्—'कस्त्वम् ? ।' सोऽवदत्—'मार्जारोऽहम् ।' गृध्रो ब्रूते—'दूरमपसर, नो चेद्धन्तव्योऽसि मया ।' मार्जारोऽवदत्—'श्रूयतां तावदस्मद्वचनम् । ततो यद्यहं वध्यस्तदा हन्तव्यः' । यतः —

तावदिति । भयस्य=भयजनकस्य चौरव्याघ्रादेः । भेतव्यम्=भीतिः कार्या । भयम्=भयप्रदं चौरव्याघ्रादिकम्, आगतम्=उपस्थितम् । वीक्ष्य=दृष्ट्वा तु । यथोचितम्=यथायोग्यं तत्प्रतीकारोपायम् । कुर्यात्=विदधीत ॥ ५८ ॥

अधुना=सम्प्रति । अतिसन्निधानेन=गृध्रस्य नितरां सन्निहिततया । पलायितुम्=प्रधावितुमपि । अशक्यम्=असम्भवि । अस्य—गृध्रस्य । आलोच्य=मनसि विचार्य । उपसृत्य=सन्निकटे गत्वा । आर्य=पूज्य । साधो ! । अभिवन्दे=नमस्करोमि । अपसर=पलायस्व । वध्य=वधार्हः ।

(फिर मन ही मन कुछ सोच कर—) जब तक विपत्ति नहीं आये तभी तक उससे डरना चाहिये । पर यदि विपत्ति आ ही पड़े, तो मनुष्य को निर्भय होकर उसका यथोचित प्रतीकार करना चाहिए ॥ ५८ ॥

और इस समय मैं इस गृध्र के पास में हूँ, यहाँ से मैं भाग भी नहीं सकता हूँ। इसलिये अब तो जो होना है सो हो । देखा जायगा । अच्छा ! तब तक विश्वास दिलाकर मैं इस गृध्र के समीप चलता हूँ । ऐसा विचार कर उस गृध्र के पास जाकर वह बिलाव बोला—हे आर्य ! (स्वामी !) मैं आपको प्रणाम करता हूँ । गिद्ध बोला—तुम कौन हो ? । वह बोला—मैं बिलाव हूँ । तब गिद्ध बोला—भागो भागो, दूर हटो, नहीं तो मैं तुम्हें मार डालूँगा । बिलाव बोला—'पहिले मेरा कहना सुन लीजिए, फिर यदि मैं मारने योग्य होऊँ तो मुझे मारदेना ।'

१. 'प्रतिकुर्याद्यथोचितम्' । 'नरः संयमी' इति च पाठान्तरम् ।
२ 'अधुनाऽस्य सन्निधाने पलायितुमशक्यम्' इति पाठान्तरम् ।

'जातिमात्रेण किं कश्चिद्धन्यन्ते, पूज्यते क्वचित् ? ।
व्यवहारं परिज्ञाय वध्यः, पूज्योऽथवा भवेत्' ॥ ५६ ॥

गृध्रो ब्रूते—'ब्रूहि किमर्थमागतोऽसि ?'। सोऽवदत्-'अहमत्र गङ्गातीरे नित्यस्नायी, निरामिषाशी, ब्रह्मचारी, चान्द्रायणव्रतमाचरंस्तिष्ठामि । यूयं धर्मज्ञाः प्रेमविश्वासभूमय' इति पक्षिणः सर्वे सर्वदा ममाऽग्रे प्रस्तुवन्ति । अतो भवद्भ्यो विद्यावयोवृद्धेभ्यो धर्मं श्रोतुमिहागतः । भवन्तश्चैतादृशा धर्मज्ञा यन्मामतिथिं हन्तुमुद्यताः ! । गृहस्थधर्मश्चैषः—

जातेति । कश्चिदपि क्वचित्=कस्मिंश्चित्स्थलेऽपि, जातिमात्रेण='अयमेकजातीय' इत्येतावन्मात्रेणैव । किं वध्यते=किं हन्यते, किं पूज्यते=किं सत्क्रियते । नेत्यर्थः । व्यवहारं=तदाचारम्, परिज्ञाय = दृष्ट्वा । अनुरूप्यैव ॥ ५६ ॥

अत्र = चम्पकारण्ये । नित्यस्नायी = नित्यमभिषवपरः । निरामिषाशी = परिवर्जितमांसभोजनः । ब्रह्मचारी = निगृहीतेन्द्रियः । वेदमधीयानः । चान्द्रायणव्रतं=तन्नामकव्रतम्—'एकैकं ह्रासयेत्कृष्णे, शुक्ले च परिवर्द्धयेत्' इत्युक्तलक्षणम् ।

यूयं = भवन्तः । धर्मज्ञानरताः=धार्मिकाः, ज्ञानिनश्च । प्रेमविश्वासभूमयः = प्रीतियोग्याः, विश्वासार्हाश्च । इति=इत्येवम् । प्रस्तुवन्ति = तव स्तुतिं कुर्वन्ति, प्रशंसन्ति । कथयन्ति च । विद्यावयोवृद्धेभ्यः=विद्यावृद्धेभ्यः, वयोवृद्धेभ्यश्च । वृद्धाः=श्रेष्ठाः । एतादृशाः=ईदृशाः । (ऐसे) । (यत्=कि) । अतिथिं =

क्योंकि—कोई भी व्यक्ति जातिमात्र ही से मारने या पूजने लायक नहीं होता है, किन्तु उनका व्यवहार देख कर ही उसे मारना या पूजना चाहिए ॥ ५६ ॥

गिद्ध बोला—'अच्छा कहो, तुम यहाँ क्यों आये हो ?'। तब वह बिलार बोला—'मैं यहाँ पर गङ्गाजी के किनारे ही प्रतिदिन स्नान कर, फलाहारी हो, ब्रह्मचर्य से रहता हूँ और चान्द्रायण व्रत करता हूँ ।'आप बड़े ज्ञानी तथा प्रेम-विश्वास के पात्र हैं,' ऐसा प्रतिदिन पक्षीगण मेरे से कहा करते हैं । इसलिये आपको विद्यावृद्ध तथा वयोवृद्ध जान कर ही मैं आपसे कुछ धर्मशास्त्र के उपदेश सुनने यहाँ आया था । परन्तु आश्चर्य है कि आप तो ऐसे धर्मज्ञ हैं, कि मुझ अतिथि को भी मारने लिये तैयार हैं ! । गृहस्थों का तो धर्म यह है, कि—

'अरावप्युचितं कार्यमातिथ्यं गृहमागते ।
छेत्तुः पार्श्वगतां छायां नोपसंहरते द्रुमः' ॥ ६० ॥

यदि वा धनं[1] नास्ति तदा प्रीतिवचसाऽतिथिः पूज्य एव ।

यतः—

'तृणानि, भूमिरुदकं, वाक् चतुर्थी च सूनृता ।
[2]एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन' ॥ ६१ ॥

गृहागतम् । अरावपीति । अरौ=शत्रौ-अपि । गृहमागते सति—उचितं=योग्यम्, आतिथ्यम्=अतिथिसत्कारः । द्रुमः=वृक्षः । पार्श्वगतात्=निकटस्थितात्, छेत्तुः=स्वच्छेदकात् तक्ष्ण- तक्षकादपि । स्वच्छायां—नोपसंहरते=न सङ्कोचयति ॥ ६० ॥

धनम्=अतिथिसत्काराय धनम् । सुनीतेन=मधुरेण । तावत्=केवलम् ।

तृणानीति । तृणानि=आस्तरणार्थं पलालकुशादीनि । भूमि=निवासस्थानम् । उदकं=पानार्थं शीतलं पयः । एतत्त्रितयं, किञ्च—चतुर्थी-सूनृता=प्रिया, सत्या च । वाक्=वाणी । 'सूनृतं मङ्गलेऽपि स्यात्प्रियसत्ये वचस्यपी'ति मेदिनी । एतानि=चत्वारि, अपि=तु । सतां=साधूनां । गेहे=गृहे । नोच्छिद्यन्ते कदाचन=न कदाचन विरलीभवन्ति । सदैव सुलभान्येवेत्याशयः ॥ ६१ ॥

शत्रु भी यदि अपने घर पर आ जाए तो उसका भी उचित आतिथ्य सत्कार करना चाहिए । देखो—वृक्ष अपने काटने वाले बढ़ई, कुठार आदि की ओर से भी अपनी सुशीतल छाया को कभी नहीं हटाता है ॥ ६० ॥

और यदि पास में देने को कुछ अन्न धन आदि न भी हो तो भी प्रेमपूर्वक मीठे वचन बोल कर ही अतिथि का सत्कार करना चाहिये ।

क्योंकि—बिछाने के लिए और बैठने के लिए पुआल आदि घास फूस, रहने को स्थान, जल-ये तीन चीज और चौथा मीठा वचन, इन ४ चीजों की कमी तो सज्जनों के घर में कभी भी नहीं होती है । अर्थात् कुछ भी घर में देने को न हो तो भी इन चार वस्तुओं से ही अतिथि का सत्कार करना चाहिये ॥ ६१ ॥

---

१. 'धनम्' इति पाठान्तरम् । २. 'एतानि तु' पा. ।

अन्यच्च—

'बालो वा, यदि वा वृद्धो, युवा वा गृहमागतः ।
तस्य पूजा विधातव्या, सर्वस्याऽभ्यागतो गुरुः' ॥ ६२ ॥

अपरञ्च—

'निर्गुणेष्वपि सत्त्वेषु दयां कुर्वन्ति साधवः ।
न हि संहरते ज्योत्स्नां चन्द्रश्चाण्डालवेश्मनः'[1] ॥ ६३ ॥

अन्यच्च—

'अतिथिर्यस्य भग्नाऽऽशो गृहात्प्रतिनिवर्त्तते ।
स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति' ॥ ६४ ॥

गृहमागतः = स्वगृहद्वारि समुपस्थितः । अतिथिः । तस्य = अतिथेः । अभ्यागतः = अतिथिः, गुरुः = पूज्यः ॥ ६२ ॥

निर्गुणेष्वपि = अयोग्येष्वपि, नीचेष्वपि च । सत्त्वेषु = भूतेषु । साधवः = सन्तः । हि = यतः । चन्द्रः = इन्दुः । चाण्डालवेश्मनः = पतिताऽन्त्यजस्थानगेहात् । ज्योत्स्नां = स्वचन्द्रिकां, न संहरते = न सङ्कोचयति ॥ ६३ ॥

अतिथिरिति । यस्य = पुंसः, गृहात्—अतिथिः—भग्नाशः = निराशः सन्, प्रतिनिवर्त्तते = पुराङ्मुखो गच्छति । सः = अतिथिः, तस्मै = गृहस्वामिने । दुष्कृतं = स्वपापम् । दत्त्वा । पुण्यं = गृहस्वामिनः पुण्यम् । आदाय गच्छति = अपहरति ॥६३॥

अतिथि यदि बालक हो या वृद्ध हो या जवान हो वह यदि अपने घर पर आ जाय, तो उसकी पूजा अवश्य करनी चाहिये । क्योंकि अतिथि सभी का गुरु और पूज्य होता है ॥ ६२ ॥

और भी—महात्मा लोग गुणहीन (साधारण पामर, तुच्छ) जीवों पर भी सदा दया ही करते हैं । देखो, चन्द्रमा चाण्डाल के घर से भी अपनी किरणों को नहीं हटाता है । अर्थात् चन्द्रमा की शीतल किरण गुणी व निर्गुण सभी के ऊपर समान ही पड़ती हैं ॥ ६३ ॥

और भी—जिस गृहस्थ के घर से अतिथि निराश होकर लौट जाता है, तो

---

१. वेश्मनि' पा० ।

अन्वय—

'उत्तमस्यापि वर्णस्य नीचोऽपि गृहमागतः ।
पूजनीयो यथायोग्यं, सर्वदेवमयोऽतिथिः' ॥ ६५ ॥

गृध्रोऽवदत्—'मार्जारो हि मांसरुचिः, पक्षिशावकाश्चात्र निवसन्ति, तेनाऽहमेवं ब्रवीमि'।

तच्छ्रुत्वा मार्जारो भूमिं स्पृष्ट्वा कर्णौ स्पृशति। ब्रूते च—'मया धर्मशास्त्रं श्रुत्वा वीतरागेणेदं दुष्करं व्रतं चान्द्रायणमध्यवसितम्। परस्प-
विवदमानानामपि धर्मशास्त्राणाम्—'अहिंसा परमो धर्मः' इत्यत्रैकमत्यम्।
यतः—

उत्तमस्यापि वर्णस्य = श्रेष्ठस्यापि ब्राह्मणादेर्वर्णस्य। गेहे=गृहे। नीचोऽपि=स्वतो निकृष्टश्चाण्डालादिरपि। यथायोग्य=यथोचितम्। पूजनीयः=पूज्यः। कुत एतदत आह—सर्वेति। सर्वदेवमयः=सर्वदेवस्वरूपः ॥ ६५ ॥

मांसरुचिः=मांसप्रियः। अत्र=वृक्षकोटरे। एवं=क्रूरं वाक्यम्। कर्णौ स्पृशति=नितान्तमशक्यत्वमात्मनो दर्शयन्, कर्णौ स्पृशन् शपथमाचरति (कान पकड़कर सौगन्ध खाता है)। वीतरागेण=विगतस्पृहेण। अध्यवसितं=स्वीकृतम्। विवदमानानामपि=कलहायमानानां परस्परं विरुद्धं निर्दिश

वह अतिथि उस गृहस्थ को अपना पाप देकर और उसका पुण्य लेकर चला जाता है। अर्थात् अतिथि को निराश करने से बड़ा पाप होता है ॥ ६४ ॥

और भी—उत्तम वर्ण (ब्राह्मण आदि) के घर में यदि नीच वर्ण (चाण्डालादिक) भी अतिथि होकर आये तो उसका भी यथायोग्य सत्कार करना चाहिये, क्योंकि अतिथि सब देवताओं का रूप है ॥ ६५ ॥

तब वह गिद्ध बोला—बिल्ली को मांस खाने की बड़ी रुचि होती है, और यहाँ पक्षियों के बच्चे रहते हैं। इसीलिये मैंने ऐसा कहा था। (तुमको [illegible]) अतः तुम इसे बुरा मत मानना। यह सुन कर वह बिलाव भूमि को छूकर कान पकड़ने लगा और बोला कि मैं तो धर्मशास्त्रों को सुनकर विरक्त होकर इस कठिन चान्द्रायण को धारण कर रहा हूँ। यद्यपि और विषयों पर धर्मशास्त्रों में मतभेद भी है, पर 'हिंसा नहीं करना ही सबसे बड़ा धर्म है' इस बात पर तो सभी शास्त्रों की सम्मति है।

'अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परो दमः ।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः' ॥ ६६ ॥
अहिंसा परमो यागस्त्वहिंसा परमं बलम् ।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं श्रुतम् ॥ ६७ ॥
सर्वहिंसानिवृत्ता ये नराः, सर्वसहाश्च ये ।
सर्वस्याऽऽश्रयभूताश्च, ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ६८ ॥
एक एव सुहृद्धर्मो, निधनेऽप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति ॥ ६९ ॥

तामपि । धर्मशास्त्राणां = मन्वादिस्मृतीनाम् । ऐकमत्य = परस्परमविरोधः ॥ परमः = सर्वोत्कृष्टः । दमः = इन्द्रियविनिग्रहः ॥ ६६ ॥

मित्र=हितकारकम् । श्रुतं=विद्या तत्त्वमिति यावत् ॥ ६७ ॥

सर्वसहाः = तितिक्षापरायणाः । आश्रयभूताः = सर्वाऽभयप्रदाः ॥ ६८ ॥

धर्म —एव एकः = केवलः, लोकानां—सुहृत्=मित्र, यः-निधनेऽपि=मरणेऽपि, अनुयाति=प्राणिभिः सह गच्छति । सम = सार्द्धम्, अन्यत् = धनादिकम् । गच्छति=याति ॥ ६९ ॥

क्योंकि अहिंसा ही परम धर्म है । अहिंसा ही सबसे बड़ा दम (इन्द्रिय निग्रह) है । अहिंसा ही परम उत्कृष्ट दान है । अहिंसा ही सबसे बड़ा तप है ॥ ६६ ॥

और अहिंसा ही सबसे बड़ा यज्ञ है । अहिंसा सबसे बड़ा बल है । अहिंसा ही सच्चा मित्र है । अहिंसा ही सबसे बड़ा श्रुत=ज्ञान (उपदेश) है । अर्थात् अहिंसा ही सब वेदों का व स्मृतियों का सार है ॥ ६७ ॥

क्योंकि—जो लोग सब प्रकार की जीव हिंसा से निवृत्त हैं, और जो सब कुछ सहन करते हैं, तथा सबको यथाशक्ति आश्रय देते हैं, वे ही लोग स्वर्ग में जाते हैं ॥६८॥

और धर्म ही केवल एक ऐसा मित्र है, जो मरने पर भी साथ देता है । और सब सम्पत्ति तो शरीर के साथ ही नष्ट हो जाती है ॥ ६९ ॥

किञ्च—

योऽत्ति यस्य यदा मांसमुभयोः पश्यताऽन्तरम् ।
एकस्य क्षणिका प्रीतिरन्यः प्राणैर्विमुच्यते ॥ ७० ॥
'मर्तव्य'मिति यद्दुःखं पुरुषस्योपजायते ।
शक्यते नाऽनुमानेन परेण परिवर्णितुम् ॥ ७१ ॥

शृणु पुनः—

'स्वच्छन्दवनजातेन शाकेनाऽपि प्रपूर्यते ।
अस्य दग्धोदरस्याऽर्थे कः कुर्यात्पातकं महत् ॥ ७२ ॥

यः = पुमान् यस्य = मृगादेः । यदा = यस्मिन् समये । अत्ति = भक्षयति । उभयोः = भक्ष्यभक्षकयोः । अन्तरं = भेदम् । पश्यत = विलोकयत । एकस्य = भक्षकस्य पुरुषस्य । क्षणिका = क्षणमात्रस्थायिन्येव । प्रीतिः = तृप्तिर्भवति । परम् अन्यः = मृगादिर्भक्ष्यभूतः पशुस्तु ॥ ७० ॥

'मया मर्तव्यमिदानी'मिति ज्ञात्वा, यत् = यादृशं दुःखं = क्लेशः—पुरुषस्य, जन्तोः, उपजायते = भवति, तेन = स्वकीयेन, अनुमानेन = अनुमितिना, परोऽपि = मृगादयोऽपीति । परिवर्णितुं । शक्यः = योग्यः । 'मरणाद्यथा मम दुःखं, तथैव परस्यापी'ति निश्चाय परोऽपि स्वात्मवदेव रक्षणीय इत्याशयः ॥ ७१ ॥

स्वच्छन्दवनजातेन = स्वतन्त्रवनोद्भूतेन सुलभेन । शाकेन = वल्लूकशाकादिना । अपूर्यते = परिपूर्णं भवति । तस्य दग्धोदरस्य = उदरस्थलस्य, अर्थे = निमित्तं, कः = कः सचेताः पुमान् । महत् = नितरां गुरु । पातकं = प्राणिवधरूपपापम्—कुर्यात् । न कश्चिदपि महत्पापं कुर्यादित्यर्थः ॥ ७२ ॥

एक प्राणी जब दूसरे प्राणी का मांस खाता है, तो उस समय उन दोनों के भेद देखिये । एक (खाने वाले) को तो क्षणभर का आनन्द (आस्वाद) मिलता है, परन्तु दूसरा (भक्ष्य प्राणी) सदा के लिये इस संसार से चला जाता है ॥ ७० ॥

'मुझको मरना होगा' यह सोच कर मरने वाले मनुष्य को जो दुःख होता है, उसको दूसरा मनुष्य केवल अनुमान से वर्णन नहीं कर सकता है ॥ ७१ ॥

और सुनो—बिना बोये-जोते स्वयं वन में उत्पन्न हुए शाक से भी जब यह पेट

—एवं विश्वास्य स मार्जारस्तत्कोटरे स्थितः ।

ततो दिनेषु गच्छत्सु-असौ पक्षिशावकानाक्रम्य कोटरमानीय प्रत्यहं खादति । येषामपत्यानि खादितानि तैः शोकार्त्तैर्विलपद्भिरितस्ततो जिज्ञासा समारब्धा। तत्परिज्ञाय मार्जारः कोटरान्निःसृत्य बहिः पलायितः। पश्चात्पक्षिभिरितस्ततो निरूपयद्भिस्तत्र तरुकोटरे शावकाऽस्थीनि प्राप्तानि । अनन्तरम्—'अनेनैव जरद्गवेनाऽस्माकं शावकाः खादिताः' इति सर्वैः पक्षिभिर्निश्चित्य स गृध्रो व्यापादितः ।

अतोऽहं ब्रवीमि-'अज्ञातकुलशीलस्य' इत्यादि ॥ ७३ ॥

दिनेषु गच्छत्सु=कतिषु चिद्दिवसेष्वपयातेषु सत्सु (कुछ दिन बीत जाने पर)। असौ=मार्जारः। आक्रम्य=विधृत्य (पकड़कर)। प्रत्यहं=प्रतिदिनम्। अपत्यानि=शावकाः। खादितानि। तैः=पक्षिभिः। शोकार्त्तैः=शोकाकुलैः। विलपद्भिः=रुदद्भिः। जिज्ञासा=गवेषणा, समारब्धा=आरब्धा। (पता लगाना

भरा जा सकता है, तो इस पापी पेट के लिये इतना बड़ा पाप कौन समझदार मनुष्य करेगा ?। अर्थात् इस पापी पेट के लिए किसी को भी ऐसा जघन्य काम नहीं करना चाहिये ॥ ७२ ॥

इस प्रकार विश्वास उत्पन्न कराके वह बिलाव गृध्र के साथ ही उस वृक्ष के खोखले में रहने लगा।

और कुछ दिन बीत जाने पर वह प्रतिदिन पक्षियों के बच्चों को पकड़ पकड़ कर अपने खोखले में ले जाकर खाने लगा। जिन पक्षियों के बच्चों को उस बिलाव ने खा लिया था, वे पक्षी शोकार्त होकर रोते हुए अपने बच्चों को इधर-उधर खोजने लगे। इस बात को जानकर वह बिलाव वृक्ष के खोखले से निकल कर भाग गया। इसके बाद पक्षियों ने इधर-उधर खोजते खोजते उस पेड़ के खोखले में—जिसमें गृध्र और बिलाव रहते थे—अपने अपने बच्चों की हड्डियों को देखा। तब उन सबों ने कहा कि 'इस जरद्गव गृध्र ने ही हम लोगों के बच्चों को खाया है' ऐसा सब पक्षियों ने निश्चय कर उस बेचारे निर्दोष गीध को चोंचों से मार डाला।

इसीलिये मैं कहता हूँ कि—बिना किसी का शील आदि जाने किसी को अपने स्थान में रहने नहीं देना चाहिये।

—इत्याकर्ण्य स जम्बुकः सकोपमाह—'मृगस्य प्रथमदर्शनदिने भवानप्य-ज्ञातकुलशील एव, तत्कथं भवता सहैतस्य स्नेहानुवृत्तिरुत्तरोत्तरं वर्द्धते ?।

'यत्र विद्वज्जनो नास्ति श्लाघ्यस्तत्राऽल्पधीरपि ।
निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते' ॥ ७३ ॥

अन्यच—

'अयं निजः', 'परो वे'ति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥ ७४ ॥

मारम्भ किया) । तत् = पक्षिणः मुद्रान् । निरूपयद्भिः = जिज्ञासमानैः ।
दितः = हतः ।

सकोपं = सक्रोधम् । आह = काकं प्रत्याह । भवानपि = काकोऽपि । व्यापा-मृगस्य । स्नेहानुवृत्तिः = स्नेहसम्बन्धः । यत्रेति । अल्पधीः = मन्दबुद्धिः, तुच्छमति-रपि । निरस्तपादपे = वृक्षशून्ये । एरण्डः = पञ्चाङ्गुलः । द्रुम इव आचरति—द्रुमायते= वृक्षपदं धत्ते । एवञ्च भवान् काकोऽपीदानीमनुपदेशकपदं धत्ते । किञ्च भव काकोऽपीदानीं मृगस्यास्य सुहृत्त्वं धत्ते इत्याशयः ॥ ७३ ॥

अयं जनः = निजः आत्मीयः, अयं परः = अयं जनः अपरः, शत्रुर्वा । इति = इत्येवं, लघुचेतसां = सङ्कुचितचित्तानां, क्षुद्राणामेव । गणना = विचारो भवति । उदार-चरितानां = महानुभावानां, महतान्तु । वसुधैव = सकलं जगदपि । कुटुम्बकम् = कुटुम्बतुल्यमेव । सर्वमेव तेषामात्मीयमाय इत्यर्थः ॥ ७४ ॥

यह सुनकर वह सियार क्रुद्ध होकर बोला—'जब आपका (कौवे का) और मृग पहिले पहल दर्शन हुआ था तब आप भी तो मृग के लिए अज्ञातकुलशील ही थे फिर क्यों आप का और इस (मृग) का प्रेम उत्तर बढ़ता ही जाता है ! ठीक है—जहाँ कोई श्रेष्ठ विद्वान् नहीं है, वहाँ अल्प बुद्धि वाले पुरुष की भी प्रशंसा होती है। जिस जगह वृक्ष नहीं है, वहाँ रेंड भी वृक्ष कहा जाता है !॥७३॥ और भी—'यह मेरा है', 'यह दूसरा है' यह विचार तो छोटे लोगों का ही है । बड़े लोगों का तो सम्पूर्ण संसार ही अपना कुटुम्ब है ॥ ७४ ॥

यथाऽयं मृगो मम बन्धुस्तथा भवानपि ।

मृगोऽब्रवीत्—किमनेनोत्तरोत्तरेण? । सर्वैरेकत्र विश्रम्भाऽऽलापैः सुखमनुभवद्भिः स्थीयताम् । यतः—

'न कश्चित्कस्यचिन्मित्रं, न कश्चित्कस्य चिद्रिपुः ।
व्यवहारेण मित्राणि जायन्ते, रिपवस्तथा' ॥ ७५ ॥

काकेनोक्तम्-'एवमस्तु' । अथ प्रातः सर्वे यथाऽभिमतदेशं गताः ।

एकदा निभृतं शृगालो ब्रूते—'सखे ! अस्मिन्वनैकदेशे सस्यपूर्णं क्षेत्रमस्ति । तदहं त्वां तत्र नीत्वा दर्शयामि ।'

तथा कृते सति मृगः प्रत्यहं तत्र गत्वा सस्यं खादति ।

भवान्=काकोऽपि । मम मित्र=सुहृत् । उत्तरोत्तरेण=उत्तरप्रत्युत्तरेण । विश्रम्भाऽऽलापैः=प्रीतिगर्भविश्वाससूचकैर्भाषणैः । नेति । मित्रं=स्वभावतो मित्रम् । रिपुः=सहजो रिपुः । व्यवहारेण=हिताऽहिताचरणेन, कार्यकारणभावेन च ॥७५॥

यथाऽभिमतदेशं=स्वस्वाभिलषितं स्थानम् । निभृतम्=एकान्ते । वनैकदेशे= वनैकभागे । वनप्रदेशे । तथाकृते सति=सस्यपूर्णे क्षेत्रे तेन प्रदर्शिते सति ।

जैसे यह मृग मेरा मित्र है, वैसे ही आप भी मेरे मित्र हैं । तब मृग बोला—रहने दो, इस उत्तर-प्रत्युत्तर से क्या लाभ है ? । सब लोग प्रेम से बातचीत करते हुए एक जगह सुखपूर्वक रहें-यही अच्छा है ।

क्योंकि—स्वभाव से तो न कोई किसी का मित्र है और न कोई किसी का शत्रु ही है । शत्रुता और मित्रता तो व्यवहार (कार्य) से ही होती है ॥ ७५ ॥

तब उस कौवे ने कहा कि—अच्छी बात है । इसके अनन्तर प्रातःकाल होने पर वे सब अपनी अपनी इच्छा से इधर-उधर वन में चरने को चले गए । इस प्रकार वे तीनों आनन्दपूर्वक उस वन में रहने लगे ।

एक दिन उस सियार ने मृग से एकान्त में कहा कि हे मित्र ! इसी वन के एक स्थान में धान का हरा भरा खेत है, चलो मैं चलकर तुमको दिखला दूँ । ऐसा कहकर उस शृगाल ने वह खेत मृग को दिखा दिया ।

तब तो वह मृग नित्य उस खेत में जाकर धान खाने लगा ।

अथ दिनकतिपयेन क्षेत्रपतिना तद्दृष्ट्वा पाशा योजिताः। अनन्तरं पुनरागतश्च चरन् मृगस्तत्र पाशैर्बद्धोऽचिन्तयत्—'को मामितः कालपाशादिव व्याधपाशात्त्रातुं मित्रादन्यः समर्थः ?'। तत्राऽन्तरे जम्बुकस्तत्राऽऽगत्योपस्थितोऽचिन्तयत्—'फलितस्तावदस्माकं कपटप्रबन्धः, मनोरथसिद्धिरपि प्रायो मे भविष्यति। एतस्योत्कृत्यमानस्य मांसाऽसृग्लिप्तान्यस्थीनि मयाऽवश्यं प्राप्तव्यानि, तानि बाहुल्येन (मे) भोजनानि भविष्यन्ति।' मृगस्तं दृष्ट्वोल्लासितो ब्रूते—'सखे! छिन्धि तावन्मम बन्धनम्, सत्वरं त्रायस्व माम्। यतः—

आपत्सु मित्रं जानीयाद्युद्धे शूरमृणे शुचिम्।

तत्र = क्षेत्रे। सस्यं=व्रीहियवादिकम्। क्षेत्रपतिना=क्षेत्राधिपेन। (क्षेत्र=खेत) तत्=मृगभक्षणम्। योजिता.=बद्धाः। इतः=अस्मात्। कालपाशादिव=यमपाशतुल्यात्, व्याधपाशात्=मृगयुपाशात्। त्रातुं=रक्षितुम्। अन्तरे=अवसरे। कपटप्रबन्धः=छलप्रयोगः। बाहुल्यात्=प्रायः। मनोरथसिद्धिः=मृगमांसाऽऽस्वादनाऽभिलाषसिद्धिः। उत्कृत्यमानस्य=छिद्यमानस्य, खण्ड्यमानस्य। (चमड़ा उतारे जाते समय)। मांसासृग्लिप्तानि=मांसरुधिरलिप्तानि। उल्लासितः=प्रसन्नमानसः। छिन्धि=खण्डय। त्रायस्व=रक्ष।

इस प्रकार कुछ दिन बीतने पर, खेत के स्वामी ने मृग को आता जाता देखकर एक दिन खेत में जाल लगा दिया। वह मृग भी प्रतिदिन की तरह आकर चरने लगा और जाल में फँस गया। तब वह सोचने लगा कि इस यम के तुल्य व्याधपाश से मित्र को छोड़ कर मुझे दूसरा कौन बचा सकता है इसी बीच में वह सियार वहाँ आया और मन ही मन सोचने लगा कि,—मेरी चालाकी तो काम कर गई, अब मेरी कामना सिद्ध होगी, क्योंकि जब इस मृग का चमड़ा उतारा जायगा, तो कुछ मांस व रुधिर लगी हुई हड्डियाँ तो अवश्य ही मिलेंगी। और उनसे मेरा भरपूर भोजन होगा। यह मृग उसे देखकर प्रसन्न होकर बोला—हे 'मित्र! मेरे बन्धन को शीघ्र

और मुझे बचाओ।

भार्यां क्षीणेषु वित्तेषु, व्यसनेषु च बान्धवान्' ॥ ७६ ॥

अपरञ्च—

'उत्सवे, व्यसने चैव, दुर्भिक्षे, राष्ट्रविप्लवे ।
राजद्वारे, श्मशाने च यस्तिष्ठति, स बान्धवः' ॥ ७७ ॥

जम्बुको मुहुर्मुहुः पाशं विलोक्याऽचिन्तयत्—दृढबन्धनबद्धोऽस्ति तावदयं मृगः। ब्रूते च—'सखे! स्नायुनिर्मिता एते पाशाः। तदद्य भट्टारकवारे कथमेतान्दन्तैः स्पृशामि? । मित्र! यदि चित्ते नाऽन्यथा मन्यसे तदा प्रभाते यत्त्वया वक्तव्यं तत्कर्तव्यम्।'इत्युक्त्वा तत्समीपे आत्मानमाच्छाद्य स्थितः सः। अनन्तरं स काकः प्रदोषकाले मृगमनागतमव-

---

श्यत्विति। जानीयात्=परीक्षेत। शुचि=शुद्धव्यवहारम्। क्षीणेषु=विनष्टेषु। वित्तेषु=धनेषु। व्यसनेषु=विपत्तिषु। 'जानीया'दिति शेषः ॥

उत्सवे=विवाहादावानन्दसमये। व्यसने=विपत्तौ। दुर्भिक्षे=अनावृष्ट्यादिकष्टे, अकाले। राष्ट्रविप्लवे=राज्यभङ्गे, राजपरिवर्त्तनावसरे। राजद्वारे=बन्धनागारे, धर्माधिकरणे वा। ('कचहरी' और 'जेल' में)। श्मशाने=पितृवने। (मसान में)। प्रियमरणे। तिष्ठति=साहाय्यमाचरति ॥ ७७ ॥

मुहुर्मुहुः=वारंवारम्। स्नायुनिर्मिताः=नाडीनिर्मिताः (पशु की अंतड़ी की तांत के बने हुए हैं)। भट्टारकवारे=आयतस्वामिनः सूर्यस्य दिने। चित्ते=मनसि। अन्यथा=दुष्टं मित्रमयमिति। प्रदोषकाले=सायङ्काले। यथाविध=पाशनदम्।

क्योंकि आपत्ति में-मित्र को, युद्ध में-वीर को, ऋण में-साफ और निष्कपट को, निर्धनता में-स्त्री को, दुःख पड़ने पर-भाई बन्धुओं को पहचानना चाहिये॥७६॥

और भी—हर्ष में, शोक में, दुर्भिक्ष पड़ने पर, राज्य क्रान्ति के समय, राजद्वार (कचहरी) में और श्मशान में जो साथ देता है, वही सच्चा मित्र है॥७६॥

यह शृगाल बार-बार उस फाँस को देखकर मन ही मन बड़ा प्रसन्न हुआ, और सोचने लगा कि यह मृग खास बड़े मजबूत बन्धन में फँसा है। और प्रकट में कहने लगा कि—हे मित्र! यह फाँस तो ताँत (अंतड़ी) का बना हुआ है। और

लोक्येतस्ततोऽन्विष्य तथाविधं तं दृष्ट्वोवाच—'सखे ! किमेतत् ?।' मृगेणोक्तम्—'अवधीरितसुहृद्वाक्यस्य फलमेतत् । तथा चोक्तम्—

'सुहृदां हितकामानां यः शृणोति न भाषितम् ।
विपत्संनिहिता तस्य, स नरः शत्रुनन्दनः ॥ ७८ ॥

काको ब्रूते—'स वञ्चकः क्वाऽऽस्ते ?'। मृगेणोक्तं 'मन्मांसार्थी तिष्ठ
त्यत्रैव । काको ब्रूते—'मित्र ! उक्तमेव मया पूर्वम्—

तं = मृगम् । अवधीरितसुहृद्वाक्यस्य=मित्रवचनानादरस्य । एतत् = पाशबन्धनम् ॥ हितकामानां = हितैषिणाम् । भाषितम्=उपदेशम् । शत्रुनन्दनः = शत्रुहर्षप्रदः । विपन्नं तं दृष्ट्वा शत्रवो नन्दन्तीत्यर्थः ॥ ७८ ॥ सः=दुष्टः, वञ्चकः = जम्बुकः । 'शृगाल-वञ्चक-क्रोष्टु-फेरु-फेरव-जम्बुकाः' —मरः । वञ्चको धूर्त इति वा । मन्मांसार्थी = मदीयमांसभक्षणाभिलाषी ।

आज तो रविवार का दिन है । आज इनको मैं दाँतों से कैसे छूऊँ ? । सो मित्र यदि तुम मन में कुछ दूसरा न ख्याल करो, तो कल प्रातःकाल जो तुम कहोगे वही मैं करूँगा । अर्थात् इस जाल को कल जरूर काट दूँगा । ऐसा कहकर वह दुष्ट शृगाल उसके पास ही कहीं छिपकर बैठ गया ।

इसके बाद सायंकाल में जब मृग अपने स्थान में नहीं आया तो उसका मित्र वह कौआ उसे इधर-उधर खोजता हुआ वहाँ आया और मृग की ऐसी दशा देख कर बोला—मित्र ! यह क्या बात है ? । तब उस मृग ने कहा—मित्र ! तुम्हारे वचन का अनादर करने का ही यह फल है ।

किसीने कहा भी है—

जो लोग अपने हित चाहने वाले मित्रों का कहना नहीं सुनते हैं, उनके ऊपर विपत्ति अवश्य आती है और वे अपने शत्रुओं के आनन्द के कारण होते हैं ॥ ७८ ॥

तब वह कौवा कहने लगा—वह दुष्ट शृगाल कहाँ है ? । मृग ने कहा कि मेरे मांस को खाने की आकांक्षा से यहीं कहीं छिपा हुआ बैठा होगा । कौवा बोला—मैंने तो तुमसे पहिले ही कह दिया था, कि— ॥

'अपराधो न मेऽस्ती'ति नैतद्विश्वासकारणम् ।
विद्यते हि नृशंसेभ्यो भयं गुणवतामपि ॥ ७९ ॥
दीपनिर्वाणगन्धञ्च, सुहृद्वाक्यमरुन्धतीम् ।
न जिघ्रन्ति, न शृण्वन्ति, न पश्यन्ति गताऽऽयुषः ॥ ८० ॥
परोक्षे कार्यहन्तारं, प्रत्यक्षे प्रियवादिनम् ।
वर्जयेत्तादृशं मित्रं, विषकुम्भं पयोमुखम् ॥ ८१ ॥
ततः काको दीर्घं निःश्वस्य आह–'अरे वञ्चक ! किं त्वया पापकर्मणा

मे=मम । अपराधः=दोषः । 'नाऽस्य मया किमप्यपराद्धं, कस्मादयं मा
ईदविष्यती'ति कृत्वा दुष्टे विश्वासो न विधेयः । गुणवतां=साधूनाम्, सर्वोपकार-
रायणानामपि, नृशंसेभ्यः=क्रूरेभ्यः, अकारणवैरिभ्यः, खलेभ्यः । भयं=
भीतिः । अस्त्येवेति भावः ॥ ७९ ॥

दीपनिर्वाणगन्धं=प्रदीपनिर्वापणोत्थितं गन्धं–न जिघ्रन्ति । सुहृद्वाक्यं=
त्रवाक्यम्, न शृण्वन्ति । अरुन्धतीं=सप्तर्षिसमीपस्थं सूक्ष्मं नक्षत्रविशेषञ्च
पश्यन्तीत्यन्वयः ॥ ८० ॥

पयोमुखं=दुग्धवन्मधुरभाषिणं, दुग्धसम्भृतं च, विषकुम्भम्=अन्तर्विषपूर्णं
ण्निव ॥ ८१ ॥

'मैंने किसी का कुछ अपराध तो किया नहीं है, अतः मुझे दूसरों से क्या
य है' यह समझ कर दुर्जनों से निर्भय नहीं होना चाहिए, क्योंकि सज्जनों को
र्जनों से भय तो सदा ही रहता है ॥ ७९ ॥

दीपक के बुझाने पर जो तेल की गन्ध उठती है उसको जो लोग नहीं सूंघ
कते हैं, या जो लोग मित्रों के हित वाक्यों पर ध्यान नहीं देते हैं, या उत्तर
'शा में स्थित सात ऋषियों के पास के छोटे अरुन्धती नक्षत्र को आकाश में
हीं देख सकते हैं, उनकी मृत्यु निकट ही समझनी चाहिए । अर्थात् वे ज्यादा
न इस संसार में नहीं रहेंगे, शीघ्र ही नष्ट हो जाएँगे ॥ ८० ॥

परोक्ष में कार्य को बिगाड़ने वाले पर सामने मीठी मीठी बात करने वाले मित्र
ो दूध से ढके हुए विष के घड़े की तरह ही जानकर उससे अलग रहना
ाहिए ॥ ८१ ॥

यह सुनकर वह कौआ लम्बी सांस लेकर बोला कि—अरे दुष्ट शृगाल !

कृतम् । यत.—

'संलापितानां मधुरैर्वचोभि—
मिथ्योपचारैश्च वशीकृतानाम् ।
आशावतां, श्रद्दधतां च लोके,
किमर्थिनां वञ्चयितव्यमस्ति' ? ॥ ८२ ॥

उपकारिणि, विश्रब्धे, शुद्धमती यः समाचरति पापम् ।
तं जनमसत्यसन्धं भगवति वसुधे ! कथं वहसि ? ॥८

दुर्जनेन समं सख्यं, प्रीतिश्चाऽपि न कारयेत् ।

वञ्चक = हे धूर्त, जम्बुक । पापकर्मणा = नीचकर्मणा, दुष्टेन । किं कृतम् = अनुचितमाचरितम् ।

लोके = जगति । मधुरैः = मिष्टैः । वचोभिः = वाक्यैः । संलापितानां = दिनालापानाम् । विश्वस्तानामिति यावत् । मिथ्या मिथ्या = कपटपूर्णैः । उपचारैः = सेवा—सत्कारादिभिः, वशीकृतानां = वशे स्थापितानां वा । आशावताम् = आशावताम् । च = किञ्च, श्रद्दधतां = श्रद्दधतां वा । अर्थिनां = याचकानां प्रत्यर्थिनाम् । किं वञ्चयितव्यम् = किं वञ्चनीयम् ? । अस्ति = अवशिष्यते । वञ्चने किं कौशलमिति भावः ॥ ८२ ॥

उपकारिणि = उपकारपरे । विश्रब्धे = विश्वासमुपगते । विश्वस्तमती = सरलाऽऽशये, अकुटिले । पापं = विश्वासघातेन अनिष्टम् । असत्यसन्धम् = असत्यप्रतिज्ञं, मिथ्यावादिनम् । वसुधे = हे पृथ्वि ! । कथं वहसि = त्वं कथं धारयसि ? ॥ ८३ ॥

प्रीतिं = स्नेहं, मैत्रीं च । अङ्गारः = कोकिलः (कोयला) । उष्णः = प्र...

तूने यह क्या किया ? ।

क्योंकि—मीठी-मीठी बातों से तथा कपटमय व्यवहारों से वश में किए गए त... आशा रखने वाले श्रद्धालु लोगों व याचकों को ठगना कौन बड़ी बात है ? ॥८२

हे भगवति पृथ्वी ! जो उपकारी-उपकारी, विश्वासी, एवं निष्कपट स्वभाव... साथ भी विश्वासघात करता है, उस झूठी प्रतिज्ञा करने वाले नीच पुरुष को तुम कैसे धारण करती हो ? ॥ ८३ ॥

और दुर्जन के साथ मित्रता और प्रीति दोनों ही नहीं करनी चाहिये । क्योंकि

उष्णो दहति चाङ्गारः, शीतः कृष्णायते¹ करम् ॥ ८४ ॥

अथवा स्थितिरियं दुर्जनानाम्—

'प्राक्पादयोः पतति, खादति पृष्ठमांसं,
कर्णे कलं किमपि रौति शनैर्विचित्रम् ।
१ छिद्रं निरूप्य सहसा प्रविशत्यशङ्कः,
सर्वं खलस्य चरितं मशकः करोति ॥ ८५ ॥
दुर्जनः, प्रियवादी च, नैतद्विश्वासकारणम्' ।
मधु तिष्ठति जिह्वाग्रे, हृदि हालाहलं विषम्' ॥ ८६ ॥

…न् । दहति = प्रदहति । शीतः = अनुष्णः (बुझा हुआ कोयला) कृष्णं करोति—
…ष्णायते = मलिनीकुरुते । करं = हस्तम् ॥ ८४ ॥

स्थिति. = आचरणं, स्वभावश्च । दुर्जनानां = खलानाम् ॥

प्रागिति । प्राक् = पूर्वम् । पादयोः पतति = नीचैर्गच्छति । (खलपक्षे—)
…रणयोः प्रणमति च । पृष्ठमांसं खादति = पृष्ठे दशति (खलपक्षे—पृष्ठतो निन्दां
करोति च) । कलं = सुमधुरम् । विचित्रं = नानाप्रकारम् । किमपि = अनिर्वच-
नीयम् । रौति = कूजति, कथयति च । छिद्रं = विवरम् । अवसरञ्च । निरूप्य = दृष्ट्वा ।
अशङ्कः = निर्भयः सन् । खलस्य = दुष्टस्य । मशकः = दंशः (मच्छर) ॥ ८५ ॥

विश्वासकारणं = विश्वासहेतुः । दुर्जनः, प्रियवादी चेद्यद्यपि तत्र विश्वासो

…अङ्गार गरम (जलता) हो तो हाथ जलता है, और वही यदि शीतल हो तो हाथ
को ही काला कर देता है ॥ ८४ ॥

मच्छर पहले पैर पर गिरता है, फिर पीठ का मांस खाता है, पुन, धीरे-धीरे
कान में कुछ गुनगुनाता है, फिर धीरे-धीरे मौका देखकर सहसा निर्भय होकर
…भीतर प्रवेश कर जाता है । इस प्रकार मच्छर दुर्जनों के सब चरित्रों का अनुकरण
करता है । दुष्ट भी—पहले पैर पर गिरता है, फिर परोक्ष में (पीछे से) काम को
…गाड़ता है, फिर कान के पास आकर दूसरों की चुगली करता है, और मौका
…ते ही आक्रमण भी करता है ॥ ८५ ॥

१. 'कृष्णायते'—इति पाठान्तरम् ।

अथ प्रभाते क्षेत्रपतिर्लगुडहस्तस्तं प्रदेशमागच्छन्काकेनाऽवलोकितः
तमालोक्य काकेनोक्तं—'सखे मृग ! त्वमात्मानं मृतवत्संदर्श्य, वातेनोदर
पूरयित्वा, पादान्स्तब्धीकृत्य तिष्ठ। यदाऽहं शब्दं करोमि, तदा त्वमुत्थाय
सत्वरं पलायिष्यसे।'

मृगस्तथैव काकवचनेन स्थितः। ततः क्षेत्रपतिना हर्षोत्फुल्ललोचनेन
तथाविधो मृग आलोकितः। 'आः स्वयं मृतोऽसि'–इत्युक्त्वा मृगं बन्धना
न्मोचयित्वा, पाशान्संवरीतुं[1] सयत्नो बभूव।

ततः कियद्दूरमन्तरिते क्षेत्राधिपे काकशब्दं श्रुत्वा स मृगः सत्वर

न विधेयः, यतस्तस्य जिह्वाग्रे एव मधु = माधुर्यं वर्तते, हृदये तु तस्य हालाहलं = सुतीक्ष्णं विषमेव तिष्ठतीति भावः ॥ ८६ ॥

लगुडहस्त = दण्डपाणिः। प्रदेशं = क्षेत्रप्रदेशम्। स्तब्धीकृत्य = जडीकृत्य विक्षिपामि = वर्षयामि। तथैव = मृतवत्। हर्षोत्फुल्ललोचनेन = हर्षविकसितलोचनेन, प्रसन्नेन। तथाविधः = मृतवत्स्थितः। बन्धनात्। संवरीतुं = संहर्तुम् 'ग्रहीतु'मिति पाठान्तरम्। सयत्न = यत्नवान्। (इकट्ठा करने लगा)। अन्तरिते = व्यवहिते। दूरगते सति। लगुडेन। व्यापादितः = हतः॥

दुर्जन भी कभी सदा प्रियवादी (मीठा बोलनेवाला हितैषी) हो सकता है, पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिए, क्योंकि दुर्जन की जिह्वा पर ही मधुरता रहती है, परन्तु हृदय में तो उसके हलाहल विष ही भरा हुआ है ॥ ८६ ॥

इसके बाद कौवे ने उस खेत के स्वामी को हाथ में डण्डा लिये उसी तरफ आते हुए देखा। उसको देखकर कौवे ने मृग से कहा कि—मित्र मृग ! तुम मृतक की तरह पेट फुलाकर पैरों को निश्चेष्ट करके पड़ जाओ। जब मैं बोलूँगा तो तुम झट उठ कर भाग जाना। कौवा के कहने से वह मृग वैसे ही पड़ गया।

इसके बाद खेत का स्वामी मृग को देखकर प्रसन्न होकर बोला—अरे ! यह तो आप ही मर गया है। ऐसा कह कर उस जाल को खोलकर जाल को समेटने लगा। और वह जब कुछ दूर चला गया, तब उस कौवे ने शब्द किया। वह मृग

१. 'ग्रहीतु'मिति 'सम्प्रहीतु'मिति च पाठान्तरम्।

मुत्थाय पलायितः। तमुद्दिश्य तेन क्षेत्रपतिना क्षिप्तेन लगुडेन शृगालो हतः। तथा चोक्तम्—

'त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः।
अत्युत्कटैः पाप-पुण्यैरिहैव फलमश्नुते' ॥ ८७ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि—'भक्ष्य-भक्षकयोः प्रीतिः'—इत्यादि ॥ ० ॥
काकः पुनराह—

'भक्षितेनाऽपि भवता नाऽऽहारो मम पुष्कलः।
त्वयि जीवति जीवामि चित्रग्रीव इवाऽनघ!' ॥ ८८ ॥

अन्यच्च—

तिरश्चामपि विश्वासो दृष्टः पुण्यैककर्मणाम्।
सतां हि साधुशीलत्वात्स्वभावो न निवर्तते ॥ ८९ ॥

अत्युत्कटैः = उत्कटैः। इहैव = अस्मिन्नेव जन्मनि। अश्नुते = भुङ्क्ते॥८७॥
अहं = हिरण्यको नाम मूषिकः।
हे-अनघ = हे साधो। 'अनघः' इति पाठान्तरम्। भवता = मूषकेन।
पुष्कलः = प्रचुरः। आहारः = भोजनं। न-भवति। त्वयि पुनर्जीवति सति—
चित्रग्रीवः = कपोतराज—इव। अहं जीवामि = जीवनं लभे ॥ ८८ ॥
तिरश्चां = पशुपक्ष्यादीनामपि। पुण्यमेकं कर्म येषां—तेषां पुण्यैककर्मणां = पुण्यात्मनाम्। साधुशीलत्वात् = शुभाऽऽचारत्वात्। स्वभावः = साधुता।

…ने का शब्द सुन कर शीघ्र ही उठकर भागा। तब खेत के स्वामी ने उसके …रने के लिये लाठी फेंकी, परन्तु वह लाठी मृग को न लगकर पास में ही छिपे … उस सियार को लगी और वह शृगाल मर गया।

कहा भी है—उत्कट पापों व पुण्यों का फल इसी लोक में—तीन वर्ष में, या … महीने में, या तीन पक्ष में, या तीन दिन के भीतर ही मनुष्य को मिल जाता … ॥ ८७ ॥

इसी लिये मैंने कहा था कि 'भक्ष्य और भक्षक की प्रीति कैसी' इत्यादि।
तब वह कौआ बोला कि—
भाई! तुम्हें खा लेने पर भी मेरा पेट तो पूरा भरेगा नहीं। पर हे साधो! …के जीवित रहने से तो चित्रग्रीव की तरह मैं भी कभी तुम्हारी सहायता से …रहूँगा ॥ ८८ ॥

किञ्च—

> साधोः प्रकोपितस्याऽपि मनो नाऽऽयाति विक्रियाम् ।
> न हि तापयितुं शक्यं सागराम्भस्तृणोल्कया ॥ ९० ॥

हिरण्यको ब्रूते—'चपलस्त्वं । चपलेन सह स्नेहः सर्वथा न कर्त्तव्यः तथा चोक्तम्—

> 'मार्जारो, महिषो, मेषः, काकः, कापुरुषस्तथा ।
> विश्वासात्प्रभवन्त्येते, विश्वासस्तत्र नोचितः' ॥ ९१ ॥

न निवर्त्तते = जन्मान्तरेऽपि नायाति ॥ ८९ ॥

साधोः = सज्जनस्य । प्रकोपितस्य = कोपं प्रापितस्यापि, परैरपकारकरणेन कोपितस्यापि । विक्रियां = विकारम् । नाऽऽयाति = न गच्छति । साधुः कोपितोऽपि साधुतां न जहातीति भावः । हि = यतः । सागराम्भः = समुद्रजलं, तृणोल्मुकेन तापयितुं = सन्तापयितुम् । न शक्यम् = नैव शक्यते ॥ ९० ॥

त्वं = वायसः । चपलः = चपलप्रकृतिः । चपलेन = चपलमतिना । स्नेहः = प्रीतिः ॥ मार्जारः = बिडालः । मेषः = उरभ्रः (भेड़ा) । कापुरुष = नीचपुरुषः

और भी-पुरुषों या पशुपक्षियों का भी परस्पर में विश्वास देखा गया है क्योंकि पुण्यवान् सज्जनों का स्वभाव साधुशील (सदाचारी) होने के कारण किसी भी योनि (जन्म) में नहीं बदलता है ॥ ८९ ॥

और भी-सज्जन का चित्त क्रोध दिलाये जाने पर भी विकार को प्राप्त नहीं होता है । जैसे समुद्र के जल को घास फूस की अग्नि (लुकाठी) से गरम नहीं किया जा सकता है । (उल्मुक = लुकाठी) ॥ ९० ॥

तब हिरण्यक बोला-भाई ! तुम चञ्चल स्वभाव वाले हो । और चञ्चल स्वभाववाले के साथ स्नेह (मित्रता) कभी नहीं करना चाहिये ।

किसी ने कहा भी है—

बिलाव, भैंसा, भेड़ा, कौआ और कायर पुरुष, इनका विश्वास करने से इनका हौसला

किञ्चाऽन्यत्—शत्रुपक्ष्यो भवानस्माकम् । उक्तञ्चैतत्—

'शत्रुणा नहि सन्दध्यात्सुश्लिष्टेनाऽपि सन्धिना ।
सुतप्तमपि पानीयं शमयत्येव पावकम् ॥ ६२ ॥
दुर्जनः परिहर्त्तव्यो विद्ययाऽलङ्कृतोऽपि सन् ।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयङ्करः ? ॥ ६३ ॥
यदशक्यं न तच्छक्यं, यच्छक्यं शक्यमेव तत् ।
नोदके शकटं याति, न च नौर्गच्छति स्थले' ॥ ६४ ॥

एते-प्रभवन्ति = अनर्थाचरणे समर्थाः, धृष्टाश्च भवन्ति । तत्र = एतेषु । उचितः = योग्यः ॥ ६१ ॥

(अन्यत् = और भी) । शत्रुपक्ष्यः = शत्रुकोटिप्रविष्टः । अस्माकं = मूषकाणाम् । सन्धिः = मैत्री । सुश्लिष्टेन = सुदृढेन, स्वहिताऽऽवहेन च । पावकं = वह्निम् । शमयति = विनाशयति ॥ ६२ ॥

दुर्जनः = खलः । विद्यया = विद्याविनयादिगुणैः, अलङ्कृतोऽपि = भूषितोऽपि । असौ = सर्पः । 'किं न भयङ्कर' इति काकुः । किन्तु भयङ्कर एवेत्यर्थः ॥ ६३ ॥

यत् = यत्कार्यम् । अशक्यं = कर्तुमशक्यम् । यच्च शक्यं-तच्छक्यमेव = नयमेव अनायासेनैव भवति । उदके = जले । शकटं = गन्त्री । (गाडी) । स्थले = भूमौ । नौः = नौका ॥ ६४ ॥

हो जाता है । इसलिये इनका कभी विश्वास नहीं करना चाहिये ॥ ६१ ॥

और दूसरी बात यह है, कि—आप तो हमारे शत्रु पक्ष के हैं । अतः आप हमारी मित्रता कैसे हो सकती है । क्योंकि किसीने कहा भी है—

उत्तम से उत्तम सन्धि के द्वारा भी शत्रु से कभी सन्धि (मेल) नहीं करना चाहिये । क्योंकि यदि पानी गरम होगा तो भी वह अग्नि को तो बुझा ही देता ॥ ६२ ॥

यदि दुर्जन विद्या से विभूषित भी हो तो भी उससे दूरही रहना चाहिये । क्योंकि मणि से विभूषित होने पर भी क्या सर्प भयङ्कर नहीं होता है ? । अवश्य भयङ्कर होता है ॥ ६३ ॥

जो कार्य नहीं होने लायक है, वह नहीं हो सकता है, और जो होने लायक वह सर्वदा हो ही सकता है । जैसे गाड़ी जलमें नहीं चल सकती है और भूमि

अपरञ्च—

'महताऽप्यर्थसारेण यो विश्वसिति शत्रुषु।
भार्यासु च विरक्तासु, तदन्तं तस्य जीवनम्' ॥ ९५ ॥

लघुपतनको ब्रूते—'श्रुतं मया सर्वं, तथाऽपि मम चैतावान् सङ्कल्पः-त्वया सह सौहृद्यमवश्यं करणीय'मिति। नो चेदनाहारेणाऽऽत्मानं व्यापादयिष्यामि। तथा हि—

मृद्घटवत्सुखभेद्यो, दुःसन्धानश्च दुर्जनो भवति।
सुजनस्तु कनकघटवद् दुर्भेद्यश्चाऽऽशु सन्धेयः' ॥ ९६ ॥

महताऽपि=विपुलेनापि। अर्थसारेण=धनादिबलेन। 'समन्वितोऽपी'ति शेषः। यद्वाऽर्थसिद्ध्यादिकारणवशेनेत्यर्थः। यः=यो जनः। च=पुनः। विरक्तासु=अननुरक्तासु, परपुरुषरतासु च। 'विश्वसिती'ति शेषः। तदन्तं=तद्विश्वासपर्यन्तमेव। जीवितं—जीवनम्। केचित्तु—महताऽप्यर्थसारेण=गुरुणापि प्रयोजनेनेत्यर्थमाहुः ॥ ९५ ॥

लघुपतनकः=तन्नामा वायसः। सौहृद्यं=मैत्री। अनाहारेण=अनशनेन भोजनपरित्यागेन। आत्मानं=शरीरम्।

मृद्घटवत्=मृत्कुम्भवत्। सुखभेद्यः=सुकरभेदनः। दुःसन्धानः=दुःखेन सन्धेयः। कनकघटवत्=सुवर्णादिकुम्भवत्। दुर्भेद्यः=असुकरभेदनः। आशु=अनायासेन ॥ ९६ ॥

पर नाश नहीं कर सकती है। अर्थात्-जो कार्य होने लायक हो वही करना चाहिए, असम्भव कार्य के लिए प्रयत्न करना मूर्खता है ॥ ९४ ॥

और भी—जो पुरुष विशेष लाभवश भी शत्रुओं का, या विरक्त स्त्री (पर पुरुषानुरागिणी) का विश्वास करता है, उस पुरुष के जीवन का अन्त समझना चाहिये ॥ ९५ ॥

तब वह लघुपतनक कौआ बोला—मैंने सब सुन लिया। परन्तु मेरा तो यही सङ्कल्प है, कि—या तो आप के साथ मित्रता करूँगा, नहीं तो आप के द्वार पर ही बिना भोजन के (अनशन द्वारा) अपना शरीर त्याग दूँगा। जैसे—

दुर्जन प्राणी मट्टी के घड़े की तरह अनायास ही विकृत हो (फूट-टूट जाते हैं और उनका पुनः मेल (जोड़ना) कठिनता से होता है। परन्तु सज्जन सोने के घड़े की तरह जल्दी बिगड़ते (टूटते) नहीं हैं, और यदि बिगड़

किञ्च—

'द्रवत्वात्सर्वलोहानां, निमित्तान्मृगपक्षिणाम् ।
भयाल्लोभाच्च मूर्खाणां सङ्गतं, दर्शनात्सताम्' ॥ ९७ ॥

किञ्च—

'नारिकेलसमाऽऽकारा दृश्यन्ते हि सुहृज्जनाः ।
अन्ये बदरिकाऽऽकारा बहिरेव मनोहराः ॥ ९८ ॥
स्नेहच्छेदेऽपि साधूनां गुणा नाऽऽयान्ति विक्रियाम् ।
भङ्गेऽपि हि मृणालानामनुबध्नन्ति तन्तवः' ॥ ९९ ॥

सर्वलोहानां=सकलधातूनां, द्रवत्वात्=द्रवत्वेन, सङ्गतं=मेलनं, मैत्री च-गति । मृगपक्षिणां=पशुपक्षिणां, निमित्तात्=भोजनादिदानात्, कार्यकारण-त्वाच । 'सङ्गतं भवती'ति शेषः । मूर्खाणां सङ्गतं तु भयेन, लोभेन वा भवति । तान्तु-दर्शनादेव=प्रेक्षणमात्रादेव, सङ्गतं=मैत्री-भवति ॥ ९७ ॥

नारिकेलेति । नारिकेलफलवद्बहिः कठिनाः, अन्तर्मृदवश्च सन्तो भवन्ति । अन्ये=खलास्तु । बदरिकाकाराः=बदरीफलवद्बहिरेव मृदवोऽन्तस्तु कठिना, दुःखदा, रोगकराश्च भवन्ति ॥ ९८ ॥

अतएव=वक्ष्यमाणहेतोः । सङ्गतिः=मैत्री । इष्यते=अभिलष्यते ।

नी है, तो शीघ्र ही पुनः ठीक किए (जोड़े) जा सकते हैं ॥ ९६ ॥

और भी—सब धातुओं का परस्पर मेल गलाने से ही होता है, पशु पक्षियों का मेल किसी निमित्त (कारण) से ही होता है, मूर्खों का मेल भय और लोभ से ही होता है, परन्तु सज्जनों का मेल (मैत्री) तो केवल दर्शनमात्र से ही हो जाता है ॥ ९७ ॥

और भी सज्जन लोग नारियल के फल के समान ऊपर से ही रूखे व कड़े देख पड़ते हैं, परन्तु भीतर उनमें मधुरता ही होती है । अर्थात् बाहर से तो ये कठोर मालूम पड़ते हैं, परन्तु भीतर से बड़े ही दयालु होते हैं । पर दूसरे लोग (अर्थात् दुर्जन लोग) बेर के फल की तरह बाहर से ही सुन्दर देख पड़ते हैं, परन्तु भीतर उनके कठोरता (कड़ी गुठली) ही रहती है ॥ ९८ ॥

और सज्जनों के साथ प्रीति टूट जाने पर भी उनका चित्त विकृत नहीं होता है,

अन्यच्च—

'शुचित्वं, त्यागिता, शौर्यं, सामान्यं सुखदुःखयोः ।
दाक्षिण्यं, चाऽनुरक्तिश्च, सत्यता च सुहृद्गुणाः' ॥ १०० ॥

एतैर्गुणैरुपेतो भवदन्यो मया कः सुहृत्प्राप्तव्यः ?' ।

—इत्यादि तद्वचनमाकर्ण्य हिरण्यको बहिर्निःसृत्याऽऽह—'आप्यायितोऽहं भवताऽनेन वचनाऽमृतेन ।' तथा चोक्तम्—

'घर्मार्त्तं—न तथा सुशीतलजलैः स्नानं, न मुक्तावली,
न श्रीखण्डविलेपनं—सुखयति प्रत्यङ्गमप्यर्पितम् ।

स्नेहेति । स्नेहच्छेदेऽपि=प्रणयभङ्गेऽपि । गुणाः=सरलत्वादयः । विक्रिया=विकारम् । भङ्गेऽपि = छेदेऽपि । मृणालानां=कमलदण्डानाम् । तन्तवः=गुणाः । विस्तन्तवः । अनुबध्नन्ति = सम्बन्धं न परिहरन्ति ॥ ९९ ॥

शुचित्वं = स्वच्छता । त्यागिता = औदार्यम् । सुखदुःखयोः=सुखे, दुःखे च । सामान्य = समता । दाक्षिण्यं=कुशलता । अनुरक्तिः = स्नेहः ॥ १०० ॥

एतैः=शुचित्वादिभिः । उपेतः=युक्तः । बहिः=बिलाद्बहिः । भवत आप्यायितः=सन्तोषितः । 'भवन' इति पाठान्तरम् । तत्र—आप्यायितः—सन्तुष्ट इत्यर्थः । अनेन = एतावता प्रोक्तेन ।

घर्मार्त्तं = निदाघसन्तप्तमपि । सुशीतलजलैः स्नानं तथा न हर्षयति, किन्तु-

---

किन्तु उनका साधारण सम्बन्ध बना ही रहता है। जैसे मृणालों (कमल के डण्डों) के बीच में से टूट जाने पर भी उनके तन्तु परस्पर में जुड़े ही रहते हैं। ॥ ९९ ॥

और भी—चित्त शुद्धि, त्याग, वीरता, सुख और दुःख में एकसा भाव, उदारता, प्रेम, सत्य—ये सब मित्र के गुण हैं ॥ १०० ॥

और इन सब गुणों से युक्त आपके (चूहे) सिवाय मुझको (कौवे को) दूसरा मित्र कौन मिलेगा ?। इस प्रकार उस कौवे के वचन सुनकर हिरण्यक चूहा बिल से बाहर आकर बोला, मैं आप के इस वचनामृत से तृप्त हो गया। कहा भी है—

घामार्त्त मनुष्य की तरह मन को शान्ति देने वाली, अच्छी २ युक्तियों से युक्त,

प्रीत्या सज्जनभाषितं प्रभवति प्रायो यथा चेतसः,
सद्युक्त्या च पुरस्कृतं सुकृतिनामाकृष्टिमन्त्रोपमम्' ॥१०१॥

अन्यच्च—

'रहस्यभेदो, याच्ञा च, नैष्ठुर्यं, चलचित्तता ।
क्रोधो, निःसत्यता, द्यूतमेतन्मित्रस्य दूषणम्' ॥ १०२ ॥

अनेन वचनक्रमेण तदेकमपि दूषणं त्वयि न लक्ष्यते । यतः—

'पटुत्वं, सत्यवादित्वं कथायोगेन बुध्यते ।
अस्तब्धत्वमचापल्यं प्रत्यक्षेणाऽवगम्यते' ॥ १०३ ॥

मुक्तावली=मुक्तामाला तथा न हर्षयति, च=किञ्च अन्यङ्ग=प्रत्यवयवम्-र्पितं=दत्तं, श्रीखण्डविलेपनं च तथा न सुखयति । यथा—सद्युक्त्या=शोभनया, कल्योक्तविधिविधानेन च, परिष्कृत=शोभितम्, आकृष्टिमन्त्रोपमम्=कर्षणमन्त्रतुल्यं, सज्जनभाषित—चेतसः प्रीत्यै प्रभवति=शक्तं भवति ॥१०१॥

रहस्यभेदः=मित्रमन्त्रभेदः, याच्ञा=द्रव्यादिप्रार्थना । नैष्ठुर्यं=क्रूरता । चलचित्तता=चाञ्चल्यम् । निःसत्यता=मिथ्याभाषित्वम् ॥ १०२ ॥

अनेन=एतावदोपन्यस्तेन, वचनक्रमेण=वाक्यप्रबन्धेन । तत्=रहस्यादि । लक्ष्यते=ज्ञायते ॥ पटुत्वं=कुशलत्वम् । कथायोगेन=वार्ताप्रसङ्गेन । ध्यते=सर्वैर्ज्ञातुं शक्यते । मया च ज्ञायते । अस्तब्धत्वम्=अमानित्वम्, गहत्वम् । प्रत्यक्षेण=साक्षाद्दर्शनेन । साक्षात्त्वन्मुखदर्शनादेव च मया ज्ञायते ति भावः ॥ १०३ ॥

जनों की वाणी चित्त को जितना आनन्द देती है, उतना सुख घाम से सन्तप्त पुरुषों को—शीतल जल का स्नान, मोती की माला और शरीर में लगा या चन्दन भी नहीं देता है ॥ १०१ ॥

और भी—गुप्त बातों को प्रगट कर देना, मांगना, निष्ठुरता, चित्त की अस्थिरता, क्रोध, झूठ बोलना, जुआ खेलना ये सब मित्र के दोष हैं, परन्तु तुम्हारी बातों को सुनने से इन दोषों में से एक भी दोष तुम्हारे में मुझे नहीं दिखते हैं ॥ १०२ ॥

क्योंकि—मनुष्य की चतुराई और सचाई तो बात चीत करने से मालूम होती है, पर मनुष्य की नम्रता और गम्भीरता तो उसे देखने से ही मालूम होती है ॥ १०३ ॥

अपरञ्च—

'अन्यथैव हि सौहार्दं भवेत्स्वच्छान्तरात्मनः ।
प्रवर्त्ततेऽन्यथा वाणी शाठ्योपहतचेतसः ॥ १०४ ॥
मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कर्मण्यन्यद्[१] दुरात्मनाम् ।
मनस्येकं, वचस्येकं, कर्मण्येकं, महात्मनाम्' ॥ १०५ ॥

तद्भवतु भवतोऽभिमतमेव ।'—इत्युक्त्वा हिरण्यको मैत्र्यं विध
भोजनविशेषैर्वायसं सन्तोष्य, विवरं प्रविष्टः । वायसोऽपि स्वस्थानं गत

स्वच्छान्तरात्मनः = शुद्धचेतसः । अन्यथैव = अन्यप्रकारेणैव । सौहार्दं
स्नेहः । शाठ्योपहतचेतसः = मौर्यनिठुरचेतसः । शठस्येति यावत् । अन्यथैव=
अन्यादृश्येव कपटपूर्णा । वाणी = वाक् । प्रवर्त्तते = प्रसरति ॥ १०४ ॥

दुरात्मनां = पापिनाम् । मनसि—अन्यद्भवति । ते हि अन्यथा भाषन्ते
कर्मणि=क्रियायाम्, अन्यत्=अन्यदेव । महात्मनान्तु यदेव मनसि, तदेव
तेषां वचसि, तेषां क्रियायामेवेत्यर्थः ॥ १०५ ॥

तत् = तस्मात्, भवतः शुद्धगुणोपेतत्वात् । अभिमतम्=अभीष्टम् । मया
सह मैत्री । मैत्र्यं = मैत्रीम् । तयोः = वायसमूषकयोः, अन्योन्यं = परस्परं यत्

और भी—शुद्ध हृदय वाले सज्जन की सहृदयता तो कुछ और ही प्रकार की होती है, और कुटिल हृदय धूर्त की बोलचाल कुछ और ही तरह की होती है। अर्थात्—सज्जन और दुर्जन का भेद तो बातों से ही मालूम हो जाता है ॥ १०४ ॥

और दुर्जन लोग सोचते कुछ और हैं, कहते कुछ और हैं, करते कुछ और हैं। परन्तु सज्जन लोगों के मन में जो है वही वे कहते हैं और वही वे करते भी हैं ॥ १०५ ॥

अच्छा, ऐसी आपकी इच्छा है वही ठीक है। आपकी मित्रता मुझे स्वीकार है। ऐसा कह कर हिरण्यक ने उस कौए को अपना मित्र बनाकर उसे अच्छे २ पदार्थ भोजन कराये और उसे सन्तुष्ट कर बिदा करके अपने बिल में चला गया। और वह कौआ भी अपने स्थान को चला गया।

१ 'वाचस्यन्यदिति' पाठान्तरम् ।

ततः प्रभृति तयोरन्योन्याऽऽहारप्रदानेन, कुशलप्रश्नैर्विश्रम्भाऽऽलापैः कालोऽतिवर्त्तते ।

एकदा लघुपतनको हिरण्यकमाह—'सखे ! कष्टतरलभ्याऽऽहारमिदं स्थानं परित्यज्य, स्थानाऽन्तरं गन्तुमिच्छामि । हिरण्यकोऽवदत्—

'स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते दन्ताः, केशा, नखा, नराः ।'
—इति विज्ञाय मतिमान् स्वस्थानं न परित्यजेत्' ॥ १०६ ॥

काको ब्रूते—'सखे ! कापुरुषवचनमेतत् । यतः—

'स्थानमुत्सृज्य गच्छन्ति सिंहाः, सत्पुरुषा, गजाः ।
तत्रैव निधनं यान्ति काकाः, कापुरुषा, मृगाः' ॥ १०७ ॥

आहारप्रदानं=भक्ष्यभोज्यादिप्रदान, तेन । विश्रम्भालापैः=प्रणयगर्भैरालापैश्च । कष्टेन लभ्य आहारो यत्र तत्—कष्टलभ्याहारम् । एतत्=इदं स्थानम् । वनमेतदित्यर्थः ।

स्थानभ्रष्टाः=स्वस्थानचलिताः । न शोभन्ते=शोभां, श्रियं च न लभन्ते ॥ १०६ ॥

और उस दिन से उन दोनों (कौवे और चूहे) का आपस में प्रीति पूर्वक एक साथ भोजन, आदान प्रदान, कुशलप्रश्न और प्रेमपूर्वक बातचीत आदि के समय आनन्दपूर्वक बीतने लगा ।

एक दिन उस लघुपतनक कौवे ने हिरण्यक चूहे से कहा कि—हे मित्र ! अब तो इस जङ्गल में भोजन भी कठिनाई से मिलता है । इस लिये इस स्थान को छोड़कर मैं अब किसी दूसरे स्थान में जाना चाहता हूँ ।

हिरण्यक बोला—मित्र ! कहाँ जाओगे ? । कहा भी है—

दाँत, केश, नख, मनुष्य, ये चारों स्थानभ्रष्ट होने पर शोभते नहीं हैं। ऐसा विचारकर बुद्धिमान् मनुष्य को अपना स्थान कभी नहीं छोड़ना चाहिये ॥१०६॥

कौआ बोला—मित्र ! यह तो कायर मनुष्यों का वाक्य है ।

किञ्च—

'को वीरस्य मनस्विनः स्वविषयः, को वा विदेशः स्मृतो,
यं देशं श्रयते तमेव कुरुते बाहुप्रतापार्जितम् ॥
यद्दंष्ट्रानखलाङ्गुलप्रहरणः सिंहो वनं गाहते,
तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररुधिरैस्तृष्णां छिनत्त्यात्मनः' ॥१०८॥

हिरण्यको ब्रूते—'मित्र ! क्व गन्तव्यम् ?'। यथा चोक्तम्—

स्थानं=निवासयोग्यं स्वस्थानमपि। उत्सृज्य=विहाय। तत्रैव=निवासाऽयोग्येऽपि स्थाने। निधनं=मृत्युम् ॥ १०७ ॥

मनस्विनः=धीरस्य, गम्भीराशयस्य। स्वविषयः=स्वदेशः। श्रयते=आश्रयते। बाह्वोः—प्रतापेन बलेन=अर्जितं=स्वाधीनम्। दंष्ट्रानखलाङ्गुलप्रहरणः=दंष्ट्रानखपुच्छायुधः—सिंहो—यत् वनं गाहते=प्रविशति; तस्मिन्नेव वने हतद्विपेन्द्ररुधिरैः=व्यापादितगजेन्द्ररुधिरैः, आत्मनः—तृष्णां=पिपासां। बुभुक्षाम्। छिनत्ति=अपनयति ॥ १०८ ॥

क्योंकि सिंह, सत्पुरुष, और हाथी ये तीनों तो अपना-अपना स्थान छोड़कर जहाँ चाहते हैं, वहाँ (अच्छे स्थान में) चले जाते हैं। परन्तु कौआ, कायर मनुष्य और मृग, ये तीनों तो अपने स्थान पर ही पड़े-पड़े मर जाते हैं ॥ १०७ ॥

और भी—वीर एवं मनस्वी पुरुष के लिये कौन अपना देश है और कौन विदेश है ?। वह तो जिस देश में जाता है, उसी को अपने बाहुबल से अपना कर लेता है। जैसे (दाँत, नख, और पूँछ ही आयुध जिसके हैं, ऐसा वीर) सिंह जिस वन में जाता है, उसी वन में हाथियों को मारकर, उनके रुधिर से ही अपनी प्यास बुझाता है ॥ १०८ ॥

तब वह चूहा बोला—अच्छा तो मित्र ! कहो तुम कहाँ जाना चाहते हो ?। जहाँ जाना हो उस स्थान के गुणदोषों को पहिले ही विचार लो। क्योंकि किसी ने कहा भी है कि—

'चलत्येकेन पादेन, तिष्ठत्येकेन बुद्धिमान् ।
नाऽसमीक्ष्य परं स्थानं, पूर्वमायतनं त्यजेत्' ॥ १०९ ॥

वायसो ब्रूते—'अस्ति सुनिरूपितं स्थानम् । हिरण्यकोऽवदत्—'किं तत् ?'। वायसो ब्रूते—'अस्ति दण्डकारण्ये कर्पूरगौराऽभिधानं सरः । तत्र चिरकालोपार्जितः प्रियसुहृन्मे मन्थराऽभिधानः कच्छपः सहज-धार्मिकः प्रतिवसति । यतः—

'परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम् ।
धर्मे स्वीयमनुष्ठानं कस्यचित्तु महात्मनः' ॥ ११० ॥

स च भोजनविशेषैर्मां संवर्द्धयिष्यति । हिरण्यकोऽप्याह—'तत्किम-त्राऽवस्थाय मया कर्त्तव्यम् ? । यतः—

असमीक्ष्य=सम्यक्प्रकारेण अविलोक्य । आयतनं=स्थानम् ॥ १०९ ॥

सुनिरूपितं=सम्यग्विनिश्चितम् । सरः=सरसी (झील)। चिरकालोपार्जितः=पूर्वसुहृत् । कूर्मः=कच्छपः । (कछुवा)। सहजधार्मिकः=स्वभावेनैव धर्माचरणशीलः । परोपदेशे=परशिक्षणे । सुकरं=सुलभम् । स्वीयं=स्वकीयम् । अनुष्ठानम्=आचरणम् ॥ ११० ॥

स च=कूर्मश्च । भोजनविशेषैः=नानाविधैर्मत्स्यादिभक्षैः । संवर्द्धयिष्यति=

बुद्धिमान् मनुष्य वही है, जो एक पैर से चलता है, अर्थात् एक पैर वह आगे रखता है, और एक पैर पूर्व स्थान पर ही रखे (जमाए) रहता है । इसलिए दूसरे स्थान को पहिले से निर्धारित किये बिना ही पहले स्थान को नहीं छोड़ना चाहिये ॥ १०९ ॥

कौवे ने कहा—एक स्थान मेरा पहिले से ही देखा हुआ है, जो बहुत ही रमणीय है । हिरण्यक बोला—वह कौन स्थान है ? ।

कौवा बोला—दण्डकारण्य में कर्पूरगौर नाम एक तालाब (झील) है । वहाँ मेरा पुराना मित्र स्वभाव से ही धार्मिक मन्थर नाम का कछुवा रहता है ।

क्योंकि—धर्म के विषय में दूसरे को उपदेश देने के लिये पण्डिताई दिखलाना तो सभी के लिए सहज है, परन्तु धर्म का स्वयं आचरण तो विरले ही महात्मा लोग किया करते हैं ॥ ११० ॥

यस्मिन्देशे न संमानो, न वृत्तिर्न च बान्धवः[1] ।
न च विद्याऽऽगमः कश्चित्तं देशं परिवर्जयेत् ॥१११॥

किञ्च—

'धनिकः, श्रोत्रियो, राजा, नदी, वैद्यस्तु पञ्चमः ।
पञ्च यत्र न विद्यन्ते, न कुर्यात्तत्र संस्थितिम्' ॥११२॥

अपरञ्च—

'लोकयात्रा, भयं, लज्जा, दाक्षिण्यं, त्यागशीलता ।
पञ्च यत्र न विद्यन्ते, न कुर्यात्तत्र संस्थितिम् ॥११३॥

पालयिष्यति, सत्करिष्यतीति वा ।

तत् = यदि त्वया गन्तव्यं तर्हि । अत्र = अस्मिन् स्थाने ।

सम्मानः = सत्कारः । वृत्तिः = जीविका । विद्यागमः = विद्यालाभः ॥ १११ ॥

धनिकः = ऋणादिदाता श्रेष्ठी । (सेठ-बोहरा) । श्रोत्रियः = वेदपारगः । पञ्च = एते पञ्च । संस्थिति = निवासम् ॥ ११२ ॥

लोकयात्रा = जीवनोपायः । भय = राज-लोक-धर्म-भयम् ॥ ११३ ॥

अतः यह मन्थरक कछुआ अच्छा-अच्छा भोजन देकर मेरी (कौवे की) रक्षा अवश्य ही करेगा । तब हिरण्यक चूहा बोला—तो मैं भी यहाँ रहकर क्या करूँगा ?। मैं भी तुम्हारे साथ ही वहाँ चलूँगा ।

क्योंकि—जिस देश में—सम्मान न हो, कोई जीविका न हो, कोई मित्र न हो, और न किसी प्रकार की विद्या की प्राप्ति ही हो, उस देश को छोड़ देना चाहिये, उसमें कभी नहीं रहना चाहिये ॥ १११ ॥

और भी—धनी, श्रोत्रिय, (वेदपाठी), राजा, नदी और वैद्य, ये पाँच जहाँ नहीं हों, वहाँ मनुष्य को एक दिन भी नहीं रहना चाहिये ॥ ११२ ॥

और जिस देश में जीविका का साधन, लोकभय, लज्जा, सरलता, त्याग, (उदारता) ये पाँच बातें न हों, वहाँ कभी नहीं रहना चाहिए ॥ ११३ ॥

---

१. 'बान्धवाः' ।

तत्र मित्र ! न वस्तव्यं यत्र नास्ति चतुष्टयम् ।
ऋणदाता च, वैद्यश्च, श्रोत्रियः, सजला नदी' ॥ ११४ ॥

'ततो मामपि तत्र नय ।' अथ वायसस्तत्र तेन मित्रेण सह विचित्राऽऽलापैः सुखेन तस्य सरसः समीपं ययौ । ततो मन्थरो दूरादवलोक्य लघुपतनकस्य यथोचितमातिथ्यं विधाय, मूषिकस्याऽतिथिसत्कारं चकार । यतः—

'बालो वा, यदि वा वृद्धो, युवा वा गृहमागतः ।
तस्य पूजा विधातव्या, सर्वस्याऽभ्यागतो गुरुः ॥ ११५ ॥

गुरुरग्निर्द्विजातीनां, वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः ।
पतिरेको गुरुः स्त्रीणां, सर्वस्याऽभ्यागतो गुरुः ॥ ११६ ॥

'सजला नदी' इत्यत्र 'सुजले'ति गौडाः पठन्ति ॥ ११४ ॥

तेन=हिरण्यकेन । विचित्रालापैः=मनोहरभाषणैः । नानाविधां कथां कुर्वन् । मन्थरः=तन्नामा कच्छपः । यथोचितं=यथायोग्यं, सत्कारम्=आतिथ्यम् ॥

द्विजातीनां=ब्राह्मणादीनां त्रैवर्णिकानाम् । अग्निः=वैश्वानरः । गुरुः=पूज्यः । वर्णानां=ब्राह्मणादीनां चतुर्णां वर्णानां । गुरुः=श्रेष्ठः । एकः=केवलः, नान्यः । सर्वस्य=सर्वस्यापि लोकस्य । अभ्यागतः=अतिथिः-गुरुः=पूज्यः ॥

हे मित्र ! जहाँ ऋणदाता धनी, वैद्य, श्रोत्रिय (वैदिक विद्वान्) और जल से पूर्ण नदी, ये चार चीजें नहीं हों, वहाँ कभी नहीं रहना चाहिए ॥ ११४ ॥

इस लिये मुझे भी वहीं ले चलो ।

तब कौवा बोला—अच्छा ऐसा ही सही ।

इसके बाद वह कौवा अपने मित्र (चूहे) के साथ अनेक प्रकार की बात चीत करता हुआ सुखपूर्वक उस तालाब के पास पहुँचा । इसके बाद लघुपतनक कौवे को दूर ही से देखकर मन्थर कछुआ ने उसका अतिथिसत्कार करके, हिरण्यक का भी यथोचित सत्कार किया । क्योंकि—

बालक, या वृद्ध, या जवान कोई भी हो, वह यदि अपने घर पर आजाये तो उसका भोजन आदि से सत्कार और अतिथिपूजन अवश्य करना चाहिए, क्योंकि अतिथि सबका पूज्य है ॥ ११५ ॥

अग्नि—द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों) का गुरु (पूज्य)

उत्तमस्यापि वर्णस्य नीचोऽपि गृहमागतः ।
पूजनीयो यथायोग्यं, सर्वदेवमयो हि सः' ॥ ११७ ॥

वायसोऽवदत्—'सखे मन्थर ! विशेषपूजामस्मै विधेहि, यतोऽयं पुण्यकर्मणां धुरीणः, कारुण्यरत्नाकरो हिरण्यकनामा मूषिकराजः । एतस्य गुणस्तुतिं जिह्वासहस्रद्वयेनाऽपि सर्पराजो न कदाचित्कथयितुं समर्थः स्यात् ।' इत्युक्त्वा चित्रग्रीवोपाख्यानं वर्णितवान् ।

मन्थरः सादरं हिरण्यकं सम्पूज्याऽऽह—'भद्र ! आत्मनो निर्जनवनाऽऽगमनकारणमाख्यातुमर्हसि ।'

हिरण्यकोऽवदत्—'कथयामि' । श्रूयताम्—

उत्तमस्य = ब्राह्मणक्षत्रियादेरपि । नीचोऽपि = शूद्रादिरपि । कुत एतदत आह—सर्वेति । सकलदेवस्वरूपः । सः = अतिथिः ॥ ११७ ॥

विशेषपूजां = विशिष्टमतिथिसत्कारम् । पुण्यकर्मणां = पुण्यात्मनां, धुरीणः = श्रेष्ठः । कारुण्यरत्नाकरः = करुणावरुणालयः । जिह्वेति । सर्पराजस्य शेषस्य सहस्रमुखतया द्विजिह्वत्वेन च द्विसहस्रजिह्वत्वम् । उपाख्यानं = वृत्तान्तम् । आख्यातुं = वक्तुम् । अर्हसि = योग्योऽसि ।

है । वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चारों) का ब्राह्मण गुरु है । स्त्री का पति ही गुरु है और अभ्यागत (अतिथि) सभी का गुरु है ॥ ११६ ॥

और उत्तम वर्ण (ब्राह्मण आदि) के घर पर यदि अपने से नीच (क्षत्रिय वैश्य या शूद्र आदि) भी कोई आवे तो भी उसकी भी यथायोग्य पूजा करनी चाहिए, क्योंकि अतिथि में सब देवताओं का निवास रहता है ॥ ११७ ॥

तब कौआ बोला—हे मित्र मन्थर ! इस हिरण्यक चूहे की तुम विशेषरूप से पूजा करो, क्योंकि यह पुण्यात्माओं में अग्रणी, दया का समुद्र, चूहों का राजा हिरण्यक है । इसके गुणों की प्रशंसा तो शेषनाग अपनी दो हजार जिह्वाओं से भी नहीं कर सकते हैं ।

यह कह कर उसने कपोतराज चित्रग्रीव की पूरी-पूरी कथा (जाल का काटना आदि) कही । इसके बाद मन्थर बड़े आदर के साथ हिरण्यक की पूजा करके बोला—हे भद्र ! अपना इस निर्जन वन में आने का कारण हम लोगों से कहिए ।

(६) मूषक-परिव्राजककथा ।

अस्ति चम्पकाऽभिधानायां नगर्यां परिव्राजकाऽवसथः। तत्र चूडाकर्णो नाम परिव्राट् प्रतिवसति । स च भोजनाऽवशिष्टभिक्षाऽन्नसहितं भिक्षापात्रं नागदन्तकेऽवस्थाप्य स्वपिति । अहञ्च तदन्नमुत्प्लुत्योत्प्लुत्य प्रत्यहं भक्षयामि । अनन्तरं तस्य प्रियसुहृद्वीणाकर्णो नाम परिव्राजकः समायातः । तेन सह कथाप्रसङ्गाऽवस्थितो मम त्रासार्थं जर्जरवंशखण्डेन चूडाकर्णो भूमिमताडयत् । वीणाकर्ण उवाच–'सखे ! किमिति मम कथाविरक्तोऽन्यासक्तो भवान् ? ।' यतः—

चम्पकाभिधानायां=चम्पानाम्न्यां । नगर्यां=पुर्याम् । परिव्राजकस्य = भिक्षोः । (भिक्षु = संन्यासी, साधु) । आवसथः = निवासः (मठ) । परिव्राट् = संन्यासी । भोजनावशिष्टं = भोजनोर्वरितम्, यत्—भिक्षान्न, तेन सहितं = समुत, भिक्षापात्रं =भिक्षाभाण्डं (बर्तन, झोली) । नागदन्तके = भित्तिकाष्ठे (खूटी पर) । तदन्नं= भिक्षाऽवशिष्टमन्नम् । उत्प्लुत्य = कूर्दयित्वा (उछल कर) । प्रत्यहं = प्रतिदिनमेव । अनन्तरं = यातेषु बहुषु दिनेषु एकदा । तस्य = परिव्राजकस्य । परिव्राजकः= सन्यासी । तेन = स्वप्रियसुहृदा । कथाप्रसङ्गावस्थितः = वार्ताप्रसङ्गस्थितोऽपि । त्रासार्थं = भयार्थम् । जर्जरवंशखण्डेन = जीर्णवंशेन । तथाविधं = व्यापारान्तरप्रसक्तम् । मत्कथाविरक्तः = मदीयवार्ताश्रवणपराङ्मुखः । अन्याऽऽसक्तः = कार्यान्तरासक्तः ।

हिरण्यक बोला–अच्छा, मैं अपनी कहानी आप लोगों से कहता हूँ, सुनिये ।

चम्पा नामक नगरी में संन्यासियों का एक मठ है । वहाँ पर चूडाकर्ण नाम का एक संन्यासी (साधु) रहता था । वह प्रति दिन अपने भोजन से बचे हुए अन्न से पूर्ण अपने भिक्षापात्र, (बर्तन, झोली) को खूटी पर टाँग कर सोता था । और मैं प्रतिदिन उछल-उछल कर उस अन्न को खा जाता था । एक दिन वहाँ उसका प्रिय मित्र वीणाकर्ण नाम का संन्यासी उससे मिलने को आया । चूडाकर्ण उसके साथ बात चीत करता जाता था और मेरे डराने के लिये बाँस के एक फटे हुए डण्डे से पृथ्वी को पीटता जाता था । यह देख कर वह वीणाकर्ण बोला,

'मुखं प्रसन्नं, विमला च दृष्टिः, कथाऽनुरागो, मधुरा च वाणी
स्नेहोऽधिकः, सम्भ्रमदर्शनञ्च, सदाऽनुरक्तस्य जनस्य लक्ष्म॥११८
अदृष्टिदानं, कृतपूर्वनाशनममाननं, दुश्चरिताऽनुकीर्त्तनम् ।
कथाप्रसङ्गेन च नामविस्मृतिर्विरक्तभावस्य जनस्य लक्षणम्'॥११९

चूडाकर्णेनोक्तं-मित्र ! नाऽहं विरक्तः । किन्तु पश्याऽयं मूषिको ममाऽपकारी, सदा पात्रस्थं भिक्षाऽन्नमुत्प्लुत्य भक्षयति ।'

वीणाकर्णो नागदन्तकं विलोक्याऽऽह—'कथं मूषिकः स्वल्पबलो

मुखमिति । विमला=स्वच्छा, रागरहिता । कथाऽनुरागः=वार्ताश्रवणादरः सम्भ्रमदर्शनं=आगमने, सत्कारादिषु च—त्वरादर्शनम् । लक्ष्म=लक्षणम् ॥११८

अदृष्टिदानम्=अविलोकनम् । कृतपूर्वनाशनम्=पूर्वोपकाराद्यचिन्तनम् अमाननम्= तिरस्कारः, सत्काराऽभावश्च । दुश्चरितानुकीर्त्तनं = दोषवर्णनम् । कथाप्रसङ्गेन=कथावसरेणाऽपि । नामविस्मृतिः=नामाऽस्मरणम् । विरक्तभावस्य= विरक्तस्य ॥ ११९ ॥

अपकारी = हानिकारकः । स्वल्पबलः=स्तोकबलोऽपि । एतावद्दूरम् = इयद्दूरम् । उत्पतति = उत्प्लुत्य गच्छति ॥

कि–हे मित्र ! यह क्या बात है ? । आपका मन मेरी बातों में क्यों नहीं लगता है ? । आपका ध्यान तो मुझे दूसरी तरफ ही मालूम देता है ।

क्योंकि—प्रसन्न मुख, विमल नेत्र, बातों में प्रेम, मधुर वाणी, अधिक स्नेह, आने पर संभ्रम से (हड़बड़ाकर, उत्सुकतापूर्वक) देखना—ये सब अनुरक्त मनुष्यों के लक्षण हैं ॥ ११८ ॥

और—असन्तुष्ट होकर देखना, पूर्वकृत कार्यों (उपकारों) को भूल जाना, सत्कार न करना, दोषों को प्रकट करना, अवसर (मौके) पर नाम तक भी भूल जाना, ये सब विरक्त मनुष्य के लक्षण हैं ॥ ११९ ॥

चूडाकर्ण ने कहा–मित्र ! मैं तुमसे विरक्त नहीं हूँ । किन्तु देखो, यह चूहा मेरा वैरी है, यह सदा मेरे भिक्षापात्र का अन्न ऊपर चढ़ कर खा जाता है । अ-

ऽप्येतावद्दूरमुत्पतति ? । तदत्र केनाऽपि कारणेन भवितव्यम् । तथा चोक्तम्—

'अकस्माद्युवती वृद्धं केशेष्वाकृष्य चुम्बति ।
पतिं निर्दयमालिङ्गय, हेतुरत्र भविष्यति' ॥ १२० ॥

चूडाकर्णः पृच्छति—'कथमेतत् ?' । वीणाकर्णः कथयति—

(५) लीलावती-वणिक्पुत्र-कथा ।

अस्ति[1] गौडीये कौशाम्बी नाम नगरी । तस्यां चन्दनदासनामा वणिङ्महाधनो निवसति । तेन (च) पश्चिमे वयसि वर्त्तमानेन कामाऽधिष्ठितचेतसा धनदर्पाल्लीलावती नाम वणिक्पुत्री परिणीता । सा च मकरकेतोर्विजयवैजयन्तीव यौवनवती बभूव । स च वृद्धपतिस्तस्याः सन्तोषाय नाऽभवत् । यतः—

अकस्मात्=विनाऽपि हेतोः । वृद्धं=जराजीर्णमपि, पतिम्=स्वामिनम् । चुम्बति=सम्मुखं चुम्बति । हेतुः=किमपि कारणम् ॥ १२० ॥

गौडीये=गौडदेशे । (गौड-बङ्गाल में) । महाधनः=नितरां धनाढ्यः । पश्चिमे वयसि=वृद्धावस्थाम् । कामाधिष्ठितचेतसा=मदनाऽऽविष्टमानसेन कामातुरेण । धनदर्पात्=धनगर्वात् । नाम—इति प्रसिद्धौ । वणिक्पुत्री=वैश्यतनया । परिणीता=विवाहिता । सा च=लीलावती च । मकरकेतोः=कामदेवस्य । विजय-

---

वीणाकर्ण खूँटी की ओर देखकर बोला कि—चूहा तो एक बहुत अल्पशक्ति का जीव होता है, वह इतनी दूर ऊँचे पर कैसे उछल सकता है ? । इसमें कुछ कारण अवश्य होगा । कहा भी है—

वृद्धपति की जवान (युवती) स्त्री सहसा अपने वृद्धपति के केशों को पकड़कर उसका गाढ आलिङ्गन कर उसके मुख का चुम्बन करती है, तो इसमें जरूर कुछ कारण होगा ॥ १२० ॥

चूडाकर्ण ने पूछा कि—यह कथा कैसे है ? । वीणाकर्ण कहने लगा—

गौड़ (बंगाल) देश में कौशाम्बी नाम की एक नगरी है । वहाँपर चन्दनदास नाम का एक धनी वैश्य रहता था । उसने वृद्धावस्था में कामातुर होकर मन के घमण्ड से लीलावती नाम की एक बनिये की लड़की से विवाह किया । कुछ काल

---

1. इयं लीलावती-कथा (९५ पृष्ठात् १०२ पृष्ठपर्यन्तम्) अश्लील वाक्याधिकारिणीत्वात्सो बहिष्कृता ।

'शशिनीव हिमार्त्तानां, घर्मार्त्तानां रवाविव ।
मनो न रमते स्त्रीणां जराजीर्णेन्द्रिये पतौ' ॥ १२१ ॥

अन्यच्च—

'पलितेषु हि दृष्टेषु पुंसः का नाम कामिता ? ।
भैषज्यमिव मन्यन्ते यदन्यमनसः स्त्रियः' ॥ १२२ ॥

(परन्तु)—स च वृद्धपतिस्तस्यामतीवाऽनुरागवान् । यतः—

वैजयन्तीव = विजयपताकेव शोभमाना । यौवनवती = युवतिः । तस्याः = स्त्रीब दत्याः । सन्तोषाय = कामोपतापशान्तये ।

हिमार्त्तानाम् = शीतपीडितानाम् । शशिनि = चन्द्रे इव । घर्मार्त्तानां = ग्रीष्म पआतपतप्तानाम् । जराजीर्णेन्द्रिये = जराविकलेन्द्रियग्रामे । पतौ = पत्यौ । छान्दसोऽ प्रयोगः । पत्याविति युक्तम् । 'धने' इति पाठान्तरम् ॥ १२१ ॥

पलितेषु = शुक्लेषु केशेषु । वैवर्ण्योत्पत्ये । दृष्टेषु = जातेषु । का नाम = खलु ? । कामिता = कामोपभोगपरायणता । सा नैवोचितेत्यर्थः । यत् = यस्मात् अन्यमनसः = विरक्ताः, अन्यासक्ता वा, स्त्रियः = कामिन्यः । भैषज्यमिव = कटुं पथ्यमिव, मन्यन्ते = तं परिहार्यं मन्यन्ते, अनिच्छया च तं सेवन्ते ॥ १२२ ॥

तस्यां = तस्मिन् अननुरक्तायामपि ।

अनुरागवान् = आसक्तः ।

के बाद वह सुन्दरी कामदेव की विजय पताका के समान यौवनवती (जवान हो गई । और उसे उस वृद्ध पति से पूर्ण सन्तोष नहीं होता था । क्योंकि—

जैसे—हिम (बर्फ़ जाड़ा) से पीड़ित प्राणी को चन्द्रमा अच्छा नहीं लग है, धूप से पीड़ित मनुष्य को सूर्य अच्छा नहीं लगता है, वैसे ही जिस की स इन्द्रियाँ जीर्ण हो गयी हों ऐसा वृद्धपति युवति स्त्रियों को कभी अच्छा न लगता है ॥ १२१ ॥

और जब पुरुष के सब बाल पक गये हों तो फिर कहो उसकी कामुकता कैसी ? अर्थात् वृद्धावस्था में कामोपभोग की इच्छा व्यर्थ है । क्योंकि—वृद्ध पुरुष की स्त्रियाँ दूसरे से आसक्त हो जाती हैं और वह अपने उस वृद्ध पति को औषध (दवा की तरह ही कडुवा समझती है ॥ १२२ ॥

परन्तु वह वृद्ध वैश्य तो उस स्त्री के पर अत्यन्त आसक्त हो रहा था ।

'धनाऽऽशा, जीविताऽऽशा च गुर्वी प्राणभृतां सदा।
वृद्धस्य तरुणी भार्या प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ॥ १२३ ॥
नोपभोक्तुं, न च त्यक्तुं, शक्नोति विषयाञ्जरी।
अस्थि निर्दशनः श्वेव जिह्वया लेढि केवलम्' ॥ १२४ ॥

अथ सा लीलावती यौवनदर्पादतिक्रान्तकुलशीलमर्यादा केनाऽपि वणिक्पुत्रेण सहाऽनुरागवती बभूव। यतः—

'स्वातन्त्र्यं, पितृमन्दिरे निवसतिर्यात्रोत्सवे सङ्गति-
र्गोष्ठी पूरुषसंनिधावनियमो, वासो विदेशे तथा।

धनाशेति। यद्यपि-प्राणभृतां=प्राणिनां, धनाऽऽशा, जीविताऽऽशा च सदा गुर्वी=महती, अधिका भवति। तथापि-वृद्धस्य तरुणी भार्या तु तस्य प्राणेभ्योऽपि गरीयसी=प्राणाऽपेक्षयाऽपि नितरां गुर्वी भवति। प्राणेभ्योऽप्यधिकान्तां वृद्धो मनुते इत्यर्थः ॥१२३॥

जरी=जराजीर्णो वृद्धः। विषयान्=कामिन्यादीन्। उपभोक्तुं=यथावदुपभोक्तुम्। निर्दशनः=दन्तविकलः। अस्थि=कीकशम्, केवलं लेढि=आस्वादयत्येव जिह्वया केवलम् ॥ १२४ ॥

यौवनदर्पात्=तारुण्यमदात्। अतिक्रान्तकुलमर्यादा=उल्लङ्घितकुलमर्यादा। अनुरागवती=अनुरक्ता। मैथुनपरा। आसक्ता च।

स्वातन्त्र्यमिति। स्वातन्त्र्य=स्वतन्त्रता। पितृमन्दिरे=पितृगृहे। निवसतिः=निवासः। उत्सवे=विवाहादौ। यात्रा = गमनम्। यात्रायां=देवयात्रायां, (मेला झूला आदि)। उत्सवे = विवाहादौ च, सङ्गतिः, गमनमित्यन्वयो वा। सङ्गतिः=

क्योंकि—सभी प्राणियों को धन की आशा और जीवन की आशा (लालसा) स्वभावतः अधिक होती है। परन्तु वृद्ध पुरुष को तो अपनी युवती स्त्री अपने प्राणों से भी अधिक प्यारी होती है ॥ १२३ ॥

और वृद्ध मनुष्य न तो विषयों (स्त्री आदि) को भोग ही सकता है, और न उन्हें छोड़ ही सकता है किन्तु जिस प्रकार दन्तहीन कुत्ता हड्डी को केवल जीभसे चाटता रहता है, किन्तु उसे चबा नहीं सकता है, वही दशा उस वृद्ध मनुष्य की भी होती है ॥ १२४ ॥

कुछ काल के बाद वह लीलावती जवानी के मद से अपने कुलकी मर्यादा का उल्लंघन कर एक बनिये के लड़के से फँस गई।

क्योंकि—स्वतन्त्रता, पिता के घर (पीहर में) रहना, यात्रा (देवता आदिके दर्शनों के मेले एवं विवाह-उत्सव इत्यादि में लोगों से मिलना, पुरुषों के साथ

संसर्गः सह पुंश्चलीभिरसकृद्वृत्तेर्निजायाः क्षतिः,
पत्युर्वार्द्धकमीर्षितं, प्रवसनं[1], नाशस्य हेतुः स्त्रियाः ॥१२५॥

अपरञ्च—
'पानं, दुर्जनसंसर्गः, पत्या च विरहोऽटनम् ।
स्वप्नश्चाऽन्यगृहे वासो, नारीणां दूषणानि षट्' ॥ १२६॥
'स्थानं नास्ति, क्षणो नास्ति, नास्ति प्रार्थयिता नरः ।
तेन नारद ! नारीणां सतीत्वमुपजायते' ॥ १२७ ॥

दुर्जनसंसर्गः । यात्रा = यात्रोत्सवे = जनमेलापके, देवयानादौ, विवाहादौ च सङ्गतिः = मुहुर्दर्शनमित्यर्थः । पुरुषसन्निधौ = पुरुषाणां सन्निधौ । गोष्ठी = ग्रामबन्धः । (बैठना व गप- शप करना) । अनियमः = निरोधाऽभावः । विदेवासः = परदेशनिवासः । पत्युरागमनश्चेति शेषः । पुंश्चलीभिः = कुलटाभिः । असकृत् मुहुर्मुहुः । संसर्गः = सम्पर्कः । निजायाः = आत्मनः । वृत्तेः = जीविकायाः । क्षति अभावः, विनाशश्च । वार्धक्यं = पत्युर्वृद्धावस्था । ईर्षितं = पत्युरीर्ष्यालुत्वम् स्त्र्य वा । प्रवसनं = पत्युर्विदेशे प्रवासः । अनयोः द्वयोः च नाशस्य = पतनस्य शीलनाशनस्य । हेतुः = हेतवः ॥ १२५ ॥

पानं = मद्यपानम् । अटनं = भ्रमणम् । अन्यगृहे—स्वप्नः = शयनम्, अन्यगृहे वासश्चेति सम्बन्धः ॥ १२६ ॥

स्थानमिति । व्यभिचाराय एकान्तस्थानमित्यर्थः । क्षणः = अवसरः ।

बिना रोक-टोक बैठना और उनसे गप लड़ाना, किसी की रोक-टोक का न रहना, विदेश में रहना, व्यभिचारिणी स्त्रियों का साथ होना, जीविका (खाने-पीने) का अभाव, पति का वृद्ध होना, पति का ईर्ष्यालु होना, और पति का परदेश में रहना,—सब स्त्रियों के बिगड़ने के कारण हैं ॥ १२५ ॥

और भी—शराब पीना, दुष्टों का साथ, पति का विरह, इधर उधर घूमना, दूसरे के घर में रहना या सोना, अकारण हँसना, हँसी-ठट्ठा ये छः कारण स्त्रियों के दूषित होने (बिगड़ने) के होते हैं ॥ १२६ ॥

---

१. 'प्रहसनं' पा० ।

'न स्त्रीणामप्रियः कश्चित्प्रियो वाऽपि न विद्यते ।
गावस्तृणमिवाऽरण्ये प्रार्थयन्ति नवं नवम्' ॥ १२८ ॥

अपरञ्च—

'घृतकुम्भसमा नारी, तप्ताऽङ्गारसमः पुमान् ।
तस्माद् घृतञ्च, वह्निञ्च, नैकत्र स्थापयेद् बुधः ॥ १२९ ॥

'मात्रा, स्वस्रा, दुहित्रा वा न विविक्ताऽऽसनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो महान्तमपि कर्षति ॥ १३० ॥

प्रार्थयिता = शीलखण्डनाय लोभादिप्रदर्शनेनोत्तेजकः । कामयिता—कामी । हे नारदेति सम्बोधनपदम् । तेन = तेनैव । नान्यथेत्यर्थः ॥ १२७ ॥

तासां स्त्रीणां प्रियः, अप्रियो वा कश्चिन्नास्ति । अरण्ये=वने । गावो—नवं नवं=प्रत्यग्रं तृणमिव, नवं-नवं = नूतनं नूतनं पुरुषं । प्रार्थयन्ति = इच्छन्ति ॥ १२८ ॥

घृतकुम्भसमा = घृतपूर्णघटतुल्या । तप्ताङ्गारसमः = ज्वलदङ्गारतुल्यः । बुधः= बुद्धिमान् ॥ १२९ ॥

मात्रेति । स्वस्रा=भगिन्या । विविक्तासनः = निर्जनप्रदेशस्थितः । एकान्तस्थितः । कर्षति=पापे नियोजयति ॥ १३० ॥

हे नारद ! स्त्रियाँ पतिव्रता तभी तक रह सकती हैं, जब तक या तो उनके लिये व्यभिचारका कोई स्थान ही नहीं हो, या समय (व्यभिचार के लिये मौका) ही न मिले, या उनके चाहने वाला कोई पुरुष ही न हो ॥ १२७ ॥

और भी—स्त्रियों का न तो कोई प्रिय है और न उनका कोई अप्रिय ही है । किन्तु जैसे गाय वन में नया नया तृण (घास) ढूँढती रहती हैं, वैसे ही स्त्रियाँ भी नये नये पुरुषों को खोजा करती हैं ॥ १२८ ॥

और स्त्री—घी से भरे घड़े के समान है, पुरुष—जलते हुए अङ्गार (अग्नि) के समान है, इस लिए बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि घृत और अग्नि को एक साथ कभी न रखे ॥ १२९ ॥

बुद्धिमान् पुरुष को अपनी माता, बहिन तथा अपनी लड़की के साथ भी कभी

'न लज्जा, न विनीतत्वं, न दाक्षिण्यं, न भीरुता ।
प्रार्थनाऽभाव एवैकं सतीत्वे कारणं स्त्रियाः ॥ १३१ ॥
पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने ।
पुत्रश्च स्थाविरे भावे, न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ १३२ ॥
स्त्रियो हि चपला नित्यं देवानामपि-विश्रुतम् ।
ताश्चाऽपि रक्षिता येषां ते नराः सुखभागिनः' ॥ १३३ ॥

नेति । लज्जा=गुर्वादिलज्जा । विनीतत्वं=विनयः । स्त्रियोति यावत्
दाक्षिण्यं=मनोऽनुकूलता, अनुरोधः, (मुलाहिजा), चातुर्यं वा । भीरुता=
ताडनादिभयाऽऽतुरता । मुग्धता वा । प्रार्थनाऽभावः=कामुकपुरुषकृतप्रार्थनाऽभा
व एव । 'प्रार्थकाऽभाव' इति पाठान्तरम् ॥ १३१ ॥
पितेति । स्थाविरे भावे=वृद्धाऽवस्थायाम् । अतः—स्त्री कदाऽपि स्वातन्त्र्यं-
नाऽर्हति=नैवार्हति ॥ १३२ ॥
स्त्रिय इति । न केवल मानुषाणामेव, किन्तर्हि देवानामपि, स्त्रियः=लक्ष
मणनयः स्त्रियः । 'चपला'—इति विश्रुत=पुराणादौ प्रसिद्धमेव । ताः=मह..
चरजाः स्त्रियः । येषां=येषां पुंसां, येषां पुरुषैः, रक्षिताः=सुरक्षिताः, रक्षि
रक्षिताः, ते एव नराः सुखभागिनः=लोके सुखिनः ॥ १३३ ॥

एकान्त में नहीं बैठना चाहिये, क्योंकि इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल हैं, ये (इन्द्रियाँ) विद्व
को भी अपने वश में कर ले सकती हैं ॥ १३० ॥
और स्त्री के सती होने का कारण—न तो लज्जा है, न नम्रता है, न दा
क्षिण्य है, और न डर ही है, किन्तु इसमें यदि कोई कारण है, तो वह के
प्रार्थना करने वाले पुरुष का पास में नहीं होना ही है ॥ १३१ ॥
और बाल्यावस्था में स्त्री की रक्षा पिता को करनी चाहिए, जवानी में पति
रक्षा करनी चाहिये और वृद्धावस्था में पुत्र को उसकी रक्षा करना चाहि
इस प्रकार स्त्री को कभी स्वतन्त्र नहीं छोड़ना चाहिये ॥ १३२ ॥
क्योंकि—स्त्रियाँ सदा चपल हैं,—यह बात सदनी आदि के विषय में देवता
में भी प्रसिद्ध है । अतः जिन पुरुषों की स्त्रियाँ सुरक्षित व सुरक्षित हैं,
संसार में सुखी हैं ॥ १३३ ॥

एकदा सा लीलावती रत्नावलीकिरणकर्बुरे पर्यङ्के तेन वणिक्पुत्रेण सह विश्रम्भाऽऽलापैः सुखाऽऽसीना तमलक्षितोपस्थितं पतिमवलोक्य, सहसोत्थाय, केशेष्वाकृष्य, गाढमालिङ्ग्य चुम्बितवती। तेनाऽवसरेण जारश्च पलायितः। उक्तञ्च—

'उशना वेद यच्छास्त्रं, यच्च वेद बृहस्पतिः।
स्वभावेनैव तच्छास्त्रं स्त्रीबुद्धौ सुप्रतिष्ठितम्' ॥ १३४ ॥

तदालिङ्गनमवलोक्य समीपवर्तिनी कुट्टन्यचिन्तयत्—'अस्मादियमेनमुपगूढवती [नूनं कोऽपि हेतुरत्र भविष्यति']– इति। 'ततस्तया कुट्टन्या तत्कारणं जारं परिज्ञाय, सा लीलावती गुप्तेन

रत्नावलीकिरणकर्बुरे = नानारत्नपङ्क्तिरश्मिचित्रिते। नानारत्नौघघटिते इत्यर्थः। पर्यङ्के = मञ्चके। तेन = उपपतिना सह। विश्रम्भाऽऽलापैः = प्रणयगर्भैर्मधुरवचनैः—उपलक्षिता। सुखाऽऽसीना = सुखमुपविष्टा। अलक्षितोपस्थितम् = अकस्मादुपागतम्। सहसा = झटिति। जारः = उपपतिर्वणिक्पुत्रः। पलायितः = अपसृतः।

उशनेति। उशनाः=शुक्राचार्यः। यच्छास्त्रं = यन्नीतिशास्त्रादिकम्। वेद = अध्ययनादिना वेत्ति। तत्–शास्त्रसारं, स्वभावेनैव=प्रकृत्यैव। ननु शिक्षणादिना। शास्त्रयक्तेति भावः ॥ १३४ ॥

समीपवर्तिनी = निकटस्थिता। कुट्टनी = शम्भली काचित्। (कुट्नी)।

एक समय वह लीलावती नाना प्रकार के रंग विरंगे रत्नों की किरणों से सुशोभित पलंग पर सुखपूर्वक बैठी हुई उस बनिये के लड़के से प्रेमपूर्वक बातचीत कर रही थी, कि–एकाएक अपने वृद्ध पति को आते हुए देखकर झट उठकर उसने चिपट कर उसका चुम्बन करने लगी। इसी समय मौका पाकर वह बनिये का लड़का भी भाग गया।

कहा भी है—शुक्राचार्य और बृहस्पति भी जिन शास्त्रों को अपने गुरुसे पढ़कर ही जानसके हैं, वे सब शास्त्र स्त्रियों की बुद्धि में स्वभाव से ही रहते हैं ॥ १३४ ॥

इस प्रकार वृद्ध पति को अपनी युवती पत्नी द्वारा आलिङ्गन किया जाता हुआ देखकर दैवात् उसी जगह खड़ी हुई एक कुट्नी विचारने लगी कि सहसा यह इस वृद्ध पति से क्यों लिपट गई ?। जरूर इसमें कुछ कारण है। इसके बाद उस कुट्नी ने इसके कारण (उसके यार का उसके पासमें उपस्थित रहना)

१. 'नास्मादिति। ततस्तया' पा०।

दण्डिता[1] । अतोऽहं ब्रवीमि–'अकस्माद्युवती वृद्धम्' इत्यादि[2] । ८ ।

(एवं) मूषिकबलोपष्टम्भेन केनाऽपि कारणेनाऽत्र भवितव्यम् । क्षणं विचिन्त्य परिव्राजकेनोक्तम्–'कारणं चाऽत्र धनबाहुल्यमेव भविष्यति । यतः—

'धनवान्बलवाँल्लोके सर्वः सर्वत्र सर्वदा ।
प्रभुत्वं धनमूलं हि राज्ञामप्युपजायते' ॥ १२५ ॥

ततः खनित्रमादाय तेन परिव्राजकेन विवरं खनित्वा, चिरसञ्चितं मे धनं गृहीतम् । ततः प्रभृत्यहं निजशक्तिहीनः, सत्त्वोत्साहरहित

युवा=युवतिर्वणिक्पत्नी । एनं=वृद्धं पतिम् । उपगूहती=आलिङ्गितवती । [illegible]=किञ्चिद्विचारानन्तरम् । गुप्तेन दण्डितेति । 'मत्प्रमितप्रमाणं धनं देहि नोचेत्तव रहस्यं तव पत्युः पुरतो वदयामी'त्यभिधाय सा लीलावती गूढदण्डिता अर्थात् सा कुट्टिनी गूढमेव ततो विपुलं धनं लेभे इत्यर्थः ।

मूषिकबलोपष्टम्भेन=मूषकबलाधारभूतेन । (उपष्टम्भः=आधारः) । कारणेन हेतुना । अत्र=मत्प्रान्ते ।

धनवानिति । राज्ञामपि प्रभुत्वं=राजत्वं, धनमूलमेव=धनेनैव, ध[illegible] ॥ १२५ ॥

खनित्रं=भूमिखननसाधनं–(खनती-फावड़ा) । विवरं=मद्बिलम् । निजशक्ति[illegible]

को जान कर, उस लीलावती को डरा धमका कर उससे बहुत सा धन (रुपया) उस कुट्टिनी ने ऐंठ लिया (वसूल किया) ।

इसी लिये मैं कहता हूँ कि 'एकाएक युवती स्त्री वृद्ध पति का यदि आलिङ्गन करती है, तो इसमें अवश्य कुछ कारण है' इत्यादि ।

इसीप्रकार इस चूहे के असाधारण बल का भी कोई कारण अवश्य ही होगा। ऐसा कुछ देर सोचकर उस संन्यासी ने पुनः कहा,–इसका कारण मुझे इस पास अधिक धन का होना ही मालूम पड़ता है ।

क्योंकि—संसार में सभी जगह, सदा ही, धनी लोग ही बलवान् गिने जाते हैं । राजा लोग भी धन ही के कारण सबके स्वामी बने रहते हैं ॥ १२५ ॥

१. '[illegible] बुद्ध्वा धर्षयित्वा [illegible], सा [illegible] दण्डिता' । पा०
२. [illegible] कथा [illegible] पाठिकपरीक्षा[illegible] ।

स्वाहारमप्युत्पादयितुमक्षमः । सत्रासं मन्दं मन्दमुपसर्पंश्चूडाकर्णेनाऽवलोकितः । ततस्तेनोक्तम्—

'धनेन बलवाँल्लोके, धनाद्भवति पण्डितः ।
पश्यैनं मूषिकं पापं स्वजातिसमतां गतम्' ॥ १३६ ॥

किञ्च—

'अर्थेन हि विहीनस्य पुरुषस्याऽल्पमेधसः ॥
क्रियाः सर्वा विनश्यन्ति, ग्रीष्मे कुसरितो यथा' ॥१३७॥

ः=स्वशरीरबलेनापि हीनः । सत्त्वोत्साहरहितः=पराक्रमोत्साहशक्तिशून्यः । ार्पं=भ्रमणम्, उपसर्पन्=इतस्ततो भ्रमन्, प्रचलन्वा । चूडाकर्णेन=तन्नाम्ना ोभकेन ।

धनेनेति । लोके पुमान् धनेन बलवान् भवति, धनाच्च पण्डितो भवति, एनं=नरहितं । पापं=दुष्टम्, मूषिकं । स्वजातिसमतां = मूषिकजातितुल्यतां । गतं = तं—प्राप्तमित्यर्थः ॥ १३६ ॥

अर्थेन = धनेन । विहीनस्य = रहितस्य । अतएव—अल्पमेधसः = स्वल्पमतेः । र्वाः क्रियाः = सर्वाणि कर्माणि, विनश्यन्ति = हीयन्ते । कुसरितः = स्वल्पजला नद्यः ॥ १३७ ॥

इसके बाद उस संन्यासी ने खन्ती ('कस्सी'-फावड़ा) लेकर मेरे (चूहे) बिल ो खोद डाला और मेरा बहुत दिन का एकत्र किया हुआ सब धन ले लिया ।

उसी दिन से मैं अपनी शक्ति से हीन हो गया और बल उत्साह से रहित ोकर अपना भोजन उपार्जन करने में भी मैं असमर्थ हो गया। और एक दिन मैं ारे डर के धीरे धीरे जा रहा था, कि मुझे उस चूड़ाकर्ण संन्यासी ने देखा ौर कहा कि—

धन के प्रभाव से सब कोई बली होते हैं, धन से ही पण्डित होते हैं, देखो धन के चले जाने से यह पापी चूहा फिर अपनी जाति वालों के बराबर हो गया। अर्थात् इसका वह असाधारण बल जाता रहा ॥ १३६ ॥

और भी—धनहीन (दरिद्र) हो जाने से अल्पबुद्धि वाले भाग्यहीन मनुष्य के सभी काम उसी प्रकार बिगड़ जाते हैं, जैसे गरमी में सब छोटी छोटी नदियाँ सूख जाती हैं ॥ १३७ ॥

अपरञ्च—

'यस्यार्थास्तस्य मित्राणि, यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः ।
यस्यार्थाः स पुमाँल्लोके, यस्यार्थाः स च पण्डितः' ॥ १३८ ॥

अन्यच्च—

'अपुत्रस्य गृहं शून्यं, सन्मित्ररहितस्य च ।
मूर्खस्य च दिशः शून्याः, सर्वशून्या दरिद्रता ॥ १३९ ॥
दारिद्र्यान्मरणाद्वापि दारिद्र्यमवरं स्मृतम् ।
अल्पक्लेशेन मरणं, दारिद्र्यमतिदुःसहम्' ॥ १४० ॥

यस्येति । यस्य=पुंसः । अर्थाः—धनानि सन्ति । तस्य = तस्यैव । मित्राणि= सुहृदो भवन्ति । पुमान् = पुरुषश्रेष्ठः । स च = स एव । 'स ही'ति पाठान्तरम् ॥ १३८ ॥

अपुत्रस्य = पुत्ररहितस्य—पुंसः—गृहं = गेहं , शून्य = शून्यमिव भवति । सन्मित्ररहितस्य च = श्रेष्ठमित्रविरहितस्यापि च, गृहं शून्यमित्यन्वयः । मूर्खस्य च, दिशः = दिक्प्रदेशाः शून्याः । क्वचिदपि स गन्तुमशक्तः, मूर्खत्वात् । दरिद्रता तु—सर्वशून्या । दरिद्रस्य सर्वमेव शून्यमित्यर्थः ॥ १३९ ॥

अवरं = न्यूनम् । कुत एतदत आह—अल्पेति । मरणे तु क्लेशः = यातनाऽल्पा । दारिद्र्यं = दारिद्र्योत्थितं दुःखन्तु—अतिदुःसहम् = नितरां सोढुमशक्यम्, तस्य सार्वदिकत्वेन अतिदुःसहत्वात् ॥ १४० ॥

और भी—जिसके पास धन है, उसीके सब लोग मित्र हैं, उसी के भाई बन्धु हैं, वही श्रेष्ठ पुरुष है और वही सच्चा पण्डित है ॥ १३८ ॥

और भी—जिसको लड़का नहीं है उसका, तथा जिसके सच्चा मित्र नहीं है उसका भी घर सूना है । और मूर्ख के लिये सब दिशायें ही सूनी हैं । (इसमें देश शून्य है), परन्तु दरिद्र के लिये तो सभी कुछ सूना है, अर्थात् दरिद्र के लिये सब कुछ सूने की तरह ही है ॥ १३९ ॥

और भी—दरिद्रता और मरना इन दोनों में से मरना ही अच्छा है, क्योंकि मरने में तो थोड़ी देर ही दुःख है, पर दरिद्रता में तो सदा कष्ट ही कष्ट है ॥ १४० ॥

अपरञ्च—

'तानीन्द्रियाण्यविकलानि, तदेव नाम,
सा बुद्धिरप्रतिहता, वचनं तदेव ।
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव,
'अन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत्' ॥ १४१ ॥

एतत्सर्वमाकर्ण्य मयाऽऽलोचितं—'ममाऽत्रावस्थानमयुक्तमिदानीम् । यच्चाऽन्यस्मै एतद्वृत्तान्तकथनं तदप्यनुचितम्' । यतः—

'अर्थनाशं, मनस्तापं, गृहे दुश्चरितानि च ।
वञ्चनं, चाऽपमानं च, मतिमान्न प्रकाशयेत्' ॥१४२॥

तानीति । यानि पूर्वमासन् तान्येव अविकलानि = दोषानुपहतानि, अकुण्ठितानि च, इन्द्रियाणि = चक्षुरादीनि, पुंसो धननिगमेऽपि सन्ति । तदेव = यद्धनसत्त्वसमये आसीत्, तदेव च—नाम = नामधेयम् । अप्रतिहता = अकुण्ठिता सा निर्मला एव—बुद्धिः । तदेव वचनं = वाक्यम् । अर्थोष्मणा = वित्तोष्मणा (धन की गर्मी से) । स एव = यो धनसत्त्वसमये आसीत्स एवास्ति । अन्यः = अन्य इव, धनापगमेन प्रभावशून्यः । इत्येतत् = इदं, विचित्रम् = आश्चर्यजनकम् ॥ १४१ ॥

आकर्ण्य = श्रुत्वा । आलोचितं = मनसि विचारितम् । अत्र = मठे । अवस्थानं = निवासः । एतद्वृत्तान्तकथनं = स्वधनापहारवार्ताकथनम् ।

अर्थेति । अर्थनाशं = धननाशम् । मनस्तापं = मानसं क्लेशम् । गृहे = गृहे

और भी—यद्यपि दरिद्र होने पर भी पुरुष की वे ही अविकृत इन्द्रियां रहती हैं, वही नाम है, वही पहिले की तरह ही तीक्ष्ण बुद्धि है, वही वाणी है, परन्तु जब उसमें धन की गर्मी नहीं रहती है, तो क्षण भर में ही उसकी दशा बदल जाती है, यह कैसी विचित्र और आश्चर्य की बात है ॥ १४१ ॥

यह सब सुन कर मैंने सोचा कि, अब यहाँ मेरा रहना ठीक नहीं है । और दूसरे से अपनी दुर्दशा का यह हाल कहना भी उचित नहीं है ।

---

१. 'वाहवः' पा० ।

अपि च—

'आयुर्वित्तं, गृहच्छिद्रं, मन्त्र-मैथुन-भेषजम् ।
तपो, दानाऽपमानश्च नव गोप्यानि यत्नतः' ॥ १४३ ॥

तथा चोक्तम्—

'अत्यन्तविमुखे दैवे, व्यर्थे यत्ने च, पौरुषे ।
मनस्विनो दरिद्रस्य वनादन्यत्कुतः सुखम्' ? ॥ १४४ ॥

अन्यच्च—

'मनस्वी म्रियते कामं, कार्पण्यं न तु गच्छति ।
अपि निर्वाणमायाति, नाऽनलो याति शीतताम्' ॥ १४५ ॥

मनांसि, दुश्चरितानि = दुराचरणानि व्यभिचारादीनि । वञ्चन = दुर्वचनम् । (ठगा जाना) । अपमान = तिरस्कारः । मतिमान् = बुद्धिमान् । न प्रकाशयेत् = कस्याप्यग्रे न प्रकटीकुर्यात् ॥ १४२ ॥

आयुरिति । आयु = जीवितकाल. । वित्त = धनम् । गृहच्छिद्रं = गृहे भवानि दुश्चरितानि । मन्त्रमैथुनभेषजम् = मन्त्र-सुरत भेषजानि । तपो, दानमपमानश्चेति नव गोप्यानि = सुगुप्तं रक्षणीयानि, न प्रकाशनीयानि ॥ १४३ ॥

अत्यन्तेति । दैवे = अदृष्टे, अत्यन्तं विमुखे = नितरां प्रतिकूले सति । यत्ने = प्रयत्ने च । पौरुषे = पराक्रमे च, व्यर्थे = व्यर्थतां गते सति । मनस्विन = मानधन उपदरिद्रस्य । वनं विना = वनदेशं विहाय धनगमा विना, कुतः सुखं = कस्मात् स्यात् । नैव कुत्रापि सुखमित्यर्थः ॥ १४४ ॥

क्योंकि—बुद्धिमान् मनुष्य, अपने धन का नाश, अपने मन का सन्ताप, घर के दुराचार, ठगा जाना और अपने अपमान को किसी से भी प्रकाशित न करे ॥

और भी—आयु, धन, घर का कलह, मन्त्र, मैथुन, औषध, तप, दान अपमान, इन नौ बातों को सदा बहुत सावधानी से छिपाना चाहिए ॥ १

और भी कहा है—जब भाग्य प्रतिकूल हो और जब यत्न भी [व्यर्थ] हो जावें, तो फिर मनस्वी मनुष्य के लिये वन को छोड़ कर और कहाँ सुख हो सकता है ? । अतएव उसे देश छोड़ कर जङ्गल वा वन में चला जाना चाहिए ॥ १

किञ्च—

'कुसुमस्तवकस्येव द्वे वृत्ती तु' मनस्विनः ।
'सर्वेषां मूर्ध्नि वा तिष्ठेद्विशीर्येत वनेऽथवा' ॥ १४६ ॥

यथाऽत्रैव याच्ञया जीवनं, तदतीव गर्हितम् । यतः—

'वरं विभवहीनेन प्राणैः सन्तर्पितोऽनलः ।
नोपचारपरिभ्रष्टः कृपणः प्रार्थितो जनः' ॥ १४७ ॥

मनस्वीति । मनस्वी=उन्नतचेताः, कामम्=यथेच्छं, म्रियते=स्वप्राणान् जहाति । किन्तु—कार्पण्यं=दैन्यम् । निर्वाणं=शान्तिम् । (बुझ जाता है) । शीततां=शैत्यम् । अनलः=वह्निः ॥ १४५ ॥

कुसुमस्तवकस्येव=पुष्पगुच्छकस्येव । वृत्ती=व्यवस्थिती, विशीर्येत = विशीर्णतामेत्यति । (बिखर जाता है । नष्ट हो जाता है) ॥ १४६ ॥

अत्रैव=अस्मिन्नेव मठे । याच्ञया = भैक्ष्येण, गर्हितं = निन्दितम् ।

वरमिति । विभवहीनेन=धनरहितेन पुंसा । अनलः=वह्निः, प्राणैः सन्तर्पितः=वह्नौ शरीरं हुतश्चेत्, वरं=किञ्चित्, श्रेष्ठम् । उपचारपरिभ्रष्टः=सत्कारवर्जितः । कृपणो जनः=कदर्यः (कंजूस) । प्रार्थितः=याचितः—न वरम् ॥ १४७ ॥

और भी—मनस्वी मनुष्य मर भले ही जाता है, परन्तु वह किसी के सामने दीनता कभी नहीं प्रगट करता है । देखो, अग्नि बुझ तो जरूर जाता है, परन्तु वह कभी शीतल नहीं होता है ॥ १४५ ॥

और भी—फूल के गुच्छे की तरह मनस्वी मनुष्य की भी दो ही वृत्तियाँ होती हैं, या तो वह सब के (सिर के) ऊपर ही रहता है, अथवा वह वन में ही पड़ा-पड़ा नष्ट हो जाता है ॥ १४६ ॥

और यहीं पर (मठ में) रह कर मेरा भिक्षा माँग कर जीवन बिताना—यह तो अत्यन्त ही निन्दित है । क्योंकि—दरिद्र मनुष्य अपने प्राण को अग्नि में समर्पण कर दे, तो यह बहुत अच्छा है, परन्तु विचाररहित कृपण मनुष्यों से प्रार्थना करना (उनसे भिक्षा माँगना) यह तो अच्छा नहीं है ॥ १४७ ॥

१. 'द्वे वृत्ती तु' इति, 'वृत्ती च' इति च पा० । २ 'सर्वलोकस्य वा मूर्ध्नि' पा० ।

'दारिद्र्याद्ध्रियमेति, ह्रीपरिगतः सत्त्वात्परिभ्रश्यते,
निःसत्त्वः परिभूयते, परिभवान्निर्वेदमापद्यते[1] ।
निर्विण्णः शुचमेति, शोकनिहतो बुद्ध्या परित्यज्यते,
निर्बुद्धिःक्षयमेत्यहो! निधनता सर्वापदामास्पदम्' ॥१४८॥

किञ्च—

'वरं मौनं कार्यं, न च वचनमुक्तं यदनृतं,
वरं क्लैब्यं पुंसां, न च परकलत्राऽभिगमनम् ।
वरं प्राणत्यागो, न च पिशुनवाक्येष्वभिरुचि[2]–
र्वरं भिक्षाऽशित्वं, न च परधनाऽऽस्वादनसुखम्[3]' ॥१४९

दारिद्र्यादिति । ह्रियं = लज्जाम् । ह्रीपरिगतः = लज्जितः, सत्त्वात् = शक्तत्वात्, ओजसः, पौरुषात्, धैर्याच्च । परिभूयते = तिरस्क्रियते । निर्वेदं = ग्लानिम् मनस्तापञ्च । निर्विण्णः = खिन्नः । शुचं = शोकम् । एति = गच्छति । शोकनिहतः = शोकाकुलः, क्षयं = विनाशम् । निधनता = निर्धनता, दरिद्रता । सर्वापदां = सकलविपत्तीनाम् । आस्पदं = स्थानम्, कारणञ्च ॥ १४८ ॥

वरमिति । अनृतं = मिथ्या । क्लैब्यं = नपुंसकता । परकलत्राभिगमनं = परदाराऽभिमर्शः । पिशुनवाक्येषु = दुर्जनवाक्यवचनेषु । (पिशुन = चुगलखोर) अभिरुचिः = आदरः । भिक्षाशित्वं = भिक्षाभोजनादरः । परधनास्वादनसुखं = परधनोपभोगसुखम् ॥ १४९ ॥

क्योंकि—दरिद्रता से मनुष्य लज्जित-सा हो जाता है । लज्जित मनुष्य तेजहीन हो जाता है । तेजहीन मनुष्य का सर्वत्र निरादर होता है । अनादर से निर्वेद (उदासी) होता है । खिन्न मनुष्य शोक से व्याप्त हो जाता है । शोकमग्न मनुष्य की बुद्धि नष्ट हो जाती है । और बुद्धिहीन मनुष्य का नाश निश्चित है । अतः दरिद्रता ही सब आपत्तियों का आधार स्थान (मूल कारण) है ॥ १४८ ॥

और भी—चुप रहना अच्छा है, परन्तु झूठ बोलना अच्छा नहीं ।

१ 'मापद्यते' । २ 'ष्वभिरतिः' । ३ 'रतिः' । 'सुखम्' ।

'वरं शून्या शाला, न च खलु वरो दुष्टवृषभो,
वरं वेश्या पत्नी, न पुनरविनीता कुलवधूः ।
वरं वासोऽरण्ये, न पुनरविवेकाधिपपुरे,
वरं प्राणत्यागो, न पुनरधमानामुपगमः' ॥ १५० ॥

अपि च—

'सेवेव मानमखिलं, ज्योत्स्नेव तमो, जरेव लावण्यम् ।
हरिहरकथेव दुरितं, गुणशतमप्यर्थिता हरति' ॥ १५१ ॥

वरमिति । श्रेष्ठेत्यर्थः । शाला=गोशाला, गृहं च । अविनीता=अशिक्षिता । अविवेकाऽधिपपुरे=विवेकशून्यनरपतिनगर्याम् । उपगमः=याच्ञा । अधमानां=नीचानाम् ॥ १५० ॥

सेवेवेति । सेवा यथा अखिलं मानं हरति, ज्योत्स्ना च यथा तमो हरति, जरा च यथा पुंस्त्वं लावण्यं च हरति, हरिहरकथा च यथा दुरितं=पापं हरति, तथा अर्थिता=याच्ञा, गुणशतमपि=अनन्तानपि गुणान्, हरति=विलोपयति । नाशयति ॥१५१॥

भूखा रहना अच्छा है, परन्तु परस्त्रीगमन अच्छा नहीं । मर जाना अच्छा है, परन्तु दुष्ट व निन्दक के वचन में विश्वास करना अच्छा नहीं । भिक्षा माँगकर खाना अच्छा है, परन्तु दूसरे के धन पर आनन्द (मौज) करना कभी अच्छा नहीं है ॥ १४६ ॥

और भी—गोशाला का सूना रहना अच्छा है, परन्तु उनमें दुष्ट बैल रखना अच्छा नहीं है । वेश्या को पत्नी रूप से रख लेना अच्छा है, परन्तु कुलीन स्त्री यदि दुश्चरित्रा हो, तो वह अच्छी नहीं । वन में रहना अच्छा है, परन्तु अविवेकी राजा के राज्य में रहना अच्छा नहीं । प्राण का त्याग कर देना यहीं अच्छा है, परन्तु नीचों की सेवा और उनका संग साथ कभी अच्छा नहीं है ॥ १५० ॥

और भी—जैसे दूसरे की सेवा—मान को, प्रकाश—अन्धकार को, वृद्धता—सौन्दर्य को और भगवत्कथा—पाप को—हरण करती है, वैसे ही याचना (माँगना) भी मनुष्यों के सभी गुणों को हर लेती है, (यह सभी गुणों का नाश कर देती है) ॥ १५१ ॥

—इति विमृश्य 'तत्—किमहं परपिण्डेनाऽऽत्मानं पोषयामि'[1] ? । कष्टं भो ! तदपि द्वितीयं मृत्युद्वारम् । यतः—

'पल्लवग्राहि पाण्डित्यं, क्रयक्रीतञ्च मैथुनम् ।
भोजनञ्च पराधीनं, तिस्रः पुंसां विडम्बनाः ॥ १५२ ॥
रोगी, चिरप्रवासी, परान्नभोजी, परावसथशायी ।
यज्जीवति तन्मरणं, यन्मरणं सोऽस्य विश्रामः' ॥ १५३ ॥

—इत्यालोच्याऽपि लोभात्पुनरप्यर्थं ग्रहीतुं ग्रहमकरवम् ।

इति विमृश्य = इत्थं विचार्य । पुनरपि प्रकारान्तरेण विचारयति—तत्किमहमिति । परपिण्डेन = परदत्तेन भोजनकवलेन । सेवयेत्यर्थः । पोषयामि = पालयामि । नैतदुचितमित्याह—कष्टमिति । तदपि = परपिण्डोपजीवनम् । द्वितीयम् = अपरमिव । मृत्युद्वारं = मृत्युतुल्यकष्टप्रदम् ।

पल्लवेति । पल्लवग्राहि = नानाशास्त्रेभ्यः स्वल्पोऽल्पग्रहस्य विशकलितस्य ग्रहणेन समुद्भूतम् । (इधर उधर का थोड़ा-थोड़ा ज्ञान लेना) । क्रयक्रीतं = वेश्यादिभ्यो धनेन क्रीतम् । मैथुनं = सुरतम् । विडम्बनाः = कदर्थनानि, उपहासास्पदानि ॥१५२॥

परावसथशायी = परगृहशायी । तस्य जीवनं—मरणतुल्यम् । मरणञ्च—तस्य विश्रामः = क्लेशनिर्मोक्षः ॥ १५३ ॥

इस प्रकार विचार करके फिर मैंने इस प्रकार पुनः विचार किया, कि—क्या मैं किसी राजा, सेठ साहूकार आदि की सेवा (नौकरी) करके दूसरे के अन्न से अपना पालन पोषण करूँ ? । परन्तु हाय यह भी बड़े कष्ट की बात है, दूसरे की नौकरी करना तो मरण के ही तुल्य है ।

क्योंकि—पल्लवग्राही पाण्डित्य—(थोड़ा थोड़ा सब कुछ पढ़ना, परन्तु किसी विषय को पूरा पूरा न जानना), द्रव्य देकर मैथुन करना, दूसरे के अधीन होकर के खाना (भोजन करना) ये तीनों बातें तो अत्यन्त कष्ट देने वाली और उपहास कराने वाली हैं, अर्थात् धिक्कार (व्यर्थ) ही हैं ॥ १५२ ॥

और रोगी, सदा परदेश रहने वाले, दूसरे का अन्न खाने वाले, और दूसरे के घर में रहने वाले पुरुष का जीना तो मरने के तुल्य है, और उसका मरना उसके लिए विश्राम के ही समान है। अर्थात् जीने से उसका मरना ही अच्छा है ॥१५३

१. 'पोषयामि' ।

धनलुब्धो ह्यसन्तुष्टो नूनमात्मद्रोही भवति ।

तथा चोक्तम्—

'लोभेन बुद्धिश्चलति, लोभो जनयते तृषाम् ।
तृषाऽऽर्त्तो दुःखमाप्नोति परत्रेह च मानवः' ॥ १५४ ॥

ततोऽहं मन्दं-मन्दमुपसर्पंस्तेन वीणाकर्णेन जर्जरवंशखण्डेन ताडित-श्चाऽचिन्तयम्—

'धनलुब्धो, ह्यसन्तुष्टोऽनियतात्माऽजितेन्द्रियः ।
सर्वा एवाऽऽपदस्तस्य, यस्य तुष्टं न मानसम्' ॥१५५॥

तथा च—

'सर्वाः सम्पत्तयस्तस्य सन्तुष्टं यस्य मानसम् ।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्माऽऽवृतेव भूः' ॥१५६॥

अर्थं=भिक्षान्नादिकं द्रविणम् । अहम्=आमहम् ॥ लोभेनेति । चलति=नश्यति । तृषाम्=तृष्णाम् । तृषार्त्तः=तृष्णार्दितः । धनादि तृष्णाकुलः । परत्र=परलोके । इह=अस्मिन् लोके ॥ १५४ ॥ उपसर्पन्=इतस्ततो भ्रमन् ।

धनेति । लोभाक्रान्ता.–अनियतात्मा=चञ्चलमानसः, अजितेन्द्रियः= अनिर्जितेन्द्रियः ॥ १५५ ॥

ऐसा विचार कर भी, मैंने मारे लोभ के फिर भी उस संन्यासी के अन्न को खाने का प्रयत्न किया । क्योंकि धन का लोभी और असन्तोषी मनुष्य अपनी आत्मा के साथ भी द्रोह (विरोध) करने वाला ही होता है । किसी ने कहा भी है—

लोभ से मनुष्य की बुद्धि चञ्चल हो जाती है, और लोभ से मनुष्य को तृष्णा उत्पन्न होती है और तृष्णा से ही मनुष्य इस लोक में तथा परलोक में भी दुःख पाता है ॥ १५४ ॥

इसके अनन्तर उस संन्यासी का अन्न खाने को मैं धीरे-धीरे जाही रहा था कि उस वीणाकर्ण संन्यासी ने मुझे एक फटे हुए बाँस के टुकड़े से मारा। तब मैं सोचने लगा—

जो मनुष्य धन का लोभी, असंतोषी, चञ्चल चित्तवाला, इन्द्रियों के वश में रहने वाला है, तथा जिसका मन सन्तुष्ट नहीं है, ऐसे मनुष्य को सब प्रकार की आपत्तियाँ आकर घेर लेती हैं ॥ १५५ ॥

अपरञ्च—

'सन्तोषाऽमृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम् ।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्' ॥ १५७ ॥

किञ्च—

'तेनाऽधीतं, श्रुतं तेन, तेन सर्वमनुष्ठितम् ।
येनाऽऽशाः पृष्ठतः कृत्वा नैराश्यमवलम्बितम्' ॥ १५८ ॥

अपि च—

'असेवितेश्वरद्वारमदृष्टविरहव्यथम् ।
अनुक्तक्लीबवचनं, धन्यं कस्याऽपि जीवनम्' ॥ १५९ ॥

सर्वा इति । उपानद्गूढपादस्य = पादुकाबद्धपादस्य । चर्मावृतेव = चर्मास्तृतेव । भूः = समस्तापि–धरित्री–निश्चयेनैव ॥ १५६ ॥

सन्तोषेति । सन्तोष एव अमृतं, तेन तृप्तानामित्यर्थः । अत एव–शान्तचेतसाम् = शान्तचित्तानाम् ॥ १५७ ॥

अधीतं = शास्त्रं पठितम् । श्रुतम् = आकर्णितम् । सर्वं = यज्ञादिकं शुभं कर्म अनुष्ठितं = कृतम् । नैराश्यं = सन्तोषः ॥ १५८ ॥

असेवितेश्वरद्वारम् = असेवितराजादिधनिकद्वारम् । अदृष्टा विरहव्यथा यस्मिन्–अदृष्टविरहव्यथम् = अननुभूतवियोगम् । अनुक्तक्लीबवचनम् = अकथितदी

और भी–जिसका मन सन्तुष्ट है, उसके पास सब सम्पत्ति है । जैसे जिस मनुष्य के पैर में जूता है, उसके लिये मानो सब पृथ्वी ही चर्म से आच्छादित है ॥ १५६ ॥

और भी–सन्तोषरूपी अमृत से तृप्त एवं शान्त चित्तवालों को जो सुख है, वह सुख धन के लोभ से इधर-उधर दौड़नेवालों को कहाँ से हो सकता है ? ॥ १५७ ॥

और भी–जिसने आशा को पीछे कर कर नैराश्य (निराशा) का अवलम्बन किया है, उसी ने सब शास्त्रों को ठीक २ पढ़ा है, और उसी ने शास्त्र को ठीक २ सुना है और उसी ने सब कुछ कर्म यथार्थ किया है ॥ १५८ ॥

और भी–जिसने धनिकों के द्वार की सेवा नहीं की, जिसने विरह

यतः—

'न योजनशतं दूरं वाह्यमानस्य[1] तृष्णया ।
सन्तुष्टस्य करप्राप्तेऽप्यर्थे भवति नाऽऽदरः' ॥ १६० ॥

तदत्राऽवस्थोचितकार्यपरिच्छेदः श्रेयान् ।

'को धर्मो, भूतदया, किं सौख्यमरोगिता जगति जनैः ।
कः स्नेहः, सद्भावः, किं पाण्डित्यं, परिच्छेदः' ॥१६१॥

धारयम् । जीवनम्=जीवितम् । कस्यापि=सन्तुष्टस्य, विरक्तस्य च ॥

नेति । तृष्णया=आशया, वाह्यमानस्य=प्रेर्यमाणस्य । योजनशतमपि न दूरम् । तृष्णार्थो योजनशतमपि गच्छतीत्यर्थः । सन्तुष्टस्य तु करप्राप्ते=हस्तगतेऽपि । अर्थे=वस्तुनि–आदरो न भवतीत्यर्थः ॥ १६० ॥

तत्=तस्मात् । अवस्थोचितकार्यपरिच्छेदः=दरिद्राऽवस्थायोग्यः सुखोप-भोगसङ्कोचः, उपभोगपरित्यागश्च । केचित्तु–परिच्छेदः=निश्चय इत्यर्थं इत्याहुः । श्रेयान्=श्रेष्ठः ।

क इति । भूतदया=जीवदया । सौख्यम्=सुखम् । अरोगिता=आरोग्यं । परिच्छेदः=सङ्कोचः, स्वल्पो व्ययः, निश्चयो वा ॥ १६१ ॥

व्यथा नहीं सही, और जिसने कहीं अपनी दीनता प्रगट नहीं की, उसी मनुष्य का जीवन धन्य है ॥ १५९ ॥

क्योंकि—जो मनुष्य तृष्णा के वश में हो रहा है, उसके लिये तो १००सौ योजन (चार सौ कोस) भी दूर नहीं है, पर जो प्राणी सन्तुष्ट है, उसको तो हाथ में प्राप्त हुए धन पर भी आदर नहीं होता है, किन्तु उसमें भी उसे उपेक्षा ही होती है ॥ १६० ॥

इसलिये यहाँ अब अपनी अवस्था (दरिद्रता) के अनुसार ही कर्त्तव्यकार्य का निर्णय कर लेना ही अच्छा है । क्योंकि—

धर्म क्या है ?, प्राणियों पर दया । संसार में सुख क्या है ?, नीरोग रहना । स्नेह क्या है ?, सद्भाव=अनुराग, प्रेम । पाण्डित्य क्या है ?, सत् असत् का विवेक । अर्थात्–उचित अनुचित का ठीक ठीक समझना ॥ १६१ ॥

1. 'बाध्यमानस्ये'ति पाठान्तरम् ।

तथा च—

'परिच्छेदो हि पाण्डित्यं यदाऽऽपन्ना विपत्तयः ।
अपरिच्छेदकर्तॄणां विपदः स्युः पदे पदे' ॥ १६२ ॥
'त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे, स्वात्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्' ॥१६३॥

अपरञ्च—

'पानीयं वा निरायासं, स्वाद्वन्नं वा भयोत्तरम् ।
विचार्य खलु पश्यामि, तत्सुखं यत्र निर्वृतिः' ॥ १६४ ॥

परिच्छेदः = विचारः, निश्चयः, सन्तोषो वा । पाण्डित्यं = चातुर्यं, कौशलं [illegible] । आपन्ना = प्राप्ता । अपरिच्छेदकर्तॄणाम् = अविचार्य कार्यमाचरताम् अविवेकिनाम् । [illegible] असन्तुष्टानां वा ॥ १६२ ॥

एकम् = एक जनम् । ग्रामस्यार्थे = [illegible] । कुलं = [illegible] । जनपदस्य = [illegible] (जिला), [illegible] अर्थे = [illegible] । पृथिवी = सकल-[illegible] । स्वात्मार्थे = [illegible] ॥ १६३ ॥

[illegible] पानीय = निर्झरादिजलम्, [illegible] निरायासम् = [illegible] अन्न = [illegible] स्वादु = मधुरम्, भयोत्तरम् = [illegible] । [illegible] ॥ अत्राऽऽत्मा [illegible]

और भी—विपत्ति आने पर, विचार कर कार्य करना ही पाण्डित्य (बुद्धिमानी) है। बिना विचारे काम करनेवाले प्राणियों पर तो पद-पद में विपत्तियाँ आती हैं ॥१६२॥

और कुल के लिये एक को, गाँव के लिये कुल को, देश के लिये गाँव को, और अपने प्राण के लिये सम्पूर्ण पृथ्वी को भी छोड़ देना चाहिये ॥ १६३ ॥

और भी—यदि अनायास जल भी मिल जाय, और यदि नाना क्लेशों से स्वादु [illegible] भी मिले, जिनमें [illegible] की सम्भावना हो तो, इन दोनों में [illegible] विचार कर देखता हूँ। क्योंकि सुख वहीं है, जिसमें चित्त को शान्ति हो, [illegible]

—इत्यालोच्याऽहं निर्जनवनमागतः । यतः—

'वरं वनं [1]व्याघ्रगजेन्द्रसेवितं,
द्रुमाऽऽलयं पक्वफलाऽम्बुभोजनम् ।
तृणानि शय्याः, परिधानवल्कलं,
न बन्धुमध्ये धनहीनजीवनम्' ॥ १६५ ॥

ोऽस्मत्पुण्योदयादनेन मित्रेणाऽहं स्नेहानुवृत्त्याऽनुगृहीतः । अधुना
ुण्यपरम्परया भवदाश्रयः स्वर्ग एव मया प्राप्तः ।

र्वेति । पश्यामि=अवधारयामि । यत्र निर्वृतिः = मनसः शान्तिः, सन्तोषश्च,
। सुखं, नान्यदिति भावः ॥ १६४ ॥

॰घ्रगजेन्द्रसेवितं=सिंहादिश्वापद-गजादिवन्यजन्तु-सङ्कुलं । द्रुमा एव आलया
वत्-द्रुमालयं=वृक्षादिनिर्मिताऽऽवासम् । पक्वानि फलानि,अम्बु च भोजनं यत्र
-पक्वफलाम्बुभोजनं=पक्वफलजलभोजनं, वनं=वनवासः, वरं=श्रेष्ठम् ।
दि वने तृणान्येव शय्यास्थानीयानि, वल्कलमेव च परिधानं=वस्त्राणि, तत्र
। श्रेष्ठं, परन्तु बन्धुमध्ये धनहीनजीवनम्=निर्धनजनजीवनं, नोचित-
र्थः ॥ १६५ ॥

अनेन=वायसेन । स्नेहानुवृत्त्या = स्नेहदानेन । पुण्यपरम्परया=पुण्यपरिपाट्या,

ोंर् स्वाधीन जल का मिलना-कष्टलभ्य स्वादु अन्न से अधिक अच्छा है ॥ १६४ ॥

ऐसा सोच कर मैं (चूहा) मठ को छोड़ कर निर्जन वन में चला आया ।
ौंर—

्याघ्र और हाथियों से भरे हुए वन में वृक्षों के नीचे ठहरना कहीं अच्छा
, पके हुए फलों से तथा जल से भी निर्वाह करना अच्छा है, तृण की
ा और पहनने को वल्कल हो तो भी अच्छा है, परन्तु अपने बन्धुओं के
्य में दरिद्र हो कर रहना कभी अच्छा नहीं है ॥ १६५ ॥

इसके अनन्तर मेरे पुण्यों के उदय से मुझे इस मित्र (कौवे) ने अपनी

१ 'गजादि' पा० ।

यतः—

'संसारविषवृक्षस्य द्वे एव रसवत्फले'[1] ।

काव्यामृतरसास्वादः, सङ्गमः 'सज्जनैः सह'[2] ॥१६६॥

मन्थर उवाच—

['सत्सङ्गः केशवे भक्तिर्गङ्गाम्भसि निमज्जनम् ।

असारे खलु संसारे त्रीणि साराणि भावयेत्'] ॥

'अर्थाः पादरजोपमा, [3]गिरिनदीवेगोपमं यौवन-

मायुष्यं जललोलबिन्दुचपलं, फेनोपमं जीवितम् ।

धर्मं यो न करोति निन्दितमतिः स्वर्गार्गलोद्घाटनं,

[4]पश्चात्तापयुतो जरापरिगतः शोकाग्निना दह्यते' ॥१६७॥

महता भाग्येन । भवदाश्रयः = भवतः कच्छपस्याश्रयः, स्वर्गः=स्वर्गतुल्यः । संसारेति । संसाररूपविषवृक्षस्य । रसवत्फले=रसवती—रसयुक्ते—फले । काव्यामृतरसास्वादः=काव्यरूपामृतरसास्वाद इत्येकम् । सुजनैः सह—सङ्गमः = समागम इत्यपरम् ॥ १६६ ॥

अर्था इति । अर्थाः=धनानि, पादरजोपमाः=चरणधूलितुल्याः । अत्रार्थ्यमानोऽपि रजतरूपोऽपि, 'रजसा च रजं विदु'रिति द्विरूपकोशप्रामाण्यात्

कोमलतापूर्ण कृपा दृष्टि से अनुगृहीत किया । और अब तो मेरे पुण्य की परम्परा से (भाग से) स्वर्ग के समान सुखप्रद आपका आश्रय मुझे मिल गया है।

क्योंकि—संसाररूपी विष वृक्ष के दो ही रसयुक्त (मीठे) फल हैं, एक है अमृततुल्य काव्यों का रसास्वाद, और दूसरा सज्जनों की संगति ॥ १६६ ॥

तब मन्थर कछुआ यों कहने लगा—

[इस असार संसार में तीन ही वस्तु सार समझनी चाहिए । एक तो सज्जनों का संग, दूसरी भगवान् की भक्ति और तीसरा गङ्गाजी का स्नान] ॥

मन्थर बोला—धन तो पैर की धूलि के समान है, और यौवन भी पर्वतीय नदी

---

१. 'अमृतोपमे फले' इति पा० । २. 'सुजनैः' इति पाठान्तरम् ।

३. 'गिरिनदी' पा० । ४. 'पश्चात्तापहतो जरापरिगतः' इति पाठान्तरम् ।

युष्माभिरतिसञ्चयः कृतस्तस्याऽयं दोषः। शृणु—

'उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम्।
तडागोदरसंस्थानां परीवाह इवाऽम्भसाम्' ॥ १६८ ॥

अन्यच्च—

'यदधोऽधः क्षितौ वित्तं निचखान मितम्पचः।
तदधोनिलयं गन्तुं चक्रे पन्थानमग्रतः' ॥ १६९ ॥

आयुष्यं = जीवितकालः। जललोलबिन्दुचपलम्=चञ्चलजलबिन्दुवदचिरविनाशि। फेनोपमं = जलबुद्बुदोपमम्। स्वर्गस्य या—अर्गला=कपाटविष्कम्भः, तस्या उद्घाटनम्=निराकरणक्षमम्, धर्मं—यो न करोति=नाऽऽचरति। स जराजीर्णः= वृद्धः सन्, पश्चात्तापयुतः = पश्चात्तापसन्ततः। ह्वाप—श्चात्=अन्ते, तापयुतः=सन्तप्तमानस' इत्यर्थः। शोकाग्निना = शोकवह्निना। दह्यते=अनिशं ज्वलति ॥१६७॥

युष्माभिः=भवता मूषकेण। अतिसञ्चयः=नितरां सञ्चयः। अयं:=तदपहाररूपो दोषः। उपार्जितानां=सङ्गृहीतानाम्। त्यागः=दानम्। तडागोदरसंस्थानां= तडागमध्यस्थितानाम्। अम्भसां = जलानाम्। परीवाहः = ततो निष्कासनमेव। क्षेत्रादौ योजनमेव च। रक्षणमित्यर्थः ॥ १६८ ॥

क्षितौ=पृथिव्याम्। मितम्पचः = कदर्यः। वित्तं = धनम्। निचखान=

के वेग के समान ही क्षणभङ्गुर है, और आयु—जल के चञ्चल बिन्दुओं के समान है, जीवन भी फेन बुद्बुद के ही तुल्य है। इसलिये जो निन्दित बुद्धिवाला मनुष्य स्वर्ग के कपाट की अर्गला (आगल) का उद्घाटन करने वाले धर्म का सेवन नहीं करता है, वह पीछे वृद्धावस्था में सन्तापरूपी अग्नि से जलता रहता है ॥१६७॥

और आप (चूहे) ने धन का अधिक सञ्चय किया था, उसीका यह दोष है, कि वह नष्ट हो गया और आपको भी यह कष्ट हुआ। क्योंकि सुनो—

अर्जन (पैदा) किये हुए धन को सत्पात्र में देना ही उसकी रक्षा है। जैसे तालाब के भीतर के बढ़े हुए जल को निकाल देने से ही उसके जल की शुद्धि होती है ॥ १६८ ॥

और भी—जिस कृपण ने अपने धन को पृथ्वी के भीतर गाड़ दिया है, उसने

अन्यच्च—

'निजसौख्यं निरुन्धानो यो धनार्जनमिच्छति ।
परार्थं भारवाहीव क्लेशस्यैव हि भाजनम्' ॥ १७० ॥

अपरञ्च—

'दानोपभोगहीनेन धनेन धनिनो यदि ।
भवामः किं न तेनैव धनेन धनिनो वयम् ?' ॥ १७१ ॥

अन्यच्च—

'दानोपभोगहीनाश्च दिवसा यान्ति यस्य वै ।
स कर्मकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति' ॥ १७२ ॥

निपातनम् (गड्ढा हुआ) तत् = निम्ननम । अध = नीचे । निलयं = स्थान, नरकमिति यावत् । अधोनिलय = पाताल मिति वा ॥ १६६ ॥

निजेति । स्वसुखं परित्यज्यापि यः केवल धनमेव अर्जयितुमिच्छति, सः परार्थम् = अन्यार्थं, भारवाहीव = भारवाहक इव, केवलं क्लेशमेव लभते, दुःखम् । भाजन = पात्रम् ॥ १७० ॥

दानेति । दानोपभोगरहितेन भूमौ स्थापितेन धनेन यदि कृपणाः धनिनः सन्ति, तर्हि तेनैव भूमिनिहितेन तेन धनेन वयम् उदासीना अपि धनिनः कुतो न भवामः ? । दानोपभोगरहित कृपणस्य धनम् तुल्यमेवेति यावत् ॥ १७१ ॥

पहले से ही मनों अपने लिये नीचे (नरक में) जाने के लिये मार्ग (सीढ़ी) ही बनाया है ॥ १६६ ॥

और भी—जो प्राणी अपने को कष्ट में डाल कर धन का उपार्जन करता है, वह दूसरे के बोझ को ढोने वाले कुली की तरह केवल दुःख ही का पात्र अर्थात् वह केवल दुःख पाता है—सुख नहीं ॥ १७० ॥

और भी—जिस धन का उपभोग नहीं किया गया और दान न दिया गया, उस धन से यदि प्राणी अपने को धनी मानता है, तो पृथ्वी के भीतर गड़े हुए उस धन से क्या हम लोग भी धनी नहीं कहे जाते हैं, अर्थात् अवश्य कहे जाते हैं ॥ १७१ ॥

'धनेन किं, यो न ददाति, [१]नाऽश्नुते,
बलेन किं, यो न रिपून् बाधते ।
श्रुतेन किं, यो न च धर्ममाचरेत्,
किमात्मना, यो न जितेन्द्रियो भवेत्' ॥ १७३ ॥
'असम्भोगेन सामान्यं कृपणस्य धनं परैः ।
'अस्येद'मिति सम्बन्धो हानौ दुःखेन गम्यते' ॥ १७४ ॥

दानोपेति । यस्य=यस्य पुंसः । यान्ति = गच्छन्ति । कर्मकारभस्त्रेव = लोहकारभस्त्रेव । (लोहार की भाथी की तरह) । श्वसन्नपि=श्वास मुञ्चन्नपि, न जीवति=किन्तु मृतक एव । मृतकतुल्य एव ॥ १७२ ॥

धनेनेति । तस्य धनेन किं = किं फलम् । यो नाऽश्नुते=नोपभुङ्क्ते । बलेन = तस्य पुंसो बलेन । किं=किं फलं,—यः पुमान् बलवानपि, रिपून्=शत्रून्, न बाधते=नोन्मूलयति । श्रुतेन=शास्त्रेण । आत्मना=शरीरेण, जीवनेन ॥ १७३ ॥

कृपणस्य धनम्—असम्भोगेन = अनुपभोगेन । तावत्—परैः सामान्यं =परधनतुल्यमेव । परन्तु अस्य=कदर्यस्य, इदं = धनम्,—इति सम्बन्धोऽनुभवस्तु, —हानौ=तस्य धनस्य नाशे सति । दुःखेन = कदर्यदुःखेनैव, 'गम्यते = अनुमीयते ॥ १७४ ॥

और जिस मनुष्य के दिन दान और उपभोग के बिना निष्फल ही बीतते जाते हैं,वह मनुष्य लोहार की भाथी की तरह साँस लेता हुआ भी मरे हुए के समान ही है ॥ १७२ ॥

और उस धन से क्या लाभ है, जिस धन से दान न दिया जाय । और उस बल से भी क्या लाभ है, जिससे शत्रुओं को न दबा सके । और शास्त्र को सुनने से भी क्या लाभ है, यदि तदनुसार धर्म का आचरण न किया जाय । और उसके आत्मा (शरीर) से भी क्या लाभ है, जो जितेन्द्रिय न हो ॥ १७३ ॥

और भी—कृपण का धन उसके काम में नहीं आने से दूसरे के धन के बराबर ही है । 'परन्तु यह धन इस कृपण का है', यह बात तो केवल इतनेसे ही मालूम होती है, कि उस धन के नष्ट होने पर वह दुःखी होकर रोता है ॥ १७४ ॥

१. 'नाश्नुते' पा० ।

'न देवाय, न विप्राय, न बन्धुभ्यो, न चाऽऽत्मने ।
कृपणस्य धनं याति वह्नि-तस्कर-पार्थिवैः ॥ १७५ ॥
दानं,भोगो, नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।
यो न ददाति, न भुङ्क्ते, तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥ १७६
दानं प्रियवाक्सहितं, ज्ञानमगर्वं, क्षमाऽन्वितं शौर्यम् ।
वित्तं त्यागनियुक्तं, दुर्लभमेतच्चतुष्टयं लोके' ॥ १७७ ॥

उक्तञ्च—

'कर्त्तव्यः सञ्चयो नित्यं, कर्त्तव्यो नाऽतिसञ्चयः ।
पश्य सञ्चयशीलोऽसौ धनुषा जम्बुको हतः' ॥ १७८ ॥

नेति । कृपणस्य धनं न-देवाय=न देवपूजादावुपयुज्यते, न विप्राय=न तेन ब्राह्मणाय दीयते । याति=नश्यति । तस्कराः=चौराः । पार्थिवः=राजा ॥१७५॥

वित्तस्य=धनस्य, तृतीया गतिः = नाशः ॥ १७६ ॥

दानमिति । प्रियवाक्सहितं=प्रियवचनान्वितम् । अगर्वं=गर्वरहितम्, अभिमानशून्यम् । त्यागनियुक्तं = दानप्रयुक्तम्, दानाऽन्वितं वा ॥ १७७ ॥

अतिसञ्चयः=केवल सञ्चय एव । सञ्चयशीलः = सञ्चयपरायणः ॥ १७८ ॥

और—कृपण का धन न देवता के काम (यज्ञ आदि) में आता है, और न ब्राह्मणों के काम में आता है, और न वह बन्धुओं के ही काम में आता है, न अपने ही काम में आता है, किन्तु वह धन या तो अग्नि में जल जाता है, या उसे चोर ही चुरा लेते हैं, या उसे राजा ही हर (छीन) लेता है ॥ १७५ ॥

और भी—धन की तीन तरह की गति होती है, १ दान, २ भोग और ३ नाश । परन्तु जो कृपण मनुष्य न देता है, न खाता है और उसके धन की तीसरी ही गति (नाश) होती है, अर्थात् उसका वह धन नष्ट ही हो जाता है ॥ १७६ ॥

और—प्रियवचन पूर्वक दान, बिना गर्व का ज्ञान, क्षमा युक्त शूर-वीरता, धन होने पर दान देना, ये चारों बातें संसार में बड़ी दुर्लभ हैं ॥ १७७ ॥

कहा भी है—प्रतिदिन मनुष्य को कुछ न कुछ सञ्चय अवश्य करना चाहिये,

तावाहतुः—'कथमेतत् ?'। मन्थरः कथयति—

(६) सञ्चयशीलजम्बुककथा ।

आसीत्कल्याणकटकवास्तव्यो भैरवो नाम व्याधः। स चैकदा मांसलुब्धो धनुरादाय मृगमन्विष्यमाणो विन्ध्याटव्यीं गतवान्। ततस्तेन व्यापादितं मृगमादाय गच्छता घोराऽऽकृतिः शूकरो दृष्टः।

तेन व्याधेन मृगं भूमौ निधाय, शूकरः शरेणाऽऽहतः। शूकरेणाऽपि घनघोरगर्जनं कृत्वा, स व्याधो मुष्कदेशे हतः सन्, छिन्नद्रुम[1] इव भूमौ निपपात। यतः—

> 'जलमग्निर्विषं, शस्त्रं, क्षुद्‌व्याधिः, पतनं गिरेः।
> निमित्तं किञ्चिदासाद्य देही [2]प्राणैर्विमुच्यते' ॥ ७६ ॥

तौ=वायसमूषकौ। मन्थरः=कच्छपः।

कल्याणकटकवास्तव्यः=कल्याणकटकनामकपर्वतनितम्बनिवासी। 'कटकोऽस्त्री नितम्बोऽद्रे'रित्यमरः। व्याधः=लुब्धकः। विन्ध्याटव्यीं=विन्ध्यारण्यम्। व्यापादितं =हतम्। घोराकृतिः=भयङ्करस्वरूपः। आहतः=ताडितः। घनघोरगर्जनं= मेघगम्भीरं भीषणं गर्जनम्। मुष्कदेशे=अण्डकोशे। हतः=दन्तेन ताडितः।

परन्तु अधिक सञ्चय भी नहीं करना चाहिये। क्योंकि देखो, ज्यादा सचय करने वाला वह सियार उस धनुष से मारा गया था॥ १७८॥

तबवे दोनों (कौवा और चूहा) बोले-यह कथा कैसे है ?। तब मन्थर कछुआ इस प्रकार कहने लगा—

कल्याणकटक नामक किसी स्थान में भैरव नाम का एक व्याध रहता था। एक दिन वह मांस (शिकार) की इच्छा से धनुष लेकर मृग (शिकार) को खोजता हुआ विन्ध्याचल के जङ्गल को गया। इसके बाद उसने एक मृग को मारा और उसे लेकर चला। चलते २ उसने एक भयङ्कर सूअर को मार्ग में देखा। तब उसने मृग को भूमि पर रखकर सूअर को बाण से मारा। सूअर ने भी जोर से गर्ज कर उस व्याध के अण्डकोश में अपने दन्त से आघात किया, तब वह व्याध कटे हुये वृक्ष की तरह ही भूमि (जमीन) पर गिर पड़ा और मर गया।

१. 'हतः संछिन्न' इति पा०। २. 'र्वियुज्यते' पा०।

अथ तयोः पादाऽऽस्फालनेन सर्पोऽपि मृतः । अथाऽनन्तरं दीर्घरावो नाम जम्बुकः परिभ्रमन्नाहारार्थी तान्मृतान्मृग-व्याध-सर्प शूकरानपश्यत्। अचिन्तयच्च—'अहो ! अद्य महद्भोज्यं मे समुपस्थितम्' । अथवा—

'अचिन्तितानि दुःखानि यथैवाऽऽयान्ति देहिनाम् ।
सुखान्यपि तथा, मन्ये दैवमत्राऽतिरिच्यते' ॥ १८० ॥

तद्भवतु । एषां मांसैर्मासत्रयं मे सुखेन गमिष्यति ।

'मासमेकं नरो याति, द्वौ मासौ मृग-शूकरौ ।
अहिरेकं दिनं याति, अद्य भक्ष्यो धनुर्गुणः' ॥१८१॥

संछिन्नद्रुम इव = छिन्नवृक्ष इव ।

क्षुद्रमिति । क्षुत्=क्षुधा । गिरेः=पर्वतादेः । आसाद्य=प्राप्य । देही=शरीरी । प्राणैर्वियुज्यते=म्रियते ॥ १७९ ॥

तयोः =व्याधशूकरयोः । पादास्फालनेन=पादताडनेन । (पैर पटकने से) । आहारार्थी = भोजनार्थी, परिभ्रमन् = पर्यटन् ।

अचिन्तितानि = अविचारितानि । तथा=अचिन्तितान्येव-आयान्ति । दैवं= भाग्यम् । अतिरिच्यते=प्रधानमस्ति । तदिदानीमत्र हेतुः । लिखिष्यते इति वा ॥१८०॥

नरः=मनुष्यः । द्वौ = द्वौ मासौ । मासद्वयं यावत् । याति = चलिष्यति ।

क्योंकि—शस्त्र, अग्नि, विष, जल, भूख, रोग, पर्वत आदि से गिरना आदि, इनमें से किसी भी निमित्त को पाकर प्राणी अपने प्राणों को छोड़ता (अर्थात् मरता) है ॥ १७९ ॥

इसी प्रसङ्ग में उसी जगह एक सर्प भी उन दोनों के पैर पटकने से मर गया। इसी बीच में दीर्घरव नाम का एक सियार अपने भोजन की खोज में वहाँ आ निकला और उन मरे हुए व्याध, सर्प, मृग और सूअर को देखकर बड़ा ही प्रसन्न हुआ और सोचने लगा,-अहा ! मेरा धन्य भाग्य है, आज तो मुझे खूब भोजन मिला।

अथवा—जैसे प्राणियों के ऊपर दुःख बिना सूचना के ही एकाएक आया करते हैं, उसी प्रकार सुख भी अनायास ही आते हैं। इसमें केवल भाग्य ही प्रधान है ॥ १८० ॥

अच्छा ठीक है। इसके मांस से तीन महीने मेरा काम चल जायगा।

क्योंकि एक महीने तो मेरा भोजन इस मनुष्य से (व्याध) से चलेगा, दो

ततः प्रथमबुभुक्षायामिदं निःस्वादु कोदण्डाऽटनीलग्नं स्नायुबन्धनं खादामि'—इत्युक्त्वा तथा कृते सति, छिन्ने स्नायुबन्धने, द्रुतमुत्पतितेन धनुषा हृदि निर्भिन्नः स दीर्घरावः पञ्चत्वं गतः।

अतोऽहं ब्रवीमि—'कर्तव्यः सञ्चयो नित्यम्' इत्यादि।।

तथा च—

'यद्ददाति, यदश्नाति, तदेव धनिनो धनम्।
अन्ये मृतस्य क्रीडन्ति, दारैरपि, धनैरपि' ॥१८२॥

अद्य=अस्मिन् दिवसे तु ॥ १८१

कोदण्डलग्न=धनुषि प्रतिरोपितम्, स्नायुबन्धनम्=अन्त्रनिर्मितं गुणम्। तथाकृते=स्नायुबन्धनं भोक्तुं प्रवृत्ते सति। उत्पतितेन=ऊर्ध्वमुच्छलितेन (उछले हुए)। निर्भिन्नः=विद्धः। पञ्चत्वं गतः=मृतः।

यत्=यद्धनम्। अश्नाति=उपभुङ्क्ते। अन्ये=जामातृभ्रात्रादयः। क्रीडन्ति= तस्य दारधनादिकमुपभुञ्जते इति भावः॥ १८२॥

महीने यह सूअर चलेगा, और एक दिन यह साँप चलेगा, और आज के दिन के लिए तो यह धनुष की ताँत ही मुझे बहुत है॥ १८१॥

अतः आज पहिले कलेवा में भूख शान्त करने के लिए धनुष के अग्र-भाग में लगी हुई स्वादरहित इस ताँत को ही खाता हूँ। ऐसा कहकर जब उसने धनुष में चढ़ी हुई ताँत को दाँतों काटा तो उसके टूटने पर धनुष उछला और उस सियार के हृदय में जाकर लगा और इस प्रकार दीर्घराव नाम का वह सियार मर गया।

इसी से मैं कहता हूँ, कि—'नित्य कुछ सञ्चय करना अवश्य चाहिये, पर अधिक सञ्चय भी नहीं करना चाहिये' इत्यादि। क्योंकि कहा भी है—

जो धनी अपने धन को किसी को देता है और उसका उपभोग करता है, वही उसका धन है। मरने पर तो उसके धन और स्त्री आदि से दूसरे ही लोग आनन्द करेंगे॥ १८२॥

किञ्च—

'यद्ददासि विशिष्टेभ्यो, यच्चाऽश्नासि दिने दिने।
तत्ते वित्तमहं मन्ये, शेषं कस्यापि रक्षसि' ॥ १८३ ॥

यातु, किमिदानीमतिक्रान्तोपवर्णनेन। यतः—

'नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति, नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम्।
आपत्स्वपि न मुह्यन्ति, नराः पण्डितबुद्धयः' ॥ १८४ ॥

तत्सखे! सर्वदा त्वया सोत्साहेन भवितव्यम्। यतः—

'शास्त्राण्यधीत्याऽपि भवन्ति मूर्खा, यस्तु क्रियावान्पुरुषः स विद्वान्।
सुचिन्तितं चौषधमातुराणां, न नाममात्रेण करोत्यरोगम्' ॥१८५॥

विशिष्टेभ्य = महद्भ्यः सत्पात्रेभ्यः। शेषम् = अवशिष्टं धनम्, कस्यापि = कस्यापि उत्तराधिकारिणः कृते ॥ १८३ ॥

यातु = गच्छतु (जाने भी दो)। अतिक्रान्तोपवर्णनेन = पूर्वस्मिन्कथया। नाप्राप्यमिति। अलभ्यं नेच्छन्ति, नष्टं = गतं च—न शोचन्ति, विपत्स्वपि न मुह्यन्ति = मोहं न प्राप्नुवन्ति। पण्डितबुद्धयः = निश्चितबुद्धयः ॥१८४॥ सोत्साहेन = उत्साहवता। मूर्खाः = कुण्ठितबुद्धयः। क्रियावान् = कर्म

और भी—जो धन सत्पात्र में दिया जाता है, या जिसका नित्य उपभोग किया जाता है, वही धन तुम्हारा है, बाकी धन तो किसी दूसरे का है, तुम तो उसके केवल रखवाले मात्र ही हो ॥ १८३ ॥

अस्तु, जाने दो, पीछे की बातों को याद करके दुःखी होना भी ठीक नहीं है। क्योंकि—विद्वान् लोग अलभ्य वस्तु को नहीं चाहते हैं और नष्ट वस्तु के लिये शोक भी नहीं करते हैं, तथा आपत्ति में घबड़ाते भी नहीं हैं ॥ १८४ ॥

इस लिये हे मित्र! सब काल में उत्साहपूर्वक और उत्साह से भरे रहना चाहिये। क्योंकि बहुत से लोग शास्त्रों को पढ़कर भी मूर्ख ही रह जाते हैं, किन्तु जो कार्यों को करने में कुशल हैं, वही सच्चे विद्वान् हैं। क्योंकि—अच्छी तरह विचार

'स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते, दन्ताः, केशा, नखा, नराः'।
—इति विज्ञाय मतिमान् स्वस्थानं न परित्यजेत्' ॥१८८॥
—किन्तु कापुरुषवचनमेतत्। यत—
'स्थानमुत्सृज्य गच्छन्ति, सिंहाः, सत्पुरुषा, गजाः।
तत्रैव निधनं यान्ति, काकाः, कापुरुषा, मृगाः' ॥१८९॥
'को वीरस्य मनस्विनः स्वविषयः, को वा विदेशस्तथा,
यं देशं श्रयते तमेव कुरुते बाहुप्रतापार्जितम्।
यद्दंष्ट्रानखलाङ्गुलप्रहरणः सिंहो वनं गाहते,
तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररुधिरैस्तृष्णां छिनत्त्यात्मनः' ॥१९०॥
अपरञ्च—
'निपानमिव मण्डूकाः, सरः पूर्णमिवाऽण्डजाः।
सोद्योगं नरमायान्ति विवशाः सर्वसम्पदः' ॥१९१॥

तत्र=दुर्भिक्षे, दुःस्थदेशेऽपि देशे। निधन=विनाश यान्ति ॥ १८९ ॥ मनस्विनः=उत्साहवच्चित्तस्य। स्वविषयः=स्वदेशः। तस्मिन्=वने। तृष्णां=पिपासाम्।

अपने स्थान से भ्रष्ट हुए—दाँत, केश, नख और पुरुष ये सुशोभित नहीं होते हैं। इसलिए बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह अपने स्थान को कभी न छोड़े ॥ १८८ ॥

—परन्तु ये दोनों ही कायरों के वाक्य हैं। क्योंकि—
सिंह, सत्पुरुष, हाथी—ये अपने स्थानों को छोड़कर भी अन्यत्र जाकर [illegible] प्राप्त करते हैं। परन्तु कौआ, कापुरुष, हरिण—ये एक जगह रहकर ही [illegible] त्याग देते हैं और वहीं मर भी जाते हैं।

और उत्साही वीरपुरुष के लिए स्वदेश और परदेश क्या है। वह तो जहाँ भी [illegible] है, उसी जगह को अपने बाहुबल से अपने अधीन कर लेता है। क्योंकि दाँत, [illegible] ही जिसके शस्त्र (हथियार) हैं, ऐसा सिंह—जिस वन में जाता है, [illegible] में हाथियों का शिकार कर के ही अपनी क्षुधा शान्त करता है ॥ १

अन्यच—

'सुखमापतितं सेव्यं, दुःखमापतितं तथा ।
चक्रवत्परिवर्त्तन्ते दुःखानि च, सुखानि च' ॥ १६२ ॥

अन्यच—

'उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्रं, क्रियाविधिज्ञं,व्यसनेष्वसक्तम् ।
शूरं, कृतज्ञं, दृढसौहृदं च, लक्ष्मीः स्वयं याति निवासहेतोः' ॥१६३॥

निपानम्=उपकूपजलाशयम् । 'आहावस्तु निपानं स्यादुपकूपजलाशये' इत्यमरः । अण्डजाः=हंसकारण्डवादयः पक्षिणः । सोद्योगम्=उद्योगिनम् । विवशाः =आहूता इव, स्वयमेव ॥ १६१ ॥

आपतितम्=आगतम् । तथा=सेव्यम् । यतः–चक्रवत्—परिवर्त्तन्ते=आगच्छन्ति, यान्ति च ॥ १६२ ॥

उत्साहेति । उत्साहपरिपूर्णमित्यर्थः । अदीर्घसूत्रम्=अचिरक्रियम् । क्रियाविधिज्ञम्=क्रियाविधानकुशलम् । दृढसौहृदम्=स्थिरानुरागम्, स्थिरसद्भावं वा । याति=गच्छति ॥ १६३ ॥

और—जिस प्रकार कुएँ के पास के छोटे-छोटे जलाशयों (गेल, खोटों) में मेंढक स्वयं चले आते हैं, और पूर्ण सरोवरों में पक्षी भी स्वयं चले आते हैं, उसी प्रकार उद्योगी पुरुष के पास भी सब प्रकार की सम्पत्तियाँ स्वयं ही चली आती हैं ॥ १६१ ॥

और भी—जब सुख आवे तो उसको भी भोगना चाहिये, और वैसे ही दुःख भोग्य आ पड़े तो उसको भी सहना चाहिये । क्योंकि सुख और दुःख तो चक्र (पहिए) की तरह घूमा करते हैं । अर्थात् स्वयं ही आते-जाते रहते हैं ॥१६२॥

और भी—उत्साही, आलस्यरहित, कार्य करने के उपायों को जानने वाला, व्यसनों में अनासक्त, धीर और कृतज्ञ, तथा जिसकी मित्रता दृढ़ है—ऐसे मनुष्य के पास रहने की इच्छा से लक्ष्मी स्वयं ही आती है ॥ १६३ ॥

विशेषवस्य—

'विनाऽप्यर्थैर्वीरः[1] स्पृशति बहुमानोन्नतिपदं,
समायुक्तोऽप्यर्थैः परिभवपदं याति कृपणः ।
स्वभावादुद्भूतां गुणसमुदयावाप्तिविषयां,
द्युतिं सैंहीं किं श्वा धृतकनकमालोऽपि लभते' ? ॥१६४
'धनवानिति हि मदस्ते[2], किं गतविभवो विषादमुपयासि[3] ।
करनिहतकन्दुकसमाः पातोत्पाता मनुष्याणाम्' ॥ १६५ ॥

विनेति । अर्थैर्विनाऽपि धीरो वीरः, बहुमानोन्नतिपदं=समुन्नत स्थानं, स्पृशति आरोहति । अर्थैः समायुक्तोऽपि=अर्थैः समन्वितोऽपि । परिभवपदं=पराभवस्थानं उद्भूतां = जातां, प्रकटिताम् । गुणसमुदयावाप्तिविषयां=अनेकगुणगणप्राप्त्या, सैंहीं सिंहसम्बन्धिनीम्, द्युतिं = दीप्तिं, प्रभाम् । धृता कनकस्य माला येनासौ-धृतकनकमालः=धारितसुवर्णकण्ठाभरणोऽपि । श्वा = कुक्कुरः । किं लभते ?=किं प्राप्नोति नैव लभते इत्यर्थः ॥ १६४ ॥

धनवानिति । 'अहं धनी' इति मदः=दर्पः, पूर्वं तव आसीत्, इदानीन्तु गतविभवः विगलितसम्पत्तिर्दरिद्रोऽस्मीति, विषादः = खेदं । किं=किमिति । उपयासि गच्छसि । अत्र तव विषादो नोचित इत्यर्थः । कुत एतदत आह—करेति । करनिहतकन्दुकतुल्याः, चपिलाः । पातोत्पाताः=पातोन्नतयः ॥ १६५ ॥

विशेष कर—वीर लोग बिना धन के भी मान और उन्नति को पाते और कृपण मनुष्य धन होने पर भी अनादृत ही होते हैं । क्या कुत्ता सोने माला पहिनने से ही सिंह की स्वाभाविक और शूरता आदि गुणसमुदायों से हुई शोभा को पा सकता है ? । अर्थात् नहीं पा सकता है ॥ १६४ ॥

'मैं धनी हूँ' ऐसा गर्व पहिले तुझे था, अब धन के नाश होने पर करना तेरा व्यर्थ है । क्योंकि मनुष्यों का पातनि (गिरना) और उन्नति (चढ़ दोनों हाथ से मारे हुए गेंद के समान ही चञ्चल हैं, और हुआ करते हैं ॥ १६५ ॥

१ 'धीरः' इति पाठान्तरम् ।
२ 'मदो मे' पा० ।
३ 'उपयासीति' पाठा० ।

अपरञ्च—

'अभ्रच्छाया, खलप्रीतिर्नवसस्यानि, योषितः ।
किञ्चित्कालोपभोग्यानि, यौवनानि, धनानि च ॥ १६६ ॥
वृत्त्यर्थं नाऽतिचेष्टेत, सा हि धात्रैव निर्मिता ।
गर्भादुत्पतिते जन्तौ मातुः प्रस्रवतः स्तनौ' ॥ १६७ ॥

अपि च—सखे !

'येन शुक्लीकृता हंसाः, शुकाश्च हरितीकृताः ।
मयूराश्चित्रिता येन, स ते वृत्तिं विधास्यति' ॥ १६८ ॥

अपरञ्च सतां रहस्यं शृणु—मित्र !

'जनयन्त्यर्जने दुःखं, तापयन्ति विपत्तिषु ।
मोहयन्ति च सम्पत्तौ, कथमर्थाः सुखावहाः ?' ॥१६६॥

अभ्रच्छाया=मेघच्छाया । एतानि पञ्च किञ्चित्कालमेव उपभोग्यानि, एषामस्थायित्वात् ॥ १६६ ॥

वृत्त्यर्थं=जीविकार्थम् । अति=अत्यन्तम् । न चेष्टेत = न प्रयतेत । हि = यतः, =वृत्तिः, धात्रैव=ब्रह्मणैव । तथाहि—गर्भादुत्पतिते = प्रसूते । जन्तौ=प्राणिनि । वतः=स्वयमेव क्षरतः ॥ १६७ ॥

येन=विधात्रा । सः = विधाता । वृत्तिं=जीविकाम् ॥ १६८ ॥

और भी—मेघों की छाया, दुर्जनों की प्रीति, नया अन्न, कामिनी युवती स्त्री, यौवन और धन,—ये सब थोड़े ही काल तक भोगने लायक रहते हैं, क्योंकि—ये सदा एक से नहीं रहते हैं ॥ १६६ ॥

और मनुष्य को अपनी जीविका के लिये अधिक चेष्टा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि जीविका तो ब्रह्मा ने पहिले ही से बना दी है । देखो इसी लिये प्राणी के गर्भ से निकलते ही माता के स्तनों से स्वयमेव दूध निकलने लगता है ॥ १६७ ॥

और हे मित्र ! जिसने हंसों को सफेद किया, सुग्गों को हरा किया, मयूरों को चित्र विचित्र रङ्ग का बनाया, वही ईश्वर तुम्हारी जीविका (भोजन आच्छा नद) की चिन्ता भी स्वयं करेगा ॥ १६८ ॥

और भी सज्जनों का गूढ़ तात्त्विक उपदेश सुनो—

अपरञ्च—

'धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता ।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' ॥ २०० ॥

यतः—

'यथा ह्यामिषमाकाशे पक्षिभिः, श्वापदैर्भुवि ।
भक्ष्यते सलिले नक्रैस्तथा सर्वत्र वित्तवान् ॥ २०१ ॥
राजतः, सलिलादग्नेश्चोरतः, स्वजनादपि ।
भयमर्थवतां नित्यं, मृत्योः प्राणभृतामिव' ॥ २०२ ॥

रहस्य=गुप्तं हितावहमुपदेशम् ॥ अर्जने=उपार्जने । तापयन्ति=खेदयन्ति । मोहयन्ति=बुद्धिं च नाशयन्ति ॥ १९९ ॥

धर्मार्थं=धर्मकरणार्थं, वित्तेहा=धनेच्छा । निरीहता=निरभिलाषता । पङ्कं स्पृष्ट्वा पादप्रक्षालनापेक्षया पङ्के पादनिक्षेपाऽभाव एव श्रेष्ठ इत्याशयः ॥२००॥

आमिष=मांसम् । श्वापदैः=सिंहादिभिर्हिंस्रै । नक्रैः=मकरादिभिर्जलचरै. वित्तवान=धनी ॥ २०१ ॥

राजतः=भूपात् । स्वजनात्=बान्धवेभ्यः । अर्थवतां=धनिनाम् । प्राणभृतां प्राणिनाम् ॥ २०२ ॥

धन—अर्जन (पैदा) करने में दुःख होता है, विपत्ति में (धन चला जाय तो) सन्ताप देता है, और सम्पत्ति (धन की वृद्धि) में वह मोह को उत्पन्न करता है, अतः धन-सुख का देने वाला कैसे हो सकता है ! । (अर्थात् धन से तो सदा दुःख ही होता है) ॥ १९९ ॥

और भी—जो मनुष्य धर्म करने के लिये धन चाहता है, उसका तो धन को नहीं चाहना ही अच्छा है । क्योंकि पैर में कीचड़ लगा कर उसे धोने की अपेक्षा से पैर को कीचड़ में नहीं डालना ही अच्छा है ॥ २०० ॥

और जैसे माँस को आकाश में पक्षी खाते हैं, पृथिवी में सिंह व्याघ्र आदि खा जाते हैं, जल में मगर आदि खा जाते हैं, उसी प्रकार धनी के धन की दशा है । अर्थात् जो कोई है, वही धनी के धन को खा जाता है ॥ २०१ ॥

और जैसे प्राणियों को मृत्यु से भय है, वैसे ही धनी मनुष्यों को भी राजा से

तथा हि—

'जन्मनि क्लेशबहुले किं नु दुःखमतः परम् ।
इच्छासम्पद्यतो नास्ति, यच्चेच्छा न निवर्त्तते' ॥ २०३ ॥

अन्यच—भ्रातः! शृणु—

'धनं तावदसुलभं, लब्धं कृच्छ्रेण रक्ष्यते ।
लब्धनाशो यथा मृत्युस्तस्मादेतन्न चिन्तयेत् ॥ २०४ ॥
तृष्णां चेह परित्यज्य को दरिद्रः, क ईश्वरः ।
तस्याश्चेत्प्रसरो दत्तो, दास्यं च शिरसि स्थितम्' ॥२०५॥

क्लेशबहुले = दुःखमये । नु इति वितर्के । अतः परम्=इतोऽधिक । किन्तु त आह—इच्छेति । इच्छासम्पत्=मनोऽनुकूला सम्पत्तिः । तथापि इच्छा न र्तते, किन्तु अधिकं वर्द्धते—इत्यहो कष्टम् ॥ २०३ ॥

तावत्=प्रथमम् । असुलभं=दुर्लभम् । लब्ध चेत्—कृच्छ्रेण=दुःखेन । लब्धस्य तु—मृत्युरेव । अतः—एतत्=धनम् । न चिन्तयेत्=नेच्छेत् ॥ २०४ ॥

तृष्णामिति । तृष्णात्यागे को दरिद्रः ?। क ईश्वरः=को धनी ? । 'इभ्य आढ्यो नरः' इत्यमरः । न कोऽपीत्यर्थः । तस्याः=तृष्णायाः । प्रसरः=स्थानम्, आश्रयः । शिरसि = मस्तके ॥ २०५ ॥

...ल से, अग्नि से और चोरों से तथा अपने बन्धु-बान्धवों, (दायाद, पट्टीदार आदि) ...से भी सदा भय रहता है ॥ २०२ ॥

और भी-दुःखों से भरे हुए इस मनुष्य जन्म में इससे अधिक दुःख और क्या ...हो सकता है, कि—अपनी इच्छा के अनुकूल धन मिलता भी नहीं है, फिर भी ...मनुष्य की इच्छा की निवृत्ति नहीं होती है ॥ २०३ ॥

और भी भाई ! सुनो, पहले—तो धन सुलभ नहीं है, दूसरे—मिलने पर भी ...उसकी रक्षा कठिनाई से होती है, फिर मिले हुए धन का नाश तो मरण के बराबर ही कष्ट देने वाला होता है इसलिये धन के उपार्जन आदि की चिन्ता कभी ...करनी ही नहीं चाहिये ॥ २०४ ॥

केवल एक तृष्णा को छोड़ देने पर कौन दरिद्र है, और कौन धनी है ? ।

अपरञ्च—

'धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता ।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' ॥ २०० ॥

यतः—

'यथा ह्यामिषमाकाशे पक्षिभिः, श्वापदैर्भुवि ।
भक्ष्यते सलिले नक्रैस्तथा सर्वत्र वित्तवान् ॥ २०१ ॥
राजतः, सलिलादग्नेश्चोरतः, स्वजनादपि ।
भयमर्थवतां नित्यं, मृत्योः प्राणभृतामिव' ॥ २०२ ॥

रहस्य=सुगूढं हितावहमुपदेशम् ॥ अर्जने=उपार्जने । तापयन्ति=खेदयन्ति । मोहयन्ति=बुद्धिं च नाशयन्ति ॥ १९९ ॥

धर्मार्थं=धर्मकरणार्थं, वित्तेहा=धनेच्छा । निरीहता=निरभिलाषता । पङ्कस्पृष्टपादप्रक्षालनापेक्षया पङ्के पादनिक्षेपाऽभाव एव श्रेष्ठ इत्याशयः ॥२००॥

आमिषं=मांसम् । श्वापदैः=सिंहादिभिर्हिंस्रैः । नक्रैः=मकरादिभिर्जलचरैः वित्तवान्=धनी ॥ २०१ ॥

राजतः=भूपात् । स्वजनात्=बान्धवेभ्यः । अर्थवतां=धनिनाम् । प्राणभृतां= प्राणिनाम् ॥ २०२ ॥

धन—अर्जन (पैदा) करने में दुःख होता है, विपत्ति में (धन चला जाय तो सन्ताप देता है, और सम्पत्ति (धन की वृद्धि) में वह मोह को उत्पन्न करता है अतः धन-सुख का देने वाला कैसे हो सकता है ?। (अर्थात् धन से तो सब दुःख ही होता है) ॥ १९९ ॥

और भी—जो मनुष्य धर्म करने के लिये धन चाहता है, उसका तो धन को नहीं चाहना ही अच्छा है। क्योंकि पैर में कीचड़ लगा कर उसे धोने की अपेक्षा से पैर को कीचड़ में नहीं डालना ही अच्छा है ॥ २०० ॥

और जैसे माँस को आकाश में पक्षी खा जाते हैं, पृथिवी में सिंह व्याघ्र खा जाते हैं, जल में मगर आदि खा जाते हैं, उसी प्रकार धनी के धन की दशा है। अर्थात् जो कहा है, वही धनी के धन को खा जाता है ॥ २०१ ॥

और जैसे प्राणियों को यम से भय है, वैसे ही धनी मनुष्यों को भी राजा

तथा हि—

'जन्मनि क्लेशबहुले किं नु दुःखमतः परम् ।
इच्छासम्पद्यतो नास्ति, यच्चेच्छा न निवर्त्तते' ॥ २०३ ॥

अन्यच्च—भ्रातः! शृणु—

'धनं तावदसुलभं, लब्धं कृच्छ्रेण रक्ष्यते ।
लब्धनाशो यथा मृत्युस्तस्मादेतन्न चिन्तयेत् ॥ २०४ ॥
तृष्णां चेह परित्यज्य को दरिद्रः, क ईश्वरः ।
तस्याश्चेत्प्रसरो दत्तो, दास्यं च शिरसि स्थितम्' ॥२०५॥

क्लेशबहुले = दुःखप्राये । नु इति वितर्के । अतः परम्=इतोऽधिकं । किन्तु-दित्यत आह—इच्छेति । इच्छासम्पत्=मनोऽनुकूला सम्पत्तिः । तथापि इच्छा न निवर्तते, किन्तु अधिकं वर्द्धते—इत्यहो कष्टम् ॥ २०३ ॥

तावत्=प्रथमम् । असुलभं=दुर्लभम् । लब्ध चेत्—कृच्छ्रेण=दुःखेन । लब्धस्य नाशस्तु—मृत्युरेव । अतः—एतत्=धनम् । न चिन्तयेत्=नेच्छेत् ॥ २०४ ॥

तृष्णामिति । तृष्णात्यागे को दरिद्रः ?। क ईश्वरः=को धनी ? । 'इभ्य आढ्यो धनीश्वरः' इत्यमरः । न कोऽपीत्यर्थः । तस्याः=तृष्णायाः । प्रसरः=स्थानम्, आश्रयः । शिरसि = मस्तके ॥ २०५ ॥

जल से, अग्नि से और चोरों से तथा अपने बन्धु-बान्धवों, (दायाद, पट्टीदार आदि) से भी सदा भय रहता है ॥ २०२ ॥

और भी-दुःखों से भरे हुए इस मनुष्य जन्म में इससे अधिक दुःख और क्या हो सकता है, कि—अपनी इच्छा के अनुकूल धन मिलता भी नहीं है, फिर भी मनुष्य की इच्छा की निवृत्ति नहीं होती है ॥ २०३ ॥

और भी भाई! सुनो, पहले—तो धन सुलभ नहीं है, दूसरे-मिलने पर भी उसकी रक्षा कठिनाई से होती है, फिर मिले हुए धन का नाश तो मरण के बराबर ही कष्ट देने वाला होता है इसलिये धन के उपार्जन आदि की चिन्ता कभी करनी ही नहीं चाहिये ॥ २०४ ॥

केवल एक तृष्णा को छोड़ देने पर कौन दरिद्र है, और कौन धनी है ?।

अपरञ्च—

'यद्यदेव हि वाञ्छेत ततो वाञ्छा [1]प्रवर्त्तते ।
प्राप्त एवार्थतः सोऽर्थो, यतो वाञ्छा निवर्त्तते ॥२०६॥

किं बहुना, मम पक्षपातेन मयैव सहाऽत्र कालो नीयताम् ।

यतः—

'आमरणान्ताः प्रणयाः, कोपास्तु क्षणभङ्गुराः ।
परित्यागाश्च निःसङ्गा भवन्ति हि महात्मनाम्' ॥२०७॥

—इति श्रुत्वा लघुपतनको ब्रूते—'धन्योऽसि मन्थर ! सर्वथा श्लाघ्य-
गुणोऽसि ।

यद्यदिति । यथा यथा इच्छति तथा तथा इच्छा प्रवर्तते = प्रवर्द्धते । प्राप्तेऽ
पने इच्छा न शाम्यति । यतः=सन्तोषाच्च वाञ्छा निवर्त्तते । एवञ्च सन्तोष
वान्तिकी अर्थप्राप्तिः, न अर्थप्राप्तिर्लौकिकी अर्थसिद्धिरिति भावः । अर्थं
अर्थादेव वस्तुत । सोऽर्थः=अर्थभागोऽर्थः ॥ २०६ ॥

आमरणान्ताः=मरणपर्यवसायिनः । क्षणभङ्गुराः=क्षणविनाशिनः । प
त्यागाः=दानानि, विच्छेदाश्च । निःसङ्गाः=नितरां सङ्गवर्जिताः, फलानुसन्ध
रहिताश्च ॥ २०७ ॥

अर्थात् तृष्णा से ही दरिद्रता होती है । और यदि तृष्णा को अवसर दिया (
आदि की तृष्णा की,) तो फिर दूसरों की अधीनता अवश्य आती है । अ
केवल तृष्णा को छोड़ने से ही मनुष्य सुखी हो सकता है, अन्यथा नहीं ॥ २०
और भी—धन आदि किसी वस्तु को मनुष्य ज्यों २ चाहता है, त्यों
उसकी इच्छा बढ़ती है । अतः वह सचा अर्थ (धन) नहीं है । वस्तुतः
(सन्तोष रूप अर्थ) से इच्छा की निवृत्ति होती है, वही सचा 'अर्थ' है । वही
यदि मिले तो मिलना ठीक समझना चाहिये ॥ २०६ ॥

और अधिक क्या कहूँ । मेरे ऊपर कृपा करके अब आप मेरे साथ यहीं
रहना स्वीकार करिये । क्योंकि—

महात्मा लोगों का प्रेम तो मरण पर्यन्त (जीवन पर्यन्त) स्थायी रहता है,
महात्माओं का क्रोध तो क्षण मात्र में ही नष्ट हो जाता है, और उनका परि
(दान) भी आसक्ति (स्वार्थ) से रहित ही होता है ॥ २०७ ॥

१. प्रवर्द्धते' पा० ।

यतः—

'सन्त एव सतां नित्यमापदुद्धरणक्षमाः ।
गजानां पङ्कमग्नानां गजा एव धुरन्धराः ॥ २०८ ॥
गुणिनि गुणज्ञो रमते, नाऽगुणशीलस्य गुणिनि परितोषः ।
अलिरेति वनात्कमलं, नहि भेकस्त्वेकवासोऽपि ॥ २०९ ॥
श्लाघ्यः स एको भुवि मानवानां,
स उत्तमः सत्पुरुषः, स धन्यः ।
यस्यार्थिनो वा, शरणागता वा,
नाऽऽशाभिभङ्गाद्विमुखाः प्रयान्ति' ॥ २१० ॥

श्लाघ्याः=प्रशंसनीया गुणाः=दाक्षिण्यादयो यस्यासौ—श्लाघ्यगुणः ।
धुरन्धराः=भारधारणक्षमाः, उद्धरणोचिताः ॥ २०८ ॥
अलिः=भ्रमरः । एकवासः=समानसरोवरस्थोऽपि ॥ २०९ ॥
स एकः श्लाघ्यः, स एक उत्तमः पुरुषः, स एव धन्यः—यस्य गृहात् अर्थिनः =याचकाः, शरणागताः=शरणार्थिनश्च । आशाऽभिभङ्गात्,=आशाविच्छेदात्, विमुखाः—निराशाः सन्तो, न प्रयान्ति=न गच्छन्ति ॥ २१० ॥

कछुवे की ऐसी बातें सुनकर लघुपतनक (कौआ) बोला—मन्थर! तुम धन्य हो। सब प्रकार से तुम्हारी प्रशंसा ही करनी चाहिये। क्योंकि—

बड़े लोग ही बड़ों को आपत्ति से बचा सकते हैं। जैसे कीचड़ में फँसे हुए हाथी को हाथी ही निकाल सकता है, दूसरा कोई क्षुद्र जन्तु नहीं ॥ २०८ ॥

और गुणी के सङ्ग से गुणी को ही आनन्द होता है, निर्गुण को गुणी से सन्तोष भी नहीं होता है। देखो, भ्रमर तो वन से चल कर भी कमल के पास आता है, परन्तु पास में ही रह कर भी मेढक कभी कमल के पास नहीं जाता ॥ २०९ ॥

और भी—जिसके पास से याचक गण अथवा शरणागत लोग कभी निराश होकर नहीं लौटते हैं, पृथ्वी पर मनुष्यों में वही धन्य है, और वही प्रशंसनीय है और वही श्रेष्ठ है, और वही सत्पुरुष भी है ॥ २१० ॥

—तदेवं ते स्वेच्छाऽऽहारविहारं कुर्वाणाः सन्तुष्टाः सुखं निवसन्ति ।

अथ कदाचिच्चित्राङ्गनामा मृगः केनाऽपि त्रासितस्तत्राऽऽगत्य मिलितः । ततः पश्चादायान्तं मृगमवलोक्य, भयं सञ्चिन्त्य, मन्थरो ज प्रविष्टः, मूषकश्च विवरं गतः, काकोऽप्युड्डीय वृक्षमारूढः । ततो लघुपतनकेन सुदूरं निरूप्य भयहेतुर्न कोऽप्यायातीत्यालोचितम् । पश्चात्तद्वचनादाग पुनः सर्वे मिलित्वा तत्रैवोपविष्टाः । मन्थरेणोक्तं—'भद्र मृग ! स्वाग ते, स्वेच्छयोदकाद्याहारोऽनुभूयताम् । अत्राऽवस्थानेन वनमिदं सना क्रियताम् ।'

चित्राङ्गो ब्रूते—'लुब्धकत्रासितोऽहं भवतां शरणमागतो भवा सह सख्यमिच्छामि । भवन्तश्च मामनुकम्पयन्तु मैत्रेण' ।

ते = काककूर्ममृगाः । स्वेच्छया = स्वातन्त्र्येण, आहारं=भोजनं, विहारं=भ्र परिभ्रमणादिकञ्च । सन्तुष्टाः =प्रसन्नाः ॥ ततः पश्चात् = तदनन्तरम् । आयान् = आगच्छन्तम् । निरूप्य = विलोक्य । आलोचितं = निश्चितम् । तद्वचना काकवचनात् । भद्र !=साधो (भाई !) । स्वागतं=शोभनन्ते आगमनं आहारः=भोजनम् । अवस्थानेन = स्थित्या । सनाथीक्रियताम्=अलङ्क्रियता

इस प्रकार ये (मन्थर आदि) सब अपनी इच्छापूर्वक आहार-वि और आनन्द करते हुए प्रसन्नचित्त होकर एक साथ उस वन में रहने लगे ।

इसके बाद एक दिन चित्राङ्ग नाम का एक मृग भयभीत-सा होकर आया । भाग कर आते हुए उस मृग को देखकर, विपत्ति की आशङ्का से म (कछुआ) तो जल में घुस गया, चूहा भी अपने बिल में चला गया, और उड़ कर वृक्ष पर चढ़ा गया ।

इसके बाद लघुपतनक कौवे ने बहुत दूर तक देख कर कहा कि—'कोई का कारण तो नहीं है' । उसके कहने से मन्थर आदि सब आकर मिल कर. वहीं बैठ गये । मन्थर ने कहा—भाई मृग ! तुम्हारा हम स्वागत करते वहीं रह कर आप आनन्दपूर्वक अपनी इच्छा के अनुसार जलपान व भो आदि कीजिये । और अब यहीं रह कर इस वन की शोभा को बढ़ाइये ।

चित्राङ्ग ने कहा—मैं व्याध (बहेलिया, शिकारी) के डर से ही आप के

हिरण्यकोऽवदत्—'मित्रत्वं तावदस्माभिः सह भवतोऽयत्नेन निष्पन्नम्। यतः—

'लोभाद्वाऽथ भयाद्वाऽपि, यस्त्यजेच्छरणाऽऽगतम् ।
ब्रह्महत्यासमं तस्य पापमाहुर्मनीषिणः ॥ २११ ॥

औरसं कृतसम्बन्धं, तथा वंशक्रमाऽऽगतम् ।
रक्षितं व्यसनेभ्यश्च, मित्रं ज्ञेयं चतुर्विधम्' ॥ २१२ ॥

तदत्र भवता स्वगृहनिर्विशेषं स्थीयताम् । तच्छ्रुत्वा मृगः साऽऽनन्दो भूत्वा, स्वेच्छाहारं कृत्वा, पानीयं पीत्वा, जलाऽऽसन्नवटतरुच्छायाया-मुपविष्टः ।

अत्रैव भवान् सुखं तिष्ठतु । लुब्धकत्रासितः = व्याधार्दितः । सख्यं = मैत्रीम् । अयत्नेन = अनायासेनैव ।

लोभादिति । मनीषिणः = धर्मतत्त्वज्ञा विद्वांसः ॥ २११ ॥

औरसमिति । औरसं = योनिसम्बन्धेन सम्बन्धि पुत्रभ्रात्रादिकम् । कृतसम्बन्धं = पुत्रादीनां विवाहादिसम्बन्धेन कृतं पुत्रश्वशुर-श्यालादिकम् । वंशक्रमागतं = वंशपरम्परागतम् । व्यसनेभ्यः = विपत्तिभ्यः ॥ २१२ ॥

तत् = अपनरक्षितया त्वमस्मन्मित्रतां गत इतिहेतोः । स्वगृहनिर्विशेषं = स्वभवनतुल्यमस्मद्भवनं मत्वा । जलासन्नवटच्छायायां = सरोवरसन्निकटस्थित-

---

की शरण में आया हूँ । और मैं आप लोगों के साथ मित्रता चाहता हूँ ।

तब हिरण्यक चूहा बोला—मित्रता तो हम लोगों के साथ आपकी बिना उद्योग के ही हो गई । क्योंकि—

जो कोई लोभ से, अथवा भय से शरणागत को छोड़ देता है, उसको ब्रह्म-हत्या का पाप होता है—ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं ॥ २११ ॥

और मित्र चार प्रकार के होते हैं—(१) औरस (मामा-मानजा आदि) । (२) जिनके साथ विवाह आदि का सम्बन्ध हो गया है वह, (३) जो वंश परम्परा से मित्र है, वह । और (४) जो आपत्ति से बचाया गया हो, वह ॥२१२॥

इस लिये आप इस वन को अपने घर की तरह ही समझ कर यहाँ रहिए । ऐसा सुन कर वह मृग बड़ा प्रसन्न हुआ और अपनी इच्छा के अनुकूल भोजन करके, पानी पीकर, जल के पास वाले वृक्ष की शीतल छाया में बैठ गया ।

यतः—

'कूपोदकं वटच्छाया, श्यामा स्त्री चेष्टकागृहम् ।
शीतकाले भवेदुष्णमुष्णकाले च शीतलम्' ॥ २१३ ॥

अथ मन्थरेणोक्तम्,-सखे मृग ! एतस्मिन्निर्जने वने केन त्रासितोऽसि ? । कदाचित्किं व्याधाः सञ्चरन्ति ?' ।

मृगेणोक्तम्—'अस्ति कलिङ्गविषये रुक्माङ्गदो नाम नरपतिः । स च दिग्विजयव्यापारक्रमेणाऽऽगत्य चन्द्रभागानदीतीरे समावासितकटको वर्तते । प्रातश्च तेनाऽत्राऽऽगत्य कर्पूरसरःसमीपे भवितव्य'मिति व्याधानां मुखात्किंवदन्ती श्रूयते । तदत्राऽपि प्रातरवस्थानं भयहेतुकमित्यालोच्य यथावसरं कार्यमारभ्यताम् ।'

वटच्छायायाम् ॥ श्यामा स्त्री='शीते सुखोष्णसर्वाङ्गी, ग्रीष्मे तु सुखशीतला । तप्तकाञ्चनगौराङ्गी, या सा श्यामेति भण्यते ।' इतिलक्षणलक्षिता सुन्दरी कामिनी ॥ २१३ ॥

कलिङ्गविषये=कलिङ्गदेशे । (जिला राजमहेन्द्री आदि) । दिग्विजयव्यापारक्रमेण=दिग्विजययात्राप्रसङ्गेन । समावासितकटकः=निवेशितसैन्यशिबिरः। (कटक=छावनी) । भवितव्यम्=स्थातव्यम् । किंवदन्ती=जनश्रुतिः । अत्रापि=अस्मिन् सरसि । प्रातः=प्रभाते । अवस्थानम्=स्थितिः । भयहेतुकं=भयजनकम् । यथा-

क्योंकि—कुएँ का जल, वट की छाया, श्यामा (सोलह वर्ष की सुन्दरी युवती) स्त्री और ईंटों का घर, ये चारों वस्तुएँ शीतकाल में गर्म रहते हैं, और गर्मी में वे ठण्डे रहते हैं ॥ २१३ ॥

इसके बाद मन्थर ने कहा । हे मित्र मृग ! इस निर्जन वन में तुम किससे डर गये थे ? । क्या इस वन में कहीं व्याध घूमते हैं ? । मृग बोला—कलिङ्ग देश में रुक्माङ्गद नाम का एक राजा है । वह दिग्विजय के लिये चला है और इस चन्द्रभागा नदी के तट पर अपनी सेना को लिए हुए ठहरा है । और कल सबेरे वह यहाँ आकर कर्पूर नामक सरोवर के पास ठहरेगा, ऐसी किंवदन्ती (खबर) व्याधों के मुख से मैंने सुनी है । अतः यहाँ पर भी (इस वन में, इस सरोवर में) कल रहने में भय ही है । यह जानकर जैसा उचित हो वैसा कीजिए ।

तच्छ्रुत्वा कूर्मः समयमाह—'जलाऽऽशयान्तरं गच्छामि।' काकमृगावप्युक्तवन्तौ—'एवमस्तु'। ततो हिरण्यको विहस्याऽऽह—'जलाशयान्तरं प्राप्ते मन्थरस्य कुशलम्, स्थले गच्छतोऽस्य कः प्रतीकारः ?। यतः—

'अम्भांसि जलजन्तूनां, दुर्गं दुर्गनिवासिनाम्।
स्वभूमिः श्वापदादीनां, राज्ञां मन्त्री परं बलम्' ॥ २१४ ॥

सखे लघुपतनक ! अनेनोपदेशेन तथा भवितव्यम्—

'स्वयं वीक्ष्य यथा वध्वा पीडितं कुचकुड्मलम्।
वणिक्पुत्रोऽभवद् दुःखी, त्वं तथैव भविष्यसि' ॥ २१५ ॥

समयं=यथोचितम्। समयानुसारेण। जलाशयान्तरम्=अपरं सरोवरादिकम् प्रति। प्राप्ते=प्राप्ते सति तु। स्थले=भूमौ चलतः कच्छपस्य तु। कः प्रतीकारः=क उपायः। 'का विधे ति' पाठेऽपि—क उपाय इत्यर्थः। मार्गे चलन्तं कच्छपं व्याधा यदि गृहीतुमर्हिं किं स्यात् ?। अतो जलाशयान्तरगमनविचारोऽस्य नोचित इत्याशयः। अम्भांसि=जलानि। जलजन्तूनां=मीनकच्छपादीनां। 'परं बल'-मिति शेषः। दुर्गनिवासिनां=कोट्टनिवासिनां, दुर्गं=कोट्टम्। दुर्गम-पर्वतादिभूमिर्वा। 'परं बल'मिति सम्बन्धः। श्वापदादीनां=व्याघ्रादीनाम्। स्वभूमिः=स्वनिवासभूता पर्वतवनस्थली। 'परं बलम्' इत्यनुषङ्गः ॥ २१४ ॥

अनेनोपदेशेन=जलाशयान्तरगमनरूपेण उपदेशेन। 'तथा भवितव्य'-मित्यस्य अग्रिमश्लोकेन (२१५ श्लो०) सहान्वयः।

यह सुनकर कछुआ डरकर बोला, हे मित्र! मैं तो चाहता हूँ कि मैं किसी दूसरे तालाब में चला जाऊँ। तब कौवा और मृग बोले—यही ठीक है। तब हिरण्यक (चूहा) हँस कर बोला—दूसरे तालाब में पहुँच जाने पर तो मन्थर की भलाई ही होगी। परन्तु चलते समय स्थल (भूमि पर) में इसकी रक्षा का क्या उपाय है ?। क्योंकि—जलजन्तुओं का जल ही बल है, किले में रहने वालों के लिये किला ही बल है, व्याघ्र इत्यादि के लिये अपना स्थान (वन, गुहा) ही बल है, और राजा लोगों के लिए अपने मन्त्री ही परम बल हैं ॥ २१४ ॥

अतः हे मित्र लघुपतनक! यहाँ से 'दूसरे सरोवर में जाना ठीक है' इस उपदेश से तो वैसा ही होगा, जैसे—

ते ऊचुः—'कथमेतत्' ? हिरण्यकः । कथयति—

(७) राजपुत्रवणिग्वधूकथा ।

[1]अस्ति कान्यकुब्जविषये वीरसेनो नाम राजा । तेन वीरपुरनाम्नि नगरे तुङ्गबलो नाम राजपुत्रो भोगपतिः कृतः । स च महाधनस्तरुण एकदा स्वनगरे भ्राम्यन्नतिप्रौढयौवनां लावण्यवतीं नाम वणिक्पुत्रवधूमालोकयामास । ततः स्वहर्म्यं गत्वा स्मराऽऽकुलमतिस्तस्याः कृते दूतीं प्रेषितवान् । यतः—

'सन्मार्गे तावदास्ते, प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां,
लज्जां तावद्विधत्ते, विनयमपि समालम्बते तावदेव ।
भ्रूचापाऽऽकृष्टमुक्ताः, श्रवणपथगता, नीलपक्ष्माण एते
यावल्लीलावतीनां न हृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति' ॥२१६॥

स्वयमिति । स्वय=साक्षादात्मना । वध्वाः=स्वपत्न्याः । पीडितं=मर्दितम् । कुचकुड्मलं=स्तनकोरकम् । (कुड्मल=कली) । त्वं=लघुधनकः । तथैव=दुःखी ॥ २१५ ॥

विषये=देशे । भोगपतिः=नगरपतिः, करमहाधिकारी च । (छोटा राजा, ठाकुर, जिलेदार, कलक्टर आदि) । महाधनः=नितरां धनी । अतिप्रौढयौवनां=परिपूर्णयौवनाम् । स्वहर्म्यं=स्वनिवासस्थानम् । (हवेली, महल) । स्मराकुलमतिः=कामाऽऽकुलितचित्तः । तस्याः=वणिक्पुत्रवध्वाः । सन्मार्गे इति । तावदेव इन्द्रियाणां

एक बनिये का लड़का-अपनी स्त्री के स्तनों को, दूसरे को दबाते हुए अपनी आँखों से देख कर जैसे दुःखी हुआ था, वैसे ही तुम लोग भी दुःखी होगे ॥२१५॥
तब वे सब बोले—यह कथा कैसे है ? । हिरण्यक बोला—

कान्यकुब्ज (कन्नौज) देश में वीरसेन नाम का राजा था । उसने वीरपुर नामक नगर में तुङ्गबल नामक एक राजपुत्र को राजकर अधिकारी (करमहाधिकारी या ठाकुर) बनाया । वह तुङ्गबल बहुत धनी तथा युवा था । एक दिन अपने नगर में घूमते हुए उसने एक अत्यन्त सुन्दरी पूर्ण-यौवना लावण्यवती नाम की किसी बनिये की पुत्रवधू को देखा । इसके बाद अपने महल को गया और कामार्त होकर उस

१. इयं कथाऽस्मिन् पाठरीत्याः कविरचिता ।

साऽपि लावण्यवती तदवलोकनक्षणात्प्रभृति स्मरशरप्रहारजर्जरित-हृदया तदेकचित्ताऽभवत् । तथा ह्युक्तम्—

'असत्यं, साहसं, माया, मात्सर्यं चाऽतिलुब्धता ।
निर्गुणत्वमशौचत्वं, स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः' ॥ २१७ ॥

अथ दूतीवचनं श्रुत्वा लावण्यवत्युवाच—'अहं पतिव्रता कथमेत-स्मिन्नधर्मे पतिलङ्घने प्रवर्त्ते ? । यतः—

प्रभवति = इन्द्रियनिरोधे समर्थो भवति । भ्रूचापेव चापौ ताभ्यामाकृष्टाभ्याम्—कर्णान्तमाकृष्टाभ्यां, मुक्ताः = प्रहिताः, अत एव श्रवणपथगताः = लोचनान्त-दीर्घाः । धृतिमुषः = धैर्यविलोपिनः, दृष्टिबाणाः = नेत्रशराः । यावद् हृदि न पतन्तीत्यर्थः ॥ २१६ ॥

तदवलोकनक्षणात् प्रभृति = राजपुत्रदर्शनक्षणादारभ्य । स्मरशरप्रहारजर्जरित-हृदया = मदनबाणप्रहारव्याकुलितचित्ता । तदेकचित्ता = राजपुत्रविनिविष्टमानसा, तदासक्ता ॥ माया = कपटम् । मात्सर्यम् = ईर्ष्यालुत्वम् ॥ २१७ ॥

पतिलङ्घने = व्यभिचारात्मके, अधर्मे = पापे । प्रवर्त्ते = प्रवृत्ता भवामि ? ।

लावण्यवती के पास उसने एक दूती (कुट्नी) को भेजा । क्योंकि—

पुरुष तभी तक सन्मार्ग पर रहता है, और वह तभी तक अपनी इन्द्रियों को भी वश में रख सकता है, और तभी तक वह लज्जा भी रख सकता है, और तभी तक शील भी रखता है, जब तक सुन्दरी स्त्रियों के भौंहरूपी धनुष से कान तक खींच कर छोड़े गये व धैर्य को चुराने वाले, काले २ पलक वाले नेत्ररूपी धनुष से छूटे हुए बाण (कटाक्ष) उसके हृदय में नहीं लगते हैं ॥ २१६ ॥

और वह लावण्यवती भी उस युवा राजपुत्र को देखने के बाद से ही कामपीड़ित होकर तन्मयचित्त हो गई । कहा भी है—

असत्य, साहस, माया, डाह, लोभ, निर्गुणता, अपवित्रता, ये स्त्रियों के स्वाभाविक * दोष हैं ॥ २१७ ॥

और वह दूती लावण्यवती के पास जाकर उसे समझाने लगी । दूती की बात सुन कर लावण्यवती बोली—मैं पतिव्रता हूँ, अतः मैं इस पापकार्य (व्यभिचार)

'सा भार्या या गृहे दक्षा, सा भार्या या प्रजावती ।
सा भार्या या पतिप्राणा, सा भार्या या पतिव्रता ॥ २१८ ॥
कोकिलानां स्वरो रूपं, नारीरूपं पतिव्रतम् ।
विद्या रूपं कुरूपाणां, क्षमा रूपं तपस्विनाम् ॥ २१९ ॥
न सा 'भार्ये'ति वक्तव्या यस्या भर्ता न तुष्यति ।
तुष्टे भर्तरि नारीणां, सन्तुष्टाः सर्वदेवताः' ॥ २२० ॥

ततो यद्यदादिशति मे प्राणेश्वरस्तदेवाऽहमविचारितं करोमि'।
दूत्योक्तम्—'किं सत्यमेतत् ?'।
लावण्यवत्युवाच—'ध्रुवं सत्यमेतत्।'
ततो दूतिकया गत्वा तत्सर्वं तुङ्गबलस्याऽग्रे निवेदितम् । तच्छ्रुत्वा तुङ्गबलोऽब्रवीत्—'विषमेषुणा प्रणिन्नहृदयस्त्वा विना कथमहं जीविष्यामि ?'।

सेति । गृहे=गृहव्यापारे, दक्षा=कुशला । प्रजावती=सन्तानवती । पतिप्राणा=पतिगतमानसा, पतिव्रता ॥ २१८ ॥
कोकिलानां स्वरः=मधुरस्वर एव । रूपं=शोभाधायकम् ॥ २१९ ॥
न तुष्यति=न सन्तुष्टो भवति ॥ २२० ॥
आदिशति=आज्ञापयति । प्राणेश्वरः=भर्ता । सत्यमेतत्=किमिदं सत्यं

मैं ऐसे प्रवृत्त हो सकती हूँ ? । यथाहि—
वही सच्ची पत्नी है, जो गृहकार्य में कुशल हो, सन्तान वाली हो, और अपने पति को ही अपना प्राण समझे, और पतिव्रता हो ॥ २१८ ॥
क्योंकि कोयल का स्वर ही रूप है, स्त्रियों का पातिव्रत्य ही रूप है, कुरूपों का विद्या ही रूप है, और तपस्वियों का क्षमा ही रूप है ॥ २१९ ॥
और भी—वह भार्या भार्या नहीं कही जा सकती है, जिससे उसका पति प्रसन्न नहीं हो । पति के प्रसन्न होने पर स्त्रियों पर सभी देवता प्रसन्न होते हैं ॥ २२० ॥
इसलिये मेरे प्राणपति जो मुझे आज्ञा देते हैं, उसे मैं बिना विचारे करने को तैयार रहती हूँ । अर्थात्—मेरा पति यदि मुझे उस राजा के पास भेजेगा, तो मैं जा सकती हूँ, ऐसे नहीं । दूती ने कहा—क्या यह सत्य बात है ? । लावण्यवती

कुट्टन्याह-'स्वामिनाऽऽनीय समर्पयितव्ये'ति । स प्राह-'कथमेतच्छक्यम्' ? । कुट्टन्याह-'उपायः क्रियताम्' । तथा चोक्तम्—

'उपायेन हि यच्छक्यं, न तच्छक्यं पराक्रमैः ।
शृगालेन हतो हस्ती गच्छता पङ्कवर्त्मना' ॥ २२१ ॥

राजपुत्रः पृच्छति-'कथमेतत् ?' । सा कथयति—

(८) हस्तिधूर्तशृगालकथा ।

अस्ति ब्रह्माऽरण्ये कर्पूरतिलको नाम हस्ती । तमवलोक्य सर्वे शृगालाश्चिन्तयन्ति स्म-'यद्ययं केनाऽप्युपायेन म्रियते, तदाऽस्माकमेतद्देहेन मासचतुष्टयस्य भोजनं भवति' इति ।

तत्रैकेन वृद्धशृगालेन प्रतिज्ञातम्—'मया बुद्धिप्रभावादस्य मरणं

कथयसि ? । स्वामिना = भर्त्रा । समर्पयितव्या = जाराय तुभ्य स्वत एव देया । इति = इत्येवदाह । कथं शक्यमिति । नैव शक्यमित्यर्थः ॥

पराक्रमैः = बलादिभिः । पङ्कवर्त्मना = कर्दमबहुलेन मार्गेण ॥ २२१ ॥

एतद्देहेन = अस्य हस्तिनः शरीरेण । साधयितव्यं = निष्पादयितव्यम् ।

ने कहा-यह बिलकुल सच है। इसके बाद दूती ने जाकर तुङ्गबल से उसके पतिव्रता होने की बात कही । दूती की बातों को सुन कर वह तुङ्गबल बोला—मैं तो अत्यन्त कामपीडित हो रहा हूँ । उसके बिना मैं कैसे जीता रहूँगा ? । तब कुट्टनी बोली—स्वयं उसका स्वामी ही उसे लाकर आपको समर्पण करेगा (देदेगा) । तुङ्गबल बोला—भला यह कैसे हो सकता है ? । कुट्टनी बोली-उपाय करने से सब कुछ हो सकता है । अतः आप भी उपाय कीजिये । कहा भी है—

जो कार्य बल व पराक्रम से नहीं हो सकता है, वही कार्य उपायों द्वारा सरलता से हो जाता है । देखो कीचड के मार्ग से चलकर एक सियार ने एक जबर-दस्त हाथी को मार डाला था ॥ २२१ ॥

राजपुत्र ने पूछा-यह कथा कैसे है ? । कुट्टनी कहने लगी—

ब्रह्मारण्य में कर्पूरतिलक नाम का हाथी रहता था । उसको देखकर वन के सब सियार सोचने लगे कि-यदि यह हाथी किसी उपाय से मर जाय तो इसके शरीर से

साधयितव्यम् ।' अनन्तरं स वञ्चकः कर्पूरतिलकसमीपं गत्वा, साष्टाङ्गपातं प्रणम्योवाच–'देव ! दृष्टिप्रसादं कुरु ।'

हस्ती ब्रूते—'कस्त्वम् ? । कुतः समायातः ?' ।

सोऽवदत्—'जम्बुकोऽहम् । सर्वैर्वनवासिभिः पशुभिर्मिलित्वा भवत्सकाशं प्रस्थापितः । यत्—विना राज्ञाऽवस्थातुं न युक्तम्, तदत्राऽटवीराज्येऽभिषेक्तुं भवान् सर्वस्वामिगुणोपेतो निरूपितः।' । यतः—

'यः कुलाभिजनाऽऽचारैरतिशुद्धः, प्रतापवान् ।
धार्मिको, नीतिकुशलः, स स्वामी युज्यते भुवि' ॥ २२२ ॥

वञ्चकः=शृगालः । साष्टाङ्गपातं = भूमौ दण्डवत् । देव=प्रभो ! दृष्टिप्रसादं = दयादृष्टि । प्रस्थापितः = प्रहितः । यत् = यस्मात् (क्योंकि, चूंकि) । विना राज्ञा=राजानं विना । अटवीराज्ये = वनराज्ये । अभिषेक्तुं = स्थापयितुम् । निरूपितः = निश्चितः ।

य इति । कुलाभिजनाचारैः=वंश-देश-ऽऽचारव्यवहारैः । कुलं = वंशः । अभिजनः=ख्यातिः, जन्मभूमिः, पूर्वपुरुषाश्च । 'भवेदभिजनः ख्यातौ, जन्मभूम्यां, कुलध्वजे । कुलेऽपि च पुमा'निति मेदिनी । 'कुलाचारजनाचारै'रिति

हम लोगों का चार महीने (चौमासा, बर्सात) अच्छी तरह भोजन हो सकता है ।

इसके बाद एक वृद्ध सियार ने प्रतिज्ञा की कि मैं अपनी बुद्धि के प्रभाव से इस हाथी को मारूँगा । इसके बाद वह धूर्त सियार कर्पूरतिलक हस्ती के पास जाकर साष्टाङ्ग प्रणाम करके बोला—महाराज ! कृपा कर मेरी ओर देखिए और मेरी बातें सुनिये । हाथी बोला–तुम कौन हो ? । कहाँ से आये हो ? ।

तब वह सियार बोला—मैं सियार हूँ, और सब जङ्गली पशुओं ने मिल कर मुझे आपके पास भेजा है । क्योंकि बिना राजा के रहना ठीक नहीं है, अतएव उन लोगों ने इस वन के राज्य में राजा बनाने के लिये सकल राजगुणों से युक्त आपको ही निश्चित किया है ।

क्योंकि जो कुल (वंश, खान्दान) और अभिजन (वंशपरम्परा, या ठिकाना, स्थान) और आचार-विचार आदि से [illegible]

अपरञ्च पश्य—

'राजानं प्रथमं विन्देत्ततो भार्यां, ततो धनम् ।
राजन्यसति लोकेऽस्मिन्कुतो भार्या, कुतो धनम्' ॥२२३॥

अन्यच्च—

'पर्जन्य इव भूतानामाधारः पृथिवीपतिः ।
विकलेऽपि हि पर्जन्ये जीव्यते, न तु भूपतौ' ॥२२४॥

'नियतविषयवर्त्ती प्रायशो दण्डयोगा-
ज्जगति परवशेऽस्मिन्दुर्लभः साधुवृत्तः ।
कृशमपि, विकलं वा, व्याधितं वाऽधनं वा,
पतिमपि कुलनारी दण्डभीत्याऽभ्युपैति' ॥ २२५ ॥

केचिद्वदन्ति । अतिशुद्धः=नितरां शुचिः । प्रतापवान्=प्रतापी । स्वामी=राजा ।
विन्देत्=लभेत । ततो भार्यां, ततो धनञ्च विन्देदित्यन्वयः ॥ २२३ ॥
पर्जन्यः=मेघः । भूतानां=जीवानाम् । आधारः=आश्रयः । पृथिवीपतिः=
रा । विकले=गतेऽपि । न तु भूपतौ—विकले=विनष्टे सति, जीव्यते=
माणधारणं कर्तुं शक्यमित्यर्थः ॥ २२४ ॥
नियतेति । प्रायशः=बाहुल्येन, परवशे=इन्द्रियादिपरवशे, अस्मिन् जगति

धार्मिक हो और नीतिकुशल हो वही संसार में राजा होने के योग्य है ॥ २२२ ॥
और भी देखो—सबसे प्रथम राजा को ही निश्चित करना चाहिये । अर्थात् किसी
योग्य को अपना राजा बना लेना चाहिये, उसके बाद ही स्त्री (विवाह) आदि की
चिन्ता करनी चाहिये । और तदनन्तर ही धन के उपार्जन की भी चिन्ता करनी
चाहिये । क्योंकि राजा के न रहने पर स्त्री और धन की रक्षा ही नहीं हो सकता
है, अतः पहिले राजा का होना परम आवश्यक है ॥ २२३ ॥
और भी—राजा मेघों के सदृश ही प्राणीमात्र का अवलम्बन है । पर वर्षा न
होने पर भी कुछ समय तक जीवित रहना सम्भव है, परन्तु राजा के बिना तो
क्षण भर भी कोई जी नहीं सकता है ॥ २२४ ॥
क्योंकि जगत् में लोग प्रायः राजदण्ड के भय से ही अपने २ नियत मार्गों पर

तद्यथा लग्नवेला न विचलति तथा कृत्वा सत्वरमागम्यतां देवेन।'-इत्युक्त्वोत्थाय चलितः।

ततोऽसौ राज्यलोभाऽऽकृष्टः कर्पूरतिलकः शृगालवर्त्मना धावन्महापङ्के निमग्नः। ततस्तेन हस्तिनोक्तम्-'सखे शृगाल! किमधुना विधेयम्?। पङ्के निपतितोऽहं म्रिये, परावृत्य पश्य।'

शृगालेन विहस्योक्तम्—'देव! मम पुच्छका[1]ऽवलम्बनं

=अस्मिन् लोके, दण्डयोगात्=राजदण्ड-जातिदण्डादि-भयादेव, नियतविषयवर्ती=स्वे स्वे धर्मे निरतो लोको धर्मशास्त्रलोकमर्यादां यथावत्पालयति, नतु स्वभावादेव।

ननु कुत एतदत आह—दुर्लभ इति। यतः-साधुवृत्तः=प्रकृत्या शुभाचारस्तु। दुर्लभः=लोके दुर्लभ एव। तदेवोपपादयति—कृशमिति। कृशं=धनादिदुर्बलं, विकलम्=अङ्गविकलं, काणमन्धं, बधिरं वा। व्याधितं=रोगिणम्। अधनं=दरिद्रम्—भर्तारमपि। कुलनारी=कुलवधूरपि-दण्डभीत्या=राजदण्डभयेनैव। अभ्युपैति=उपगच्छति, सेवते च॥ २२५॥

तत्=तस्मात्। यथा=येन प्रकारेण (जैसे बने)। लग्नवेला=शुभमुहूर्तः। विचलति=अपयाति। देवेन=श्रीमता। शृगालवर्त्मना=जम्बुकमार्गेण। धावन्=आतुरमनुसरन्। महापङ्के=दुस्तरे कर्दमे, (दलदल में)। अधुना=इदानीं। विधेयं=कर्तव्यम्। परावृत्य=व्यावृत्य। (घूम कर)।

चलते हैं, क्योंकि इस संसार में स्वभावतः अच्छे आचरण के मनुष्य तो दुर्लभ ही हैं। देखो कुलीन स्त्री भी केवल राजदण्ड के भय से ही अपने दुबले, अङ्ग-हीन, रोगी, बूढ़े, एवं दरिद्र पति की यथावत् सेवा करती है॥ २२५॥

अतः इसपर आप शीघ्र ही चलिए, जिससे राज्याभिषेक का मुहूर्त न टल जाए। ऐसा कह कर वह सियार उठकर आगे आगे चल पड़ा। वह कर्पूरतिलक भी राज्य के लोभ में पड़ कर उस सियार के पीछे २ दौड़ता हुआ जाने लगा और कीचड़ में फँस गया। तब वह हाथी बोला—भाई सियार! अब मैं क्या करूँ?। मैं तो कीचड़ में फँस गया हूँ और मर रहा हूँ, पीछे घूमकर देखो। मेरी ओर तुम जरा

१. 'पुच्छमावलम्ब्य' इति पाठान्तरम्।

च्छन्चोत्तिष्ठ ! । यन्मद्विधस्य वचसि त्वया प्रत्ययः कृतस्तदनु-भूयतामशरणं दुःखम् । तथा चोक्तम्—

[1]'यदाऽसत्सङ्गरहितो भविष्यसि, भविष्यसि ।
[2]तदाऽसज्जनगोष्ठीषु पतिष्यसि, पतिष्यसि' ॥२२६॥

—ततो महापङ्के निमग्नो हस्ती शृगालैर्भक्षितः ॥
अतोऽहं ब्रवीमि-'उपायेन हि यच्छक्यम्' इत्यादि ॥ ७ ॥

ततः कुट्टन्युपदेशेन तं चारुदत्तनामानं वणिक्पुत्रं स राजपुत्रः सेवकं चकार । ततोऽसौ तेन सर्वविश्वासकार्येषु नियोजितः ।

एकदा कुट्टिन्युपदेशेन तेन राजपुत्रेण स्नाताऽनुलिप्तेन,

पुच्छमवलम्ब्य कृत्वा = मदीय लघुलाङ्गूलमेवालम्ब्य । मद्विधस्य = क्षुद्रस्य, वञ्चक-स्येत्यर्थः । प्रत्ययः = विश्वासः । अशरणम् = अरक्षकम् । अनन्तम् । 'शरणं गृहरक्षित्रो'रिति कोशः ॥

यदा सत्सङ्गरहितो भविष्यसि, तदा—सज्जनगोष्ठीषु = सज्जनसभासु, पतिष्यसि= असज्जनो भविष्यसि ॥' निश्चयं द्योतयितुमुभयत्र द्विरुक्तिः । केचित्—यदा असत्सङ्गरहितो भविष्यसि तदा—भविष्यसि = सुखं स्थास्यसि । किञ्च यदा असज्जन-गोष्ठीषु पतिष्यसि, तदा नूनं पतिष्यसि=संमानभ्रष्टश्च भविष्यतीत्यर्थमाहुः ॥ २२६ ॥

तं = लीलारतीमर्चारम् । स्नानानुलिप्तेन = पूर्वं स्नातेन, पश्चादनुलिप्तेन ।

तब वह सियार हँस कर बोला—हे देव ! मेरी इस छोटी सी पूँछ के अग्रभाग को ही पकड़ कर आप निकल आइये । अरे ! मेरे जैसे क्षुद्र के कहने का आपने विश्वास किया, इस लिये अब इस अनन्त दुःख को भोगिये । किसी ने कहा भी है, कि—

जब कुसंग से रहित होओगे तभी संसार में सुखपूर्वक रहोगे, और जीओगे । और यदि दुर्जनों के संग में फँसोगे, तो तुम जरूर गिर जाओगे ॥ २२६ ॥

इसके बाद भीषण कीचड़ (दलदल) में फँसा हुआ वह हाथी मर गया, और उसे सियारों ने खा डाला । इसी लिये मैं कहता हूँ कि—जो कार्य बल से नहीं हो सकता है, वह उपाय से अनायास हो जाता है' इत्यादि ।

इसके बाद कुट्टनी के कहने से उस राजपुत्र ने चारुदत्त नामक उस बनिये को (लीलावती के पति को) अपना नौकर बना लिया । और धीरे २ उसने उसे सभी विश्वस्त कार्यों में उसको लगा लिया ॥

---

१. 'सत्सङ्ग' । २. 'यदा' पा० ।

कनक-रत्नाऽलङ्कार-धारिणा प्रोक्तम्-'चारुदत्त ! अद्याऽऽरभ्य मया मासमेकं यावद् गौरीव्रतं कर्त्तव्यम्, तदद्याऽऽरभ्य प्रतिरात्रमेकां कुलीनां युवतीमानीय समर्पय, सा मया यथोचितेन विधिना पूजयितव्या।'

ततः स चारुदत्तस्तथाविधां नवयुवतिमानीय समर्पयति। पश्चात्प्रच्छन्नः सन्-'किमयं करोती'ति निरूपयति। स च तुङ्गबलस्तां युवतिमस्पृशन्नेव दूराद्वस्त्राऽलङ्कारगन्धचन्दनैः सम्पूज्य रक्षकं दत्त्वा प्रस्थापयति।

अथ वणिक्पुत्रेण तद्दृष्ट्वोपजातविश्वासेन, लोभाऽऽकृष्टमनसा स्ववधूर्लावण्यवती समानीय समर्पिता। स च तुङ्गबलस्तां हृदयप्रियां लावण्यवतीं विज्ञाय, ससम्भ्रममुत्थाय, निर्भरमालिङ्गय, निमीलिताक्षः पर्यङ्के तया सह विललास।

कृतचन्दनाद्युपलेपेन । स्वलङ्कृतेन । कनकरत्नालङ्कारधारिणा = सुवर्णमणि-मुक्तारत्नखचितभूषणधारिणा, तेन राजपुत्रेण । मासं = मासपर्यन्तम् । तथाविधां = कुलीनाम् । प्रच्छन्नः=निगूढः सन् । निरूपयति=पश्यति । रक्षकं=राजकीयं रक्षापुरुषम् । प्रस्थापयति=प्रहिणोति । तद्दृष्ट्वा=राजपुत्रव्यवहारादिकं दृष्ट्वा । उपजातविश्वासेन=सञ्जातविस्रम्भेण । हृदयप्रियां = मनोरमाम् । ससम्भ्रमं=सत्वरम् । निर्भरं =

एक दिन उस कुटनी के उपदेश से उस राजपुत्रने स्नान करके, चन्दन लगा करके और सुवर्ण के रत्नजटित आभूषण पहन कर, उस चारुदत्त से कहा कि—हे चारुदत्त, आजसे मैं एक मास तक श्रीगौरीजी का व्रत करूंगा। इस लिये आज से तुम रात्रि में एक कुलीन सुन्दर युवती स्त्री को लाकर मुझे दिया करो, मैं विधिपूर्वक यथोचित सत्कार से उसकी पूजा किया करूंगा।

इसके बाद चारुदत्त प्रतिदिन वैसी ही एक सुन्दरी युवति ला २ कर उसे देता था, और छिप कर देखता था, कि—यह क्या करता है। और यह तुङ्गबल भी उस युवती को बिना छूए हुये, अलग से ही, वस्त्र-अलङ्कार, गन्ध, चन्दन आदि से पूजा कर के, उसी क्षण सिपाहियों के साथ उसे वापिस उसके घर भेज देता था।

यह देखकर उस बनिये को विश्वास हो गया और वह लोभ से आकृष्ट होकर एक दिन अपनी स्त्री लावण्यवती को ही लाकर उसे दे दिया। तब उस तुङ्गबलने उसको अपनी मनःप्रिया लावण्यवती जान करके, शीघ्र उठ कर, उसको छाती से लगा कर, उसका गाढ़ आलिङ्गन किया और उसके साथ आनन्द से पलंग

तदालोक्य वणिक्पुत्रश्चित्रलिखित इवेतिकर्तव्यतामूढः परं विषादमुपगतः। अतोऽहं ब्रवीमि–'स्वय वीक्ष्ये' त्यादि ॥ ६ ॥

तथा त्वयाऽपि भवितव्यम्' इति।

तद्धितवचनमवधीर्य महता भयेन विमुग्ध इव तं जलाशयमुत्सृज्य मन्थरश्चलितः। तेऽपि हिरण्यकादयः स्नेहादनिष्टं शङ्कमाना मन्थरमनुगच्छन्ति। ततः स्थले गच्छन्न्येनाऽपि व्याधेन काननं पर्यटता मन्थरः प्राप्तः। प्राप्य तं गृहीत्वोत्थाप्य, धनुषि बद्ध्वा, भ्रमन्क्लेशात्क्षुत्पिपासाकुलः, स्वगृहाभिमुखं चलितः।

अथ मृग-वायस-मूषकाः परं विषादं गच्छन्तस्तमनुजग्मुः। ततो हिरण्यको विलपति—

निमिलितार्द्ध=ईषन्मीलितलोचनः। विललास=रतिक्रीडां चकार। चित्रलिखित इव=चित्रार्पित इव। इतिकर्तव्यतामूढः=किङ्कर्तव्यताविमूढः।

त्वयाऽपि=कच्छपेन, वायसेनाऽपि च। तद्धितवचन=हिरण्यकोक्तं हितवाक्यम्। अवधीर्य=अनादृत्य। विमुग्ध इव=मूढताङ्गत इव। अनिष्ट=विपत्तिम्। काननं पर्यटता=वनं भ्राम्यता। क्लेशात्=आयासात्। परं=नितराम्।

न्द करके, उसके स्तनों का मर्दनकर, अनेक प्रकार की कामक्रीडा करने लगा और उसको छाती से चिपटा कर पलँग पर लेजा कर, सुरतक्रीडा भी करने लगा।

यह सब देखकर वह बनिये का लड़का किंकर्तव्यमूढ होकर, चित्र लिखी हुई मूर्ति की तरह स्तब्ध (ठक) हो गया और बहुत ही खिन्न हुआ।

इसीलिये मैं कहता हूँ कि—'अपनी स्त्री के स्तनों को दूसरे को मर्दन करते हुए देखकर भी वह कुछ नहीं कर सका, केवल पछताता ही रहा' इत्यादि।

वैसे ही आप लोगों (कछुवा, कौवा आदि) को भी पीछे से दुःख ही होगा। परन्तु हिरण्यक चूहे के इन हितवचनों का अनादर करके, भय से विमूढ वह मन्थर उस जलाशय को छोड़ कर चल पड़ा। हिरण्यक आदि भी स्नेह से, उसके अनिष्ट की शंका करते, उसके पीछे २ जाने लगे। और रास्ते पर जाते हुए, उस मन्थर को जङ्गल में घूमने वाले किसी व्याध ने देखा और उसे उठा धनुष में बाँध लिया, और अपने को धन्य समझकर, थका हुआ वह व्याध भूख प्यास से व्याकुल हो कर, अपने घर की तरफ चल पड़ा। इसके बाद वे मृग, चूहा और कौवा भी दुःखित होकर उस व्याध के पीछे-पीछे जाने लगे। और उनमें से हिरण्यक

'एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं गच्छाम्यहं पारमिवाऽर्णवस्
तावद्द्वितीयं समुपस्थितं मे, छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥२२
स्वाभाविकं तु यन्मित्रं भाग्येनैवाऽभिजायते ।
तदकृत्रिमसौहार्दमापत्स्वपि न मुञ्चति ॥ २२८ ॥
न मातरि, न दारेषु, न सोदर्ये, न चाऽऽत्मजे ।
विश्वासस्तादृशः पुंसां, यादृङ् मित्रे स्वभावजे' ॥ २२९ ॥

तं=कच्छपमादिव्याधम् । अनुजग्मु=तत्पृष्ठतो ययु. । तमनुसस्रुः । विलपति रुदन् पठति । रोदिति वा ।

एकस्येति । अर्णवस्य=समुद्रस्य पारमिव, एकस्य दुःखस्य यावदन्तं=प अहं न गच्छामि, तावत् मे द्वितीय दुःख समुपस्थितम् । छिद्रेषु=विपत्तिषु, त्रुटि स्खलितेषु च । (थोड़ी सी भूल होने से ही, एक विपत्ति के आने पर) । अनर्था विपदः । बहुलीभवन्ति=वर्धन्ते ॥ २२७ ॥

स्वाभाविकं—सहजिकमकृत्रिमम् । अभिजायते=सम्भवति । तत्=स्वाभावि मित्रम् । अकृत्रिमसौहार्दं=सहजस्नेहम् । न मुञ्चति=न परित्यजति ॥ २२८ ॥

सोदर्ये=सहजे भ्रातरि । आत्मजे=पुत्रे । स्वभावजे—सहजसुहृदि ॥ २२९ ॥

पुनः इस प्रकार विलाप करने लगा कि—

जबतक मेरे समुद्र की तरह असीम एक दुःख का अन्त ही नहीं होने पाता है उसी बीच में मेरे ऊपर दूसरा दुःख भी आजाता है । क्योंकि प्रायः एक आपत्ति के आने पर, उसके साथ ही साथ, बहुत सी अन्य विपत्तियाँ भी आ जाती हैं और भी है—छिद्रों में (विपत्तियों में) अनर्थ बढ़ते ही जाते हैं । अर्थात् एक विपत्ति के आने के साथ ही साथ अनेक प्रकार की अन्यान्य विपत्तियाँ भी पड़ो जाती हैं ॥ २२७ ॥

और स्वाभाविक मित्र बड़े भाग्य से मिलते हैं । और वह (स्वाभाविक) मित्र अपनी अकृत्रिम मित्रता को आपत्ति काल में भी नहीं छोड़ता है ॥ २२८ ॥

और मनुष्य को ऐसा विश्वास अपने स्वाभाविक मित्र में होता है, वैसा विश्वास न माता में, न स्त्री में, न सहोदर भाई में और न पुत्र में ही होता है ॥२२९॥

—इति मुहुर्विचिन्त्य, अहो दुर्दैवम् ! यतः—

'स्वकर्मसन्तानविचेष्टितानि, कालान्तराऽऽवर्तिशुभाऽशुभानि ।
इहैव दृष्टानि मयैव तानि जन्मान्तराणीव दशान्तराणि' ॥२३०॥

अथवेत्थमेवैतत्—

'कायः सन्निहिताऽपायः, सम्पदः पदमापदाम् ।
समागमाः साऽपगमाः, सर्वमुत्पादि भङ्गुरम्' ॥ २३१ ॥

पुनर्विमृश्याह—

'शोका-ऽराति-भय-त्राणं, प्रीति-विश्रम्भ-भाजनम् ।
केन रत्नमिदं सृष्टं 'मित्र'मित्यक्षरद्वयम्' ? ॥२३२ ॥

स्वस्य कर्मणां = शुभाऽशुभानां, यः सन्तानः = परम्परा, तस्य—विचेष्टितानि = विलासभूतानि, तेन वा विचेष्टितानि = समापन्नानि । स्वकर्मफलभूतानीति यावत् । किञ्च कालान्तरेण आवर्तन्ते तच्छीलानि—कालान्तरावर्तीनि, तानि च तानि शुभाशुभानि च—कालान्तरावर्तिशुभाशुभानि=तेषु तेषु समयेषु आवर्तमानानि, शुभाऽशुभफलोदर्काणि—जन्मान्तराणीव—मया इहैव = अस्मिन्नेव जन्मनि, तानि दशान्तराणि = नानादशाः । दृष्टानि = अनुभूतानि । दशान्तराण्यपि कर्मसन्तान-निर्मितानि, कालान्तरावर्तीनि, शुभाशुभफलप्रदानि च भवन्तीति तयोः साम्यमि-त्यवधेयम् ॥ २३० ॥

सन्निहिताऽपायः = सन्निहितविनाशः । आपदां पदं = विपत्तीनां, स्थानम् = आश्रयः । समागमाः = संयोगाः । साऽपगमाः = वियोगपर्यवसानाः । उत्पादि = जन्यम् । भङ्गुरं = विनाशि ॥ २३१ ॥ विमृश्य = विचार्य ।

इस तरह बार २ सोचकर वह चूहा फिर बोला—अहो ! मेरा बड़ा दुर्भाग्य है । मैंने अपने कर्मसमूह (पाप पुण्य) के नाना प्रकार के अशुभ या शुभ फलों को, जन्मान्तरों की तरह, इसी जन्म में ही, देख लिया (अनुभव कर लिया) ॥२३०॥

अथवा यह संसार ही ऐसा (निःसार) है । क्योंकि—

यह शरीर नश्वर है, सम्पत्ति भी आपत्ति का घर है, और समागम (मिलन) भी सदा स्थिर नहीं रहते हैं, और उत्पन्न सभी पदार्थ क्षणभङ्गुर ही हैं ॥२३१॥

किञ्च—

'मित्रं प्रीतिरसायनं, नयनयोरानन्दनं चेतसः,
पात्रं यत्सुखदुःखयोः सह भवेन्मित्रेण, तद्दुर्लभम् ।
ये चाऽन्ये सुहृदः समृद्धिसमये द्रव्याऽभिलाषाऽऽकुला—
स्ते सर्वत्र मिलन्ति, तत्त्वनिकषग्रावा तु तेषां विपत्'॥२३२॥

—इति मुहुर्विलप्य हिरण्यकश्चित्राङ्ग-लघुपतनकावाह—'यावदयं व्याधो वनान्न निःसरति, तावन्मन्थरं मोचयितुं यत्नः क्रियताम् ।'

शोकेति । शोकत्राणम्, अरातित्राणमिति च योजना । त्राण=रक्षणम् । अरातिः=शत्रुः । प्रीतेः=स्नेहस्य, विश्रम्भस्य=विश्वासस्य च,—भाजनम्=आस्पदम् । आश्रयः । केन=ब्रह्मणा । सृष्टम्=उत्पादितम् । केनेति प्रश्ने वा ॥२३२॥

मित्रमिति । नयनयोः—प्रीतिरसायनम्=प्रीतिमहौषधम्, स्नेहास्पदं वा । चेतस आनन्दनम्=आह्लादकम् । मित्रेण सहैव सुखस्य दुःखस्य च पात्रम्=आस्पदं, यद्भवेत्—तन्मित्रं लोके दुर्लभमित्यन्वयः । ये च=ये तु । द्रव्यसमृद्धिसमये—द्रव्याभिलाषाकुलाः=धनेच्छवः सुहृदस्ते तु सर्वत्र सुलभा एव । परन्तु तेषां तत्त्वस्य=सौहार्दस्य,—निकषग्रावा=निकषोपलः (कसौटी) । विपत्=विपत्तिरेव । विपत्समये ये पलायन्ते, समृद्धिसमये च ये सन्निहिता भवन्तीदृशाः स्वार्थपरायणाः सुहृदो बाहुल्येन भवन्ति, परं सुखे, दुःखे च सहायभूताः सुहृदस्तु विरला एवेत्याशयः ॥२३३॥

[illegible]=[illegible] । तत्र=सरस्तीरे । गुल्मके=क्षुपे । तथानुष्ठिते=

फिर वह चूहा मन ही मन विचार कर बोला—अहो ! शोक और शत्रुओं से रक्षा करने वाले, प्रेम तथा विश्वास के पात्र 'मित्र' इन दो अक्षररत्नों को किसने बनाया है ? ॥ २३२ ॥

और भी—ऐसा मित्र इस संसार में दुर्लभ है,—जो नेत्रों के लिये आनन्द का पात्र हो, मन को आह्लाद देनेवाला हो, और सुख दुःख में जिसकी पूरी सहानुभूति हो। परन्तु ऐसे मित्र—जो सम्पत्ति में द्रव्य के लोभी हैं, वे तो सब जगह मिलते हैं, परन्तु उन (स्वार्थी और बनावटी मित्रों) की कसौटी (परीक्षा) तो विपत्ति ही है। अर्थात्—विपत्तिकाल में भी जो साथ दे, वही सच्चा मित्र है। और सब तो बनावटी हैं। ॥ २३३ ॥

तावूचतु—'सत्वरं कार्यमुच्यताम्।' हिरण्यको ब्रूते—'चित्राङ्गो जलसमीपं गत्वा मृतमिवात्मानं दर्शयतु। काकश्च तस्योपरि स्थित्वा चञ्च्वा किमपि विलिखतु। नूनमनेन लुब्धकेन तत्र कच्छपं परित्यज्य, मृगमांसार्थिना सत्वरं गन्तव्यम्। ततोऽहं मन्थरस्य बन्धनं छेत्स्यामि। सन्निहिते लुब्धके भवद्भ्यां पलायितव्यम्।'

चित्राङ्ग-लघुपतनकाभ्यां शीघ्रं गत्वा तथानुष्ठिते सति, स व्याधः श्रान्तः, पानीयं पीत्वा, तरोरधस्तादुपविष्टस्तथाविधं मृगमपश्यत्। ततः कर्त्तरिकामादाय,प्रहृष्टमना,मृगान्तिकं चलितः। [1]तत्रान्तरे हिरण्यकेनाऽऽगत्य मन्थरस्य बन्धनं छिन्नम्। स कूर्मः सत्वरं जलाशयं प्रविवेश। स मृग आसन्नं तं व्याधं विलोक्योत्थाय पलायितः। प्रत्यावृत्त्य लुब्धको

पूर्वोक्तप्रकारेण मृगे सरस्तीरे मृतवत्स्थिते सति। श्रान्तः = खिन्नः। तथाविधं = मृतम्। कर्त्तरिकां = छुरिकाम्। (छुरी, कैंची)। आसन्नं = समीपवर्तिनम्।

इस प्रकार बहुत विलाप कर, वह हिरण्यक चूहा लघुपतनक कौवे और चित्राङ्ग मृग से कहने लगा—जब तक यह व्याध वन से बाहर न चला जाय, तभी तक हमलोगों को इस मन्थर (कछुआ) को छुडाने का यत्न करना चाहिये।

तब वे दोनों (कौआ और मृग) बोले—इस समय हमारा जो कर्त्तव्य हो, उसे आप हमको शीघ्र बताइए। हिरण्यक बोला—चित्राङ्ग तो जलाशय के पास जाकर अपने को मरे हुए की तरह दिखलावे, और कौआ उसके ऊपर बैठकर चोंच से उसे खोदे। तब मृग के मांस की इच्छा से यह व्याध अवश्य ही कछुवे को वहीं रखकर मृग के पास जायगा। उसी समय में मन्थर का बन्धन काट डालूँगा। और जब व्याध पास आ जाए तो तुम लोग भी सब भाग जाना।

तब हिरण्यक के कहने से चित्राङ्ग मृग और लघुपतनक कौवे ने वैसा ही किया। उसके बाद वह व्याध थका हुआ पानी पीकर वृक्ष के नीचे बैठा, तो मृग को उस दशा में (मरे हुए तथा कौवे से खाए जाते हुए) देखा। इसके बाद वह उस कछुवे को तालाब के पास रखकर, अपनी छुरी लेकर, प्रसन्नचित्त होकर मृग की ओर चला। इसी बीचमें हिरण्यक चूहे ने आकर मन्थर के बन्धनोंको काट दिया। तब वह कछुआ झट जल में घुस गया, और वह मृग भी भाग गया। लौटकर जब

१. 'अत्रान्तरे' पा०।

यावत्तरुतलमायाति, तावत्कूर्ममपश्यन्नचिन्तयत्—'उचितमेवैतन्ममा-
ऽसमीक्ष्यकारिणः'। यत.—

'यो ध्रुवाणि परित्यज्य, अध्रुवाणि निषेवते।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति, अध्रुवं नष्टमेव हि' ॥२३४॥

ततोऽसौ स्वकर्मवशान्निराशः कटकं प्रविष्टः। मन्थरादयः स
त्यक्ताऽऽपदः, स्वस्थानं गत्वा, यथासुखमास्थिताः ॥ ॐ ॥

अथ राजपुत्रैः साऽऽनन्दमुक्तम्—'सर्वं (मित्रलाभं) श्रुतवन्तः सुखि
यपम्। सिद्धं नः समीहितम्।' अपरमपीदमस्तु-
विष्णुशर्मोवाच-एतावता भवतामभिलषितं सम्पन्नम्।

असमीक्ष्यकारिणः = अविचार्य कार्यं कुर्वतः। एतत् = हस्तगतवस्तुविनाश-
दिकम्।

य इति। ध्रुवाणि = स्थिराणि। अध्रुवाणि = अस्थिराणि। निषेवते = लब्धु
मिच्छति ॥ २३४ ॥

स्वकर्मवशात् = स्वदोषादेव। निराशः = हतमनोरथः। कटकं = ग्रामं, स्वनिवास
प्रदेशं, पर्वतनिम्नप्रदेशं वा। असौ = लुब्धकः। त्यक्तापदः = विपन्मुक्ताः
समीहितं = मनोरथः। सम्पन्नं = सिद्धम्। अभिलषितं = मनोरथः॥

वह व्याध वृक्ष के नीचे आया तो कछुए को भी न देखकर, वह विचारने लगा कि
बिना विचारे ही काम करने वाले मेरे ऐसे मूर्ख को ऐसा ही (हाथ में आयी अ
शिकार का भी हाथ से निकल जाना) फल मिलना उचित ही है।

क्योंकि—जो निश्चित वस्तु को छोड़कर अनिश्चित के पीछे दौड़ता है, उसकी
निश्चित वस्तु भी नष्ट हो जाती है। और अनिश्चित तो अनिश्चित (नष्ट)
है ही ॥ २३४ ॥

इसके बाद वह व्याध अपने भाग्य को धिक्कारता हुआ, निराश होकर, अपने
स्थान पर चला गया। और वे सब मन्थरक आदि भी आपत्ति से छूटकर अपने
स्थानों में जाकर सुखपूर्वक रहने लगे।

इसके बाद वे राजपुत्र बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे—हम लोगों ने
मित्रलाभ तो प्यार से सुन लिया और इसे सुनकर हम लोग बहुत ही प्रसन्न हुए हैं
और इससे हम लोगों का अभीष्ट मनोरथ (मित्रलाभ) भी सिद्ध हो गया।

'मित्रं प्राप्नुत सज्जना, ! जनपदैर्लक्ष्मीः समालम्भ्यतां,
भूपालाः परिपालयन्तु वसुधां शश्वत्स्वधर्मे स्थिताः ।
आस्तां मानसन्तुष्टये सुकृतिनां नीतिर्नवोढेव वः,
कल्याणं कुरुतां जनस्य भगवाँश्चन्द्रार्द्धचूडामणिः' ॥२३५॥

इति श्रीविष्णुशर्मसङ्कलिते हितोपदेशे मित्रलाभो नाम—
प्रथमः कथासंग्रहः ॥१॥

मित्रमिति । जनपदैः=विषयैः । देशैः । समालम्भ्यता = लम्भताम् । वसुधां = पृथिवीम् । शश्वत् = निरन्तरम् । स्वधर्मे = राजधर्मे । सुकृतिनां=विदुषाम् । मानसतुष्टये = मनसो हर्षाय । नवोढेव = मुग्धवधूरिव । वः = युष्माकम् । चन्द्रार्धचूडामणिः=खण्डेन्दुभूषणो भगवान् शिवः । कल्याणं = शुभम् ॥२३५॥

इति श्रीमत्पण्डलमार्तण्ड—षड्शास्त्रवाचस्पति—श्रीरामेश्वरमिश्रात्मजस्य पौत्रेण,
तर्कवागीश—पण्डितप्रकाण्ड—न्यायाचार्य—श्रीशिवनारायणशास्त्रिणो
नेण, न्यायव्याकरणाद्याचार्य-श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिणा विरचितायां,
हितोपदेशाभिनवराजलक्ष्म्या मित्रलाभो नाम प्रथमः कथासङ्ग्रहः ।

तब विष्णुशर्मा बोले—इतने से ही आप लोगों का मनोरथ तो सिद्ध हो ही । । पर यह और भी होवे—

आपलोग सच्चे मित्रों को पाएँ । देश के सभी लोग सुखी होवें । राजा लोग अपने धर्म के अनुसार पृथिवी का पालन करें । और यह नीतिशास्त्र (मित्र-) नवोढा (नवीन) स्त्री के सदृश ही विद्वानों के मन को सन्तुष्ट करे । और ...र्द्धचूडामणि (चन्द्रशेखर) भगवान् शिवजी सदा आप लोगों का कल्याण ... । २३५ ॥

यावत्तरुतलमागाति, तावत्कूर्ममपश्यन्नचिन्तयत्—'उचितमेवैतन्मम ऽसमीक्ष्यकारिणः।' यतः—

'यो ध्रुवाणि परित्यज्य, अध्रुवाणि निषेवते।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति, अध्रुवं नष्टमेव हि' ॥२३४॥

ततोऽसौ स्वकर्मवशान्निराशः कटकं प्रविष्टः। मन्थरादयः सर्वे त्यक्ताऽऽपद, स्वस्थानं गत्वा, यथासुखमास्थिताः ॥ ॥

अथ राजपुत्रैः साऽऽनन्दमुक्तम्—'सर्वे (मित्रलाभं) श्रुतवन्तः सुखिनो वयम्। सिद्धं नः समीहितम्।'

विष्णुशर्मोवाच-एतावता भवतामभिलषितं सम्पन्नम्। अपरमपीदमस्

असमीक्ष्यकारिणः = अविचार्य कार्यं कुर्वतः। एतत् = हस्तगतवस्तुविना दिकम्।

य इति। ध्रुवाणि = स्थिराणि। अध्रुवाणि = अस्थिराणि। निषेवते = इ मिच्छति ॥ २३४ ॥

स्वकर्मवशात् = स्वदोषादेव। निराशः = हतमनोरथः। कटकं = ग्रामं, स्वनिवा प्रदेश, पर्वतनितम्बप्रदेशं वा। असौ = लुब्धकः। त्यक्तापदः = विपद्विमुक्ताः। समीहितं = मनोरथः। सम्पन्नं = सिद्धम्। अभिलषितं = मनोरथः॥

वह व्याध वृक्ष के नीचे आया तो कछुए को भी न देखकर, वह विचारने लगा कि- बिना विचारे ही काम करने वाले मेरे ऐसे मूर्ख को ऐसा ही (हाथ में आयी हुई शिकार का भी हाथ से निकल जाना) फल मिलना उचित ही है।

क्योंकि—जो निश्चित वस्तु को छोड़कर अनिश्चित के पीछे दौड़ता है, उसक निश्चित वस्तु भी नष्ट हो जाती है। और अनिश्चित तो अनिश्चित (नष्ट) है ही ॥ २३४ ॥

इसके बाद वह व्याध अपने भाग्य को धिक्कारता हुआ, निराश होकर, अप स्थान पर चला गया। और वे सब मन्थरक आदि भी आपत्ति से छूटकर अपने स्थानों में आकर सुखपूर्वक रहने लगे।

इसके बाद वे राजपुत्र बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे—हम लोग मित्रलाभ तो आप से सुन लिया और इसे सुनकर हम लोग बहुत ही प्रसन्न हुए और इससे हम लोगों का अभीष्ट मनोरथ (नीतिज्ञान) भी सिद्ध हो गया।

'मित्रं प्राप्नुत सज्जना, ! जनपदैर्लक्ष्मीः समालम्ब्यतां,
भूपालाः परिपालयन्तु वसुधां शश्वत्स्वधर्मे स्थिताः ।
आस्तां मानसतुष्टये सुकृतिनां नीतिर्नवोढेव वः,
कल्याणं कुरुतां जनस्य भगवाँश्चन्द्रार्द्धचूडामणिः' ॥२३५॥

इति श्रीविष्णुशर्मसङ्कलिते हितोपदेशे मित्रलाभो नाम—
प्रथमः कथासंग्रहः ॥१॥

मित्रमिति । जनपदैः=विषयैः । देशैः । समालम्ब्यतां=लभ्यताम् । वसुधां=
[पृथि]वीम् । शश्वत्=निरन्तरम् । स्वधर्मे=राजधर्मे । सुकृतिनां=विदुषाम् ।
[मा]नसतुष्टये=मनसो हर्षाय । नवोढेव=मुग्धवधूरिव । वः=युष्माकम् ।
[चन्]द्रार्धचूडामणिः=खण्डेन्दुभूषणो भगवान् शिवः । कल्याणं=शुभम् ॥२३५॥

[इति] श्रीमद्दमण्डलमार्तण्ड-षट्शास्त्रवाचस्पति-श्रीस्नेहिरामशिशास्त्रिणां पौत्रेण,
तर्कवागीश-पण्डितप्रकाण्ड-न्यायाचार्य-श्रीशिवनारायणशास्त्रिणां
पुत्रेण, न्यायव्याकरणाद्याचार्य-श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिणा विरचितायां,
हितोपदेशाभिनवराजलक्ष्म्यां मित्रलाभो नाम प्रथमः कथासङ्ग्रहः ।

तब विष्णुशर्मा बोले—इतने से ही आप लोगों का मनोरथ तो सिद्ध हो ही
गया । पर यह और भी होवे—

आपलोग सच्चे मित्रों को पाएँ । देश के सभी लोग सुखी होवें । राजा लोग
भी अपने धर्म के अनुसार पृथिवी का पालन करें । और यह नीतिशास्त्र (मित्र-
लाभ) नवोढा (नवीन) स्त्री के सदृश ही विद्वानों के मन को सन्तुष्ट करे । और
चन्द्रार्द्धचूडामणि (चन्द्रशेखर) भगवान् शिवजी सदा आप लोगों का कल्याण
करें ॥ २३५ ॥

ावत्तमनलमा ाति. तावत्कूर्ममपश्यन्नचिन्तयत्—'उचितमेवैतन्मम
ऽनर्मादय रिण । यत —

'यो ध्रुवाणि परित्यज्य, अध्रुवाणि निषेवते ।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति, अध्रुवं नष्टमेव हि' ॥२३४॥

तथोऽसौ ाकर्मवशान्निराश कटकं प्रविष्टः । मन्थरादयः सर्वे
त्यक्तापद , स्वस्थानं गत्वा, यथासुखमास्थिताः ॥ ॥

अथ राजपुत्रैः साऽऽनन्दमुक्तम्—'सर्वं (मित्रलाभं) श्रुतवन्तः सुखि
नयम् । सिद्ध न समीहितम् ।'

विष्णुशर्मोवाच-एतावता भवतामभिलषितं सम्पन्नम् । अपरमपीदम

अनालोच्यकारि = अविचार्यं कार्यं कुर्वतः । एतत् = हस्तगतवस्तुविना
ितम् ।

य इति । ध्रुवाणि = स्थिराणि । अध्रुवाणि = अस्थिराणि । निषेवते = सेवु
निष्टानि ॥ २३४ ॥

स्वकर्मवशात् = स्वदोषादेव । निराश = हतमनोरथः । कटकं = ग्रामं, स्वनिवा
प्रदेशं, पांगनिवासप्रदेशं वा । असौ = लुब्धकः । त्यक्तापदः = विपत्तिमुक्ताः ।
समीहितं = मनोरथः । सम्पन्नं = सिद्धम् । अभिलषितं = मनोरथः ॥

तदनन्तर वृक्ष के नीचे आया तो कछुए को भी न देखकर, यह विचारने लगा कि
बिना विचारे ही काम करने वाले मेरे ऐसे मूर्ख को ऐसा ही (हाथ में आयी!
शिकार का भी हाथ से निकल जाना) फल मिलना उचित ही है।

क्योंकि—जो निश्चित वस्तु को छोड़कर अनिश्चित के पीछे दौड़ता है, उ
निश्चित वस्तु भी नष्ट हो जाती है। और अनिश्चित तो अनिश्चित (न
है ही ॥ २३४ ॥

इसके बाद व्याध अपने भाग्य को कोसता हुआ, निराश होकर, अपने
गाँव को चला गया। और मन्थरक आदि भी आपत्ति से छूटकर अपने
स्थान में आकर सुखपूर्वक रहने लगे।

इसके बाद राजपुत्र बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे—हम लोगों ने
मित्रलाभ को सुनलिया और इसे सुनकर हम लोग बहुत ही प्रसन्न हुए हैं।
और इसी से हम लोगों का अभीष्ट मनोरथ (मित्रलाभ) भी सिद्ध हो गया।

'मित्रं प्राप्नुत सज्जना,! जनपदैर्लक्ष्मीः समालम्भ्यतां,
भूपालाः परिपालयन्तु वसुधां शश्वत्स्वधर्मे स्थिताः।
आस्तां मानसतुष्ट्ये सुकृतिनां नीतिर्नवोढेव वः,
कल्याणं कुरुतां जनस्य भगवाँश्चन्द्रार्द्धचूडामणिः' ॥२३५॥

इति श्रीविष्णुशर्मसङ्कलिते हितोपदेशे मित्रलाभो नाम—
प्रथमः कथासंग्रहः ॥१॥

मित्रमिति। जनपदैः=विषयैः। देशैः। समालम्भ्यता = लभ्यताम्। वसुधां = [पृथि]वीम्। शश्वत् = निरन्तरम्। स्वधर्मे = राजधर्मे। सुकृतिना=विदुषाम्। [मानस]तुष्टये = मनसो हर्षाय। नवोढेव = मुग्धवधूरिव। वः=युष्माकम्। [चन्द्रा]र्धचूडामणिः=खण्डेन्दुभूषणो भगवान् शिवः। कल्याणं=शुभम् ॥२३५॥

। श्रीमत्समण्डलमार्त्तण्ड–षट्शास्त्रवाचस्पति–श्रीस्नेहिरामजिच्छास्त्रिणां पौत्रेण,
तर्कवागीश–पण्डितप्रकाण्ड–न्यायाचार्य–श्रीशिवनारायणशास्त्रिणां
पुत्रेण, न्यायव्याकरणाद्याचार्य-श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिणा विरचितायां,
हितोपदेशाभिनवराजलक्ष्म्यां मित्रलाभो नाम प्रथमः कथासङ्ग्रहः।

तब विष्णुशर्मा बोले—इतने से ही आप लोगों का मनोरथ तो सिद्ध हो ही [ग]या। पर यह और भी होवे—

आपलोग सच्चे मित्रों को पावें। देश के सभी लोग सुखी होवें। राजा लोग [भ]ी अपने धर्म के अनुसार पृथिवी का पालन करें। और यह नीतिशास्त्र (मित्र-[लाभ]) नवोढा (नवीन) स्त्री के सदृश ही विद्वानों के मन को सन्तुष्ट करे। और [च]न्द्रार्द्धचूडामणि (चन्द्रशेखर) भगवान् शिवजी सदा आप लोगों का कल्याण करें ॥ २३५ ॥

अथ सुहृद्भेदः।

अथ राजपुत्रा ऊचुः—'आर्य! मित्रलाभः श्रुतस्तावदस्माभिः। इदानीं सुहृद्भेदं श्रोतुमिच्छामः।' विष्णुशर्मोवाच—'सुहृद्भेदं तावच्छृणुत, [1]यस्यायमाद्यः श्लोकः—

'वर्द्धमानो महान् स्नेहो मृगेन्द्र-वृषयोर्वने।
पिशुनेनाऽतिलुब्धेन जम्बुकेन विनाशितः' ॥ १ ॥

राजपुत्रैरुक्तम्—'कथमेतत्?'। विष्णुशर्मा कथयति—

'अस्ति दक्षिणापथे सुवर्णवती नाम नगरी। तत्र वर्द्धमानो नाम वणिक् निवसति। तस्य प्रचुरेऽपि वित्तेऽपरान्बन्धूनतिसमृद्धान्समीक्ष्य 'पुनरर्थवृद्धिः करणीये'ति मतिर्बभूव। यतः—

अथ = तदनन्तरम्। आर्य = पूज्य!। मित्रलाभः = तन्नामा प्रथमः परिच्छेदः। सुहृद्भेदं = तन्नामकं प्रकरणम्। वर्द्धमानः = उपचीयमानः। मृगेन्द्रः = सिंहः। पिशुनेन = सूचकेन। (चुगलखोर)। अतिलुब्धेन = नितरां लोभाऽऽक्रान्तेन ॥१॥

दक्षिणापथे = दक्षिणदिशि। तस्य = वर्द्धमानस्य। प्रचुरे = विपुले। पुनः इत्यन्वयिका ॥

इसके अनन्तर उन राजपुत्रों ने कहा—हे आर्य! हम लोगों ने 'मित्र-लाभ' आपसे सुन लिया। अब हम 'सुहृद्भेद' सुनना चाहते हैं। विष्णुशर्मा बोले—अच्छा, आप लोग अब 'सुहृद्भेद' सुनिये। जिसका पहला श्लोक यह है—

किसी वन में बैल और सिंह के बढ़े हुए महान् स्नेह को एक लोभी चुगलखोर सियार ने नष्ट कर दिया था ॥ १ ॥

राजपुत्रों ने कहा—यह कथा कैसे है?। विष्णुशर्मा बोले—

दक्षिण दिशा में सुवर्णवती नाम की एक नगरी है। वहाँ पर वर्धमान नाम का एक धनी सेठ रहता था। उसके पास बहुत धन रहने पर भी, अपने अन्य बन्धुओं को अधिक धनी देखकर, उसको भी अपने धन को बढ़ाने की इच्छा हुई

१. 'यस्यायम्' पा०।

'अधोऽधः पश्यतः कस्य महिमा नोपचीयते ।
उपर्युपरि पश्यन्तः 'सर्व एव दरिद्रति' ॥ २ ॥

अपरञ्च—

'ब्रह्महाऽपि नरः पूज्यो यस्याऽस्ति विपुलं धनम् ।
शशिनस्तुल्यवंशोऽपि निर्धनः परिभूयते' ॥३ ॥

अन्यच्च—

'अव्यवसायिनमलसं, दैवपरं, साहसाच्च परिहीणम् ।
प्रमदेव हि वृद्धपतिं, नेच्छत्युपगूहितुं लक्ष्मीः' ॥ ४ ॥

अध इति । अधोऽधः पश्यतः=आत्मनो दोषान् विमृश्य, दूरीकुर्वतः, नीचदर्शिनः, विनीतस्य च । उपचीयते=वर्द्धते । उपर्युपरि पश्यन्तः=उत्तानदृशः, गर्वोद्धुराः, धनगर्विताश्च । दरिद्रति=दरिद्रा भवन्ति ॥ २ ॥

ब्रह्महा=ब्राह्मणघातकोऽपि, लोके पूज्यः=पूजनीयो भवति । शशिन इति । चन्द्रविशदे वंशे प्रसूतोऽपीत्यर्थः। निर्धनः=दरिद्रश्चेत्। परिभूयते=लोके सर्वैरेव तिरस्क्रियते ॥ ३ ॥

अव्यवसायिनं=व्यवसायशून्यम् । अलसम्=आलस्योपहतम् । दैवपरम्=दृष्टवादिनम् । परिहीणं=रहितम् । प्रमदेव=युवतिर्वृद्धपतिमिव । उपगूहितुं=समाश्रयितुम्, आलिङ्गितुञ्च ॥ ४ ॥

और ऊपर की ओर ही देखने वाले (अभिमानी, बड़प्पन के घमण्ड में रहने वाले) किन मनुष्यों की महिमा नहीं घटती है ?। अर्थात् जो घमण्डी होते हैं, उनकी अमर्यादा ही सर्वत्र होती है। वे सदा दरिद्र बने रहते हैं। और नीचे की ओर देखने वाले (विनयावनत,सुशील) मनुष्यों की महिमा (प्रतिष्ठा) सदा बढ़ती ही रहती है ॥२॥

और भी—ब्रह्महत्या करने वाला भी मनुष्य यदि धनी हो तो वह भी जगत् में पूज्य ही होता है। परन्तु चन्द्रमा की तरह उज्ज्वलवंश में उत्पन्न होने वाला भी मनुष्य यदि दरिद्र हो तो उसका भी लोक में अनादर ही होता है ॥ ३ ॥

और भी—उद्योग(व्यवसाय)से रहित, आलसी, भाग्य को प्रधान मानने वाले, साहस हीन पुरुष को लक्ष्मी उसी तरह नहीं चाहती है, जैसे वृद्ध पति को युवती (जवान) स्त्री नहीं चाहती है ॥ ४ ॥

१ 'पश्यन्तो वद के न दरिद्रति' पा० ।

अथ सुहृद्भेदः ।

अथ राजपुत्रा ऊचुः—'आर्य ! मित्रलाभः श्रुतस्तावदस्माभिः । इदानीं सुहृद्भेदं श्रोतुमिच्छामः ।' विष्णुशर्मोवाच—'सुहृद्भेदं तावच्छृणुत, यस्यायमाद्यः श्लोकः—

'वर्द्धमानो महान् स्नेहो मृगेन्द्र-वृषयोर्वने ।
पिशुनेनाऽतिलुब्धेन जम्बुकेन विनाशितः' ॥ १ ॥

राजपुत्रैरुक्तम्—'कथमेतत् ?' । विष्णुशर्मा कथयति—

'अस्ति दक्षिणापथे सुवर्णवती नाम नगरी । तत्र वर्द्धमानो नाम वणिक् निवसति । यस्य प्रचुरेऽपि वित्तेऽपरान्बन्धूनतिसमृद्धान्समीक्ष्य 'पुनरर्थवृद्धिः करणीये'ति मतिर्बभूव । यतः—

अथ = तदनन्तरम् । आर्य = पूज्य ! । मित्रलाभः = तन्नामा प्रथमः परिच्छेदः । सुहृद्भेदं = तन्नामकं प्रकरणम् । वर्द्धमानः = उपचीयमानः । मृगेन्द्रः = सिं पिशुनेन = सूचकेन । (चुगलखोर)। अतिलुब्धेन = नितरां लोभाऽऽविष्टेन ॥ दक्षिणापथे = दक्षिणदिशि । यस्य = वर्द्धमानस्य । प्रचुरे = विपुले । पुन इत्येतत्कारिका ॥

इसके अनन्तर उन राजपुत्रों ने कहा—हे आर्य ! हम लोगों ने 'मित्रलाभ' तो आपसे सुन लिया । अब हम 'सुहृद्भेद' सुनना चाहते हैं । 'विष्णुशर्मा बोले— अच्छा, आरम्भ अब 'सुहृद्भेद' सुनिये । जिसका पहला श्लोक यह है—

किसी वन में बैल और सिंह के बढ़ते हुए महान् स्नेह को एक लोभी चुग़ल और सियार ने नष्ट कर दिया था ॥ १ ॥

राजपुत्रों ने कहा—यह कथा कैसे है ? । विष्णुशर्मा बोले—

दक्षिण दिशा में सुवर्णवती नाम की एक नगरी है । वहाँ पर वर्धमान ना का एक धनी सेठ रहता था । उसके पास बहुत धन रहने पर भी, अपने बन्धुओं को अधिक धनी देखकर, उसको भी अपने धन को बढ़ाने की इच्छा हु

१. 'वर्धमानः' पा० ।

'अधोऽधः पश्यतः कस्य महिमा नोपचीयते ।
उपर्युपरि पश्यन्तः 'सर्व एव दरिद्रति' ॥ २ ॥

अपरञ्च—

'ब्रह्महाऽपि नरः पूज्यो यस्याऽस्ति विपुलं धनम् ।
शशिनस्तुल्यवंशोऽपि निर्धनः परिभूयते' ॥ ३ ॥

अन्यच्च—

'अव्यवसायिनमलसं, दैवपरं, साहसाच्च परिहीणम् ।
प्रमदेव हि वृद्धपतिं, नेच्छत्युपगूहितुं लक्ष्मीः' ॥ ४ ॥

अध इति । अधोऽधः पश्यतः=आत्मनो दोषान् निभृत्य, दूरीकुर्वत;
मीदयकारिणः, विनीतस्य च । उपचीयते=वर्द्धते । उपर्युपरि पश्यन्तः=उत्तानदृशः,
पौद्धुराः, धनगर्विताश्च । दरिद्रति=दरिद्रा भवन्ति ॥ २ ॥

ब्रह्महा=ब्राह्मणघातकोऽपि, लोके पूज्यः=पूजनीयो भवति । शशिन इति ।
न्द्रवदितदे वंशे प्रसूतोऽपीत्यर्थः । निर्धनः=दरिद्रश्चेत् । परिभूयते=लोके सर्वैरेव
रस्क्रियते ॥ ३ ॥

अव्यवसायिनं=व्यवसायरहितम् । अलसम्=आलस्योपहतम् । दैवपरम्=
उत्साहिनम् । परिहीणं=रहितम् । प्रमदेव=युवतिर्वृद्धपतिमिव । उपगूहितुं=
ाभयितुम्, आलिङ्गितुञ्च ॥ ४ ॥

और ऊपर की ओर ही देखने वाले (अभिमानी, बड़प्पन के घमण्ड में रहने
) जिन मनुष्यों की महिमा नहीं घटती है ?। अर्थात् जो घमण्डी होते हैं, उनकी
तिष्ठा ही क्षीण होती है । ये सदा दरिद्र बने रहते हैं। और नीचे की ओर देखने वाले
नम्र,सुशील) मनुष्यों की महिमा (प्रतिष्ठा) सदा बढ़ती ही रहती है ॥२॥

और भी—ब्रह्महत्या करने वाला भी मनुष्य यदि धनी हो तो वह भी जगत् में
ही होता है । परन्तु चन्द्रमा की तरह उज्ज्वलवंश में उत्पन्न होने वाला
नुष्य यदि दरिद्र हो तो उसका भी लोक में अनादर ही होता है ॥ ३ ॥

और भी—उद्योग(व्यवसाय)से रहित, आलसी, भाग्य को प्रधान मानने वाले,
हीन पुरुष को लक्ष्मी उसी तरह नहीं चाहती है, जैसे वृद्ध पति को
(जवान) स्त्री नहीं चाहती है ॥ ४ ॥

१ 'पश्यन्तो वद के न दरिद्रति' पा० ।

अथ सुहृद्भेदः ।

अथ राजपुत्रा ऊचुः—'आर्य ! मित्रलाभःश्रुतस्तावदस्माभिः । इदानीं सुहृद्भेदं श्रोतुमिच्छामः । विष्णुशर्मोवाच—'सुहृद्भेदं तावच्छृणुत, यस्याऽयमाद्यः श्लोकः—

'वर्द्धमानो महान् स्नेहो मृगेन्द्र-वृषयोर्वने ।
पिशुनेनाऽतिलुब्धेन जम्बुकेन विनाशितः' ॥ १ ॥

राजपुत्रैरुक्तम्—कथमेतत् ?' । विष्णुशर्मा कथयति—

'अस्ति दक्षिणापथे सुवर्णवती नाम नगरी । तत्र वर्द्धमानो ना[म] वणिक् निवसति । यस्य प्रचुरेऽपि वित्तेऽपरान्बन्धूनतिसमृद्धान्समीक्ष्य 'पुनरर्थवृद्धिः करणीये'ति मतिर्बभूव । यतः—

अथ = तदनन्तरम् । आर्य = पूज्य ! । मित्रलाभः = नामा प्रथमः परिच्छेदः सुहृद्भेदं = तन्नामकं प्रकरणम् । वर्द्धमानः = उपचीयमानः । मृगेन्द्रः = सिंहः । पिशुनेन = सूचकेन । (चुगलखोर) । अतिलुब्धेन = नितरां लोभाऽऽविष्टेन ॥१॥
दक्षिणापथे = दक्षिणदिशि । तस्य = वर्द्धमानस्य । प्रचुरे = विपुले । पुनः = द्योतनार्थिका ॥

इसके अनन्तर उन राजपुत्रों ने कहा—हे आर्य ! हम लोगों ने 'मित्र-लाभ' को आपसे सुन लिया । अब हम 'सुहृद्भेद' सुनना चाहते हैं । 'विष्णुशर्मा बोले—अच्छा, आप लोग अब 'सुहृद्भेद' सुनिये । जिसका पहला श्लोक यह है—

किसी वन में बैल और सिंह के बढ़ते हुए महान् स्नेह को एक लोभी चुगुल-खोर सियार ने नष्ट कर दिया था ॥ १ ॥

राजपुत्रों ने कहा—यह कथा कैसे है ? । विष्णुशर्मा बोले—

दक्षिण दिशा में सुवर्णवती नाम की एक नगरी है । वहाँ पर वर्धमान नाम का एक धनी सेठ रहता था । उसके पास बहुत धन रहने पर भी, अपने अन्य-बन्धुओं को अधिक धनी देखकर, उसको भी अपने धन को बढ़ाने की इच्छा हुई ।

१. '[illegible]' पा० ।

'अधोऽधः पश्यतः कस्य महिमा नोपचीयते ।
उपर्युपरि पश्यन्तः [1]'सर्व एव दरिद्रति' ॥ २ ॥

अपरञ्च—

'ब्रह्महाऽपि नरः पूज्यो यस्याऽस्ति विपुलं धनम् ।
शशिनस्तुल्यवंशोऽपि निर्धनः परिभूयते' ॥३ ॥

अन्यच्च—

'अव्यवसायिनमलसं, दैवपरं, साहसाच्च परिहीणम् ।
प्रमदेव हि वृद्धपतिं, नेच्छत्युपगूहितुं लक्ष्मीः' ॥ ४ ॥

अध इति । अधोऽधः पश्यतः=आत्मनो दोषान् निमृश्य, दूरीकुर्वतः; धर्मोद्धारकारिणः, विनीतस्य च । उपचीयते=वर्द्धते । उपर्युपरि पश्यन्तः=उत्तानदृशः, दर्पोद्धुराः, धनगर्विताश्च । दरिद्रति=दरिद्रा भवन्ति ॥ २ ॥

ब्रह्महा=ब्राह्मणघातकोऽपि, लोके पूज्यः=पूजनीयो भवति । शशिन इति । चन्द्रवंशीयदे वंशे प्रसूतोऽपीत्यर्थः । निर्धनः=दरिद्रश्चेत् । परिभूयते=लोके सर्वैरेव तिरस्क्रियते ॥ ३ ॥

अव्यवसायिनं=व्यवसायशून्यम् । अलसम्=आलस्योपहतम् । दैवपरम्=अदृष्टवादिनम् । परिहीणं=रहितम् । प्रमदेव=युवतिर्वृद्धपतिमिव । उपगूहितुं=समाश्रयितुम्, आलिङ्गितुञ्च ॥ ४ ॥

और ऊपर की ओर ही देखने वाले (अभिमानी, बड़प्पन के घमण्ड में रहने वाले) किन मनुष्यों की महिमा नहीं घटती है ?। अर्थात् जो घमण्डी होते हैं, उनकी अप्रतिष्ठा ही सर्वत्र होती है । वे सदा दरिद्र बने रहते हैं । और नीचे की ओर देखने वाले (विनयसम्पन्न,सुशील) मनुष्यों की महिमा (प्रतिष्ठा) सदा बढ़ती ही रहती है ॥२॥

और भी—ब्रह्महत्या करने वाला भी मनुष्य यदि धनी हो तो वह भी जगत् में पूज्य ही होता है । परन्तु चन्द्रमा की तरह उच्चकुल में उत्पन्न होने वाला भी मनुष्य यदि दरिद्र हो तो उसका भी लोक में अनादर ही होता है ॥ ३ ॥

और भी—उद्योग(व्यवसाय)से रहित, आलसी, भाग्य को प्रधान मानने वाले, साहस हीन पुरुष को लक्ष्मी उसी तरह नहीं चाहती है, जैसे वृद्ध पति को युवती (जवान) स्त्री नहीं चाहती है ॥ ४ ॥

---

१ 'पश्यन्तो वद के न दरिद्रति' पा० ।

किञ्च—

'आलस्यं, स्त्रीसेवा, सरोगता, जन्मभूमिवात्सल्यम्।
सन्तोषो, भीरुत्वं, षड् व्याघाता महत्त्वस्य' ॥ ५ ॥

यतः—

'सम्पदा सुस्थिरंमन्यो भवति स्वल्पयाऽपि यः।
कृतकृत्यो विधिर्मन्ये न वर्द्धयति तस्य ताम्' ॥ ६ ॥

अपरञ्च—

'निरुत्साहं, निरानन्दं, निर्वीर्यमरिनन्दनम्।
मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत्पुत्रमीदृशम्' ॥ ७ ॥

तथा चोक्तम्—

'अलब्धं चैव लिप्सेत, लब्धं [1]रक्षेदवक्षयात्।
रक्षितं वर्द्धयेत्सम्यग्वृद्धं तीर्थेषु निक्षिपेत्' ॥ ८ ॥

स्त्रीसेवा=स्त्रीसेवनम्। जन्मभूमिवात्सल्यं=जन्मभूमिस्नेहः, [illegible]। व्याघाताः=अन्तरायाः ॥ ५ ॥

सम्पदेति। स्वल्पयापि सम्पदा य आत्मानं सुस्थिरं मनुते' तस्य पुंसो—विधिर्भाग्यमपि—कृतकृत्यः सन्, मन्ये तस्य सम्पदं न वर्द्धयति। स्वल्पेन तुष्टस्य सम्पत्तिर्न वर्द्धत इत्याशयः ॥ ६ ॥

अरिनन्दनं=शत्रुहर्षदं, सीमन्तिनी=नारी। ईदृशं=निरुत्साहं, निर्वीर्यं ॥ ७ ॥

अलब्धं=अप्राप्तम्। अवक्षयात्=नाशात्। 'अवेक्षया' इति पाठे—सम्यग्रक्षणावेक्षणेन रक्षेदित्यर्थः। तीर्थेषु=सत्पात्रेषु, देवेषु, धनवृद्धिकरेषु स्थानेषु.

और भी—आलस्य, स्त्री सेवा, (स्त्री में आसक्ति), रोग, जन्मभूमि का प्रेम, सन्तोष, डर, ये छः बातें महत्त्व की और उन्नति की बाधक हैं ॥५॥

क्योंकि—जो मनुष्य थोड़ी भी सम्पत्ति पाकर ही अपने को सुस्थिर समझने लगता है, उसकी उस सम्पत्ति को दैव (भाग्य) भी, अपने को कृतकृत्य मानकर, नहीं बढ़ाता है, —ऐसा मैं समझता हूँ ॥ ६ ॥

और भी—कोई भी स्त्री (नारी) उत्साह हीन, आनन्द रहित, पराक्रम हीन और शत्रुओं को आनन्द देनेवाले ऐसे निर्बल पुत्र को न उत्पन्न करे ॥ ७ ॥

ऐसा नीति में कहा भी है—अप्राप्त वस्तु (धन) की इच्छा करनी चाहिये,

१ 'रक्षेदवेक्षया' पा०।

यतोऽप्राप्यमिच्छतार्थयोगादर्थस्य प्राप्तिरेव । लब्धस्याप्यरक्षितस्य निधेरपि स्वयं विनाशः । अपि च अवर्द्धमानश्चार्थः काले स्वल्पव्ययोऽञ्जनवत्क्षयमेति । अनुपभुज्यमानश्च निष्प्रयोजन एव सः ।
तथा चोक्तम्—

'धनेन किं, यो न ददाति, नाऽश्नुते,
बलेन किं, यश्च रिपून्न बाधते ।
श्रुतेन किं, यो न च धर्ममाचरेत्,
किमात्मना, यो न जितेन्द्रियो भवेत्' ॥ ९ ॥

यज्ञादिषु इति वा । 'तीर्थं शास्त्राऽध्वरक्षेत्रोपायोपाध्यायमन्त्रिषु, योनौ, जलावतारे च' इति विश्वः ॥ ८ ॥

अर्थयोगात्=धनसम्बन्धात् । अर्थस्य=धनस्य । निधेरपि=शेवधेरपि । अपरिमितस्यापि वित्तस्य । अवर्द्धमानश्च=रक्षितोऽप्यवर्द्धमानोऽर्थः । काले=किञ्चित्कालान्तरम् । अनुपभुज्यमानः = तत्तदुपभोगस्थानेषु अनुपयुज्यमानः ॥ अश्नुते=उपभुङ्क्ते ॥९॥

अप्राप्त वस्तु (धन) की अच्छी तरह रक्षा करनी चाहिये, और रक्षित वस्तु (धन) को अच्छी तरह बढ़ाना चाहिये, और बढ़े हुए धन को अच्छे २ कार्यों में लगाना चाहिये ॥८॥

क्योंकि—जिस वस्तु को मनुष्य चाहता है, वह वस्तु (धन आदि) उद्योग आदि से और व्यापार में धन लगाने से ही मिलती है । और मिले हुये, कुबेर के भण्डार के समान अनन्त धन की भी, यदि रक्षा न की जाय तो वह नष्ट ही हो जाता है । और यदि वह धन बढ़ाया न जाय तो थोड़ा २ खर्चने पर भी समय पाकर वह अञ्जन (सुर्मे) की तरह ही धीरे २ नष्ट ही हो जाता है । और यदि वह धन अच्छे कार्यों में न लगाया जाय तो फिर वह व्यर्थ ही है । अतः धन की रक्षा करनी चाहिए और उसे अच्छे २ कार्यों में और व्यापार आदि में लगाना चाहिए ।

और किसी ने कहा भी है—उस प्राणी के धन से क्या लाभ है, जो न किसी को देता है, और न उसे भोगता है । और उस प्राणी का बल भी किस काम का है, जो शत्रुओं को नहीं दबाता है । और उस आदमी के पढ़ने से भी क्या लाभ है, जो धर्म का आचरण नहीं करता है, और उस मनुष्य के आत्मज्ञान से भी क्या लाभ है, जो जितेन्द्रिय नहीं है ॥ ९ ॥

यतः—

'जलबिन्दुनिपातेन क्रमशः पूर्यते घटः ।
स हेतुः सर्वविद्यानां, धर्मस्य च, धनस्य च' ॥ १० ॥
'दानोपभोगरहिता दिवसा यस्य यान्ति वै ।
स कर्मकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति' ॥ ११ ॥

—इति सञ्चिन्त्य नन्दक-सञ्जीवकनामानौ वृषभौ धुरि नियोज्य, शकटं नानाविधद्रव्यपूर्णं कृत्वा, वाणिज्येन गतः काश्मीरं प्रति ।

अन्यच्च—

'अञ्जनस्य क्षयं दृष्ट्वा, वल्मीकस्य च सञ्चयम् ।
अवन्ध्यं दिवसं कुर्याद्दानाध्ययनकर्मभिः ॥ १२ ॥

जलेति । जलस्य बिन्दूनां निपातेनाऽपि यथा घटः क्रमशः पूर्णो भवति, तथैव विद्या धर्म-धनानि क्रमशः सञ्चितानि पूर्णतामावहन्ति । सः = तादृशो घटः हेतुः = निदर्शनम् ॥ १० ॥ ११ ॥

अञ्जनं = नेत्राञ्जनम् (सुर्मा) । वल्मीकस्य = वामलूरस्य । (दीमकों का घर) दानाध्ययनकर्मभिः—अवन्ध्यम् = सफलम् । 'कर्मसु' इति पाठान्तरम् ॥ १२

क्योंकि—क्रमशः जल के बूँदों के गिरने से भी घड़ा भर जाता है, वही घट (उदाहरण) सब विद्याओं का, धर्म का, तथा धन का भी है । अर्थात् विद्या, धर्म और धन ये सब थोड़ा २ इकट्ठा करने पर भी कुछ दिनों में बहुत हो जाते हैं ॥१०॥

और—दान और भोग के बिना जिसके दिन बीतते हैं, वह लोहार की भाथी की तरह साँस लेता हुआ भी, मरे हुए के ही समान है ॥ ११ ॥

और भी कहा भी है—अञ्जन का थोड़ा २ नाश देख कर, और वल्मीक (दीमकों के ढूहे) का सञ्चय देख कर, दान और अध्ययन तथा उद्योग-व्यापार आदि कर्मों से दिन को सफल करना चाहिए । अर्थात् अञ्जन बहुत कम खर्च होने पर भी वह धीरे धीरे खत्म ही हो जाता है, और वल्मीक में थोड़ी २ मिट्टी इकट्ठा होते २ वह एक बड़ा ढूहा बन जाता है, उसी प्रकार थोड़ा २ दान देते रहने पर भी वह बहुत अधिक हो जाता है ॥ १२ ॥

यतः—

'कोऽतिभारः समर्थानां ?, किं दूरं व्यवसायिनाम् ।
को विदेशः सविद्यानां, कः परः प्रियवादिनाम् ?' ॥१३॥

अथ गच्छतस्तस्य सुदुर्गनाम्नि महारण्ये सञ्जीवको भग्नजानुर्निपतितः । तमालोक्य वर्द्धमानोऽचिन्तयत्—

'करोतु नाम नीतिज्ञो व्यवसायमितस्ततः ।
फलं पुनस्तदेवाऽस्य यद्विधेर्मनसि स्थितम्' ॥ १४ ॥

किन्तु—

'विस्मयः सर्वथा हेयः प्रत्यूहः सर्वकर्मणाम् ।
तस्माद्विस्मयमुत्सृज्य साध्ये सिद्धिर्विधीयताम्' ॥ १५ ॥

व्यवसायिनाम् = उद्योगशीलानाम् । सविद्यानां = पण्डितानाम् । प्रियवादिनां = मधुरभाषिणाम् ॥ १३ ॥

तस्य = वर्द्धमानस्य । भग्नजानुः = त्रुटितोरुपर्वा ॥ नीतिज्ञः = व्यवहारपटुः । व्यवसायं = पराक्रमम् । उद्योगम् । पुनः = किन्तु । विधेः = ब्रह्मणः ॥ १४ ॥

विस्मय इति । विस्मयः = किङ्कर्त्तव्यविमूढता, व्याकुलत्वञ्च । (घबड़ाहट) । प्रत्यूहः = विघ्नः । साध्ये = कर्त्तव्ये कर्मणि । सिद्धिः = फलावाप्तिः । विधीयतां = सम्पाद्यताम् ॥ १५ ॥

ऐसा विचार कर वह वर्धमान, सञ्जीवक और नन्दक नाम के दो उत्तम बैलों को गाड़ी में जोत कर, और गाड़ी में नाना प्रकार की व्यापार की चीजें भर कर, व्यापार के लिये काश्मीर की ओर चल पड़ा ।

क्योंकि—समर्थ पुरुषों के लिये कौन कार्य असाध्य और भारी है, व्यवसायी और उद्योगी (कर्मठ) पुरुषों के लिये कौन स्थान दूर है ?। विद्वानों के लिये कौन विदेश है ?। मीठा वचन बोलने वालों का कौन पराया है ?। अर्थात् मधुर भाषण करने वाले के सभी अपने हो जाते हैं ॥ १३ ॥

इसके बाद जाते २ सञ्जीवक बैल का सुदुर्ग नाम के वन में एक पैर टूट गया और वह गिर पड़ा । यह देख कर वह वर्धमान वणिक् विचार करने लगा—

नीतिज्ञ पुरुष चाहे जितना इधर उधर उद्योग करे, परन्तु फल वही होगा जो विधाता के मन में होगा । अर्थात् जो भाग्य में लिखा है, वही होता है ॥ १४ ॥

परन्तु—विस्मय (घबड़ाना, किङ्कर्त्तव्य विमूढ होना) सब कार्यों का विना-

—इति सञ्चिन्त्य मथुरानगरं तत्र परित्यज्य, वर्द्धमानः पुनः स्वयं धर्मपुरं नाम नगरं गत्वा, महाकायमन्यं वृषभमेकं समानीय, धुरि नियोज्य चलितः । तत्र सञ्जीवकोऽपि कथञ्चिदपि खुरत्रये भरं कृत्वोत्थितः । यतः—

'निमग्नस्य पयोराशौ, पर्वतात्पतितस्य च ।
तक्षकेणापि दष्टस्य, आयुर्मर्माणि रक्षति' ॥ १६ ॥

'नाकाले म्रियते जन्तुर्विद्धः शरशतैरपि ।
कुशाग्रेणैव संस्पृष्टः प्राप्तकालो न जीवति' ॥ १७ ॥

'अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं,
सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति ।

जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः,
कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न जीवति' ॥ १८ ॥

ततो दिनेषु गच्छत्सु सञ्जीवकः स्वेच्छाऽऽहारविहारं कृत्वाऽरण्यं भ्राम्यन्हृष्टपुष्टाङ्गो बलवन्ननाद । तस्मिन्वने पिङ्गलकनामा सिंहः स्वभुजोपार्जितराज्यसुखमनुभवन्निवसति । तथा चोक्तम्—

'नाऽभिषेको न संस्कारः सिंहस्य क्रियते मृगैः ।
विक्रमार्जितराज्यस्य स्वयमेव मृगेन्द्रता' ॥ १९ ॥

स चैकदा पिपासाऽऽकुलितः, पानीयं पातुं यमुनाकच्छमगच्छत् ।

कृतसर्गः ॥ १७ ॥ दैवरक्षित=भाग्यरक्षितम् ॥ १८ ॥

हृष्टपुष्टाङ्गः=हृष्टो, बलवद्वपुश्च सन् । बलवन्ननाद=महता शब्देन । उच्चैःस्वरात् ।

ननाद=जगर्ज । स्वभुजोपार्जितराज्यः=स्वपराक्रमार्जितवनराजीराज्यः । 'स्वभुजोपार्जितराज्यसुख'मिति क्वचित्पाठः । नेति । अभिषेकः=राज्याभिषेकः । संस्कारः=चौपादिगुणादिसम्बन्धः । विक्रमार्जितराज्यस्य=स्वभुजोपार्जितराज्यस्य । मृगेन्द्रता=मृगाधिपत्यम् ॥ सिंहस्य हि मृगेन्द्रत्वं स्वाभाविकम् । 'सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यो हर्यक्षः केसरी हरिः' इत्यमरोक्तेः ॥ १९ ॥

सच=सिंहश्च । पिपासाकुलितः=तृषार्दितः । पानीयं—जलम् । यमुनाकच्छं=यमुनातटप्रदेशम् । 'जलप्रायमनूपं स्यात् पुंसि कच्छस्तथाविधः' इत्यमरः ।

वन में छोड़ दिया गया अनाथ बालक भी कोई जी जाता है। और घर में अनेक उद्योग करने पर भी कोई नहीं जीता है ॥ १८ ॥

इस प्रकार कुछ दिन बीतने पर वह सञ्जीवक यथेच्छ आहार-विहार करके हृष्ट पुष्ट हो गया। और वन में घूमता हुआ वह एक दिन जोर से चिल्लाने लगा। उसी वन में पिङ्गलक नाम का एक सिंह अपने भुजबल से पैदा किए राज्य के सुख का अनुभव करता हुआ रहता था। किसी ने कहा भी है—

मृग—न तो सिंह का अभिषेक ही करते हैं, और न वे संस्कार ही करते हैं। किन्तु सिंह तो अपने पराक्रम से ही उनका राज्य करता है, और स्वयं अपने पराक्रम से ही 'मृगेन्द्र' कहलाता है ॥ १९ ॥

एक दिन वह सिंह प्यास से व्याकुल होकर जल पीने के लिये यमुनाजी के तट

तेन च तत्र सिंहेनाऽननुभूतपूर्वमकालघनगर्जितमिव सञ्जीवकनर्दितमश्रावि। तच्छ्रुत्वा पानीयमपीत्वा, सचकितः परावृत्य, स्वस्थानमागत्य, 'किमिद'मित्यालोचयन्तूष्णीं स्थितः।

स च तथाविधः करटक-दमनकाभ्यामस्य मन्त्रिपुत्राभ्यां शृगालाभ्यां दृष्टः।

तं तथाविधं दृष्ट्वा दमनकः करटकमाह—'सखे करटक! किमित्ययमुदकार्थी स्वामी पानीयमपीत्वा सचकितो मन्द-मन्दमवतिष्ठते?।

करटको ब्रूते-'मित्र दमनक! अस्मन्मतेनाऽस्य सेवैव न क्रियते यदि तथा भवति, तर्हि किमनेन स्वामिचेष्टानिरूपणेनाऽस्माकम्? यतोऽनेन राज्ञा विनाऽपराधेन चिरमवधीरिताभ्यामावाभ्यां महद्दुःखमनुभूतम्।

'सेवया धनमिच्छद्भिः सेवकैः पश्य यत्कृतम् ।
स्वातन्त्र्यं यच्छरीरस्य मूढैस्तदपि हारितम्' ॥ २० ॥

अपरञ्च—
'शीतवाताऽऽतपक्लेशान् सहन्ते यान् पराऽऽश्रिताः ।
तदंशेनाऽपि मेधावी तपस्तप्त्वा सुखी भवेत्' ॥ २१ ॥

अन्यच्च—
'एतावज्जन्मसाफल्यं यदनायत्तवृत्तिता ।
ये पराधीनतां यातास्ते वै जीवन्ति !, के मृताः' ? ॥ २२ ॥

अपरञ्च—
'एहि' 'गच्छ' 'पतोत्तिष्ठ' 'वद' 'मौनं समाचर' ।
एवमाशाग्रहग्रस्तैः क्रीडन्ति धनिनोऽर्थिभिः' ॥ २३ ॥

वकैः=भृत्यैः । 'यत्कृत तत्पश्य'इत्यन्वयः । किं तत्कृतमत आह—स्वातन्त्र्यमिति । ढैः=मूर्खैः । हारितं=विनाशितम् ॥ २० ॥

शीतेति । यान्—शीतवायुघर्मादिजान् क्लेशान्, पराश्रिताः=पराधीनाः, ाम्यधीनाः, भृत्याः । तदंशेनाऽपि=तद्दुःखांशेनापि । मेधावी=विद्वान् ॥ २१ ॥

एतावत्=एतावदेव । यत् अनायत्तवृत्तिता=अपराधीनवृत्तिता । स्वाधीनजीविकम् । स्वातन्त्र्यमिति यावत् । ये पराधीनास्तेऽपि यदि जीवन्ति, तर्हि वद मृताः के ? । परतन्त्रास्ते एव मृता इत्यर्थः ॥ २२ ॥

एहि=आयाहि । गच्छ=दूरमपसर । याहि । पत=नीचैस्तिष्ठ, उत्तिष्ठ=उत्थितो

दूसरे की सेवा से धन कमाने की इच्छा रखने वालों ने देखो कैसा अनर्थ किया । इन मूर्खों ने अपने शरीर की स्वाभाविक स्वतन्त्रता को भी खो दिया है ॥ २० ॥

और भी देखो—पराधीन लोग जितना—शीत, वायु और घाम से क्लेश सहते , बुद्धिमान् मनुष्य उससे आधा भी दुःख सहकर तपस्या करके सदा के लिए ो हो सकता है ॥ २१ ॥

और भी—जीविका का स्वाधीन होना ही जन्म की सफलता है । यदि पराधीन ुष्य भी जीता है, तो फिर मरा कौन कहा जायगा ? ॥ २२ ॥

और भी—धनी लोग आशा रूप मद से मत्त अपने याचकों के साथ

किञ्च—

> 'अबुधैरर्थलाभाय पण्यस्त्रीभिरिव स्वयम् ।
> आत्मा संस्कृत्य-संस्कृत्य परोपकरणीकृतः' ॥ २४ ॥

किञ्च—

> 'या प्रकृत्यैव चपला, निपतत्यशुचावपि ।
> स्वामिनो बहु मन्यन्ते दृष्टिं तामपि सेवकाः' ! ॥२५॥

मा । वद=कथय । मौनं समाचर=तूष्णीमास्व । (चुप रहो) । एवम्= इत्थंरीत्या । आशाग्रहग्रस्तैः=आशारूपग्रहपीडितैरिव । अर्थिभिः=आशा- [illegible] सह ॥ २३ ॥

अबुधैः=मूर्खैः । पण्यस्त्रीभिरिव=वाराङ्गनाभिरिव । आत्मा=शरीरम् । आत्मा च । संस्कृत्य-संस्कृत्य=आभूषणैरिव विद्याविनयादिभिर्नानागुणैः पुनः पुनः संस्कारं कृत्वा । परोपकरणीकृतः=परोपकारतां नीतः । उपकरणं= साधनम् ॥ २४ ॥

सेवेति । या दृष्टिः—प्रकृत्यैव=स्वभावेनैव, चपला=अस्थिरा । किञ्च या दृष्टिः अशुचावपि=अपवित्रेऽपि, निपतति=सन्मुखीभवति । तामपि स्वामिनो दृष्टिं= प्रसादेनोक्तां बहुमन्यन्ते=पर्याप्तेन प्रसादेनापि धन्यमात्मानं मन्यन्ते इति धिक् सेवकानित्यर्थः ॥ २५ ॥

'जाओ,' 'आओ,' 'बैठो,' 'उठो,' 'चुप रहो,' इस प्रकार नाना प्रकार के रोब किया करते हैं ॥ २३ ॥

और भी—मूर्खों (धनियों) ने धन के लाभ वेश्याओं के सदृश अपने शरीर और आत्माको संस्कृत (नाना गुणों से युक्त) करके स्वयं ही दूसरों के काम में लगा दिया है । वेश्या भी अपने शरीर का अनेक शृंगार दूसरों को (अपने ग्राहकों को) प्रसन्न करने के लिये ही करती है ॥ २४ ॥

और भी—जो स्वभाव ही से चञ्चल है, और अपवित्रों पर भी जो पड़ती है, ऐसी स्वामी की दृष्टि (कृपा दृष्टि) को भी सेवक लोग बहुत बड़ी बात समझते हैं ! ॥ २५ ॥

किञ्च—

'मौनान्मूर्खः, प्रवचनपटुर्वातुलो,[1] जल्पको वा,
　　क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाऽभिजातः ।
धृष्टः पार्श्वे वसति नियतं, दूरतश्चाऽप्रगल्भः[2],
　　सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः' ॥२६॥

विशेषतश्च—

'प्रणमत्युन्नतिहेतोर्जीवितहेतोर्विमुञ्चति प्राणान् ।
दुःखीयति सुखहेतोः, को मूढः सेवकादन्यः' ? ॥ २७ ॥

मौनादिति । सेवको यदि मौनमालम्बते, तर्हि मूर्खोऽयं न वस्तुमपि जानातीति स्वामिनो मायन्ते । वाक्पटु—वातुलः = बहुभाषी (बकवादी) । वातुलः=वातूलः, वातरोगी इति केचित् । जल्पकः=जल्पाकः, बहुगर्ह्यवाक् (बड़बड़िया) इति मायन्ते । क्षान्त्या = सहनशक्त्या, युक्तम्—सगुन-भीरुं वदन्ति । यदि न सहते परापराधं, तर्हि—अयं न अभिजातः—न कुलीन इति मायन्ते । पार्श्वे=निकटे, वसति = तिष्ठति चेत्, तदा—धृष्टः = अविनीत इति तं मायन्ते । नियतं=नियमेन, दूरतः = दूरे तिष्ठति चेत्, अप्रगल्भः=अपटुः—इति मायन्ते । एवञ्च—सेवाधर्मः= सेवारूपो धर्मः—सेवकत्वम्, योगिनामपि—अगम्यः = यथावदनुष्ठातुमशक्यो, नितरां कठिनश्च ॥ २६ ॥

उन्नतिहेतोः=आत्मन उन्नत्यर्थं, प्रणमति=अवनमति, नीचो भवति च,स्वामिने

और भी—यदि सेवक चुप रहे, तो उसे मालिक लोग मूर्ख कहते हैं, यदि वह बोले, तो उसे बकवादी या पागल कहते हैं, और वह यदि सहनशील हो, तो उसे डरपोक कहते हैं । और वह यदि किसी की बात न सहे, तो उसे अकुलीन कहते हैं । यदि पास में बैठे, तो धृष्ट (अविनीत) कहते हैं, और यदि वह दूर रहे, तो उसे गँवार कहते हैं । इसलिये सेवाधर्म बहुत कठिन है, इसको योगी लोग भी नहीं निबाह सकते हैं ॥ २६ ॥

विशेष तो यह है कि—सेवक से बढ़ कर कोई मूर्ख नहीं है, क्योंकि वह अपनी

१. 'वातूलो, वातुलोऽपि स्यात्' इति द्विरूपकोषः । २ 'दूरगश्चा'—पा० ।

दमनको ब्रूते–'मित्र ! सर्वथा मनसाऽपि नैतत्कर्त्तव्यम् । यतः—

'कथं नाम न सेव्यन्ते यत्नतः परमेश्वराः ।
अचिरेणैव ये तुष्टाः पूरयन्ति मनोरथान्' ॥ २८ ॥

अन्यच्च पश्य—

'कुतः सेवाविहीनानां चामरोद्धूतसम्पदः ।
'उद्दण्डधवलच्छत्रं, वाजि-वारण-वाहिनी' ? ॥ २९ ॥

करटको ब्रूते–'तथापि किमनेनाऽस्माकं व्यापारेण ? । यतोऽव्यापारेषु व्यापारः सर्वथा परिहरणीयः' । पश्य—

प्रयच्छति च । जीवितहेतोः = स्वजीवनार्थम्, प्राणान् विमुञ्चति = युद्धादौ स्वाम्यर्थं त्यजति । दुःखीयति=दुःखमनुभवति ॥ २७ ॥ एतत्=ईदृशं व्यवसितं, सेवात्याग-सेवानिश्चयादिकम् ॥ परमेश्वराः=राजानः, स्वामिनश्च ॥२८॥ चामरोद्धूतसम्पदः= चामरव्यजनादिचिह्नाः श्रियः । किञ्च–उद्दण्ड धवलच्छत्रं=दीर्घदण्डसहितं धवलं छत्रम् । 'कुतः' इति शेषः । किञ्च–वाजिवारणवाहिनी=गजाश्वरथादिसैन्य-सम्पत्तिरपि राजसेवां विना कुतो लभ्यते—इत्यर्थः ॥ २९ ॥

इच्छा के लिये उन्नत (नम्र) होता है। अपने जीवन के लिये अपने प्राणों को दूसरे के लिये त्याग देता है, सुख के लिये दुःख सहता है। अर्थात् यह सभी कार्य विरोधी ही करता है, अतः सेवक से बढ़कर मूर्ख और कौन होगा ॥ २७ ॥

दमनक बोला—हे मित्र ! मन में भी कभी ऐसी बात नहीं सोचनी चाहिये।

क्योंकि—बड़े ही यत्न से उन धनी लोगों की सेवा क्यों नहीं करनी चाहिए, (अर्थात् अवश्य ही करनी चाहिए), जो प्रसन्न होकर सेवकों के सभी मनोरथों को शीघ्र ही पूर्ण कर देते हैं ॥ २८ ॥

और भी देखो—जो लोग राजाओं की सेवा नहीं करते हैं, उनको चामर से युक्त धन सम्पत्ति, ऊँचे दण्ड वाला सफेद छत्र, और हाथी, घोड़ा, सेना, ये उपभोग की सब सामग्रियाँ कहाँ से मिल सकती हैं ? ॥ २९ ॥

करटक बोला—तो भी हमको इस अनधिकार चेष्टा से काम ही क्या है ? । क्योंकि कभी भी अनुचित के व्यापार में व्यापार नहीं करना चाहिये। अर्थात् जो कार्य अपना कर्तव्य नहीं है, उसमें हाथ नहीं डालना चाहिये।

'अव्यापारेषु व्यापारं यो नरः कर्त्तुमिच्छति ।
स भूमौ निहतः शेते, कीलोत्पाटीव वानरः' ॥ ३० ॥

दमनकः पृच्छति—'कथमेतत् ?' । करटकः कथयति—

(१) कीलोत्पाटिवानरकथा ।

अस्ति मगधदेशे धर्मारण्यसंनिहितवसुधायां शुभदत्तनाम्ना कायस्थेन विहारः कर्त्तुमारब्धः । तत्र करपत्रदार्यमाणैकस्तम्भस्य कियद्दूरस्फाटितस्य काष्ठखण्डद्वयमध्ये कीलकः सूत्रधारेण निहितः । तत्र बलवान्वानरयूथः क्रीडन्नागतः । एको वानरः कालप्रेरित इव तं कीलकं हस्ताभ्यां धृत्वोपविष्टः । तत्र तस्य मुष्कद्वयं लम्बमानकाष्ठखण्डद्वयाऽभ्यन्तरे प्रविष्टम् ।

अव्यापारेषु=व्यापारानवसरेषु । व्यापारऽयोग्येषु । कीलोत्पाटी=शङ्कूत्पाटी ॥३०॥

करपत्रं=काष्ठदारणं (करौत) । तेन दार्यमाणः = विदार्यमाणो, य एकः-स्तम्भस्तस्येत्यर्थः । स्फाटितस्य=दारितस्य । सूत्रधारेण = वर्द्धकिना । (सूत्रधार= बढ़ई, सुनार) । तत्र = विहारे । यूथः = समूहः ।

कालप्रेरित इव=मृत्युगाराग्रहीत इव । धृत्वा=आदाय । मुष्कद्वयम्=

देखो—जो प्राणी अव्यापार (वृथा कार्यों) में व्यापार करता है, अर्थात् जो काम अपना कर्तव्य नहीं है, उसको करता है, वह कील उखाड़ने वाले उस बन्दर के समान ही मर कर भूमि पर पड़ जाता है ॥ ३० ॥

दमनक ने पूछा—यह कथा कैसे है ? । करटक कहने लगा—

मगध देश में धर्मारण्य के पास की किसी भूमिपर शुभदत्त नाम का एक कायस्थ एक विहार[1] (बौद्ध मठ) बनवा रहा था। वहाँ पर आरे से आधी दूर तक चरे हुये किसी खम्भे के दोनों काठ के टुकड़ों के बीच में बढ़ई ने एक कील गाड़ दी थी। एक समय वहाँ बहुत से बन्दर खेलते हुए आगये । उनमें से एक बन्दर मानों काल से प्रेरित होकर उस कील को हाथ से पकड़ कर बैठ गया । उसके लटकते हुए दोनों अण्डकोश भी फटे हुए उन दोनों काठों के मध्य में घुस गये ।

---

१. विहार=बौद्ध संन्यासियों के रहने का स्थान (मठ) ।

अनन्तरं स च सहजचपलतया महता प्रयत्नेन तं कीलकमाकृष्टवान्। आकृष्टे च कीलके चूर्णिताऽण्डद्वयः पञ्चत्वं गतः। अतोऽहं ब्रवीमि—'अव्यापारेषु व्यापारम्' इत्यादि ॥९॥

दमनको ब्रूते—'तथापि स्वामिचेष्टानिरूपणं सेवकेनाऽवश्यं करणीयम्। करटको ब्रूते—'सर्वस्मिन्नधिकारे य एव नियुक्तः प्रधानमन्त्री, स करोतु। यतोऽनुजीविना पराधिकारचर्चा सर्वथा न कर्त्तव्या। पश्य—

'पराऽधिकारचर्चां यः कुर्यात्स्वामिहितेच्छया।
स विषीदति, चीत्काराद् गर्दभस्ताडितो यथा' ॥३१॥

दमनकः पृच्छति—'कथमेतत्?'। करटको ब्रूते—

(२) चीत्कारिगर्दभकथा।

अस्ति वाराणस्यां कर्पूरपटको नाम रजकः। स चाऽभिनवयुवत्या वध्वा सह चिरं निधुवनं कृत्वा, (तां) निर्भरमालिङ्ग्य, प्रसुप्त

आकृष्टवान्=उत्पाटितवान्। [illegible]=[illegible]। पञ्चत्वं गतः=मृतः। स्वामिचेष्टानिरूपणं=प्रभुचेष्टानिरीक्षणम्। अनुजीविना=सेवकेन। विषीदति=क्लिश्यते ॥३१॥
अभिनवयुवत्या=नवीनया, नवोढया, युवत्या। निधुवनं=सुरतक्रीडाम्

तदनन्तरं तद्गृहद्रव्याणि हर्तुं चौरः प्रविष्टः। तस्य प्राङ्गणे गर्दभो बद्धस्तिष्ठति। कुक्कुरश्चोपविष्टोऽस्ति।

अथ गर्दभः श्वानमाह—'सखे! भवतस्तावदयं व्यापारः, तत्किमिति त्वमुच्चैः शब्दं कृत्वा स्वामिनं न जागरयसि?।'

कुक्कुरो ब्रूते—'भद्र! मम नियोगस्य चर्चा त्वया न कर्त्तव्या। त्वमेव किं न जानासि, यथा तस्याऽहर्निशं गृहरक्षां करोमि, ततोऽयं चिरान्निर्वृतो ममोपयोगं न जानाति। तेनाऽधुनापि ममाऽऽहारदाने मन्दाऽऽदरः। यतो विना विधुरदर्शनं स्वामिन उपजीविषु मन्दाऽऽदरा भवन्ति।'

गर्दभो ब्रूते—'शृणु रे वर्वर'!

'याचते कार्यकाले यः स किंभृत्यः, स किंसुहृत्' ?।

'निभृत'मिति पाठेऽपि स एवार्थः। निर्भरं=गाढं सुप्तः। अयं व्यापारः=चौरादिभये सति स्वामिनो जागरणम्। व्यापारः=कर्त्तव्यो नियोगः। नियोगस्य=अधिकारस्य। (ड्यूटी)। निर्वृतः=चौरादिभयरहितः सुखी। उपयोगं=सफलताम्। आदरः=शिथिलादरः। विधुरदर्शनं=विपदनुभवम्। वर्वर=अनार्य। मूर्ख। कार्यकाले=कार्ये उपस्थिते सति। किंभृत्यः=कुत्सितो भृत्यः। किंसुहृत्=

आलिङ्गन कर सो गया। उसी समय उसके घर में चोरी करने को चोर घुसा। उस धोबी के घर के आँगन में एक गदहा बंधा हुआ था। और वहीं एक कुत्ता भी बैठा था।

गदहे ने कुत्ते से कहा हे मित्र! अपने स्वामी को चोरों से सावधान करना आपका काम है। अतः आप चिल्लाकर अपने मालिक को क्यों नहीं जगाते हो?।

तब वह कुत्ता बोला—भाई! आप मेरे काम की चिन्ता क्यों करते हैं?। क्या आप नहीं जानते हैं, कि रात दिन मैं इनके घर की रक्षा करता हूँ। इसीलिए यह बहुत दिनों से सुखी है, और इसलिये इसको अब मेरी आवश्यकता भी नहीं मालूम होती है। इससे इन दिनों यह मुझे ठीक २ भोजन देने का भी ध्यान नहीं रखता है। क्योंकि बिना दुःख देखे स्वामी लोग नौकरों का ध्यान कम ही करते हैं। तब गदहा बोला—सुन रे नीच!

जो भृत्य, या मित्र काम के समय मांगता है, वह नौकर भी अधम और नीच है, और वह मित्र भी अधम और निन्दित है।

कुक्कुरो ब्रूते—

'भृत्यान् संभावयेद्यस्तु कार्यकाले, स किंप्रभुः' ? ॥ ३२ ॥

यतः—

'आश्रितानां भृतौ, स्वामिसेवायां, धर्मसेवने ।
पुत्रस्योत्पादने चैव, न सन्ति प्रतिहस्तकाः' ॥ ३३ ॥

ततो गर्दभः सकोपमाह—अरे दुष्टमते ! पापीयांस्त्वं, यद्विपत्तौ स्वामिकार्ये उपेक्षां करोषि । भवतु तावत् । यथा स्वामी जागर्ति, तन्मया कर्तव्यम् । यतः—

'पृष्ठतः सेवयेदर्कं, जठरेण हुताशनम् ।
स्वामिनं सर्वभावेन, परलोकममायया' ॥ ३४ ॥

[illegible] । कार्यकाले=कार्ये उपस्थिते । सम्भावयेत्=पूजयेत्, [illegible] ॥ ३२ ॥

आश्रितानां=शरणागतानां, सेवकादीनाम् । भृतौ=पालने । स्वामिसेवायां=स्वामिनः सेवायाम् । धर्मसेवने=धर्माचरणे, तीर्थादिगमने च । पुत्रस्योत्पादने=जनने । प्रतिहस्तकाः=प्रतिनिधयः । न सन्ति=न भवन्ति । [illegible] ॥ ३३ ॥

पृष्ठतः=पृष्ठभागेन । अर्कं=सूर्यम् । हुताशनम्=वह्निम् । जठरेण=[illegible] । सर्वभावेन=सर्वथा । अमायया=अकपटेन, आर्जवेन च । परलोकं [illegible]

इत्युक्त्वाऽतीव चीत्कारशब्दं कृतवान्। ततः स रजकस्तेन चीत्कारेण प्रबुद्धो, निद्राभङ्गकोपादुत्थाय, गर्दभं लगुडेन ताडयामास। तेनासौ पञ्चत्वमगमत्। अतोऽहं ब्रवीमि–'पराधिकारचर्चाम्' इत्यादि ॥ ॥

पश्य—पशूनामन्वेषणमेवाऽस्मन्नियोगः। स्वनियोगचर्चा क्रियताम्। (विमृश्य—) 'किंत्वद्य तया चर्चया न प्रयोजनम्। यत आवयोर्भक्षित-शेषाऽऽहारः प्रचुरोऽस्ति।'

दमनकः सरोषमाह–'कथमाहारार्थी भवान् केवलं राजानं सेवते?। एतदयुक्तमुक्तं त्वया। यतः—

स्वर्गम्। धर्ममिति यावत् ॥ ३४ ॥

प्रबुद्धः=जागरितः। निद्राविमर्दकोपात्=अनवसरनिद्राव्याघातजात् क्रोधात्। पञ्चत्वं गतः=मृतः। अस्माकं=करटकदमनकयोः। नियोगः=अधिकारः। तयाऽपि= पशूनामन्वेषणरूपया। चर्चया=वार्तया। प्रचुरः=भूयान्। आहारमात्रार्थी=भोजन-मात्राभिलाषी।

है करनी चाहिए। और स्वामी की सेवा सब प्रकार से (अच्छी तरह से पूरी२) करनी चाहिए, और परलोक की सेवा (परलोक में उत्तम गति की प्राप्ति के लिए पुण्य का उपार्जन) छल रहित होकर करनी चाहिए ॥ ३४ ॥

ऐसा कहकर गदहा बड़े जोर से चिल्लाने लगा। इसके बाद वह धोबी उसके चिल्लाने से जाग उठा, और असमय में नींद टूटने के कारण क्रुद्ध होकर, उठकर गदहे को डण्डे से पीटने लगा। और वह गदहा इस प्रकार मार खाकर मर गया। इसलिए मैं कहता हूँ, कि–'दूसरे के अधिकार की चर्चा कभी नहीं करनी चाहिए' इत्यादि।

और देखो, पशुओं का खोजना ही हम लोगों का काम है। अतः अपने काम की चर्चा ही हमें करनी चाहिए। (कुछ सोच कर–) किन्तु आज तो उस चर्चा की भी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि हम लोगों के खाने से बचा हुआ आहार रखा हुआ है। तब वह दमनक क्रोध करके बोला—क्या तुम केवल अपने पेट पालने के लिये राजा की नौकरी करते हो?। भाई यह बात तो तुमने ठीक नहीं कही।

'सुहृदामुपकारकारणाद्, द्विषतामप्यपकारकारणात् ।
नृपसंश्रय इष्यते बुधैर्जठरं को न बिभर्ति केवलम्' ॥३५॥

'जीविते यस्य जीवन्ति विप्रा, मित्राणि, बान्धवाः ।
सफलं जीवितं तस्य, आत्मार्थे को न जीवति' ? ॥३६॥

अपि च—

'यस्मिञ्जीवति जीवन्ति बहवः, स तु जीवतु ।
काकोऽपि किं न कुरुते चञ्च्वा स्वोदरपूरणम्' ॥ ३७ ॥

पश्य—

'पञ्चभिर्याति दासत्वं पुराणैः कोऽपि मानवः ।
कोऽपि लक्षैः कृती, कोऽपि लक्षैरपि न लभ्यते' ! ॥ ३८ ॥

सुहृदामिति । मित्राणामुपकाराय, द्विषतां=शत्रूणामपकारकरणाय च, राजाश्रयो बुधैः=विद्वद्भिः, इष्यते=अभिलष्यते । केवलं जठरं=स्वोदरन्तु, को न बिभर्ति=को न पूरयति ? । सर्वोऽपि स्वोदरं पूरयत्येवेत्यर्थः ॥ ३५ ॥

यस्य=यस्य पुंसः । जीविते=जीवने । विप्राः=ब्राह्मणाः । जीवन्तीति यावत् । तस्यैव जीवितं सफलम्, स्वात्मार्थे तु को न जीवति ? ॥ ३६ ॥

बहवः=अनेकेऽनाथादयो जनाः ॥ ३७ ॥

पञ्चभिरिति । कोऽपि मानवः पञ्चभिरपि पुराणैः=पुराणनामकमुद्राभिः ।

मतलब—मित्रों का उपकार करने के लिये, तथा शत्रुओं का अपकार करने के लिये ही विद्वान् लोग राजाओं की सेवा किया करते हैं । केवल अपना पेट तो कौन नहीं भर लेता है, अर्थात् सभी भर लेते हैं ॥ ३५ ॥

और भी—जिसके जीने से ब्राह्मण, मित्र और बन्धुजन जीते हैं, उसी का जीना सफल है । अपने लिये तो कौन नहीं जीता है, अर्थात् सभी जीते हैं ॥ ३६ ॥

और भी—जिसके जीने से बहुतों की जीविका चलती है, वही जीता है, अर्थात् उसी का जीना सफल है । क्या कौआ भी चोंच से अपना पेट नहीं भर लेता है ? अर्थात् भर लेता है ॥ ३७ ॥

देखो—कोई आदमी पाँच ही का दास बनने पर ही नौकरी करता है, और कोई

अन्यच्च—

'मनुष्यजातौ तुल्यायां भृत्यत्वमतिगर्हितम् ।
प्रथमो यो न तत्रापि, स किं जीवत्सु गण्यते' ? ॥ ३९ ॥

तथा चोक्तम्—

'वाजि-वारण-लोहानां, काष्ठ-पाषाण-वाससाम् ।
नारी-पुरुष-तोयानामन्तरं महदन्तरम्' ॥ ४० ॥

(पुराण=पैसा, ८० कौड़ी)। दासतां याति=कस्यापि भृत्यभावं धत्ते। कोऽपि च कृती=कुशलः,—लक्षैः=लक्षैः पुराणैर्दासतां करोति। यद्वा—कोऽपि—लक्षैः कृती=आत्मानं कृतकृत्यं मनुते इत्यर्थः। कोऽपि पुरुषश्रेष्ठस्तु—लक्षैरपि न लभ्यते ॥३८॥

मनुष्येति। सेवके, स्वामिनि च मनुष्यत्वं तावत्तुल्यमेवेति तयोः सेव्यसेवकभाव एव तावन्निन्दितः। तत्रापि=गर्हितायां सेवकवृत्तौ स्थीकृतायामपि। यद्वा-तत्राऽपि=सेवकेष्वपि। यो न प्रथमः=न मुख्यः, केवल सामान्यभृत्यभावं भजते, चेत् तर्हि मृतकतुल्य एवेत्यर्थः ॥३९॥

वाजीति। वाजी=अश्वः। वारणः=हस्ती। लोहानि=स्वर्णादिधातवः, वासः=वस्त्रम्। तोयं=जलम्। तुल्यायामपि वाजित्वादिजातौ, कश्चित् साधारणोऽश्वः, कश्चिच्च-'पारसीकाश्व' इति, किञ्चिज्जलं कूपादेः, किञ्चिच्च भागीरथ्यादेरिति च रीत्या एतो यदन्तरं=भेदः, तन्महदेव अन्तरं=नितरां भेद इत्यर्थः। तुल्येऽपि नामनि

ईमान् कुशल पुरुष लाख रुपयों (या पैसों) पर नौकरी करता है, और कोई महापुरुष ऐसे भी होते हैं, जो लाखों रुपये (या पैसों) देने पर भी नहीं मिलते हैं ॥३८॥

और भी—स्वामी और सेवक की मनुष्य जाति एक समान होने पर भी, किसी को स्वामी बनाना और उसकी सेवकाई करना यह अत्यन्त ही निन्दित है। फिर उस नौकरी में भी जो सेवक प्रथम (मुख्य) नहीं हुआ, तो उसकी गणना भी क्या जीने वालों में है ? । अर्थात् उसको मरा हुआ ही समझना चाहिये ॥३९॥

जैसे कहा भी है—घोड़ा, हाथी, धातु, काठ, पत्थर, वस्त्र, स्त्री, पुरुष, जल, इनमें परस्पर में बहुत बड़ा भेद (विशेषता) रहता है। अर्थात्—घोड़े, हाथी, धातु, पत्थर, वस्त्र, स्त्री, पुरुष, जल—ये सब एक ही तरह के नहीं होते हैं, किन्तु इनमें

यथा स्वल्पमप्यतिरिच्यते,—

'स्वल्पस्नायुवसावशेषमलिनं' निर्मांसमप्यस्थि गोः,
श्वा लब्ध्वा परितोषमेति, न भवेत्तस्य क्षुधः शान्तये
सिंहो जम्बुकमङ्कमागतमपि त्यक्त्वा,निहन्ति द्विपं,
सर्वः कृच्छ्रगतोऽपि वाञ्छति जनः सत्त्वानुरूपं फलम्

अपरं च-सेव्यसेवकयोरन्तरं पश्य—

'लाङ्गूलचालनमधश्चरणावपातं,
भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनञ्च ।

गुणेषु मद्देशप्यमिति यावत् ॥ ४० ॥

स्वल्पमपि अतिरिच्यते = विशेषाऽऽधायकं भवति । स्वल्पेति । स्वल्पस्ना
यमात्रेणयुक्तं मलिनं मांसरहितं गोः अस्थि, लब्ध्वाऽपि कुक्कुरः प
तोषमेति = परितुष्यति । क्षुधः = बुभुक्षायाः । न भवेत्=न तदपि समर्थं
सिंह-जम्बुकं=शृगालम्, अङ्के = क्रोडे, (गोदमें) । आगतमपि, विहाय-द्वि
गजमेव, हन्ति = निहन्ति, हन्तु धातौ । कृच्छ्रगतः = क्लिष्टोऽपि । सत्त्वानुरूपं
स्वस्वरूपानुरूपमेव फलं वाञ्छति । सत्त्वं = तेजः ॥ ४१ ॥

सेव्यसेवकयोरन्तरं = सेव्यसेवकयोरपि प्रभेदम् । लाङ्गूलचालनं=पुच्छ
परिचालनम् । अधः=नीचैः । चरणयोरवपातः—चरणयोः पातः, तं = पादपतन
वदनस्य, उदरस्य वदनोदरं, तस्य दर्शनं=प्रदर्शनम् । श्वानितरेषा । श्वा=कुक्कुरः

उपन, मन्दन, अपन मार रहता ही है ॥ ४० ॥

और मनुष्यों का—थोड़ा भेद भी विशेषाधायक होता है । देखो—

कुत्ता थोड़ी सी नस तथा चर्बीसे लेस युक्त मलिन, एवं मांस रहित गौ
की हड्डी को पाकर भी सन्तुष्ट हो जाता है, जिससे उसकी भूख भी शान्त न
होती है । और सिंह अपनी गोदमें आये हुये भी सियार को भी छोड़कर हाथीको
मारता है । ठीक है—सभी प्राणी कष्ट में पड़े हुए रहने पर भी अपने
(बल, पराक्रम, तेजस्‌) के अनुरूप ही फल चाहते हैं ॥ ४१ ॥

और सेव्य-सेवक में भी अन्तर (भेद) देखो—कुत्ता अपने सो
देने वाले के आगे पूँछ हिलाता है, और उसके पावों पर (नीचे) गिर

---

१. 'स्नायु' पा० । २ 'दर्शनं' च पाठान्तरम् ।

श्वा पिण्डदस्य कुरुते, गजपुङ्गवस्तु-
धीरं विलोकयति, चाटुशतैश्च भुङ्क्ते' ॥ ४२ ॥

किञ्च—

'यज्जीव्यते क्षणमपि प्रथितं मनुष्यै-
र्विज्ञान-विक्रम-यशोभिरभज्यमानम् ।
तन्नाम जीवितमिह प्रवदन्ति तज्ज्ञाः,
काकोऽपि जीवति चिराय, बलिं च भुङ्क्ते' ॥ ४३ ॥

पिण्डदस्य=भोजनग्रासप्रदातुः स्वामिनः । गजपुङ्गवस्तु=करीन्द्रस्तु । भोजनं दीयमानं दृष्ट्वाऽपि, धीरं=मन्दं, मन्थरम् । विलोकयति=चिरं पश्यति, चिरं दद[तमपि] च पश्यति । चाटुशतैश्च=अनुरूपैः, प्रियवाक्यशतैश्च प्रार्थ्यमान[स्त]थं ॥ ४२ ॥

[मनु]ष्य विज्ञान=कलाकौशलं, विक्रमः=पराक्रमः, यशः=कीर्तिः, तैः प्रथित=[प्र]सिद्धम्, अभज्यमानम्=अतिरस्क्रियमाणम् । अप्रतिहतं यथा स्यात्तथा, [म]नुष्यैर्जीव्यते, तदेव नाम=किल—जीवनं=प्रशस्तजीवनाभिधेयम् । तज्ज्ञाः=[शा]स्त्रविदो विद्वांसः । चिराय=चिरम् । बलिं=काकादिभ्यो दीयमानं बलिद्र[व्यं भु]ङ्क्ते । मानेनैव जीवनं शोभनम्, अन्यथा काकतुल्य तज्जीवनमिति भावः ॥ ४३ ॥

[कुत्ता अपने भोजन देने वाले] की खुशामद करता है, और जमीन पर लोट कर अपना पेट और मुख दिख[लाता] है । परन्तु हाथी अपने भोजन देने वाले के सामने बड़ी गम्भीरता से देखता [औ]र सैकड़ों प्रिय वचन बोलने पर ही खाता है । अर्थात् सेवकों में भी बहुत [भेद] है ॥ ४२ ॥

और भी—जो इस संसार में मानी प्राणी ज्ञान, पराक्रम और कीर्ति के साथ [संसार] में प्रसिद्ध होकर, क्षण भर के लिये भी जीता है, उसी को विद्वान् लोग [जीना क]हते हैं, इस तरह तो कौआ भी बहुत दिन तक जीता है, और बलि के [अन्न को] खाया करता है ॥ ४३ ॥

अपरञ्च—
'यो नाऽऽत्मजे, न च गुरौ, न च भृत्यवर्गे,
दीने दया न कुरुते, न च बन्धुवर्गे ।
किं तस्य जीवितफलं नु' मनुष्यलोके,
काकोऽपि जीवति चिराय, बलिं च भुङ्क्ते' ॥ ४४ ॥

अपरमपि—
'अहित हित विचारशून्यबुद्धेः,
'श्रुतिसमयैर्बहुभिस्तिरस्कृतस्य' ।
उदरभरणमात्रकेवलेच्छोः,
पुरुषपशोश्च, पशोश्च को विशेषः' ? ॥ ४५ ॥

य इति । आत्मजे = पुत्रे । किं नु तस्य = पुंसो जीवितस्य फलं [illegible] । [illegible] पाठ—जीवनामयेन [illegible] न [illegible] ॥ ४४ ॥

अहितेति । [illegible] । श्रुतिविषये [illegible] । श्रुतिसमयैः [illegible] = [illegible] । [illegible] पाठे—[illegible] । [illegible] । पुरुषपशोः [illegible] ॥ ४५ ॥

और भी—जो [illegible] पुत्र, गुरु, भृत्य (नौकर), दीन तथा बन्धुओं पर द[illegible] नहीं करता है, मनुष्य लोक में उसके जीवन से क्या लाभ है ? । क्योंकि [illegible] कौआ भी बहुत दिन तक जीता है और बलि के टुकड़ों को खाया करता है ॥ ४४ ॥

और भी—हित [illegible], बहुत से [illegible] सिद्धान्तों से [illegible] [illegible], केवल पेट भरने के अभिलाषी, पु[illegible] [illegible] पशु में और [illegible] पशु में क्या भेद है ? । अर्थात् ऐसे देह मनुष्य [illegible] पशु में कुछ भेद नहीं है, उसको तो पशु ही समझना चाहिये ॥ ४५ ॥

१. [illegible] पाठः । २. 'श्रुतिनिकरै' इति पा० । [illegible]

करटको ब्रूते—'आवां तावदप्रधानौ, [1]तावताऽप्यावयोः किमनया विचारणया ?।' दमनको ब्रूते—'भ्रातः! कियता कालेनाऽमात्याः[2] प्रधानतामप्रधानतां वा [3]लभन्ते। यतः—

'न कस्यचित्कश्चिदिह स्वभावा-
द्भवत्युदारोऽभिमतः, खलो वा।
लोके गुरुत्वं, विपरीततां वा,
स्वचेष्टितान्येव नरं नयन्ति' ॥ ४६ ॥

किञ्च—

'आरोप्यते शिला शैले यत्नेन महता यथा।
निपात्यते क्षणेनाऽधस्तथाऽऽत्मा गुण-दोषयोः'॥ ४७ ॥

स्वभावात्=प्रकृत्या। उदारः=दाता, महान् वा। 'उदारो दातृमहतोः' इत्यमरः। अभिमतः=अनुकूलः। खलः=दुष्टः, प्रतिकूलः। गुरुत्वं=महत्त्वम्। विपरीततां=लाघवञ्च। स्वचेष्टितान्येव=स्वकर्माण्येव, नयन्ति=प्रापयन्ति ॥४६॥

शैले=पर्वते। तथेति=गुणे महता यत्नेनात्मा आरोप्यते, क्षणादेव तु दोषेषु निपातयितुं शक्यते इत्यर्थः ॥ ४७ ॥

तब करटक बोला—हम लोग तो इस राज्य के प्रधान हैं नहीं, इसलिये भी हम दोनों को इस विचार से क्या प्रयोजन है। दमनक बोला—मन्त्री लोग थोड़े ही दिनों में प्रधानता या अप्रधानता को स्वयं प्राप्त कर लेते हैं।

क्योंकि—किसी के लिये कोई भी स्वभाव से ही उदार (अच्छा, महान्, बड़ा) या अभीष्ट (प्रिय), या खल (दुष्ट) नहीं होता है, किन्तु मनुष्य को अपना किया हुआ कर्म ही संसार में छोटा या बड़ा बनाता है ॥ ४६ ॥

और भी—जैसे पर्वत पर कोई शिला बड़ी कठिनाई से चढ़ाई जा सकती है, परन्तु उसे नीचे तो क्षण भर में गिराया जा सकता है, वैसे ही आत्मा भी बड़ी कठिनता से गुणी बनता है, परन्तु दोषी तो वह क्षण भर में बनाया जा सकता है ॥४७॥

१. तावताऽनयो.' पा०। २. 'अमात्यः'। ३. 'लभेत'।

'यात्यधोऽधो, व्रजत्युच्चैर्नरः स्वैरेव कर्मभिः ।
कूपस्य खनिता यद्वत्प्राकारस्येव कारकः' ॥ ४८ ॥

तद्भद्र ! स्वयत्नाऽऽयत्तो ह्यात्मा सर्वस्य ।'

करटको ब्रूते—'अथ भवान्किं ब्रवीति ? ।'

दमनक आह—'अयं तावत्स्वामी पिङ्गलकः पानीयमपीत्वा कुतोऽपि 'कारणात्सचकितः' परिवृत्त्योपविष्टः' । करटको ब्रूते—'किं त्वं [illegible] जानासि ?' । दमनको ब्रूते—'किमत्राऽविदितमस्ति (महात्मनाम्)'' उक्तञ्च—

'न यत्राऽस्ति गतिर्वायो, रश्मीनाञ्च विवस्वतः ।
तत्रापि प्रविशत्याशु बुद्धिर्बुद्धिमतां सदा' ॥ ४९ ॥

यात्यधोऽधः = [illegible] नीचैः, उच्चैः = उपरि पदम् । कर्मभिः = चेष्टाभिः । यथा = कूपखनकः स्वैरेव [illegible]—कर्मणाऽधोऽधो याति, प्राकारस्य = दुर्ग[illegible]—कारकश्च उपर्युपरि याति ॥ ४८ ॥

[illegible] । भद्र != [illegible] । स्वयत्नायत्तः = स्वोद्योगाधीनः । सचकितः [illegible] । [illegible] । तत्त्वं = [illegible] कारणं वा । रश्मीनां = किरणानाम् । विवस्वतः = सूर्यस्य ॥ ४९ ॥

मनुष्य—अपने ही कर्मों से कुआँ खोदनेवाले की तरह नीचे की ओर जाता है, और महल बनाने वाले की तरह अपने ही कर्मों से ऊपर की ओर जाता है ॥ ४८ ॥

इसलिये हे भद्र ! सभी का आत्मा [illegible] अपने उद्योग से ही [illegible] है । [illegible]—[illegible] आप क्या कहना चाहते हैं ? । दमनक बोला—[illegible] स्वामी पिङ्गलक बिना पानी पिये ही किसी कारण से डर कर [illegible] है । करटक बोला—[illegible]—क्या तुम जानते हो ? । दमनक [illegible] में अविदित क्या है । कहा भी है—जहाँ वायु की भी गति नहीं है, और सूर्य की किरणें भी नहीं पहुँच पाती हैं, वहाँ भी बुद्धिमानों की बुद्धि [illegible] जाती है ॥ ४९ ॥

१. '[illegible]' । २. '[illegible]' । ३. '[illegible]' । ४. [illegible]

अपरञ्च—

'उदीरितोऽर्थः पशुनाऽपि गृह्यते,
हयाश्च, नागाश्च वहन्ति नोदिताः[1] ।
अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः,
परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः' ॥ ५० ॥

अपिच—

'आकारैरिङ्गितैर्गत्या, चेष्टया, भाषणेन च ।
नेत्रवक्त्रविकारेण लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः' ॥ ५१ ॥

उदीरितः=वाण्या स्पष्टमुक्तः, अर्थः=अभिप्रायः । हयाः=अश्वाः, नागाः=गजाः, चाद् वृषभादयः । नोदिताः=प्रेरिताः । देशिता इति पाठे–आदिष्टा इत्यर्थः । ऊहति=तर्कयति । पण्डितः=कुशलः । परेङ्गितज्ञानफलाः=परकीयमानसचेष्टिताऽवबोधफलाः ॥ ५० ॥

आकारैरिति । आकारैः=भ्रूभङ्गादिभिः, मुखरागादिभिश्च बाह्यैः । इङ्गितैः=अनुराग–वैराग्याद्यावेदकैर्भावैर्मानसैः । चेष्टया=कायव्यापारेण । नेत्रवक्त्रविकारेण=मुखनेत्रमुद्रादिभिः ॥ ५१ ॥

हे सौम्य ! अपनी आत्मा को बड़ा या छोटा बनाना तो अपने उद्योग के ही अधीन है । करटक बोला–अच्छा तो आप क्या कहना चाहते हैं ? । दमनक बोला–हमारा स्वामी यह पिङ्गलक सिंह किसी कारण विशेष से ही बिना जल पीये लौटकर चकित होकर (घबड़ाया हुआ) बैठा है । करटक बोला—ऐसा किस कारण से हुआ, क्या तुम जानते हो ? । दमनक बोला—इसमें बुद्धिमानों से अविदित (छिपी हुई) बात क्या है ? । कहा भी है—

कही हुई बात को तो पशु भी समझ लेते हैं, और चलाए जाने पर, तथा मालिक की आज्ञा पाने पर तो घोड़े, हाथी आदि पशु भी चलने लगते हैं । किन्तु विद्वान् लोग तो बिना कहे हुए भी मन की बातों को समझ लेते हैं, क्योंकि दूसरे के मनके भावों को समझना ही बुद्धि का फल है ॥ ५० ॥

और भी आकार, इङ्गित (हृदय के भाव), चाल, चेष्टा, बोलचाल और आँख तथा मुख के विकार आदि से चित्त(मन) के भीतर की बात जानी जा सकती है ॥५१॥

[1] 'चोदिताः' इति, 'देशिताः' इति च पाठ० ।

नस्य भयप्रस्तावे प्रज्ञाबलेनाऽहमेनं स्वामिनमात्मीयं करिष्यामि। यत-

'प्रस्तावसदृशं वाक्यं, सद्भावसदृशं प्रियम्।

आत्मशक्तिसमं कोपं, यो जानाति स पण्डितः' ॥ ५२ ॥

करटको ब्रूते—'सखे! त्वं सेवाऽनभिज्ञः'। पश्य—

'अनाहूतो विशेयस्तु, अपृष्टो बहु भाषते।

[1]आत्मानं मन्यते प्रीतं भूपालस्य, स दुर्मतिः' ॥ ५३ ॥

दमनको ब्रूते—'भद्र! कथमहं सेवाऽनभिज्ञः'[2]? । पश्य—

[3]'किमप्यस्ति स्वभावेन सुन्दरं वाऽप्यसुन्दरम्[4]?।

यदेव रोचते यस्मै, भवेत्तत्तस्य[5] सुन्दरम्' ॥ ५४ ॥

भयप्रस्तावे = भयावसरे। [illegible] भयमुद्दिश्य। एनं=[illegible]। [illegible] प्रस्तावसदृशं = प्रसङ्गानुरूपम्। [illegible] [illegible]। [illegible] = [illegible]। [illegible] वस्तु यो जानाति स एव पण्डितः ॥५२॥ [illegible] आत्मानं भूपालस्य प्रीतं मन्यते, स दु- [illegible]

विशेष = [illegible] [illegible]। [illegible] किमपि [illegible] [illegible]

दुर्मतिः ॥५३॥

स्वभावेन = [illegible] सुन्दरम्, असुन्दरं वा किमपि [illegible] [illegible]

अतः इस मद के प्रसङ्ग को लेकर ही मैं अपनी बुद्धि के बल से स्वामी

को अपने अधीन बना लूँगा।

क्योंकि—जो मनुष्य अवसर के अनुरूप वचन बोलना जानता है, और

[illegible] के अनुरूप प्रिय बोलना जानता है, और अपनी शक्ति के अनुरूप [illegible]

करना जानता है, वही सच्चा पण्डित है ॥ ५२ ॥

[illegible] बोला—मित्र! तुम तो सेवा करना जानते नहीं हो।

देखो—जो मनुष्य राजा के पास बिना बुलाये जाता है, और जो बिना पूछे बहुत

बोलता है, और जो अपने [illegible] राजा को प्रसन्न समझता है, वह मूर्ख है ॥५३॥

दमनक बोला—भाई! मैं सेवा का अनभिज्ञ कैसे हूँ? । देखो—

[illegible] कोई भी [illegible] से ही अच्छी या बुरी होती है, [illegible]

१. '[illegible]'। २. '[illegible]' [illegible] [illegible] [illegible] स दुर्मतिः' पा०

३. '[illegible]' [illegible]। ४. '[illegible] सुन्दरम्' इति [illegible] पाठः।

यतः—

'यस्य यस्य हि यो भावस्तेन तेन हि तं नरम् ।
अनुप्रविश्य मेधावी क्षिप्रमात्मवशं नयेत्' ॥ ५५ ॥

अन्यच्च—

'कोऽत्रे'त्यहमिति ब्रूयात्, सम्यगादेशयेति च ।
आज्ञामवितथां कुर्याद्यथाशक्ति महीपतेः' ॥ ५६ ॥

अपरञ्च—

'अल्पेच्छुर्धृतिमान्प्राज्ञश्छायेवाऽनुगतः सदा ।
आदिष्टो न विकल्पेत, स राजवसतौ वसेत्' ॥ ५७ ॥

-प्रश्ने । 'अपिः सम्भावनाप्रश्नशङ्कागर्हासमुच्चये' इति कोशः । तादृशं वस्तु किमस्ति कश्चिदित्यर्थः । नैवाऽस्तीति यावत् । 'न चाऽप्यस्ति' इति तु गौडाः पठन्ति ॥५४॥

यस्य यस्य=यस्य यस्य पुंसः, भावः=अभिप्रायः, स्वभावश्च । मेधावी=बुद्धिमान् । अनुप्रविश्य = तन्मनोऽनुकूलाचरणादिभिरात्मनि विश्वासमुत्पाद्य ॥ ५५ ॥

'कोऽत्र द्वारि तिष्ठती'ति राज्ञः शब्दं श्रुत्वा 'अहम्-अस्मि' इति ब्रूयात्, किञ्च-सम्यगादेशय='आज्ञापय प्रभो' इति च सम्यग्ब्रूयात् । 'समादेशये'ति वा । किञ्च प्रभोः-आज्ञाम्-यथाशक्ति अवितथां=सत्याम् । अखण्डिताम् । यथाशक्ति स्वामिन आज्ञामवश्य पालयेदित्यर्थः ॥ ५६ ॥

अल्पेच्छुः=स्वल्पेनैव परितुष्टः । धृतिमान् = धीरः । अनुगतः=अनुगामी । आदिष्टः=आज्ञप्तः सन् । न विकल्पेत='नेदं करिष्यामि', 'अथवा करिष्यामी'-

---

इसलिये जो वस्तु जिसको अच्छी लगे, वही वस्तु उसके लिये सुन्दर है ॥ ५४ ॥

क्योंकि—जिसका जैसा अभिप्राय हो उसी अभिप्राय से उसके मनके भीतर प्रवेश कर के उसको बुद्धिमान् मनुष्य शीघ्र ही अपने वश में कर लेवे ॥ ५५ ॥

और भी—'यहाँ कौन है ?' ऐसा पूछने पर 'मैं हूँ, महाराज ! आज्ञा दीजिए', ऐसा कहना चाहिये । और यथाशक्ति राजा की आज्ञा का अवश्य पालन करना चाहिये ॥ ५६ ॥

और भी—जो मनुष्य थोड़े में ही सन्तुष्ट हो सकता हो, धीर हो, बुद्धिमान् हो,

तदत्र भयप्रस्तावे प्रज्ञाबलेनाऽहमेनं स्वामिनमात्मीयं करिष्यामि। यतः

'प्रस्तावसदृशं वाक्यं, सद्भावसदृशं प्रियम्।
आत्मशक्तिसमं कोपं, यो जानाति स पण्डितः' ॥ ५२ ॥

करटको ब्रूते—'सखे ! त्वं सेवाऽनभिज्ञः'। पश्य—

'अनाहूतो विशेद्यस्तु, अपृष्टो बहु भाषते।
आत्मानं मन्यते प्रीतं भूपालस्य, स दुर्मतिः' ॥ ५३ ॥

दमनको ब्रूते—'भद्र ! कथमहं सेवाऽनभिज्ञः'? । पश्य—

'किमप्यस्ति स्वभावेन सुन्दरं वाऽप्यसुन्दरम्?।
यदेव रोचते यस्मै, भवेत्तत्तस्य सुन्दरम्' ॥ ५४ ॥

भयप्रस्तावे = भयावसरे। [illegible] भयमुद्दिश्य। एनं = पिङ्गलकम्। प्रस्तावसदृशं = प्रस्तावानुरूपम्। सद्भावसदृशम् = स्वभावोचितम्। [illegible] यो जानाति स एव परि- ... क्रोधप्रदर्शनं कर्तुं न, [illegible] कोपस्य कर्तुं यो जानाति स [illegible] ... यो हि आत्मानं भूपालस्य प्रीतं मन्यते, स मूर्खः। [illegible]

विशेद् = [illegible] ... दुर्मतिः ॥५३॥

स्वभावेन = [illegible] सुन्दरम्, असुन्दरं वा किमपि वस्तु नास्ति [illegible] ...

अतः इस भय के प्रसङ्ग को लेकर ही मैं अपनी बुद्धि के बल से स्वामी [illegible] को अपने अधीन बना लूँगा।

क्योंकि—जो मनुष्य अवसर के अनुकूल वचन बोलना जानता है, और [illegible] के अनुकूल प्रिय बोलना जानता है, और अपनी शक्ति के अनुकूल ही [illegible] करना जानता है, वही सच्चा पण्डित है ॥ ५२ ॥

करटक बोला—मित्र ! तुम तो सेवा करना जानते नहीं हो। देखो—जो मनुष्य राजा के पास बिना बुलाये जाता है, और जो बिना पूछे [illegible] बोलता है, और जो अपने ऊपर राजा को प्रसन्न समझता है, वह मूर्ख है [illegible]

दमनक बोला—भाई ! मैं सेवा का अनभिज्ञ कैसे हूँ ?। देखो—[illegible] ... जो [illegible] को ही अच्छी या बुरी होती है, [illegible]

१. '[illegible]'। २. '[illegible]'। ३. '[illegible]'। ४. '[illegible] सुन्दरम्' [illegible]

यतः—

'यस्य यस्य हि यो भावस्तेन तेन हि तं नरम् ।
अनुप्रविश्य मेधावी क्षिप्रमात्मवशं नयेत्' ॥ ५५ ॥

अन्यच्च—

'कोऽत्रे'त्यहमिति ब्रूयात्, सम्यगादेशयेति च ।
आज्ञामवितथां कुर्याद्यथाशक्ति महीपतेः' ॥ ५६ ॥

अपरञ्च—

'अल्पेच्छुर्धृतिमान्प्राज्ञश्छायेवाऽनुगतः सदा ।
आदिष्टो न विकल्पेत, स राजवसतौ वसेत्' ॥ ५७ ॥

-प्रश्ने । 'अपिः सम्भावनाप्रश्नशङ्कागर्हासमुच्चये' इति कोशः । तादृशं वस्तु किमस्ति क्वचिदित्यर्थः । नैवाऽस्तीति यावत् । 'न चाऽप्यस्ति' इति तु गौडाः पठन्ति ॥५४॥

यस्य यस्य=यस्य यस्य पुंसः, भावः=अभिप्रायः, स्वभावश्च । मेधावी=बुद्धिमान् । अनुप्रविश्य=तन्मनोऽनुकूलाचरणादिभिरात्मनि विश्वासमुत्पाद्य ॥ ५५ ॥

'कोऽत्र द्वारि तिष्ठती'ति राज्ञः शब्दं श्रुत्वा 'अहम्-अस्मि' इति ब्रूयात्, किञ्च-सम्यगादेशय='आज्ञापय प्रभो' इति च सम्यग्ब्रूयात् । 'समादेशये'ति वा । किञ्च प्रभोः-आज्ञाम्-यथाशक्ति अवितथां=सत्याम् । अखण्डिताम् । यथाशक्ति स्वामिन आज्ञामवश्यं पालयेदित्यर्थः ॥ ५६ ॥

अल्पेच्छुः=स्वल्पेनैव परितुष्टः । धृतिमान्=धीरः । अनुगतः=अनुगामी । आदिष्टः=आज्ञप्तः सन् । न विकल्पेत='नेदं करिष्यामि', 'अथवा करिष्यामी'-

---

इसलिये जो वस्तु जिसको अच्छी लगे, वही वस्तु उसके लिये सुन्दर है ॥ ५४ ॥

क्योंकि—जिसका जैसा अभिप्राय हो उसी अभिप्राय से उसके मनके भीतर प्रवेश कर के उसको बुद्धिमान् मनुष्य शीघ्र ही अपने वश में कर लेवे ॥ ५५ ॥

और भी—'यहाँ कौन है ?' ऐसा पूछने पर 'मैं हूँ, महाराज ! आज्ञा दीजिए', ऐसा कहना चाहिये । और यथाशक्ति राजा की आज्ञा का अक्षरशः पालन करना चाहिये ॥ ५६ ॥

और भी—जो मनुष्य थोड़े में ही सन्तुष्ट हो सकता हो, धीर हो, बुद्धिमान् हो,

करटको ब्रूते-'कदाचित्त्वामनवसरप्रवेशादवमन्यते स्वामी' ।
१दमनक आह—'अस्त्येवं, तथाप्यनुजीविना स्वामिसांनिध्यमवश्यं करणीयम्' । यतः—

'दोषभीतेरनारम्भस्तत्कापुरुषलक्षणम् ।
कैरजीर्णभयाद्भ्रातर्भोजनं परिहीयते' ? ॥ ५८ ॥

परय—

'आसन्नमेव नृपतिर्भजते मनुष्यं,
विद्याविहीनमकुलीनमसङ्गतं वा ।
प्रायेण भूमिपतयः, प्रमदा, लताश्च,
यः पार्श्वतो, २वसति, तं परिवेष्टयन्ति' ॥५९॥

स्यादिति विकारं न कुर्यात्, किन्तु राज्ञाऽऽज्ञप्तः कार्यं कुर्यादेव । राजवल्लभो= राजप्रियः ॥ ५७ ॥

अवमन्यते=तिरस्कुर्यात् । अनुजीविना=भृत्येन । दोषेति । अनारम्भः= कार्यानारम्भः । हे भ्रातः-अजीर्णरोगादिभयात् कैः=जनैः खलु भोजन- परिहीयते=परित्यज्यते, न कैरपि परित्यज्यते इति भावः ॥ ५८ ॥

आसन्नं=निकटवर्तिनम् । असङ्गतम्=अयोग्यम् । प्रमदाः=स्त्रियः ।

सदा छाया की तरह राजा के पीछे २ चलने वाला हो, इधर उधर संकल्प-विकल्प न करता हो, वही मनुष्य राजा का प्यारा रह कर उसकी सेवा कर सकता है ॥५७॥

करटक बोला—बिना अवसर के (बेमौके, बिना पुकार) जाने से स्वामी फिर कहीं तुम्हारा अनादर ही कर देगा तो फिर क्या करोगे? । दमनक बोला-ऐसा हो तो भी नौकर को अपने स्वामी के पास अवश्य जाना चाहिए ।

क्योंकि—दोष के भय से कार्यों का आरम्भ नहीं करना यह कायरों का लक्षण है । हे भाई ! अजीर्ण (न पचने) के भय से भला कौन भोजन छोड़ देता है, अर्थात् कोई नहीं छोड़ता है ॥ ५८ ॥

देखो—जो मनुष्य सदा राजा के पास बना रहता है, वह चाहे मूर्ख हो अकुलीन हो, अथवा बुरा (अयोग्य) हो, राजा लोग उसको ही चाहते हैं । क्योंकि

१. 'दमनकोऽब्रवीत्' । २. 'न वसति' । ३. 'भजन्ति' पा० ।

करटको ब्रूते—'अथ तत्र गत्वा किं [1]वक्ष्यति भवान्?' दमनक आह—शृणु, 'किमनुरक्तो, विरक्तो वा मयि स्वामी'ति ज्ञास्यामि[2] तावत्।
करटको ब्रूते—'किं तज्ज्ञानलक्षणम्?' दमनको ब्रूते-शृणु—

'दूरादवेक्षणं, हासः, संप्रश्नेष्वादरो भृशम्।
परोक्षेऽपि गुणश्लाघा, स्मरणं प्रियवस्तुषु' ॥ ६० ॥
'[3]असेवके चाऽनुरक्तिर्दानं सप्रियभाषणम्।
[4]सुरक्तेश्वरचिह्नानि, दोषेऽपि गुणसङ्ग्रहः' ॥ ६१ ॥

अन्यच्च—

'कालयापनमाशानां वर्द्धनं, फलखण्डनम्।
विरक्तेश्वरचिह्नानि जानीयान्मतिमान्नरः' ॥ ६२ ॥

पार्श्वतः = निकटे। परिवेष्टयन्ति=आश्लिष्यन्ति, भजन्ते, अनुरुन्धन्ति च ॥ ५९ ॥

अवेक्षणं = स्नेहादवलोकनम्। हासः = ईषद्धास्यादिकं प्रसन्नतायाः सूचकम्। संप्रश्नेषु=परस्परकथासु च। (बात चीत में)। प्रियवस्तुषु=प्रीतिदायेषु, हर्षावसरे च ॥ ६० ॥ अनुरक्तिः = अनुरागः। अनुरक्तस्य = प्रसन्नस्य ईश्वरस्य रागादेः ॥ ६१ ॥

कालयापनं=समययापनम्। 'अद्य ददामि' 'श्वो दाताऽस्मि' 'परश्वो दास्यामि'—इत्यादिरीत्या दाने, पारितोषिकादौ च कालयापनं, न तु कार्यकरणम्। आशानां

प्रायः राजा, स्त्री, और लता, ये सब अपने पास रहने वाले के साथ ही सम्बन्ध स्थापित करते हैं, और उनसे ही प्रसन्न रहते हैं ॥ ५९ ॥

करटक बोला—अच्छा, वहाँ जाकर आप क्या कहेंगे?। दमनक बोला—सुनो, पहिले तो मैं यह जानूँगा कि स्वामी मेरे ऊपर अनुरक्त है, या विरक्त है। करटक बोला—इसके जानने के क्या लक्षण हैं?। दमनक बोला, सुनो—

दूर ही से देखना, हँसना, कुशल आदि पूछने में आदर करना, परोक्ष में भी उसके गुणों की प्रशंसा करना, प्रिय पदार्थों के अवसर में उसका स्मरण करना ॥ ६० ॥

और-सेवा न करने पर भी प्रेम रखना, देना, प्रिय वचन बोलना, दोषों में भी गुणों का ही संग्रह (ग्रहण) करना,—ये सब अनुरक्त स्वामी के चिह्न हैं ॥६१॥

और-समय बिताना, अर्थात् दान पारितोषिक आदि देने में टाल टूल करना,

१. 'वक्ष्यसि'। २. 'ज्ञास्यते तावत्'। ३. 'तत्सेवकेऽनुरक्तिश्च, दानं प्रीतिपूर्वकम्'। ४. 'अनुरक्तस्य चिह्नानि'।

एतज्ज्ञात्वा यथा चाऽयं ममाऽऽयत्तो भविष्यति, [1]तथा वदिष्या यतः—

'अपायसंदर्शनजां विपत्ति-
मुपायसंदर्शनजां च सिद्धिम् ।
मेधाविनो नीति-विधि-[2]प्रयुक्तां
पुरः स्फुरन्तीमिव दर्शयन्ति' ॥ ६३ ॥

वर्धनम्='इदं दास्यामि' 'इदं दास्यामी' त्यादिरीत्या वृथैवाऽऽशाः तत्खण्डनं च । पक्षखण्डनं=लाभस्य हानिः, अदानम् । सत्यवसरेऽनादरो ईश्वरः=स्वामी ॥६२॥

अयं = सिंहः । आयत्तः = अधीनः । अपायः=कार्यविनाशः, तस्य सन्द सम्भावना, ज्ञानं, तेन तर्किता—विपत्ति=कार्यविनाशादिविपदम् । हानि उपायः = कार्यसिद्धुपायो, विघ्नप्रतीकारश्च । सिद्धिं = कार्यसिद्धिम् । नीतिवि प्रयुक्तां = नीतिशास्त्रपर्यालोचनसम्पादिताम् । पुरःस्फुरन्तीमिव = अग्रे भास भासमानामिव,—आदावेव—दर्शयन्ति = निर्दिशन्ति । 'नीतिविदः प्रयुक्ता' पाठे—प्रयुक्ता = राजनीतिशैर्युक्तिभिर्निश्चितामित्यर्थः ॥ ६३ ॥

आशा का बढ़ाना और पक्ष का खण्डन करना, ये विरुद्ध स्वामी के लक्षण इनको बुद्धिमान् मनुष्य अच्छी तरह समझ लेवें ॥ ६२ ॥

मैं भी—यह सब समझ कर जैसे यह मेरे वश में होगा वैसा ही मैं करूँगा। क्योंकि—बुद्धिमान् लोग नीतिशास्त्र के अनुसार ही अपाय=त्रुटि, मन्त्रभेद आदि से आई हुई विपत्ति (बुराई) को, और उपाय=ठीक से कार्य से आई हुई सिद्धि को सामने झलकती हुई सी पहिले ही से दिखला देते हैं। मन्त्र (गुप्त विचार, मन्त्रणा) के अनुसार कार्य नहीं होने से, या नहीं करने होने वाली हानि और विपत्तियों को, और मन्त्रणा के अनुसार कार्य करने होने वाले फलों को, बुद्धिमान् चतुर राजनीतिज्ञ मन्त्रिगण पहिले से ही स्पष्ट देते हैं। अर्थात् हानि और लाभ का चित्र सा खींचकर पहिले से ही उपस्थित कर देते हैं ॥ ६३ ॥

1. 'तदुपदर्शनं' 'तथा करिष्यामि' पा० । 2. 'नीतिविदः प्रयुक्ताम्' पा०

[अपरञ्च-'दोषा' गुणा, गुणा दोषा, दोषा दोषा, गुणा गुणाः ।
रक्ते, विरक्ते, मध्यस्थे स्वामिनि त्रिविधा गुणाः] ॥

करटको ब्रूते—'तथाऽप्यप्राप्ते प्रस्तावे न वक्तुमर्हसि' । यतः—

'अप्राप्तकालं वचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन् ।
प्राप्नुयाद्बुद्ध्यवज्ञानमपमानं च शाश्वतम्' ॥ ६४ ॥

दमनको ब्रूते—'मित्र ! मा भैषीः, नाऽहमप्राप्ताऽवसरं वचनं [2]वदिष्यामि । यतः—

'आपद्युन्मार्गगमने, कार्यकालाऽत्ययेषु च ।
अपृष्टेनाऽपि वक्तव्यं भृत्येन हितमिच्छता' ॥ ६५ ॥

यदि च प्राप्ताऽवसरेणापि मया मन्त्रो न वक्तव्यस्तदा मन्त्रित्वमेव ममाऽनुपपन्नम् । यतः—

'कल्पयति येन वृत्तिं,[3] येन च लोके प्रशस्यते सद्भिः ।
स गुणस्तेन च गुणिना रक्ष्यः, संवर्द्धनीयश्च' ॥ ६६ ॥

प्रस्तावे=अवसरे । बुद्ध्यवज्ञानं='नाय बुद्धिमान्, किन्तु मूर्ख' इत्यपमानम् । अपमानं=तिरस्कारम् । शाश्वतम्=अनिवर्त्तनीयम् ॥ ६४ ॥

उन्मार्गगमने=कुपथगमने । कार्यकालस्य योऽत्ययः=उल्लङ्घनम्,तेषु ॥६५॥

येन-गुणेन । वृत्तिं=स्वजीवनम् । वृत्तं=सुचरितं वा । कल्पयति=संपादयति ।

करटक बोला—तो भी बिना अवसर के तुमको बोलना नहीं चाहिए ।

क्योंकि—बृहस्पति भी बिना अवसर के बोलने पर अपनी बुद्धि की अवज्ञा (तिरस्कार) कराता है, तथा सदा के लिए वह अनादृत ही हो जाता है ॥६४ ॥

तब दमनक बोला—मित्र ! तुम डरो मत, मैं बिना अवसर की बात कभी नहीं कहूँगा । क्योंकि-विपत्ति में, स्वामी के बुरे रास्ते पर चलने के समय, कार्य की हानि होने की संभावना के समय, स्वामी का हित चाहने वाले नौकर को बिना पूछे भी अवश्य स्वामी के हित की बात कहनी चाहिए ॥ ६५ ॥

और यदि अवसर पाकर भी मैं मन्त्र (अच्छी सलाह) न कहूँ तो फिर मेरा मन्त्री होना ही अनुचित और व्यर्थ है । क्योंकि—जिस गुण से अपनी जीविका चलती हो, और संसार में जिस गुण से मनुष्य प्रशंसित होता हो, वही सच्चा गुण

---

१. क्वाचित्कः पाठः । २. 'वक्ष्यामि' । ३. 'वृत्तं' ।

भद्र ! अनुजानीहि माम्, 'पिङ्गलकसमीपमहं गच्छामि ।' करटको ब्रूते-'शुभमस्तु, शिवास्ते पन्थानः, [1]यथाऽभिलषितमनुष्ठीयताम्'['इति]।

'गम्यतामर्थलाभाय, क्षेमाय, विजयाय च ।
शत्रुपक्षविनाशाय, पुनरागमनाय च' ॥ ६७ ॥

ततो दमनको विस्मित इव पिङ्गलकसमीपं गतः ।

अथ दूरादेव राज्ञा दृष्टः, साऽऽदरं प्रवेशितस्तं साष्टाङ्गं प्रणिपत्योपविष्टः । राजाऽऽह—'चिराद् दृष्टोऽसि' ? । दमनको ब्रूते—'यद्यपि मया सेवकेन श्रीमद्देवपादानां न किञ्चित्प्रयोजनमस्ति, तथापि प्राप्तकालमनुजीविना सान्निध्यमवश्यं कर्तव्यमित्यागतोऽस्मि' । किञ्च—[3]

स=उपाय । गुरुः=गुरुतरवाक्यः । सगुणो-गुणिना रक्षणीयो, वर्धनीयश्चेत्यर्थः ॥६६

अनुजानीहि=गमनाज्ञां देहि । विस्मित इव=आश्चर्यान्वित इव । श्री ... । श्रीमद्देवपादानां=श्रीमतां महाराजानाम् । भवताम् । प्राप्तकाल=यथासमयम् । सान्निध्यम्=समीपागमनम् । इति=इत्थं निश्चयं ।

है, गुणी मनुष्य को चाहिये कि उस गुण की सदा रक्षा करे और उसे सदा बढ़ाता रहे ॥ ६६ ॥

इसलिये हे भाई ! तुम मुझे जाने की आज्ञा दो, मैं अब वहाँ जाता हूँ। करटक बोला—आपका कल्याण हो । आपका मार्ग शुभप्रद हो, और आप अपना मनोरथ सिद्ध कीजिए ।

और आप धनलाभ, क्षेम, कुशल, विजय, शत्रुपक्ष का विनाश और पुनः लौट आने के लिये प्रस्थान कीजिए ॥ ६७ ॥

इसके बाद दमनक कुछ विस्मित (आश्चर्यित) सा होकर पिङ्गलक के पास गया ।

तब दूर ही से राजा ने उसे देखा और आदरपूर्वक उसे भीतर बुलाया तब वह भी उसे साष्टाङ्ग प्रणाम करके उस (सिंह) के पास ही बैठ गया । सिंह बोला—तुम बहुत दिन पर देख पड़े, क्या बात है ? ।

तब दमनक बोला कि—यद्यपि मेरी सेवा की तो श्रीमान् को कुछ आवश्यकता नहीं है, तथापि समय पर नौकर को स्वामी के पास अवश्य आना चाहिए, इसीलिये मैं आज आया हूँ ।

१. '[illegible]' । २. 'यथाभिमतमनुष्ठीयताम्' । ३. 'यतः' ।

'दन्तस्य निर्घर्षणकेन राजन् !
कर्णस्य कण्डूयनकेन वाऽपि ।
तृणेन कार्यं भवतीश्वराणां,
किमङ्ग ! वाक्पाणिमता नरेण' ॥ ६८ ॥

[1]यद्यपि चिरेणाऽवधीरितस्य देवपादैर्मे बुद्धिनाशः शङ्क्यते, तदपि न [2]शङ्कनीयम् । यतः—

'कदर्थितस्याऽपि च धैर्यवृत्ते-
र्बुद्धेर्विनाशो न हि शङ्कनीयः ।
अधःकृतस्याऽपि तनूनपातो
नाऽधः शिखा याति कदाचिदेव' ॥ ६९ ॥

निर्घर्षण = कण्डूयन, तेन । अल्पार्थे, स्वार्थे वा कः । कर्णस्य = श्रोत्रस्य । तृणेन = तृणेनापि । ईश्वराणां = राजादीनाम् । अङ्गेति सम्बोधने । हे राजन् ! वाक्पाणिमता = वाक्शक्तिसम्पन्नेन, नानाविधहस्तपादाद्यङ्गवता च, नरेण कार्यं भवतीति तु किं वक्तव्यम् ? । तेन सेवकेन कदाचित्कार्यं भवत्येवेत्यर्थः ॥ ६८ ॥

देवपादैः = भवद्भिः । चिरेण = बहोः कालात् । अवधीरितस्य = असत्कृतस्य, अनादृतस्य मम ॥ कदर्थितस्य = तिरस्कृतस्य । धैर्यवृत्तेः = धीरस्य । तनूनपातः =

और भी—हे राजन् ! दाँत खोदने के लिए और कान खोदने के लिए तृण से भी राजा महाराजा और बड़े लोगों को काम पड़ता है, फिर शरीर, वाणी, हाथ, और पाँव वाले मनुष्य की तो बात ही क्या है ? । अर्थात् मनुष्य से तो मनुष्य को काम कभी न कभी तो पड़ता ही है ॥ ६८ ॥

और यदि बहुत दिनों से आपके यहाँ से तिरस्कृत होने के कारण मेरी बुद्धि के विनाश का सन्देह आप करते हों तो, वह भी ठीक नहीं है ।

क्योंकि—यदि धीर मनुष्य का अनादर भी हो, तो भी उसकी बुद्धि के नाश की शङ्का नहीं करनी चाहिए । क्योंकि अग्नि को नीचे की ओर करने पर भी

1. 'यद्यपि देवपादैश्चिराऽवधीरितस्य मे' पा० । 2. क्वचिन्न ।

'देव ! तत्सर्वथा विशेषज्ञेन स्वामिना भवितव्यम्'। यतः—

'मणिर्लुठति पादेषु, काचः शिरसि धार्यते।
[1]यथैवाऽऽस्ते तथैवाऽऽस्तां, काचः काचो, मणिर्मणिः' ॥७०॥

अन्यच्च—

'निर्विशेषो यदा राजा समं सर्वेषु वर्तते।
तदोद्यमसमर्थानामुत्साहः [2]परिहीयते ॥ ७१ ॥

[illegible] ॥ ६९ ॥

विशेषज्ञेन=[illegible]गुणज्ञानसम्पन्नेन। स्वामिना=राज्ञा। यदि—मणिः=हीरकादिमणिः, पादेषु लुठति=याति, पात्यते। काचश्च—शिरसि धार्यते—धारितोऽपि केनापि। तथापि—यथैवास्ते=यथा येन प्रकारेण स्थितः मणिः, काचो वा, तथा स्थितः नाम, तथापि—काचः काच एव, मणिर्मणिरेव, न तेन तस्य गुणहानिर्वृद्धिर्वा ॥ ७० ॥

निर्विशेषः=गुणज्ञानशून्यः, गुणिनि, गुणरहिते च तुल्यव्यवहारः। सर्वेषु=उपजीविषु। वर्तते=व्यवहरति, भवति च। उद्यमसमर्थानाम्=उद्योगशीलानाम्। परिहीयते=नश्यति। 'परिहन्यते' इति पाठेऽपि स एवार्थः ॥ ७१ ॥

उसकी शिखा (ज्वाला) नीचे की ओर कदापि नहीं जाती है। किन्तु अग्नि की शिखा (ज्वाला) सदा ऊपर को ही जाती है ॥ ६९ ॥

हे राजन्! इसलिये स्वामी को सर्वथा (सब तरह से) विवेकी (विचारवान्) होना चाहिए।

क्योंकि—यदि मणि को पैर के नीचे रख कर ठुकराया जाता हो, और काँच को सिर पर धारण किया जाता हो, तो भी काँच काँच ही है, और मणि मणि ही है। अर्थात् इस तरह अपमान करने से भी मणि का कुछ नहीं बिगड़ता है ॥ ७० ॥

और भी—जब राजा समान रूप से योग्य और अयोग्य सभी भृत्यों को एक ही तरह समझता है, तब उद्योगी और कार्य करने में चतुर तथा समर्थ पुरुषों (भृत्यों) का उत्साह भंग हो जाता है ॥ ७१ ॥

१. '[illegible] काचः काचो, मणिर्मणिः' इति पाठान्तरम्।
२. 'परिहन्यते'।

किञ्च—

'त्रिविधाः पुरुषा राजन्नुत्तमाऽधममध्यमाः ।
नियोजयेत्तथैवैतांस्त्रिविधेष्वेव कर्मसु' ॥ ७२ ॥

यतः—

'स्थान एव नियोज्यन्ते भृत्याश्चाऽऽभरणानि च ।
न हि चूडामणिः पादे, नूपुरो[1] न च मूर्द्धनि' ॥ ७३ ॥

अपि च—

'कनकभूषणसङ्ग्रहणोचितो
यदि मणिस्त्रपुणि प्रणिधीयते ।
न स विरौति, न चापि [2]न शोभते,
भवति योजयितुर्वचनीयता' ॥ ७४ ॥

एतान्=उत्तमाधममध्यमान् । त्रिविधेषु=उत्तमाधममध्यमेषु कार्येषु ॥७२॥

स्थाने=उचिते स्थाने, योग्येषु कार्येषु च । चूडामणिः=शिरोभूषणम् । नूपुरं=पादभूषणविशेषः । ('पैंजनी, पाजेब') । 'नूपुरो न च मूर्धनि' इति पाठेतु 'ध्रियते' इति योजना ॥ ७३ ॥

कनकभूषणसङ्ग्रहणोचितः=स्वर्णाऽऽभरणस्थापनयोग्यः । त्रपुणि=रङ्गे । 'त्रपु सीसकरङ्गयोः' इति मेदिनी । प्रणिधीयते=स्थाप्यते । विरौति=न शब्दायते,

---

और हे राजन् ! उत्तम मध्यम और अधम भेद से पुरुष भी तीन प्रकार के होते हैं । इन तीनों को वैसे ही तीन प्रकार के उत्तम, मध्यम, अधम कामों में ही लगाना चाहिए ॥ ७२ ॥

और भृत्य (नौकर) और आभूषण अपने २ योग्य स्थानों पर ही लगाये जाते हैं । क्योंकि चूडामणि कभी पैर में नहीं पहिना जाता है, और पायजेब कभी सिर पर नहीं धारण किया जाता है ॥ ७३ ॥

और भी—सुवर्ण के गहनों में लगाने के योग्य श्रेष्ठ मणि को यदि शीशे (काच)

---

१. 'नूपुरं शिरसा कृतम्' । २. 'नचाऽपि निशोभते' पा० ।

अन्यच्च—

'मुकुटे रोपितः काचश्चरणाभरणे मणिः ।
न हि दोषो मणेरस्ति, किन्तु साधोरविज्ञता' ॥ ७५ ॥

परञ्च—

'बुद्धिमाननुरक्तोऽयमयं शूर, इतो भयम्' ।
इति भृत्यविचारज्ञो भृत्यैरापूर्यते नृपः' ॥ ७६ ॥

यथा हि—

'अश्वः, शस्त्रं, शास्त्रं, वीणा, वाणी, नरश्च, नारी च ।
पुरुषविशेषं[1] प्राप्य हि, भवन्ति योग्या, अयोग्याश्च' ॥७७॥

(निन्दा नहीं है)। न शोभते इति न किन्तु शोभते एवेत्यर्थः। 'न च शोभते' इति केचित्पठन्ति। वचनीयता=निन्दा ॥ ७४ ॥

चरणाभरणे=पादभूषणे। मणिः—प्रतिरोपित इत्यर्थः। साधोः=आभरणनिर्मातुः। (साधु='सुनार' 'स्वर्णकार')। अविज्ञता=गुणानभिज्ञता ॥ ७५ ॥

पुरुषविशेषं=योग्यायोग्यं, गुणागुणयुक्तम्। अर्थात्—एते हि योग्यपुरुषं प्राप्य योग्या भवन्ति, अयोग्यपुरुषं प्राप्य च अयोग्या भवन्ति ॥ ७७ ॥

में डाल दिया जाय तो भी वह मणि न कुछ कहता है, और न उसकी शोभा ही कम होती है, किन्तु उसे पाद में जड़ने वाले की ही इसमें निन्दा होती है ॥ ७४ ॥

और भी—यदि मुकुट में काँच लगाया जाय और पाँव के गहनों में मणि लगाई जाय तो इसमें मणि का तो कुछ दोष नहीं है, किन्तु लगाने वाले सुनार की ही इससे मूर्खता प्रकट सिद्ध होती है ॥ ७५ ॥

और भी देखिये—'यह बुद्धिमान् है', 'यह हमारा (भक्त) अनुरक्त है,' 'यह शूर वीर है' 'इससे मुझे भय है,' ऐसा नौकरों के विषय में पूरा २ विचार करने वाला राजा नौकरों से परिपूर्ण रहता है ॥ ७६ ॥

और भी—अश्व, शस्त्र, शास्त्र, वीणा, वाणी, पुरुष और स्त्री—ये सब पुरुषविशेष (योग्य, अयोग्य) को पाकर योग्य और अयोग्य हो जाते हैं ॥ ७७ ॥

१. [illegible]

अन्यच्च—

'किं भक्तेनाऽसमर्थेन, किं शक्तेनाऽपकारिणा ? ।
भक्तं, शक्तं च मां राजन्नाऽवज्ञातुं त्वमर्हसि' ॥ ७८ ॥

यतः—

'अवज्ञानाद्राज्ञो भवति मतिहीनः परिजन-
स्ततस्तत्प्राधान्या'द्भवति न समीपे बुधजनः ।
बुधैस्त्यक्ते राज्ये न हि भवति नीतिर्गुणवती,
विपन्नायां नीतौ, सकलमवशं सीदति जगत्' ॥ ७९ ॥

भक्तेन = अनुरक्तेनापि । असमर्थेन = शक्तिविकलेन । किं = किं फलम् ? ॥७८॥

राज्ञोऽवज्ञानात् = राजकृतात्तिरस्कारात् । परिजनः = सेवकवर्गः । मतिहीनः = मूर्खः । भवति = जायते । तत्प्राधान्यात् = मूर्खपरिजनप्राधान्यात् । बुधजनः = विद्वांसो लोकाः । सज्जनः । राजसामीप्यं जहातीत्यर्थः । नीतिः = राजनीतिः, न्यः । गुणवती = सफला । विपन्नायां = विफलायाम् । अवशं = स्वतन्त्रम् । उच्छृङ्खलम् । सीदति = विनश्यति ॥ ७९ ॥

और भी—यदि नौकर भक्त हो परन्तु शक्ति हीन हो, कार्य करने में असमर्थ हो, तो उसके रहने से भी क्या लाभ है । और भृत्य समर्थ होकर भी यदि अपकारी हो तो भी उससे क्या लाभ है ? । परन्तु हे राजन् ! मैं तो आपका भक्त और कार्य करने में समर्थ (शक्त) दोनों हूँ, इसलिये आप मेरा अनादर न करें ॥७८॥

क्योंकि—राजा के अनादर करने से नौकर बुद्धिहीन और मूर्ख हो जाते हैं, और मूर्ख भृत्यों की प्रधानता देखकर विद्वान् लोग उस राजा के पास नहीं आते हैं । और जिस राज्य को विद्वान् लोग छोड़ देते हैं, वहाँ की राजनीति कभी सफल नहीं होती है । और राजनीति के असफल होने पर सकल संसार अर्थात् सभी प्रजा उच्छृङ्खल और स्वतन्त्र होकर अन्त में नष्ट हो जाती है ॥ ७९ ॥

१. 'तत्प्राधान्याद्' ।

अपरं च देव!—
'धनं जानपदा' नित्यमर्चयन्ति नृपाऽर्चितम्।
नृपेणाऽवमतो यस्तु स सर्वैरवमन्यते' ॥ ८० ॥

किं च—
'बालादपि ग्रहीतव्यं युक्तमुक्तं मनीषिभिः।
रवेरविषये किं न प्रदीपस्य प्रकाशनम्' ? ॥ ८१ ॥

पिङ्गलकोऽवदत्—'भद्र दमनक! किमेतत्? त्वमस्मदीयप्रधाना'
मात्यपुत्र इयन्तं कालं यावत्कुतोऽपि [1]खलवाक्यान्नाऽऽगतोऽसि
इदानीं यथाऽभिमतं ब्रूहि।'

दमनको ब्रूते—'देव! पृच्छामि किञ्चित्, उच्यताम्,—'उदकार्थी स्व
पानीयमपीत्वा, किमिति विस्मित इवाऽवतिष्ठते!।' पिङ्गलकोऽवदत्—'

नृपार्चितं = राजपूजितम्। जानपदाः = देशवासिनः। पाठान्तरे—जनपदाः =
देशाः, देशवासिन इति यावत्। अवमतः = तिरस्कृतः ॥ ८० ॥ प्रदीपस्य-प्रकाशनम् = उद्दीपनं कि न
रविविषये = रवि-[illegible], रात्रौ। ॥ ८१ ॥ यथाभिमतं = यथेच्छम्। उदकार्थी = [illegible]
मानी ?। [illegible] ॥ ८१ ॥
[illegible] = उदकार्थ [illegible]। [illegible]। भद्र = युवन् (ठीक [illegible]
यथार्थी। [illegible] इव = चकित इव। व्याकुल इव। [illegible]

और भी हे देव!—राजा से पूजित धन और पूजित मनुष्य को ही राष्ट्र के [illegible]
भी सदा आदर करते हैं और उसे पूजते हैं। और राजा जिसका अनादर [illegible]
है, उसका सभी लोग अनादर करने लगते हैं ॥ ८० ॥
और भी—बालक की कही हुई भी बात यदि योग्य हो, तो वह विद्वानों [illegible]
माननी चाहिए। देखिये—सूर्य के न रहने पर क्या दीपक से प्रकाश नहीं होता
है ? अर्थात् होता ही है ॥ ८१ ॥
तब वह पिङ्गलक बोला—भद्र दमनक! यह क्या कर रहे हो ?। तुम [illegible]
प्रधान मन्त्री के पुत्र होकर भी किसी दुर्जन के कहने से इतने दिनों तक नहीं [illegible]
हो। अब जो तुम्हें कहना हो कहो। दमनक बोला—हे देव! मैं आपसे कुछ पूछ[illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] यह यह [illegible] है, परन्तु [illegible]

[illegible] ॥ १. '[illegible]' पा० । २. '[illegible]' पा० । ३. '[illegible]' ।

मुक्तं त्वया, किन्त्वेतद्रहस्यं वक्तुमस्माकं काचिद्विश्वासभूमिर्नास्ति, [1]तथापि निभृतं कृत्वा कथयामि । शृणु—सम्प्रति वनमिदमपूर्वसत्त्वाऽधिष्ठितमतोऽस्माकं त्याज्यम् । अनेन हेतुना विस्मितोऽस्मि । तथा च श्रुतो भवेत्त्वयाऽपि महानपूर्वः शब्दः । [2]शब्दाऽनुरूपेणाऽस्य प्राणिनो महता बलेन भवितव्यम् ।'

दमनको ब्रूते—'देव ! अस्ति तावदयं महान्भयहेतुः । स शब्दोऽस्माभिरप्याकर्णितः । किन्तु स किंमन्त्री यः प्रथमं [3]भूमित्यागं, पश्चाद्युद्धं चोपदिशति । अपरञ्च—देव ! अस्मिन्नेव कार्यसन्देहे भृत्यानामुपयोगो ज्ञातव्यः । यतः—

विश्वासभूमिः=विश्वासपात्रं जनः । निभृतं=गुप्तम् । अपूर्वसत्त्वाधिष्ठितम्=अद्भुतजीवाऽधिष्ठितम् । महान्=बलवान्, उच्चतरः । शब्दानुरूपेण=शब्दतुल्येन । आकर्णितः=श्रुतः । किंमन्त्री=अयोग्यो, निन्दितश्च मन्त्री । कार्यसन्देहे=

ना ही आप घबड़ा कर वापिस क्यों लौट आये ? । और उदास तथा चिन्तित कर क्यों बैठे हैं ! तब पिङ्गलक बोला–तुमने अच्छा पूछा, परन्तु इस रहस्य के हने के कारण कोई विश्वासपात्र नहीं है । तो भी मैं एकान्त में तुमसे कहता हूँ, नो,–इस समय इस वन में किसी अपूर्व प्राणी ने आकर अधिकार जमा लिया है, लिए मैं इस वन को छोड़ देना चाहता हूँ । इसी लिए मैं घबड़ाया हुआ हूँ । और तुमने भी यह अपूर्व शब्द सुना ही होगा । शब्द के अनुसार ही उस जीव का बल भी अवश्य ही अधिक होगा ।

तब यह दमनक बोला—हाँ महाराज ! यह बात तो जरूर बहुत बड़े भय की है । यह शब्द तो मैंने भी सुना है । परन्तु वह मन्त्री अच्छा और योग्य नहीं है, जो पहले राजा को देश छोड़ने के लिये कहे और पीछे लड़ाई लड़ने के लिये उपदेश देवे । ऐसे २ कठिन कार्यों के उपस्थित होने पर क्या कर्तव्य है–इस कार्य सन्देह (कठिन समस्या) के समय ही तो नौकरों का उपयोग और योग्यता जानी जाती है ।

1 'ननु तथापिः, अतश्च शृणु कथयामि' । 2 'शब्दानुरूपेण च तस्य प्राणिनो बलेनाऽपि सुमहता भवितव्यं' । 3 'मन्त्राऽस्मादपि भूमिपरित्यागं, युद्धोपदेशं देशत्यागं दिशति'—इति तु शोभनं पाठान्तरम् ।

'बन्धु-स्त्री-भृत्यवर्गस्य, बुद्धेः, सत्त्वस्य चाऽऽत्मनः।
आपन्निकषपाषाणे नरो जानाति सारताम्' ॥ ८२ ॥

सिंहो ब्रूते—'भद्र' महती शङ्का मां बाधते। दमनकः 'पुनः स्वगतम्—'अन्यथा राज्यसुखं परित्यज्य, स्थानान्तरं गन्तुं कथं सम्भाषसे ?।' प्रकाशं ब्रूते—देव ! यावदहं जीवामि तावद्भयं न कर्तव्यम्। किन्तु करटकादयोऽप्याश्वास्यन्तां, [2]यस्मादापत्प्रतीकारकाले दुर्लभः पुरुषसमवाय।'

ततस्तौ दमनक-करटकौ राज्ञा [3]सर्वस्वेनाऽपि पूजितौ, भयप्रतीकारं प्रतिज्ञाय चलितौ। करटको गच्छन्दमनकमाह—'सखे ! किं शक्[illegible]

[illegible] निःश्वासे। सिंहो [illegible] इति [illegible] पा। सत्त्वस्य=धैर्यस्य [illegible] च। आपदेव निकषपाषाणः [illegible] विग्रहः। त्रिविधिकसौटी [illegible] (त्रिविधरूपी कसौटी पर)। सारताम्=[illegible]। (सच्चाई) ॥ ८२ ॥

स्वगतम्=[illegible]। (मनही मन)। गन्तुं=[illegible]। प्रकाशम्=[illegible]। (ज़ोर से)। यस्मात्=[illegible]। (क्योंकि)। आपत्प्रतीकारकाले=[illegible] [illegible]। पुरुषसमवायः=[illegible]। राज्ञा=[illegible] सर्वस्वेन=[illegible] धनेन। प्रतिज्ञाय='भयमपनेष्याव' इति प्रतिज्ञां [illegible]

क्योंकि—मनुष्य अपने बन्धु, स्त्री, नौकर, अपनी बुद्धि और बल की (सार, तत्व) जाँच कर कसौटी पर ही जानता है ॥ ८२ ॥

सिंह बोला—भद्र ! मुझे तो इस समय बहुत अधिक भय लग रहा है। दमनक अपने मन ही मन बोला—'नहीं तो सुख राज्य का सुख छोड़कर दूसरी जगह जाने की क्यों कहते ?।' फिर ज़ोर से उसे सुनाकर बोला—महाराज ! जब तक मैं जीता हूँ, तब तक भय मत करिये। किन्तु करटक आदि को भी धैर्य (ढाढ़स) देकर प्रसन्न करना चाहिये। और उन्हें भी अपने पक्ष में पूरा २ कर लेना चाहिये, क्योंकि आपत्ति के प्रतीकार के समय में [illegible] पुरुषों (सहायों) का [illegible] होता है। इसके बाद राजा (सिंह) ने सर्वस्व (बहुत धन) देकर दमनक और करटक का पूरा २ सम्मान किया और वे दोनों भय को दूर करने की प्रतिज्ञा कर[illegible]

१ '[illegible]'। २ '[illegible]'। ३ '[illegible]'

प्रतीकारोऽयं भयहेतुरशक्यप्रतीकारो वेति न ज्ञात्वा, भयोपशमं प्रतिज्ञाय, कथमयं महाप्रसादो गृहीत'?,। यतोऽनुपकुर्वाणो न कस्याऽप्युपायनं गृह्णीयाद्विशेषतो राज्ञः । पश्य—

> 'यस्य प्रसादे पद्माऽऽस्ते, विजयश्च पराक्रमे ।
> मृत्युश्च वसति क्रोधे, सर्वतेजोमयो हि सः' ॥ ८३ ॥

तथा हि—

> 'बालोऽपि नाऽवमन्तव्यो 'मनुष्य' इति भूमिपः ।
> महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति' ॥ ८४ ॥

भयहेतुः=भयकारणम् । शक्यप्रतीकारः=दूरीकर्तुं शक्यः । अशक्यप्रतीकारः=अनिवारणीयः । भयोपशमं प्रतिज्ञाय='भयं दूरीकरिष्यामीति' प्रतिज्ञाय । महाप्रसादः=राजदत्तं पारितोषिकम् । उपायनं=पारितोषिकम् । राज्ञः उपायनं तु सर्वथा न गृह्णीयादित्यन्वयः ।

यस्य=राज्ञः । प्रसादे=प्रसन्नतायाम् । पद्मा=लक्ष्मीः । विजयः=जयः, इष्टोऽर्थश्च । 'सर्वदेवमयः' इति पठन्ति केचित् । 'सर्वतेजोमय' इति पाठे विशिष्टतेजः पुञ्जमयः ॥ ८३ ॥

मनुष्य इति=मनुष्योऽयमिति मत्वा । नाऽवमन्तव्यः=न तिरस्कार्यः । नररूपेण=मनुष्यरूपेण ॥ ८४ ॥

गये । तब करटक जाते २ दमनक से बोला—हे मित्र ! इस भय के कारण का इलाज शक्य है, या अशक्य है, इसको बिना समझे ही तुमने भयशान्ति की प्रतिज्ञा करके राजा से यह भारी पारितोषिक क्यों ले लिया । क्योंकि बिना उपकार (काम) किये किसी का भी पारितोषिक नहीं लेना चाहिए, विशेष करके राजा का । क्योंकि देखो—

जिस (राजा) की प्रसन्नता में लक्ष्मी निवास करती है, जिसके पराक्रम में विजय है, और जिसके क्रोध में मृत्यु निवास करती है, अतः वह राजा-सब तेजों (देवताओं) का निवास स्थान है ॥ ८३ ॥

और कहा भी है—यदि राजा बालक भी हो तो भी उसको साधारण मनुष्य समझ कर उसका अनादर कभी नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह राजा मनुष्य के रूप में एक बहुत बड़ा देवता ही है ॥ ८४ ॥

दमनको विहस्याह—'मित्र ! तूष्णीमास्यताम्। ज्ञातं मया भयकारणम्। बलीवर्दनर्दितं तत्। वृषभाश्चास्माकमपि भक्ष्याः, किं पुनः सिंहस्य !' करटको ब्रूते—'यद्येवं, तदा (किं पुनः[1]) स्वामित्रासस्तत्रैव किमिति[2] नापनीतः ?' दमनको ब्रूते—'यदि स्वामित्रासस्तत्रैव मुच्यते, तदा कथमयं महाप्रसादलाभः स्यात्' ? । अपरञ्च—

'निरपेक्षो न कर्त्तव्यो भृत्यैः स्वामी कदाचन ।
निरपेक्षं प्रभुं कृत्वा भृत्यः स्याद्दधिकर्णवत्' ॥८५॥

करटकः पृच्छति—'कथमेतत् ?' दमनकः कथयति—

(३) दधिकर्णविडालकथा ।

अस्त्युत्तरापथेऽर्बुदशिखरनाम्नि पर्वते दुर्दान्तो नाम महाविक्रमः सिंहः। तस्य पर्वतकन्दरमधिशयानस्य केसराग्रं कश्चिन्मूषकः प्रत्यहं छिनत्ति। [3]ततः केसराग्रं लूनं दृष्ट्वा कुपितो विवरान्तर्गतं मूषकमलभमानो

भय = डर। तस्मात् = ... यद्यपि ... चेत्। स्वामित्रासः = मित्रभयम्। किमिति = क्यों। नापनीतः = न दूरीकृतः। मुच्यते = अपगच्छति। निरपेक्षः = ... उपायः। दधिकर्णवत् = ... निरपाश्रितः स्यादित्यर्थः ॥८५॥ महाविक्रम = महापराक्रमः। केसराग्र = सटाग्रभागम्। लून = छिन्न

तब दमनक हँसकर बोला—मित्र, चुप रहो। मैंने भय का कारण जान लिया है। यह बैल का शब्द है। और बैल तो हम लोगों का भी भक्ष्य है। फिर सिंह के लिये यह भक्ष्य है—यह तो कहना ही क्या है ?।

तब करटक बोला—यदि ऐसी बात है, तो स्वामी के भय को तुमने वहीं नहीं दूर कर दिया ?। तब दमनक बोला—यदि हम स्वामी का भय वहीं दूर कर देते तो यह महान् पारितोषिक कैसे मिलता।

और भी—नौकरों को चाहिये कि अपने स्वामी को सर्वथा निश्चिन्त (बेफिक्र) कभी न करें, स्वामी को निश्चिन्त करके भृत्य दधिकर्ण के समान हो जाता है ॥८५॥

करटक ने पूछा—यह कथा कैसी है ?। दमनक बोला—

उत्तरापथ में अर्बुदशिखर नाम के पर्वत पर दुर्दान्त नाम का बड़ा भारी पराक्रमी सिंह रहता था। जब वह पर्वत की कन्दरा में सोया रहता था तो एक

१ ... पाठः। २ 'किं ...'। ३ 'ततः सिंहः केसराग्रं लूनं बुद्ध्वा'

ऽचिन्तयत्—'किं विधेयमत्र ?। भवतु। एवं श्रूयते—

'क्षुद्रशत्रुर्भवेद्यस्तु विक्रमान्नैव लभ्यते'।
'तमाहन्तुं पुरस्कार्यः सदृशस्तस्य सैनिकः' ॥ ८६ ॥

—इत्यालोच्य, तेन ग्रामं गत्वा, (विश्रामं दत्वा[3]), दधिकर्णनामा बिडालो [4]यत्नेनाऽऽनीय मांसाऽऽहारं दत्वा, स्वकन्दरे स्थापितः। [5]अनन्तरं तद्भयान्मूषकोऽपि बिलान्न निःसरति। तेनाऽसौ सिंहोऽक्षतकेसरः सुखं स्वपिति। मूषकशब्दं यदा यदा शृणोति तदा-तदा तं बिडालं मांसाऽऽहारदानेन सविशेषं संवर्द्धयति।

लभ्यमानः=अवाप्नुवन्। पुरस्कार्यः=पुरस्कारादिना सन्तोष्य नियोज्यः ॥८६॥ तेन=सिंहेन। विश्रामं दत्वा=विश्वासमुत्पाद्य। स्वकन्दरे=स्वगुहायाम्। अक्षतकेसरः=

प्रतिदिन आकर उसके केसरों को (अयालों, गर्दन के ऊपर के लम्बे-लम्बे बालों को) काट लेता था। अपने बालों को कटा हुआ देखकर सिंह बहुत क्रुद्ध होता था, परन्तु चूहा बिल में चला जाता था, अतः सिंह उसको पकड़ नहीं सकता था। इस प्रकार उसको न पाकर वह सिंह सोचने लगा कि—अब क्या करना चाहिये ?। अच्छा, ऐसा सुना जाता है, कि—जो शत्रु छोटा हो और पराक्रम से वश में नहीं आ सके, तो उस क्षुद्र शत्रु को वश में लाने के लिये उसीके सदृश क्षुद्र सैनिक को ही अग्रसर (आगे) करना चाहिए ॥ ८६ ॥

ऐसा विचार कर वह सिंह किसी ग्राम में गया और दधिकर्ण नाम की एक बिल्ली को बड़े परिश्रम से लाकर विश्राम देकर और मांस आदि का लोभ देकर अपनी कन्दरा (गुफा) में रखता। इसके बाद उस बिल्ली के भय से वह चूहा बिल से नहीं निकलता था। इसलिये वह सिंह भी बालों के नहीं कटने से आनन्दपूर्वक सोता था। और वह सिंह जब-जब चूहे का शब्द सुनता था, तब-तब मांस आदि भोजन देकर उस बिल्ली को खूब प्रसन्न करता था।

१. 'वध्यते' पा०। २. 'तमाहर्तुं' पा०। ३. 'विश्वासं कृत्वा'। इत्यधिकः पाठः। ४. 'प्रयत्नादानीय, मांसाद्याहारैः पुष्टः'। ५. 'तद्भयात्पश्चान्मूषिको बहिर्न निःसरति'।

अथैकदा स मूषकः क्षुधापीडितो बहिः सञ्चरन्बिडालेन[1] प्राप्तो,[2]व्यापादितश्च। अनन्तरं स [3]सिंहोऽनेककालं यावन्मूषकं न पश्यति, तच्छब्दमपि न शृणोति, तदा तस्याऽनुपयोगाद्बिडालस्याऽऽहारदानेऽपि मन्दादरो बभूव। [4]ततोऽसावाहारविरहाद्दुर्बलो दधिकर्णोऽवसन्नो बभूव। अतोऽहं ब्रवीमि—'निरपेक्षो न कर्त्तव्यः' इत्यादि। इति।

ततो दमनक-करटकौ सञ्जीवकसमीपं गतौ। तत्र करटकस्तरु साऽऽटोपमुपविष्टः। दमनकः सञ्जीवकसमीपं गत्वाऽब्रवीत्—'अरे वृषभ! ऽहं[5] राज्ञा पिङ्गलकेनाऽरण्यरक्षार्थं नियुक्तः[6]। सेनापतिः करटकः [7]समा

[illegible] । [illegible] यथा स्यात्तथा । सञ्चरति = [illegible] करोति । व्यापादितः = [illegible] अनेककालं यावत् = बहुकालपर्यन्तम् । तच्छब्दम् = मूषकशब्दमपि । [illegible] विनाशितः । अनुपयोगात् = प्रयोजनाऽभावात् । अवसन्नः = कृशः, [illegible]

तरुतले = वृक्षमूले । साऽऽटोपं = सगर्वम् । नियुक्तः = नियोजितः । राज्ञ[illegible] [illegible] । तात्पर्य — एषोऽहं राज्ञा पिङ्गलकेनारण्यरक्षार्थं नियुक्तः सेन

एक दिन वह चूहा भूख से पीड़ित होकर बाहर घूम रहा था, कि बिलाव ने उसे पकड़ कर मार डाला। इसके बाद सिंह ने जब बहुत दिन उस चूहे को नहीं देखा और उसका शब्द भी जब नहीं सुना, तब उस बिलाव की आवश्यकता नहीं मान कर उसको भोजन देने में भी शिथिलता करने लगा। तब भोजन न मिलने से वह दधिकर्ण नाम का बिलाव बहुत दुर्बल होकर मर गया। इसीलिये मैं कहता हूँ कि—'स्वामी को सर्वथा निरपेक्ष भी कभी नहीं करना चाहिये'—इत्यादि।

इसके बाद दमनक और करटक सञ्जीवक बैल के पास गये। उनमें से [illegible] बड़े आडम्बर (गर्व) के साथ किसी वृक्ष के नीचे बैठ गया।

और दमनक सञ्जीवक के पास जाकर बोला—अरे बैल! राजा पिङ्गलक ने वन की रक्षा के लिये जिनको नियुक्त किया है, वे सेनापति करटक तुमको [illegible]

१. 'मार्जारेण'। २. 'व्यापादितः'। ३. [illegible] ४. [illegible] ५. 'एषोऽहं राज्ञा' पा०। ६. 'नियुक्तः सेनापतिः' पा०। ७. [illegible]

ाति–'सत्वरमागच्छ, न चेदस्मदरण्याद्दूरमपसर । अन्यथा ते विरुद्धं
ं भविष्यति । नो जाने क्रुद्धः स्वामी किं विधास्यति' ? । तच्छ्रुत्वा
ञ्जीवकश्चाऽऽयात् । यतः—

'आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणां, ब्राह्मणानामनादरः ।
पृथक्शय्या च नारीणामशस्त्रविहितो वधः' ॥ ८७ ॥

ततो देशाव्यवहाराऽनभिज्ञः सञ्जीवकः सभयमुपसृत्य, साष्टाङ्गपातं
रकं प्रणतवान् । तथा चोक्तम्—

'मतिरेव बलाद्गरीयसी, यदभावे करिणामियं दशा' ।
इति घोषयतीव डिण्डिमः करिणो हस्तिपकाऽऽहतः क्वणन्' ॥८८॥

कस्त्वामाशास्यति' इत्येवं पाठः स्यात् । न चेत्=यदि नाऽऽगच्छसि तदा । स्वामी=
। किं=किं दण्डम् । आयात्=सेनापतिकरटकनिकटमायातः । अशस्त्रविहितः
ास्त्रप्रयोगं विनाऽपि कृतः । वधः=वधसदृशोऽपकारः ॥ ८७ ॥
देशव्यवहारानभिज्ञः=तत्प्रदेशव्यवहाराऽनभिज्ञः । प्रणतवान्=ननाम । मतिः=
। गरीयसी=श्रेष्ठा । यदभावे=मतेरभावे । करिणाम्=हस्तिनाम् । इयं=परवशा-

ुम उनके पास शीघ्र चलो। नहीं तो तुम इस वन से कहीं दूर चले जाओ।
ुम ऐसा नहीं करोगे, तो इसका फल अच्छा नहीं होगा, न जाने स्वामी क्रुद्ध
तुम्हारा क्या कर डाले। यह सुन कर वह सञ्जीवक सेनापति बने हुए उस
के पास आया।

क्योंकि राजा की आज्ञा को भङ्ग करना, उसे नहीं मानना, और ब्राह्मणों का
र करना, स्त्री को (पति से) पृथक् शय्या पर सुलाना, ये तीनों काम उनके
(राजा, ब्राह्मण और स्त्री के लिये) विना शस्त्र के वध के ही तुल्य हैं॥८७॥
सके बाद देश काल को न जानने वाले सञ्जीवक ने डरते २ उसके पास
, (भूमिपर साष्टाङ्ग गिर कर) उस करटक को प्रणाम किया। कहा भी है—
ल की अपेक्षा बुद्धि ही बड़ी है, जिसके न रहने से हाथियों की यह दशा है,
ना बड़ा शरीरवाला होकर भी दूसरों को वहन करता है (दूसरों को ढोता
इसी बात को मानो हाथी की पीठ पर चढ़े हुए हाथीवान् से बजाया गया

अथ सञ्जीवकः स [1]'शङ्कमाह—'सेनापते ! किं मया कर्त्तव्यम्', तदभिधीयताम्। करटको ब्रूते—'वृषभ ! यद्यत्र कानने ते स्थातुमिच्छा,[2] तदा अस्मद्देवपादारविन्दं गत्वा प्रणम। सञ्जीवको ब्रूते—'तदभयवाचं मे प्रयच्छ, गच्छामि।'

करटको ब्रूते—'शृणु रे बलीवर्द ! अलमनया शङ्कया। यतः—

'प्रतिवाचमदत्त केशवः शपमानाय न चेदिभूभुजे।
अनुहुङ्कुरुते घनध्वनिं, न हि गोमायुरुतानि केसरी' ॥ ८९ ॥

रोहणादिरूपा। करिणो डिण्डिमः=राजाज्ञाप्रसारकाले गजारोपितो डिण्डिमः। ध्वयन् = शब्दायमानः ॥ ८८ ॥

प्रयच्छ=त देहि। 'अभयं मे देहि, रक्षयामिना या दापये'त्यर्थः। गच्छामि=त्वत्स्वामिनः निकटं प्रति गच्छामि।

प्रतिवाचं=प्रत्युत्तरम्। केशवः=कृष्णः। शपमानाय=अशास्यं ब्रुवाणायानर्हस्यानुरूपाय, कुत्सनाय। चेदिभूभुजे=चेदिदेशाधिपाय शिशुपालाय। घनध्वनिम्=मेघगर्जनं प्रति। केसरी=सिंहः। गोमायुरुतानि=शृगालशब्दान्। न=हुङ्करोति। मेघस्य शब्दं स सिंहो नैव हनिष्यती यादवः ॥ ८९ ॥

नगारा (हाथी द्वारा) बज रहा है। (पहिले राजाओं की महत्वपूर्ण आज्ञायें हाथी की पीठ पर नगाड़ा रखकर, उसे बजा कर प्रजा को सुनाई जाती थीं) ॥ ८८ ॥

इसके बाद सञ्जीवक डरता हुआ सा उससे बोला—हे सेनापते ! कहिये मैं क्या करूँ, मुझे क्या करना है। करटक बोला ! अरे बैल ! इस वन में यदि तुम्हें रहने की इच्छा है, तो चलकर हमारे राजा के चरणों को प्रणाम करो। वह सञ्जीवक बोला—मुझे आप अभयदान दीजिये। मैं चलता हूँ। करटक बोला—अरे रे बैल ! यह शङ्का ही तुम मत करो कि—यह मुझे मार डालेगा।

क्योंकि—शिशुपाल के गाली देने पर भी भगवान् श्रीकृष्ण ने उत्तर नहीं दिया। क्योंकि सिंह मेघ का गर्जन सुनकर ही हुंकार करता है, परन्तु सियार के शब्दों को सुन कर वह कभी हुंकार नहीं करता है ॥ ८९ ॥

१. 'शङ्कमाह'। २. 'इच्छा वर्त्तते, तत देवपादारविन्दं प्रणम'।

अन्यच्च—

'तृणानि नोन्मूलयति प्रभञ्जनो मृदूनि नीचैःप्रणतानि स
समुच्छ्रितानेव तरून्प्रबाधते, महान्महत्स्वेव करोति विक्रमम्'

ततस्तौ सञ्जीवकं [2]कियद्दूरे संस्थाप्य,पिङ्गलकसमीपं गतौ । तत
साऽऽदरमवलोकितौ प्रणम्योपविष्टौ । राजाऽऽह—'अपि दृष्टः सः'?
दमनको ब्रूते—'देव ! दृष्टः,[3] । किन्तु यद्देवेन ज्ञात तत्तथा ।
वाऽसौ । देवं द्रष्टुमिच्छति । किन्तु महाबलोऽसौ, ततः सज्जीभूयो
दर्शयताम् । किन्तु शब्दमात्रादेव[4] न भेतव्यम् । यत'—

'अम्भसा भिद्यते सेतुस्तथा मन्त्रोऽप्यरक्षितः ।
पैशुन्याद्भिद्यते स्नेहो, वाग्भिर्भिद्यो हि कातरः' ॥ ६१ ।

प्रभञ्जनः = वायुः । नीचैः = पादयोः । प्रणतानि=नम्राणि । समुच्छ्र
उन्नतान्, लम्बांश्च । महति=उच्चे । करोति=प्रदर्शयति । अतस्त्वया त
भयेन—तस्मात्सिंहाद्भयं नैव कार्यमिति भावः ॥ ६० ॥ तथा=तथैव महाज्ञ
अम्भसा=जलपूरेण । सेतुः=संक्रमः । (पुल) । पैशुन्यात् =निन्द

और भी वायु—नीचे को तरफ झुके हुए कोमल तृणों को कभी नहीं उ
है, किन्तु ऊंचे २ वृक्षों ही को वह तोड़ती है । क्योंकि बड़े लोग बड़ों मे
ही अपना पराक्रम दिखलाते हैं, क्षुद्रजीवों पर पद रखने पैरों पर गि
प्राणियों पर बल नहीं दिखाते हैं । अतः तुम सिंह से बिलकुल मत डरो ॥

इसके बाद उस सञ्जीवक को कुछ दूर बैठाकर वे दोनों पिङ्गलक निक
गये । तब राजा ने बड़े आदर से और प्रेम पूर्ण दृष्टि से इनको देखा, और
भी प्रणाम कर के राजा के पास ही बैठ गये । तब वह राजा बोला—क
जीव को देखा ? । दमनक बोला—हे राजन् ! मैंने उसको देखा । और जैसा
समझा था,वह वैसा ही महान् बड़ा सत्त्व (जीव) है । वह आप से मिलना चाह
परन्तु वह बहुत बलवान् है, इसलिए आप सावधान होकर बैठिये और तब
दिए । परन्तु केवल शब्द से ही डरना भी नहीं चाहिये। जैसे किसी ने कहा

जल के वेग से सेतु (पुल) टूट जाता है, तथा बिना रक्षा के

१. 'प्रभञ्ज' । २. 'अतिदूरं संस्थाप्य' । ३. 'दृष्टः । यद्देवेनाऽऽशङ्कि
तेव । महाबलोऽसौ । देवं द्रष्टुमिच्छति, सज्जीभूयोपविश्यताम्' । ४. 'शब्द

तथा चोक्तम्—

'शब्दमात्रान्न भेतव्यमज्ञात्वा शब्दकारणम् ।
शब्दहेतुं परिज्ञाय कुट्टनी गौरवं गता' ॥ ९२ ॥

राजाऽऽह—'कथमेतत् ?'। दमनकः कथयति—

(४) घण्टाकर्णकुट्टनीकथा ।

अस्ति श्रीपर्वतमध्ये ब्रह्मपुराख्यं नगरम्। 'तच्छिखरप्रदेशे घण्टाकर्णो नाम राक्षसः प्रतिवसती'ति जनप्रवादः श्रूयते। एकदा घण्टामादाय पलायमानः कश्चिच्चौरो व्याघ्रेण व्यापादितः। तत्पाणिपतिता घण्टा वानरैः प्राप्ता। ते वानरास्तां घण्टामनुक्षणं वादयन्ति। ततो नगरजनैः स मनुष्यः खादितो दृष्टः, प्रतिक्षणं घण्टाऽऽरवश्च श्रूयते। अनन्तरं 'घण्टा-

भेदः=विनाशः ॥ ९१ ॥

कुट्टनी=शम्भली। गौरवं=सम्मानपूर्वकं महत्त्वम्। गता=प्राप्ता ॥ ९२ ॥

जनप्रवादः=जनश्रुतिः। अनुक्षणं=प्रतिक्षणम्। स मनुष्यः=घण्टा-

(कानाफूसी) नष्ट हो जाता है। और पैशुन्य (चुगलखोरी)से स्नेह नष्ट हो जाता है। तथा केवल वचनों से डरपोक पुरुष डर जाता है (भाग जाता है) ॥ ९१ ॥

अतः शब्द का कारण बिना जाने ही केवल शब्द सुनने मात्र से ही डरना नहीं चाहिये। देखिए, केवल शब्द का कारण समझ कर ही उस कुट्टनी ने लोक में सम्मान पाया था ॥ ९२ ॥

राजा (पिङ्गलक सिंह) बोला—यह कथा कैसे है ?। दमनक कहने लगा—

श्रीपर्वत पर एक ब्रह्मपुर नाम का नगर है। इस श्रीपर्वत की चोटी पर घण्टाकर्ण नाम का एक राक्षस रहता है, ऐसा लोग कहा करते थे। एक समय एक चोर वहाँ से घण्टा चुराकर भाग रहा था और किसी व्याघ्र ने उस चोर को मार डाला। उसके हाथ से गिरी हुई उस घण्टा को कुछ वानरों ने पा लिया। वे वानर उस घण्टा को अनुक्षण (हर समय) बजाया करते थे। तब नगरके लोगों ने देखा कि एक मनुष्य (चोर) को खा डाला गया है, और प्रतिक्षण घण्टे का शब्द भी सुनाई देता है। इसलिये लोगों ने विचार किया कि अवश्य ही घण्टाकर्ण राक्षस क्रुद्ध होकर मनुष्यों को खाता है, और घण्टा भी बजाता है। ऐसा विचार कर सब लोग नग

१. 'तच्छिखरप्रदेशे'।

कर्णः कुपितो मनुष्यान्खादति, घण्टां च वादयती'त्युक्त्वा सर्वे जना नगरात्पलायिताः ।

ततः करालया नाम कुट्टन्या विमृश्य,–'अनवसरोऽयं घण्टानादः, तत्किं मर्कटा घण्टां वादयन्ति' ?–इति स्वयं विज्ञाय, राजा विज्ञापितः–'देव ! दि कियद्धनोपचयः क्रियते, तदाऽहमेन घण्टाकर्णं साधयामि ।'

ततो राज्ञा तुष्टेन[1] तस्यै धनं दत्तम् । कुट्टन्या च मण्डलं कृत्वा, [2]तत्र णेशादिपूजागौरवं दर्शयित्वा, स्वयं वानरप्रियफलान्यादाय, वनं प्रविश्य, त्र फलान्याकीर्णानि । ततो घण्टां परित्यज्य वानराः फलाऽऽसक्ता भूवुः । कुट्टनी च घण्टां गृहीत्वा नगरमागता [3]सर्वजनपूज्याऽभवत् । तोऽहं ब्रवीमि—'शब्दमात्रान्न भेतव्यम्' इत्यादि ॥७॥

ीरः । विमृश्य = विचार्य । अनवसरः = घण्टाशब्दोऽनवसरेऽपि श्रूयमाणो घण्टा-दः । (तत्किं = तो क्या ?) । विज्ञापितः = निवेदितः । धनोपचयः = धनव्ययः । ाधयामि = अनुकूलं करोमि, प्रसादयामि । मण्डलं = कुङ्कुमादिवृत्त, त्रिकोणषट्-ोणादिरूपम् । पूजागौरवं = पूजाव्यापारप्रपञ्चम् । फलाऽऽसक्ताः = फलभक्षण-

ा भागने लगे । इसके बाद कराला नाम की एक कुट्टनी ने यह सोचा कि यह तो ण्टा बजने का समय नहीं है, जान पड़ता है कि कहीं वानरों के हाथ कोई घण्टा लग ये है, और वे वानर ही घण्टा को बजाते हैं । इस रहस्य को स्वयं जानकर उस कुट्टनी ो राजा से निवेदन किया कि—यदि कुछ रुपया खर्च किया जाय तो मैं इस घण्टाकर्ण ो सिद्ध (वश में) कर सकती हूँ । तब राजा ने प्रसन्न हो उसको बहुत सा धन या । तब उस कुट्टनी ने भी देवता इत्यादि का मण्डल बनाकर गणेश इत्यादि ी पूजा का झूठे ही आडम्बर दिखला कर, वानरों को अच्छे लगने वाले कुछ फल ले जाकर वनमें इधर उधर फेंक दिए (छोड़ दिये) । तब उस घण्टा को छोड़ कर े सब वानर उन फलों को खाने लग गये । और कुट्टनी उस घण्टा को लेकर नगर आई और सर्वमान्य (लोक पूजित) हो गई । इसीलिये मैं कहता हूँ कि— 'केवल शब्दमात्र से ही नहीं डरना चाहिये—' इत्यादि ।

१. हर्षित । २. कांचिन्न । ३. 'सकललोकपूज्या' ।

ततः सञ्जीवकमानीय दर्शनं कारितवन्तौ। पश्चात्तेनैव सह परमप्रीत्या निवसति। अथ कदाचित्तस्य सिंहस्य भ्राता स्तब्धकर्णनामा[2] सिंहः समागतः। तस्याऽऽतिथ्यं कृत्वा, समुपवेश्य, पिङ्गलकस्तदाहाराय[3] पशुं हन्तुं चलितः।

अत्रान्तरे सञ्जीवको वदति—'देव! अद्य हतमृगाणां मांसानि क्व?।' राजाऽऽह—'दमनक-करटकौ जानीतः।' सञ्जीवको ब्रूते—'ज्ञायतां किमस्ति, नास्ति वा?।'

सिंहो विमृश्याऽऽह—'नास्त्येव तत्।' सञ्जीवको ब्रूते—'कथमेतावन्मांसं ताभ्यां खादितम्?।' राजाऽऽह—'खादितं, व्ययितमवधीरितं च। प्रत्यहमेष क्रमः।'

सञ्जीवको ब्रूते—'कथं श्रीमद्देवपादानामगोचरेणैवं क्रियते?'। राजाऽऽह—'मदीयाऽगोचरेणैव क्रियते।' अथ[4] सञ्जीवको ब्रूते—'नैतदुचितम्'।

पदा॰। आनीय = [illegible]। [illegible] = [illegible] एव।
[illegible] = [illegible], [illegible] = [illegible] [illegible]। विमृश्य = विचार्य, [illegible]
[illegible]। [illegible] = [illegible], [illegible]। व्ययितम् = उपयुक्तम्, [illegible]। [illegible]
[illegible], [illegible]। क्रमः = [illegible]। अगोचरेण = अज्ञातेन। [illegible]

तब उन्होंने संजीवक को लाकर राजा से मिलाया। इसके बाद वह संजीवक परम प्रेम से वहीं सिंह के पास ही रहने लगा।

इसके बाद एक दिन उस सिंह का भाई स्तब्धकर्ण नाम का सिंह वहाँ आया। पिङ्गलक उसका आतिथ्य सत्कार कर, उसे बैठाकर, उसके भोजन के लिए पशु मारने को चला। इसी बीच में संजीवक बोला—आज के मारे हुए मृगों का मांस कहाँ है?। राजा बोला—दमनक और करटक ही जानते हैं। तब संजीवक बोला—देखिए तो मांस है, कि नहीं?। तब सिंह विचार कर (देखकर) बोला—नहीं है। संजीवक बोला—इतना मांस उन दोनों ने खा डाला?। राजा बोला—कुछ खा लिया, कुछ खर्च किया, और कुछ फेंक दिया होगा। प्रतिदिन का यही इनलोगों का क्रम है। संजीवक बोला—आपके बिना पूछे ही वे लोग ऐसा करते हैं?। सिंह बोला—हमसे बिना पूछे ही ऐसा करते हैं। तब संजीवक ने कहा—यह तो उचित नहीं है।

१. '[illegible] सिंहसमीपे निवसति'। २. 'स्तब्धकर्णो नाम सिं[illegible] [illegible]'। ३. '[illegible]'। ४. '[illegible]' [illegible]।

था चोक्तम्—

'नानिवेद्य प्रकुर्वीत भर्तुः किञ्चिदपि स्वयम् ।
कार्यमापत्प्रतीकारादन्यत्र, 'जगतीपते !' ॥९३॥

अन्यच्च—

'कमण्डलूपमोऽमात्यस्तनुत्यागो, बहुग्रहः ।
नृपते ! किंक्षणो मूर्खो, दरिद्रः किंवराटकः' ॥९४॥

'स ह्यमात्यः सदा श्रेयान्[3] काकिणीं यः प्रवर्द्धयेत् ।
'कोशः कोशवतः प्राणाः, प्राणाः प्राणा न भूपतेः' ॥९५॥

अनिवेद्य = असूचयित्वा । भर्तुः=प्रभोः । आपत्प्रतीकारात् = स्वामिन आपत्ति-
रणात् ॥ ९३ ॥

कमण्डलूपमः=कमण्डलुसदृशः । सादृश्यमेव दर्शयति—तनुत्याग इति । अल्प-
। बहुग्रहः=विपुलग्राही । (कमण्डलु में मुँह की ओर से ज्यादा पानी डाला
सकता है, पर गिरते समय टोंटी से थोड़ा-थोड़ा ही जल उससे गिरता है) ।
ण यस्यासौ-किंक्षणः । 'किञ्चित्क्षणव्यये का मे हानिः, पश्चात्पठिष्यामी'त्यादि
व्ययकारी हि जनो मूर्खो भवतीत्यर्थः । किंवराटक ='द्विचराटकविनाशेऽपि का
ने', इति, पञ्चषा वा वराटका गच्छन्तु नाम, किमेभि'रिति विचारपरो दरिद्रो
ः । (वराटकः=कौड़ी) । श्रेयान्=श्रेष्ठः । काकिणीं=स्वल्पिकामपि ।
णां दशकद्वयं यत्र काकिणी' इत्युक्ते -२० कौड़ी = १ काकिणी । (कौड़ी २

योंकि कहा भी है—हे राजन् ! अपने स्वामी (राजा आदि) की विपत्ति
करने को छोड़कर, भृत्य को और कोई भी काम अपने स्वामी से पूछे बिना
पने मनसे कभी नहीं करना चाहिये ॥ ९३ ॥

र भी—मन्त्री कमण्डलु के सदृश थोड़ा-थोड़ा देने वाला और बहुत सा
ला होता है । और हे राजन् ! क्षणभर समय को तुच्छ समझने वाला
ा है, और एक कौड़ी को भी तुच्छ समझने वाला दरिद्र होता है ॥९४॥
र वही मन्त्री सदा अच्छा है, जो दमड़ी को भी बढ़ाता है । राजाने याने

'जगतीपते.' पा० । २. 'अपरञ्च' । ३. 'यः काकिण्यामपि वर्द्धयेत्' ।
' ।

'किं चार्थेन कुलाऽऽचारैः सेव्यतामेति पूरुषः ।
धनहीनः स्वपत्न्याऽपि त्यज्यते, किं पुनः परैः' ॥९६॥

एवञ्च राज्ञः [2]प्रधानं दूषणम् । [3]पश्य—

'अतिव्ययो[4]ऽनवेक्षा च, तथाऽर्जनमधर्मतः ।
मोषणं, दूरसंस्थानं, [5]कोशव्यसनमुच्यते' ॥९७॥

पर ध्यान रक्खे)। कोशवान् भूपो.=राजा। कोशः=धनमेव। प्राणाः=धारणजीवनम्। प्राणाः—जीवनं न ॥ ९५ ॥

किञ्चेति। पुरुषः—अर्थैः=धनैरेव, सेव्यताम्=आश्रयणीयताम्, एति=गच्छति। कुलाचारैः=न कुलेन, सदाचारैश्च, न=नैव। परैः=अन्यैः ॥९६॥

चिन्तादिकमाह—अतीति। अनवेक्षा=अनिरीक्षणम्, अचिन्तनं वा। अर्जनम्=उपार्जनम्। मोषणं=अभिकृतैश्चौरैश्च कृतं चौर्यम्। दूरसंस्थानं=राजकोशस्य दूरेऽवस्थापनम्। व्यसनं=विपत्तिः। नाशहेतुः ॥ ९६ ॥

धार्यं=धाम, धनागमनम्, अनालोच्य=अविचार्य। रागान्धता=[illegible]। वित्तं=द्रव्यम्। व्ययमानः=व्ययनस्य स्वयं कुर्वन्। वैश्रवणोऽपि=कुबेरोऽपि। परिहीयते=दरिद्रो भवति ॥ ९७॥

(राजा) का प्राण तो खजाना ही है, उसके प्राण प्राण नहीं है। अर्थात् राजा के लिए प्रधान रूप खजाना ही है, अपने प्राण भी उतने जरूरी नहीं हैं ॥९५॥

और भी—पुरुष धन से ही माननीय और सेवनीय होता है, अन्य कुलाचार से संसार में वह सम्मानित नहीं होता है। क्योंकि धनहीन पुरुष को अपनी स्त्री भी छोड़ देती है, दूसरों की तो बात ही क्या है ॥९६॥

और राजा के ये तो प्रधान दोष हैं, कि—

आय से अधिक खर्च करना, धन की रक्षा के लिये विशेष ध्यान नहीं देना, अधर्म से द्रव्योपार्जन करना, किसी का धन छीन लेना, तथा अपने राज्य से दूर खजाने को रखना—ये सब खजाने की आपत्तियाँ (दोष) हैं। अर्थात् इन दोषों से राजा का खजाना (कोष) जल्दी ही नष्ट हो जाता है ॥९७॥

१. [illegible] 'किञ्चान्येऽपि' पाठस्तु न शोभनः।
२. 'प्रधानदूषणं'। ३. [illegible]। ४. 'अनवेक्षाऽपि' पाठान्तरम्। ५. 'कोश'

यतः—

'क्षिप्रमायमनालोच्य व्ययमानः स्ववाञ्छया ।
परिक्षीयत[1] एवाऽसौ धनी वैश्रवणोपमः' ॥९८॥

[2]तदाकर्ण्य स्तब्धकर्णो ब्रूते—'शृणु भ्रातः ! चिराऽऽश्रितावेतौ दमनककरटकौ सन्धिविग्रहकार्याधिकारिणौ कदाचिदर्थाधिकारे न नियोक्तव्यौ। अपरञ्च—[3]नियोगिप्रस्तावे यन्मया श्रुतं, तत्कथ्यते—

'ब्राह्मणः, क्षत्रियो, बन्धुर्नाऽधिकारे प्रशस्यते ।
ब्राह्मणः सिद्धमप्यर्थं कृच्छ्रेणाऽपि न यच्छति' ॥९९॥

चिराश्रितौ=पुरातनसेवकौ । सन्धीति । सन्धिः=मैत्री, विग्रहः=युद्धम् । समान्यस्मात्कार्यादित्यर्थः । अर्थाधिकारे=कोशरक्षणकर्मणि । नियोगप्रस्तावे='कोऽधिकारेषु नियोज्य' इति प्रसङ्गे । 'नियोगिप्रस्तावे' इति पाठे—नियोगी=राजनियुक्तोऽधिकारी । (राजकर्मचारी, अफसर, हाकिम आदि अधिकारी) ।

बन्धुः=स्वजनश्च । (एते त्रयोऽपि) । अधिकारे=कार्याधिकारे, अर्थाऽधिकारे च । ('ओहदा' 'नौकरी') । प्रशस्यते=पूज्यते । सिद्धं=लब्धम् ।

क्योंकि—अपनी आमदनी को बिना समझे ही अपनी इच्छापूर्वक शीघ्र खर्चने वाला धनी पुरुष यदि कुबेर के बराबर धनी हो तो भी नष्ट हो जाता है ॥९८॥

स्तब्धकर्ण बोला—भाई ! सुनो । ये दमनक करटक बहुत पुराने नौकर हैं, और सन्धि तथा विग्रह के अधिकारी हैं, इसलिये रुपये पैसे के काम में इनको कभी नहीं लगाना चाहिये । और भी नियोगी (अधिकारी) के विषय में जो मैंने सुना है, वह मैं तुमसे कहता हूँ—

ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा अपने बन्धुओं को, पुराने नौकरों को, और अपने उपकारी को, तथा साथ खेले हुए अपने मित्रों आदि को भी कभी किसी अधिकार में नहीं लगाना चाहिए । क्योंकि ब्राह्मण अधिकारी प्रजा से मिले हुए राजा के कर

१. भ्रमत्याऽऽस्त एवाऽसौ' इति पाठे—'भ्रमदः—निष्किञ्चनो नग्नो येन नष्टः । २. क्वचिन्न । ३. 'नियोगप्रस्तावे मया यत्किञ्चिच्छ्रुतं तत्कथयामि' ।

'नियुक्तः क्षत्रियो द्रव्ये खड्गं दर्शयते ध्रुवम् ।
सर्वस्वं ग्रसते बन्धुरात्मस्य ज्ञातिभावतः' ॥१००॥
'अपराधेऽपि निःशङ्को नियोगी चिरसेवकः ।
स स्वामिनमवज्ञाय चरेच्च निरवग्रहः' ॥ १०१ ॥
'उपकर्ताऽधिकारस्थः[2] स्वाऽपराधं न मन्यते ।
उपकारं ध्वजीकृत्य [3]सर्वमेवाऽवलुम्पति' ॥१०२॥

[illegible]=[illegible] । न प्रयच्छति=नार्पयति । 'स्वामिने' इति शेषः ॥९९॥
खड्गं दर्शयते=खड्गादिक शस्त्र गृहीत्वा युद्धाय सन्नद्धो भवति । [illegible] [illegible] । [illegible] =[illegible] ॥ १०० ॥
[illegible] । निरवग्रहः=उच्छृङ्खलः सन् ॥१०१॥ उपकर्ता [illegible] । [illegible], [illegible] च । ध्वजीकृत्य=[illegible] । अवलुम्पति=[illegible], नाशयति च ॥१०२

को (भी) इतना उद्धार करने पर भी, अनेक कष्ट देने पर भी, राजा को न देता है, [illegible] ही [illegible] है ॥ ९९ ॥

[illegible] (धन एकत्रित करने के) कार्यों में लगाया हुआ [illegible] [illegible], [illegible] करने को उद्यत होकर, [illegible] है । और [illegible] भी [illegible] जाति के होने के ही कारण [illegible] (सम्पूर्ण धन को) ही हड़प कर बैठ जाते हैं ॥१००॥

और पुराना नौकर भी—यदि वह किसी काम में [illegible] जाय तो [illegible] करके भी वह निर्भय ही रहता है । और वह स्वामी का अनादर करके उच्छृङ्खल [illegible] (बेरोकटोक) काम किया करता है ॥१०१॥

और उपकार करनेवाला [illegible] भी—यदि वह अधिकारी बना दिया जाए तो [illegible] भी अपने अपराध को कुछ भी नहीं गिनता है । और केवल एक अपने उपकार [illegible] [illegible] है ॥१०२॥

१. [illegible] । २. '[illegible]' । ३. '[illegible]' ।

'उपांशुक्रीडितोऽमात्यः स्वयं राजायते यतः ।
अवज्ञा क्रियते तेन सदा परिचयाद् ध्रुवम्' ॥ १०३ ॥
'अन्तर्दुष्टः, क्षमायुक्तः, सर्वाऽनर्थकरः किल ।
शकुनिः, शकटारश्च दृष्टान्तावत्र भूपते' ! ॥ १०४ ॥
''सदाऽमात्यो न साध्यः स्यात्समृद्धः सर्व एव हि ।
सिद्धानामयमादेश 'ऋद्धिश्चित्तविकारिणी'॥ १०५ ॥

उपांशुक्रीडितः = एकान्ते लीलासहचरः, गुप्तरहस्यवेत्ता, गूढक्रीडासहायश्च । अवज्ञा = स्वामितिरस्कारः । ध्रुवं = निश्चितमेतत् ॥१०३॥

अन्तर्दुष्टोऽपि–बहिः—क्षमायुक्तः=क्षमापरः, सर्वविधाऽनर्थकारको भवति । अत्र विषये । तत्र शकुनिर्दुर्योधनमातुलः । स्वपितुर्गान्धारराजस्य सुबलस्य दुर्योधनकारागृहबन्धनादिरूपादवमानादन्तःकलुषितो, द्यूतादियोगेन महाभारतं युद्धमुत्पाद्य, नाशं, कौरवकुलनाशञ्च कृतवान्–इत्यन्तर्दुष्टस्याऽनर्थकरत्वं सूचितम् । अथ नन्दमन्त्री—सकुटुम्बो राज्ञा कुपितेनान्धकूपे क्षिप्तः, कथञ्चिद्धृतप्राणो राज्ञा कालान्तरे कूपान्मोचितो, बहिः क्षमापरोऽपि, हृदि तं विरोधं धारयन् येन सह नन्दस्य राज्ञो विरोधमुत्पाद्य, सान्वयं तं नन्द राजानं नाशयामास । इति ॥ १०४ ॥

समृद्धः = धनादिसमृद्धश्चेत्, सर्व एव अमात्यः, न साध्यः = वशप्रतीकारो न

एकान्त अवस्था में संग खेला हुआ मित्र और राजा की एकान्त की (गुप्त) बात जाननेवाला मन्त्री भी राजा के समान ही हुकूमत करने लगता है । क्योंकि अति परिचय होने से वह सदा उस स्वामी का अनादर ही करता है ॥१०३॥

और जो मन्त्री भीतर से दुष्ट और ऊपर से क्षमावान् हो, वह भी बड़ा ही अनर्थ करने वाला होता है । हे राजन् ! इसमें शकुनि और शकटार ये दोनों दृष्टान्त हैं ॥ १०४ ॥

और जब मन्त्री अधिक सम्पन्न (धनी) हो जाता है, तब वह कभी राजा के

'सहानुक्रीडितः' इति तु गौडाः पठन्ति । (बालपन में साथ खेला हुआ)।
'सदाऽमात्यमसाध्यः' इति पा० । आपत्सौ=विविधदशान्तरं, बद्धमूल
'सदाऽऽपत्रो न साध्य' इत्यपि च पाठा० ।

'नियुक्तः क्षत्रियो द्रव्ये खड्गं दर्शयते ध्रुवम् ।
'सर्वस्वं ग्रसते बन्धुराक्रम्य ज्ञातिभावतः' ॥१००॥
'अपराधेऽपि निःशङ्को नियोगी चिरसेवकः ।
स स्वामिनमवज्ञाय चरेच्च निरवग्रहः' ॥ १०१ ॥
'उपकर्ताऽधिकारस्थः[2] स्वापराधं न मन्यते ।
उपकारं ध्वजीकृत्य [3]सर्वमेवावलुम्पति' ॥१०२॥

नियुक्तः=धनरक्षाकार्ये । न प्रयच्छति=नार्पयति । 'स्वामिने' इति शेषः ॥

खड्गं दर्शयते=भयमुत्पाद्य शस्त्रं गृहीत्वा युद्धाय सन्नद्धो भवति । ग्रसते=उपभुङ्क्ते । ज्ञातिभावतः=ज्ञातीयसम्बन्धात् ॥ १०० ॥

नियोगी=कार्याधिकृतः । निरवग्रहः=उच्छृङ्खलः सन् ॥१०१॥ उपकर्ता=उपकारको जनः । मन्यते=स्वीकुरुते, गणयति च । ध्वजीकृत्य=पुरस्कृत्य । अवलुम्पति=हरति, नाशयति च ॥१०२

को (धन को) हजार उपाय करने पर भी, अनेक कष्ट देने पर भी, राजा को नहीं देता है, किन्तु स्वयं ही खा जाता है ॥९९॥

द्रव्य सम्बन्धी (धन एकत्रित करने के) कार्यों में लगाया हुआ क्षत्रिय अधिकारी भी अवश्यमेव तलवार दिखाकर, लड़ने मरने को उतारू होकर खा जाता है । और बन्धु सम्बन्धी भी अपनी जाति के होने के ही कारण (सम्पूर्ण धन को) ही दबा कर बैठ जाते हैं ॥१००॥

और पुराना नौकर भी—यदि वह किसी काम में लगाया जाय तो अपराध करके भी वह निर्भय ही रहता है । और वह स्वामी का अनादर करके उच्छृङ्खल भाव से (बेरोकटोक) काम किया करता है ॥१०१॥

और उपकार करने वाला मनुष्य भी—यदि वह अधिकारी बना दिया जाय तो अपने अपराधों को कुछ भी नहीं गिनता है । और केवल एक अपने उपकार ही को आगे करके प्रकट रूप पर स्वामी के सम्पूर्ण धन को हड़पता रहता है॥

१. 'भवेत्' । २. 'अधिकारपदस्थः' । ३. 'सर्वमेव विलुम्पति' ।

'उपांशुक्रीडितोऽमात्यः स्वयं राजायते यतः ।
अवज्ञा क्रियते तेन सदा परिचयाद् ध्रुवम्' ॥ १०३ ॥
'अन्तर्दुष्टः, क्षमायुक्तः, सर्वाऽनर्थकरः किल ।
शकुनिः, शकटारश्च दृष्टान्तावत्र भूपते' । ॥ १०४ ॥
''सदाऽमात्यो न साध्यः स्यात्समृद्धः सर्व एव हि ।
सिद्धानामयमादेश 'ऋद्धिश्चित्तविकारिणी'॥ १०५ ॥

उपांशुक्रीडितः = एकान्ते लीलासहचरः, गुप्तरहस्यवेत्ता, गूढक्रीडासहायश्चेत्यर्थः । अवज्ञा = स्वामितिरस्कारः । ध्रुवं = निश्चितमेतत् ॥१०३॥

अन्तर्दुष्टोऽपि-बहिः—क्षमायुक्तः=क्षमापरः, सर्वविधाऽनर्थकारको भवति । अत्र = एतद्विषये । तत्र शकुनिर्दुर्योधनमातुलः । स्वपितुर्गान्धारराजस्य सुबलस्य दुर्योधनकृतकारागारबन्धनादिरूपादपमानादन्तःकलुषितो, द्यूतादियोगेन महाभारतं युद्धमुत्पाद्य, दुर्योधननाशं, कौरवकुलनाशञ्च कृतवान्—इत्यन्तर्दुष्टस्याऽनर्थकरत्वं सूचितम् । शकटारश्च नन्दमन्त्री—सकुटुम्बो राज्ञा कुपितेनान्धकूपे क्षिप्तः, कथञ्चिद्धृतप्राणो निष्कुटुम्बो राज्ञा कालान्तरे कूपान्मोचितो, बहिः क्षमापरोऽपि, हृदि तं विरोधं धारयन् चाणक्येन सह नन्दस्य राज्ञो विरोधमुत्पाद्य, सान्वयं तं नन्दं राजानं नाशयामासेतीतिहासविदः ॥ १०४ ॥

समृद्धः = धनादिसमृद्धश्चेत्, सर्व एव अमात्यः, न साध्यः = शक्यवशीकारो न

बाल्य अवस्था में साथ खेला हुआ मित्र और राजा की एकान्त की (गुप्त) बातों को जाननेवाला मन्त्री भी राजा के समान ही हुकूमत करने लगता है । क्योंकि निरन्तर परिचय होने से वह सदा उस स्वामी का अनादर ही करता है ॥१०३॥

और जो मन्त्री भीतर से दुष्ट और ऊपर से क्षमावान् हो, वह भी बड़ा ही अनर्थ करने वाला होता है । हे राजन् ! इसमें शकुनि और शकटार ये दोनों दृष्टान्त हैं ॥ १०४ ॥

और जब मन्त्री अधिक सम्पन्न (धनी) हो जाता है, तब वह कभी राजा के

---

१. 'सहपांशुक्रीडितः' इति तु गौडाः पठन्ति । (बालपन में साथ खेला हुआ)।
२ 'सदाऽमात्योऽसाध्यः' इति पा० । आपत्तौ=विविधापदनन्तरं, बद्धमूलत्वेऽपि । 'सदाऽमात्यो न साध्य' इत्यपि च पाठा० ।

'प्राप्तार्थ्यग्रहणं, द्रव्यपरीवर्तोऽनुरोधनम् ।
उपेक्षा, बुद्धिहीनत्वं, भोगोऽमात्यस्य दूषणम्' ॥ १०६ ॥
'[1]नियोग्यर्थग्रहोपायो राज्ञा नित्यं परीक्षणम् ।
प्रतिपत्तिप्रदानं च, तथा कर्मविपर्ययः' ॥ १०७ ॥

स्यात् । विद्वानां=व्यवहार-राजनीतिविदाम्, आदेशः=उक्तिः । ऋद्धिः=समृद्धिः । विनाशकारिणी = मनुष्यस्य मनसो विकृतिमुत्पादयति ॥ १०५ ॥

प्राप्तस्य अर्थस्य=धनस्य, ग्रहणं=स्वयं ग्रहणम् । द्रव्यस्य परीवर्तः=परिवर्तनम्। स्वल्पमूल्यं वस्तु निधाय, महामूल्यस्य राजवस्तुनः स्वीकारः । (राजा की बढ़िया बढ़िया चीजों को बदल लेना)। अनुरोधः=स्वाभिलषितसिद्धये-राजानुरोधः। (अपने कार्य के लिये राजा को दबाना)। उपेक्षा=राजकार्योपेक्षणम् । भोगः=राजद्रव्योपभोगः, कामोपभोगपरायणता वा ॥ १०६ ॥

नियोग=राजपुरुषः (अफसर), कार्यस्थश्च । तस्माद्राजकार्यनियुक्तात्पुरुषात् अर्थस्य=धनस्य, ग्रहः=प्राप्तिस्तस्योपाय इत्यर्थः । नित्यं परीक्षणं =तत्कार्यपरीक्षा । प्रतिपत्तिप्रदानं = विश्वासप्रदानम् । (आदर दिलाना, इनाम देना) । कर्मविपर्ययः= कार्यपरिवर्तनम् । (अधिकार की बदली कर देना) ॥ १०७ ॥

वश में नहीं आता है, क्योंकि महापुरुषों का यह कहना है कि—सम्पत्ति (अधिकार और धन) मनुष्य के चित्त को बिगाड़ देती है ॥ १०५ ॥

और मिले हुए धन को स्वयं ले लेना, राजा के द्रव्य का परिवर्तन (अदला बदली) करना, किसी बात का अनुरोध (आग्रह) करना, राजकार्यों की या राजा की उपेक्षा करना, बुद्धि की कमी होना, तथा विषयों का उपभोग करना, या राजद्रव्य का उपभोग करना, ये सब अमात्य (मन्त्री) के दोष हैं ॥ १०६ ॥

नियोगियों (राजकर्मचारियों) से अर्थ (धन) लेने के उपाय ये हैं— उन की सदा परीक्षा करते रहना, उनके कार्यों की जांच करते रहना, उनके उत्कर्ष का विश्वास देना, तथा उनका काम बदल देना ॥ १०७ ॥

---

१. 'नियोग्यर्थग्रहोपायाः' इति पा.टे. नियोग=राजद्रव्येऽधिकृत नियुक्त इत्यर्थः।

'निपीडिता वमन्त्युच्चैरन्तःसारं [1]महीपतेः ।
दुष्टव्रणा इव प्रायो भवन्ति हि नियोगिनः' ॥ १०८ ॥
'मुहुर्नियोगिनो [2]बाध्या वसुधारा [3]महीपते ! ।
सकृत्किं पीडितं स्नानवस्त्रं मुञ्चेद् द्रुतं पयः[4]' ॥ १०९ ॥

एतत्सर्वं ज्ञात्वा यथाऽवसरं व्यवहर्त्तव्यम् ।' सिंहो [5]ब्रूते—'अस्ति तावदेवं, किन्त्वेतौ सर्वथा न मम वचनकारिणौ ।' स्तब्धकर्णो ब्रूते—'एतत्सर्वं सर्वथाऽनुचितम् । यतः—

निपीडिताः=दण्डिताः सन्तः, वमन्ति=राजधनं ददति । अन्तः=निभृतं स्थापितं, सारं=धनम् ॥ १०८ ॥

नियोगिनः=कायस्थादयो, राज्याधिकारिणश्च ॥ १०९ ॥

मुहुः=वारंवार, बाध्याः=राज्ञा धनाऽऽदानाय ते पीडनीयाः । पीडिता एव ते—वसुधाराः=धनवर्षिणो भवन्ति । यद्वा—'वसुधाराः=धनचौराः—नियोगिनो मुहुः बाध्याः' इति वाऽन्वयः । स्नानवस्त्रं=धौतवस्त्रं । द्रुतं=त्वरितम् । मुञ्चेत् किं=परित्यजति किम् ? । नैव परित्यजति ॥ १०९ ॥

हे राजन्! राजकर्मचारी गण दबाने पर ही गुप्त (छिपाए हुए) धन को देते हैं। क्योंकि प्रायः ये राजकर्मचारी दुष्टव्रण (पके हुए फोड़े) की तरह ही होते हैं। अर्थात् जैसे पका फोड़ा दबाने से मवाद देता है, वैसे ही ये दबाने ही से छुपाया हुआ धन देते हैं ॥ १०८ ॥

और हे राजन्! धनी कर्मचारियों को बार २ दबाना चाहिये। क्योंकि क्या स्नान का (गीला) वस्त्र एक ही बार निचोड़ने से सब जल शीघ्र छोड़ देता है ।। अर्थात् नहीं छोड़ता है ॥ १०९ ॥

ये सब बातें समय २ पर समझ कर ही राजा को अपने कर्मचारियों के साथ व्यवहार करना चाहिये । तब सिंह बोला—बात तो यह ऐसी ही (ठीक) है, परन्तु ये करटक और दमनक किसी प्रकार से भी मेरा कहना नहीं मानते हैं । तब स्तब्धकर्ण बोला—यह सब बात तो सर्वथा अनुचित है ।

---

१. 'महीपते' पा० । २ 'बोध्या.' । ३ 'महीपतेः' । ४ 'बहूदकं' । ५ 'सिंहको' ।

'आज्ञाभङ्गकरान् राजा न क्षमेत्स्वसुतानपि ।
विशेषः को नु राज्ञश्च, राज्ञश्चित्रगतस्य च' ॥ ११० ॥

[1]अन्यच—
'स्तब्धस्य नश्यति यशो, विषमस्य मैत्री,
नष्टेन्द्रियस्य कुलमर्थपरस्य धर्मः ।
विद्याफलं व्यसनिनः, कृपणस्य सौख्यं,
राज्यं प्रमत्तसचिवस्य नराधिपस्य' ॥ १११ ॥

[2]अपरं च—
'तस्करेभ्यो, नियुक्तेभ्यः, शत्रुभ्यो, नृपवल्लभात् ।
नृपतिर्निजलोभाच्च, प्रजा रक्षेत्पितेव हि' ॥ ११२ ॥

राज्ञः=पाराशिकस्य मूर्तिमतो राज्ञः, चित्रगतस्य=भित्तिलिखितस्य च ॥११०
स्तब्धस्य=अभिमानिनो जडस्य । विषमस्य=कुटिलस्य । नष्टेन्द्रियस्य
इन्द्रियपरायणस्य । अर्थपरस्य=धनैकपरायणस्य । व्यसनिनः=द्यूतादिव्यसनाक्रान्त
सौख्यं=सुखम् । प्रमत्तसचिवस्य=दुष्टामात्यसहायस्य ॥ १११ ॥
तस्करेभ्यः=चौरेभ्यः । नियुक्तेभ्यः=दुष्टेभ्यो राजपुरुषेभ्यः । नृपवल्लभात्
राजप्रियात् । ('दर्शोगा' 'कुमाश्तिे' 'मुँहलगा') । धनिलोभात्=सुवर्णादिध

क्योंकि—राजा को चाहिए कि अपनी आज्ञा को नहीं मानने वाले अपने पु
को भी क्षमा न करे, नहीं तो सचे राजा में और राजा की तसबीर में क्या
रहेगा ? ॥ ११० ॥
और घमण्डी तथा शठ मनुष्य का यश नष्ट हो जाता है, और अनि
स्वभाव वाले तथा कपटी की—मित्रता नष्ट हो जाती है, और नष्टेन्द्रिय (इन्द्रि
परायण) पुरुष का कुल (वंश) नष्ट हो जाता है, और जो केवल धन कमाने
ही लगा रहता है, उसका धर्म नष्ट हो जाता है । और व्यसनी मनुष्य की विद्या
हो जाती है, और कृपण का सौख्य नष्ट हो जाता है, और जिस राजा का म
असावधान है, उसका राज्य ही नष्ट हो जाता है ॥ १११ ॥
और राजा को चाहिये कि वह निम्नांकितः चोरों से, अपने नौकरों से, शत्रु

१ 'न क्षमेत सुतानपि' । २ तथाऽपरम् । ३ 'तथैवापरम्' ।

'भ्रातः ! सर्वथाऽस्मद्वचनं क्रियताम् । व्यवहारोऽप्यस्माभिः कृत एव । अयं सञ्जीवकः[1] सस्यभक्तकोऽर्थाऽधिकारे नियुज्यताम् ।'

[2]तद्वचनात्तथाऽनुष्ठिते सति, तदारभ्य पिङ्गलक-सञ्जीवकयोः सर्वबन्धु-परित्यागेन महता स्नेहेन कालोऽतिवर्त्तते । ततोऽनुजीविनामप्याहारदाने शैथिल्यदर्शनाद्दमनक-करटकावन्योन्यं चिन्तयतः । तदाह दमनकः करटकम्—'मित्र ! किं कर्त्तव्यम्[3] ? । आत्मकृतोऽयं दोषः । स्वयं कृतेऽपि दोषे परिदेवनमप्यनुचितम्' । तथा चोक्तम्—

प्रजास्वेराजाऽपहारकेभ्यः कुसीदजीविभ्यः । 'निजलोभा'दिति पाठेऽपि—लोभप्रधान-राजपुरुषादिक्षोभादित्यर्थः । स्वलोभादिति वाऽर्थः ॥ ११२ ॥

व्यवहारः=धर्माधिकरणनिर्णयः (फैसला) । कार्यप्रबन्धो वा । स्वकृतं व्यवहार-मेवाह—अयमिति । तद्वचनात्=स्वभ्रातुर्वचनेन । सर्वबन्धुपरित्यागेन= दमनकादिपरिजनपरिवर्जनेन । अनुजीविनां=सेवकानाम् । परिदेवनं=चिन्तनं,

से, तथा अपने प्रिय जनों से, एवं अपने लोभ से प्रजाओं की पिता की तरह रक्षा करे ॥ ११२ ॥

और हे भाई ! आप हर प्रकार से मेरा ही कहना मानिये । हम लोगों ने यही (इस मुकदमे का फैसला' 'निर्णय') किया है, कि—घास खाने वाले इस सञ्जीवक को ही अर्थ (आय-व्यय) के अधिकार में लगा दीजिए ।

उसके कहने से पिङ्गलक ने वैसा ही किया । और तब से इन दोनों (पिङ्गलक और सञ्जीवक) का समय और सबको छोड़ देने से बड़े प्रेम से बीतने लगा । इसके बाद अपने भाई बन्धुओं को भोजन देने में भी शिथिलता होती देख कर दमनक और करटक आपस में विचार करने लगे । दमनक ने करटक से कहा—मित्र, अब क्या करना चाहिये ? । और यह तो (संजीवक को राजा से मिलाना) अपना ही किया हुआ दोष है । और अपने किये हुए दोष में अब रोना-धोना भी अनुचित ही है ।

[1] 'सस्यभक्षकः सञ्जीवको भोजनाधिकारे' । [2] 'एवद्वचनात्' पा० । [3] 'किमत्र स्थेयं' ।

'स्वर्णरेखामहं स्पृष्ट्वा, बद्ध्वाऽऽत्मानं च दूतिका ।
आदित्सुश्च मणिं साधुः, स्वदोषाद्दुःखिता इमे' ॥ ११३ ॥

करटको ब्रूते'—'कथमेतत् ?'। दमनकः कथयति—

(५) स्वर्णरेखानापितादिकथा ।

अस्ति काञ्चनपुरनाम्नि नगरे वीरविक्रमो नाम राजा। तस्य धर्माधिकारिणा कश्चिन्नापितो वध्यभूमिं नीयमानः, कन्दर्पकेतुनाम्ना परिव्राजकेन साधुद्वितीयेन 'नायं हन्तव्यः' इत्युक्त्वा वस्त्राञ्चले धृतः। राजपुरुषा ऊचुः—'किमिति नायं वध्यः'?। स आह—'श्रूयताम्। 'स्वर्णरेखामहं स्पृष्ट्वा' इत्यादि (प[२]) पठति। त आहुः—'कथमेतत् ?'। परिव्राजकः कथयति—'अहं सिंहलद्वीपस्य भूपतेर्जीमूतकेतोः पुत्रः कन्दर्पकेतुर्नाम। ए

आदित्सुः = लेना चाहनेवाला। साधुः = सेठ (सेठ) ॥ ११३ ॥

केतनम्। आदित्सु = [illegible]। साधु = सेठ (सेठ)। परिव्राजकेन=भिक्षु
धर्माधिकारी = न्यायाधिकारी ('जज' 'हाकिम')। ते = राजपुरुषाः। केलिकानन
वस्त्राञ्चले=कपड़े में। किमिति = [illegible]।

किसी ने कहा भी है—स्वर्णरेखा को छूने से मैं, और अपने को बाँधने से दूती, और मणि को लेने की इच्छा करने वाला साधु ये तीनों अपने ही दोषों से दुःखी हुए हैं ॥ ११३ ॥

करटक बोला—यह कथा कैसे है ?। दमनक कहने लगा—

काञ्चनपुर नामक एक नगर में वीरविक्रम नाम का एक राजा राज्य करता था। उसका धर्माधिकारी (न्यायाधीश) किसी नाई को फाँसी पर लटकाने की जगह से ले जा रहा था, कि कन्दर्पकेतु नामक संन्यासी ने उसे देखा और यह कहकर कि इसको मारना नहीं चाहिये। ऐसा कह कर उसने उस नाई के वस्त्र का एक कोना पकड़ लिया। तब राजा के नौकरों ने पूछा कि—इसे क्यों नहीं मारना चाहिये ?। तब यह 'स्वर्णरेखा को छूने वाला' इत्यादि श्लोक पढ़ने लगा। तब राजपुरुषों ने पूछा—यह कथा कैसे है, कहो। तब वह संन्यासी कहने लगा, कि—मैं सिंहल द्वीप के राजा

१ 'ब्रूते'। २ 'वध्य'।

केलिकाननाऽवस्थितेन मया पोतवणिङ्मुखाच्छ्रुतं, यत्–'अत्र समुद्रमध्ये चतुर्दश्यामाविर्भूतकल्पतरुतले रत्नावलीकिरणकर्बुरपर्यङ्के स्थिता, सर्वाऽलङ्कारभूषिता लक्ष्मीरिव, वीणां वादयन्ती कन्या काचित् दृश्यते' इति।

ततोऽहं तं पोतवणिजमादाय पोतमारुह्य तत्र गतः। अनन्तरं तत्र गत्वा मया पर्यङ्केऽर्धमग्ना तथैव साऽवलोकिता। ततस्तल्लावण्यगुणाऽऽकृष्टेन मयापि तत्पश्चाज्झम्पो दत्तः। तदनन्तरं कनकपत्तनं प्राप्य सुवर्णप्रासादे तथैव सा पर्यङ्के स्थिता विद्याधरीभिरुपास्यमाना[1] मयाऽऽलोकिता। तयाऽप्यहं दूरादेव दृष्ट्वा सखीं प्रस्थाप्य सादरं सम्भाषितः। तत्सख्या च मया पृष्टया

केलिकाननाऽवस्थितेन=क्रीडोद्यानस्थितेन। पोतवणिङ्मुखात्=सांयात्रिकद्वारा। आविर्भूतो यः कल्पवृक्षस्तस्य तले=अधोभागे। रत्नावलीकिरणकर्बुरपर्यङ्के=रत्नमालामयूखचित्रिते मञ्चे। सर्वालङ्कारभूषितत्वेन च लक्ष्मीसदृशम्। पोत=जलयान (जहाज)। अर्धमग्ना=अर्धसुप्ता (आधी लेटी हुई)। लावण्यमेव गुणः=रज्जुः, तेनाऽऽकृष्टेन। लावण्यञ्च गुणाश्च, तैराकृष्टेनेति वा। झम्पः=निमज्जनम्। ('गोता मारना' 'पानी में कूदना')। पत्तन=पुरम्। सुवर्णप्रासादे=कनकमये प्रासादे। तथैव=अर्धमग्ना। सम्भाषितः=सत्कृतः। 'सम्भावित' इति पाठे–भाषणादिना, कुशलप्रश्नादिना च

श्रीभूतकेतु का पुत्र कन्दर्पकेतु हूँ। एक दिन आनन्द कानन में बैठे हुए मैंने जहाजी बनिये के मुँह से सुना कि चतुर्दशी के दिन समुद्रमें एक कल्पवृक्ष प्रगट होता है, और उसी पर रत्नों की किरणों से चित्रित पलङ्ग पर लक्ष्मी के सदृश सब अलङ्कारों से भूषित, वीणा बजाती हुई एक कन्या दीख पड़ती है। इसके बाद मैं उस जहाजी बनिए को साथ लेकर जहाज पर चढ़कर उस प्रदेश में गया। तब मैंने वहाँ पलङ्ग पर आधी लेटी हुई उस कन्या को उसी प्रकार से देखा। वह मुझे देखकर समुद्र में गायब हो गई। इसके बाद उसके सौन्दर्य से मुग्ध होकर मैं भी उसके साथ ही वहीं समुद्र में कूद पड़ा। और मैं कनकपुर में जा पहुँचा। वहाँ जाकर मैंने सोने के महलों में उसे सोने के पलङ्ग पर लेटी हुई देखी। और वहीं युवती विद्याधरी गण उसकी सेवा कर रही थीं। उसने दूर ही से अपनी सखी को भेज कर मुझे बुलाया और मेरा सत्कार किया। पूछने पर

१. 'रुचिरयौवनाभिरुपास्यमाना'।

समाख्यातम्—'एषा कन्दर्पकेलिनाम्नो विद्याधरचक्रवर्तिनः पुत्री रत्नमञ्जरी नाम, प्रतिज्ञातवती[1] विद्यते, 'य कनकपत्तनं स्वचक्षुषाऽऽगत्य पश्यति, स एव [2]'चित्रगोचराऽपि मा परिणेष्यती'ति [-[3]मनसः सङ्कल्पः]। [4]तदेनां गान्धर्वविवाहेन परिणयतु भवान्।

अथ तत्र वृत्ते गान्धर्वविवाहे तया सह रममाणस्तत्राऽहं तिष्ठामि। तत्र एकदा रहसि तयोक्तम्—'स्वामिन्! स्वेच्छया सर्वमिदमुपभोक्तव्यम्, [5]परम् एषा चित्रगता स्वर्णरेखा नाम विद्याधरी न कदाचित्स्प्रष्टव्या।

तत[6]. पश्चादुपजातकौतुकेन मया सा स्वर्णरेखा स्वहस्तेन स्पृष्टा। तया च चित्रगतयाऽप्यहं[7] चरणपद्मेन ताडित आगत्य स्वराष्ट्रे पतितः। [8]अथ दुःखार्तोऽहं परिव्रजितः पृथिवीं परिभ्रम्य त्रिपुरा नगरीमनुप्राप्तः। अत्र पाटलिपुत्रे

समाख्यातम्=कथितम्। विद्याधरचक्रवर्तिनः=विद्याधरसम्राजः। प्रतिज्ञातवती=कृतप्रतिज्ञा। तस्याः प्रतिज्ञामेवाह—य इति। चित्रगोचरोऽपि=मनसिजाऽतिरिक्तोऽपि। परिणेष्यति=मया सह विवाहं करिष्यति। तत्=अस्याः प्रतिज्ञायाः पूरणार्थम्। वृत्ते=निष्पन्ने। तत्र=कनकपत्तने। गान्धर्वविवाहे=स्वेच्छाविवाहे। इदं=सर्वं पदार्थजातम्। एषा=पुरोवर्तिनी। चरणपद्मेन=पादपद्मेन। परिव्रजितः=

उसकी सखी ने मुझसे कहा कि—यह विद्याधरों के राजा कन्दर्पकेलि की पुत्री है। इसका नाम रत्नमञ्जरी है। इसकी यह प्रतिज्ञा है, कि—जो कनकपत्तन में आकर अपने नेत्रों से मुझे देखेगा, उसी के साथ मैं अपना विवाह, अपने पिता से पूछे बिना भी कर लूंगी। यही इसके मन का सङ्कल्प है। इसलिये गान्धर्व विधि से आप इससे विवाह करिये। बाद मैं उसके साथ गान्धर्व विवाह कर उसके साथ आनन्द करता हुआ वहीं रहने लगा। एक दिन एकान्त में उसने मुझसे कहा कि—'स्वामिन्! अपनी इच्छा के अनुसार आप इन सभी पदार्थों का उपभोग कर सकते हैं, परन्तु इस चित्र में जो यह स्वर्णरेखा नाम की विद्याधरी है, इसको आप कभी भूल से भी मत छूना' ऐसा।

इसके बाद मुझको बड़ा कौतुक हुआ, और मैंने उस विद्याधरी को अपने हाथ से छू दिया। यद्यपि वह चित्र था, तो भी उसने मुझे एक लात मारी और मैं आकर अपने देश में गिरा। तब मैं दुःखी होकर संन्यासी हो गया और पृथ्वी

१. 'कनका प्रतिज्ञा—कः'। २. ०चित्र। ३ क्वचिन्नः पाठोऽयम्। ४ 'तदेनां'। ५ 'किन्तु'। ६ 'अथ तदा कुतूहलवशात्...स्पृष्टा'। ७ 'पादे'।

दिवसे गोपगृहे सुप्तः सन्नपश्यम्-प्रदोषसमये [1] पशूनां पालनं कृत्वा स्वगेहमागतो गोपः स्ववधूं दूत्या सह किमपि मन्त्रयन्तीमपश्यत्। ततस्तां गोपीं ताडयित्वा स्तम्भे बद्ध्वा सुप्तः।

ततोऽर्द्धरात्रे [2] एतस्य नापितस्य वधूर्दूती पुनस्तां गोपीमुपेत्याऽवदत्—'तव विरहाऽनलदग्धोऽसौ स्मरशरजर्जरितो मुमूर्षुरिव वर्त्तते। तथा चोक्तम्—

> 'रजनीचरनाथेन खण्डिते तिमिरे निशि।
> यूनां मनांसि विव्याध दृष्ट्वा-दृष्ट्वा मनोभवः' ॥ ११४ ॥

तस्य तादृशीमवस्थामवलोक्य परिक्लिष्टमनास्त्वामनुवर्त्तितुमागता।

परित्यक्तसंस्तः। संन्यासीभूत्वा। सुहृदां=मित्राणाम्। स्ववधूं=स्वपत्नीम्। दूत्या=दूतकर्मकारिण्या नापित्या। मन्त्रयन्तीं=किमपि परामृशन्तीम्। एतस्य=भवद्भिः पश्यमानं नीयमानस्य। विरहानलदग्धः=वियोगाग्निदग्धः। असौ=नायकः। जारः। स्मरशरजर्जरितः=मन्मथबाणविदीर्णहृदयः। मुमूर्षुः=मरणासन्नः।

रजनीचरनाथेन=चन्द्रमसा। खण्डिते=नाशिते=सति। दृष्ट्वा दृष्ट्वा=चन्द्रालोके तन्नेत्रं मुहुर्मुहुर्विलोक्य। मनोभवः=कामः ॥११४॥ परिक्लिष्टमनाः=दुःखितहृदया।

र घूमता २ यहाँ आया। गत दिन एक गोप के घर में सोये हुए मैंने देखा कि सायंकाल में पशुओं का पालन करके वह गोप गोठ से घर लौटने पर आया और अपनी स्त्री को किसी दूती (कुटनी) से बात चीत करते हुए देखा। तब उसने अपनी स्त्री को पीट कर खम्भे में बाँध दिया और सो गया। इसके बाद आधी रात में इस नाई की स्त्री वह दूती फिर उस गोपी के पास आकर बोली—हे सखि! तुम्हारे विरहाग्नि से जला हुआ और काम के शरों (बाणों) से पीड़ित हुआ वह (नायक तेरा) यार मरना ही चाहता है। क्योंकि कहा भी है—

रात में चन्द्रमा ने जब अन्धकार को दूर कर दिया तब कामदेवने-युवा पुरुषों के हृदयों को ताक २ कर अपने बाणों से घायल कर दिया ॥ ११४ ॥

और उस नायक की यह अवस्था देख कर दुःखी होकर मैं तुम्हारे पास आई

१ 'स गोपो गोष्ठादागतःस्ववधूं'। २ 'यस्य'।

तदहमत्राऽऽमान 'बद्ध्वा तिष्ठामि । त्वं तत्र गत्वा, तं सन्तोष्य, सत्वरमागच्छ ।'

तथाऽनुष्ठिते सति स गोपः प्रबुद्धोऽवदत्—'इदानीं त्वं पापिष्ठे ! जारान्तिकं [illegible] न यासि ?'। ततो यदाऽसौ न किञ्चिदपि ब्रूते, तदा क्रुद्धो गोपः—'दर्पात् मम वचसि प्रत्युत्तरमपि न ददासि' इत्युक्त्वा, कोपेन तेन कर्त्रिकामादाय तस्या नासिका छिन्ना । तथा कृत्वा पुनः सुप्तो गोपो निद्रामुपगतः । अथाऽऽगत्य सा गो[illegible] दूतीं [illegible]—'का वार्ता ?' । [illegible] 'मम मुखमेव वार्तां कथयति । अनन्तरं सा [illegible]

[illegible]=[illegible]। [illegible] तथाऽनुष्ठिते=आमां दृष्ट्वा, [illegible] गोपी [illegible] । [illegible]=[illegible] । [illegible] (अपने यार के पास) । [illegible] । गोपी=गोपी । [illegible]=[illegible] । तथा [illegible] । [illegible] । [illegible]=[illegible] । वार्ता=वृत्तान्त । ([illegible]) [illegible] नासिकाम् । [illegible] रहती है, [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

¹तथा कृत्वाऽऽत्मानं बद्ध्वा स्थिता । इयं च दूती तां छिन्नां ²नासिकां गृहीत्वा ³स्वगृहे प्रविश्य स्थिता । ततः⁴ प्रातरेवाऽनेन नापितेन स्ववधूः क्षुरभाण्डं याचिता ⁵सती क्षुरमेकं प्रादात् । ततोऽसमग्रभाण्डे प्राप्ते समुपजातकोपोऽयं नापितस्तं क्षुरं दूरादेव गृहे क्षिप्तवान् । अथ ⁶कृताऽऽर्त्तरावेयं विनाऽपराधेन मे नासिकाऽनेन छिन्नेत्युक्त्वा धर्माधिकारिसमीपमेनमनीतवती । सा च गोपी तेन गोपेन पुनः पृष्टोवाच—'अरे ⁷पाप ! को मां महासतीं विरूपयितुं समर्थः ? । मम व्यवहारमकल्मषमष्टौ लोकपाला एव जानन्ति' । यतः—

का क्या हाल है ?) । पापी = स्वनासिकाच्छेदनपापात्मन् । स्ववधूः = स्वपत्नी नापिती । क्षुरभाण्डं = क्षौरसाधनभाण्डम् । ('लोगर' 'उस्तरों का डिब्बा') । असमग्रभाण्डे = असम्पूर्णे क्षुरभाण्डे । कृतार्त्तरावा = कृताक्रन्दा । (चिल्लाती हुई) । अपराधं विनाऽपि अनेन = भर्त्रा । एनं = नापितम् । विरूपयितुं = छिन्ननासिकां विधातुम् । व्यवहारं = चरितम् । अकल्मषं = निष्पापं, शुद्धम् । लोकपालाः = रविचन्द्राऽग्निवाय्वादयः ।

की तरह अपने आप बँधकर खड़ी हो गई । और यह दूती नाइन अपनी उस कटी हुई नाक को लेकर अपने घर में जाकर चुप चाप बैठ गई । और प्रातःकाल उस नाई ने अपनी स्त्री (दूती) से छूरा रखने का डिब्बा माँगा, तब उसने एक छूरा उसे दे दिया । तब उसने पूरा २ डिब्बा न पाकर मारे क्रोध के दूर ही से उस छूरे को घर में फेंक दिया । इसके बाद उस नाई की स्त्री ने कोलाहल मचाना आरम्भ कर दिया कि बिना अपराध ही इसने मेरी नाक काट डाली है । ऐसा कह कर अपने पति इस नाई को न्यायकर्ता (जज) के पास ले आई । और उधर उस ग्वाल ने भी गोपी से फिर वही प्रश्न पूछा कि अपने जार के पास आज तू क्यों नहीं जाती है ? । अपनी कटी हुई नाक उसको दिखलाने क्यों नहीं गई ? । तब वह बोली—अरे पापी ! मुझ सती का रूप कौन बिगाड़ सकता है ? । मेरे व्यवहार को तो इन्द्र आदि आठों लोकपाल ही जानते हैं, कि मैं कैसी सती स्त्री हूँ । तू पामर और मुझे क्या जानेगा ।

१ 'पूर्ववदात्मानं बद्ध्वाऽवस्थिता' । २ 'छिन्ननासिकां' । ३ 'निजगृहे' । ४ 'ततोऽनेन' । [illegible]

तद्दहमत्राऽऽत्मानं [1]बद्ध्वा तिष्ठामि । त्वं तत्र गत्वा, तं सन्तोष्य, सत्वरमागच्छ ।'

तथाऽनुष्ठिते सति स गोपः प्रबुद्धोऽवदत्—'[2]इदानीं त्वं पापिष्ठे जारान्तिकं कुतो न यासि' ? । ततो यदाऽसौ न किञ्चिदपि ब्रूते, तदा क्रुद्ध गोपः—'दर्पान्मम [3]वचसि प्रत्युत्तरमपि न ददासि' इत्युक्त्वा, कोपेन [4]कर्त्रिकामादाय तस्या नासिका छिन्ना । तथा कृत्वा पुनः सुप्तो गोपो निद्रामुपगतः । अथाऽऽगत्य सा गोपी दूतीमपृच्छत्—'का वार्ता ?' । [5]दूत्योक्तं—पश्य, 'मम मुखमेव वार्तां कथयति । अनन्तरं सा गोपी

अनु ...तुम् = अनुष्ठातुम् । तत्र=नायकनिकटे । तथाऽनुष्ठिते=आत्मानं बद्ध्वा गोपीलोचने ... ... । प्रबुद्धः = सुप्तोत्थितः । जारान्तिकं = रन्तायकनिकटे । (अपने यार के पास) । ... । असौ=गोपी । ब्रूते=प्रत्युत्तरं ददाति । दर्पात् = अभिमानात् । तेन = ... । कर्त्रिकाम्=छुरिकाम् । तथा कृत्वा=छित्त्वा नासिका ... । दू...=... नासिका ... । वार्ता=वृत्तान्तः । (इधर

... तक बंध कर खड़ी रहती है, और दू है । अतः यहाँ पर इस ... तो मैं तब तक ... बंधी था । यहाँ जाकर उस ... को सन्तुष्ट कर शीघ्र चली आ । तब गोपी ने इस नाइन (दूती) को तो खम्भे में बान्ध दिया और आप अपने ... के पास चली गई । जब ऐसा परिवर्तन इधर हो गया तब ... ऐसी (...) अब अपने यार के पास क्यों नहीं जा... ... जाता और ऐसा ... पापिनि ! जब वह कुछ नहीं बोली, तब वह गोप ... होकर ऐसा ... है ! । इसके ... जब वह ... नहीं बोली ... बातों का जवाब भी नहीं देती है ! । ऐसा कह ... ... मेरे घमण्ड में ... उस दूती की नाक काट डाली । ऐसा करके ... छुरी (...) लेकर उसने उस दूती की नाक काट डाली । तब गोपी ने बाहर से ... फिर सो गया और उसको नींद आ गई । तब गोपी ने ... नहीं है न ! । तब दूती ने ... दूती से पूछा कि क्या बात है ? । ... यह मुख ही सब हाल कह रहा है । इसके बाद वह गोपी ... देखिये, मेरा मुख ही सब हाल कह रहा है ।

१. 'तदहमात्मानं' । २. 'इदानीं जारान्तिकं कथं न यासि' । ३. 'वचनम्' । ४. 'कर्त्रिकामादाय नासिका' । ५. 'दूत्युवाच' । ६. 'पश्य, मन्मुखं वदनं' ।

[1]तया कृत्वाऽऽत्मानं बद्ध्वा स्थिता । इयं च दूती तां छिन्नां [2]नासिकां गृहीत्वा [3]स्वगृहे प्रविश्य स्थिता । ततः[4] प्रातरेवाऽनेन नापितेन स्ववधूः क्षुरभाण्डं याचिता [5]सती क्षुरमेकं प्रादात् । ततोऽसमग्रभाण्डे प्राप्ते समुपजातकोपोऽयं नापितस्तं क्षुरं दूरादेव गृहे क्षिप्तवान् । अथ [6]कृताऽऽर्त्तरावेयं 'विनाऽपराधेन मे नासिकाऽनेन छिन्ने'त्युक्त्वा धर्माधिकारिसमीपमेनमनीतवती । सा च गोपी तेन गोपेन पुनः पृष्टोवाच—'अरे [7]पाप ! को मां महासती विरूपयितुं समर्थः ? । मम व्यवहारमकल्मषमष्टौ लोकपाला एव जानन्ति' । यतः—

[illegible] क्या हाल है ?) । वार्ता = स्वनासिकाच्छेदनव्यापारम् । स्ववधूः = स्वपत्नी [illegible]र्पिता । क्षुरभाण्डं = क्षौरसाधनभाण्डम् । ('लोचर' 'उस्तरों का डिब्बा') । [illegible]समग्रभाण्डे = असम्पूर्णे क्षुरभाण्डे । कृतार्त्तरावा = कृताक्रन्दा । (चिल्लाती हुई) । [illegible]पराध विनाऽपि अनेन = मद्भर्त्रा । एनं = नापितम् । विरूपयितुं = छिन्ननासिकां [illegible]कर्तुम् । व्यवहारं = चरितम् । अकल्मषं = निष्पापं, शुद्धम् । लोकपालाः = [illegible]यमवरुणचन्द्राग्निवाय्वादयः ।

[illegible] तरह अपने आप बंधकर खड़ी हो गई । और यह दूती नाइनी अपनी उस [illegible] हुई नाक को लेकर अपने घर में जाकर चुप चाप बैठ गई । और प्रातःकाल [illegible]न ई ने अपनी स्त्री (दूती) से छूरा रखने का खोखर माँगा, तब उसने एक [illegible] उसे दे दिया । तब उसने पूरा २ खोखर न पाकर मारे क्रोध के दूर ही से [illegible] छूरे को घर में फेंक दिया । इसके बाद उस नाई की स्त्री ने कोलाहल मचाना [illegible] कर दिया कि बिना अपराध ही इसने मेरी नाक काट डाली है । ऐसा कह [illegible] इसने भी इस नाई को न्यायकर्ता (जज) के पास ले आई । और उधर [illegible] ने भी गोपी से फिर वही प्रश्न पूछा कि अपने जार के पास आज तूं [illegible] हो जाती है ? । अपनी कटी हुई नाक उसको दिखलाने क्यों नहीं गई ? । तब [illegible] बोली—अरे पापी ! मुझ सती का रूप कौन बिगाड़ सकता है ? । मेरे [illegible] व्यवहार को तो इन्द्र आदि आठों लोकपाल ही जानते हैं, कि मैं कैसी सती [illegible] । तूं पामर जीव मुझे क्या जानेगा ।

---

[1] '[illegible]तदात्मानं बद्ध्वाऽवस्थिता' । [2] 'छिन्ननासिका' । [3] 'निजगृहे' । [4] '[illegible]तेन' । [5] 'क्षुरभाण्डमदत्ता' । [6] 'कृतार्त्तनादेयं' । [illegible]

'आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च,
द्यौर्भूमिरापो, हृदयं, यमश्च ।
अहश्च, रात्रिश्च, उभे च सन्ध्ये,
धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम्' ॥ ११५ ॥

यद्यहं परमसती स्यां, त्वां विहायाऽन्यं न जाने, पुरुषाऽन्तरं स्वप्नेऽपि न हि भजे, ('तर्हि) तेन धर्मेण छिन्नाऽपि मम नासिकाऽच्छिन्नाऽस्तु । मया त्वं भस्म कर्तुं शक्यसे । किन्तु स्वामी त्वं, लोकभयादुपेक्षे, 'त्वम् पश्य मन्मुखम्' । ततो यावदसौ गोपो दीपं प्रज्वाल्य[2], तन्मुखमवलोके, [3]तावदुन्नसं मुखमवलोक्य, तच्चरणयोः पतितः—'धन्योऽहं यस्येदृशी भार्या परमसाध्वी' इत्युवाच[4] ।

अनिलः = वायुः । अनलः = अग्निः । द्यौः = गगनम् । वृत्तं = शीलं चरित्रम् । (चाल-चलन) ॥ ११५ ॥
उपगम् = उपगन्तारमित्यर्थः । नासिकाच्छिन्नाम् । इति = तदुक्त वा । साधुः = भोली ।

क्योंकि सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि, आकाश, पृथिवी, जल, मन, यमराज, दिन, रात, दोनों सन्ध्या (प्रातःसन्ध्या और सायंसन्ध्या) और धर्म देव मनुष्य के वृत्त (शील, चरित्र) को जानते हैं ॥ ११५ ॥

और यदि मैं परम सती और सच्ची पतिव्रता होऊँ, और तुमको छोड़ कर दूसरे पुरुष को मैं नहीं जानती होऊँ, और स्वप्न में भी कभी मैं पर पुरुष का भजन (सेवन) नहीं करती होऊँ, तो मेरी कटी हुई नाक भी जैसी की तैसी (पहले की तरह ही ठीक) हो जाय । और मैं तो तुमको भस्म कर सकती हूँ, पर तुम स्वामी (पति) हो, इस लिये लोकभय से ही मैं तुम्हारी उपेक्षा करती हूँ (छोड़ देती हूँ, भस्म नहीं करती हूँ) । और लो, मेरा मुख देखो । इसके बाद दीप जला कर जब उसके मुख को देखा तो पूर्ववत् ऊँची नाक वाले मुख को देख कर, उसके पावों पर गिर पड़ा । और बोला कि—धन्य हूँ मैं कि जिसके ऐसी पतिव्रता स्त्री है ।

१ यदि स्वं । २ 'प्रदीपमानीय त्वया मुखं पश्यति' ।
३ 'तावदहम्' । ४ 'उवाचेति' पाठान्तरम् ।

याऽयमास्ते साधुरेतद्वृत्तान्तमपि [1]कथयामि । शृणुत—

'अयं स्वगृहान्निर्गतो[2] द्वादशवर्षैर्मलयोपकण्ठादिमां नगरीमनुप्राप्तः[3] । अत्र च वेश्यागृहे सुप्तः । [4]ततः कुट्टन्या गृहद्वारि स्थापितस्य काष्ठघटितवेतालस्य मूर्धनि रत्नमेकमुत्कृष्टमास्ते । [5]तत्र लुब्धेनाऽनेन साधुना रात्रावुत्थाय[6] रत्नं गृहीतुं यत्नः कृतः । तदा[7] तेन वेतालेन सूत्रसञ्चारितेन बाहुभ्यां पीडितः सन्नार्त्तनादमयं चकार । पश्चादुत्थाय कुट्टन्योक्तम्—'पुत्र! मलयोपकण्ठादागतोऽसि, तत्सर्वरत्नानि प्रयच्छाऽस्मै, नो चेदनेन न त्यक्तव्योऽसि । इत्थमेवाऽयं चेटकः ।' ततोऽनेन सर्वरत्नानि समर्पितानि । अधुना[8] चाऽयमपहृतसर्वस्वोऽस्मासु समागत्य[9] मिलितः ।

मलयोपकण्ठात्=मलयाऽचलसमीपप्रदेशाद्विलासरात् । तस्याः कुट्टन्या=वेश्याया-जनन्या । वेश्याया उपमात्रा । ('वेश्यामाता' 'नायका')। काष्ठघटितवेतालस्य=काष्ठनिर्मितवन्त्रमयवेतालस्य । वेतालो भूतविशेषः । अस्मै=वेतालाय । चेटकः=मायाविलासः । ('तिलस्म' 'जादू' टोना)। एतन्मोचनोपायः । (इस से छूटने का यही एक उपाय है) । अस्मासु=परिव्राजकेषु । न्याये=न्यायोऽत्र विचारणमिति ।

और हमारे साथ में और यह जो बनिया है, इसका वृत्तान्त भी मैं आप लोगों से कहता हूँ, सुनिये । यह वैश्य अपने घर से निकल कर बारह वर्ष के बाद मलयाचल के पास से धन कमाकर इस नगरी में आया । और यहाँ किसी वेश्या के घर में रात को सो गया । उस वेश्या की माता कुट्टनी ने अपने द्वार पर एक काठ का वेताल (भूत, पिशाच, पुतला) खड़ा कर रक्खा था, जिस के सिर पर एक १ बहुमूल्य रत्न जड़ा हुआ था । यहाँ इस लोभी बनिये ने रात को उठ कर उस रत्न को लेने का यत्न किया । तब उस वेताल (पुतली) ने यन्त्र से चलने वाले अपने बाहुओं से इसको ओर से दबाया तो यह चिल्लाने लगा । तब वह कुट्टनी उठ कर बोली कि बेटा ! मलयाचल से तुम आये हो, अतः तुम्हारे पास अवश्य जवाहिरात होंगे, सो तुम उन सब रत्नों को इसे दे दो, नहीं तो नहीं छूटोगे । इस भूत से छूटने का यही एक उपाय है । यह जादू (तिलस्म) इसी प्रकार का है । तब यह अपना सारा धन रत्न उसको देकर भिक्षु होकर हम लोगों में आकर मिल गया ।

१ 'कथितम्' । २ 'निःसृतो' । ३ 'आगतः' । ४ 'तस्या' । ५ 'तद्रत्नाऽर्थं-...ना' । ६ 'इन रत्नो दत्तः' । ७ 'तदैव' । ८ 'चायमपि इत' । ९ 'समागत्य...हृतः' ।

एतमर्थं श्रुत्वा राजपुरुषैर्न्यायेऽ धर्माधिकाराः प्रवर्त्तिताः। अनन्तरं तेन मा[2] दूती गोपी च ग्रामाद्बहिर्निःसारिते। नापितश्च गृहं गतः। कुट्टनी दण्डिता। मायाश्च रत्नानि दापितानि। अतोऽहं ब्रवीमि—'रत्नरेखामहं दृष्ट्वा' इत्यादि। [3]

[3]अथ स्वय कृतोऽय दोष, अत्र विलपनं नोचितम्। (यथा विग्रह-) मित्र [4]यथाऽनया सौहार्दं मया कारितं, तथा मित्रभेदोऽपि[5] मया कार्यं। यत —

'आख्यान्यपि तथ्यानि दर्शयन्त्यतिपेशलाः[6]।
समे निम्नोन्नतानीव चित्रकर्मविदो जनाः' ॥ १२६ ॥

...िता = प्रतिज्ञा। ...=नेनाऽऽगमेन। तेन धर्माधिकारिणा वा। रत्नरेखा = ...आत्मना कृ...। विलपन = परिदेवनम्। मया = दमनकेन। अतिपेशला = चतुरा। ...=...। तथ्यानि = तथ्यानीव। अतथ्यानि = ...सत्यान्यपि वस्तूनि। निम्नोन्नतानीव = पर्वतसागरादिसदृशानि। चित्रकर्मविदः = चित्रकर्मकुशला दर्शयन्ति ॥ १२६ ॥

यह सब हाल सुनकर राजपुरुषों ने कचहरी में न्यायाधीश से जाकर कहा। इसके बाद न्यायाधीश की आज्ञा से वह दूती और गोपी तो गाँव के बाहर निकाल दी गई। और नाई छूटकर अपने घर चला गया। और कुट्टनी को राजदण्ड हुआ और माया ... का सब धन उससे वापिस मिल गया। इसीलिये मैं कहता हूँ। 'रत्नरेखा को देखकर मैं' इत्यादि। तो अपना ही किया हुआ यह (सिंह और बैल को मित्र बनाना) दोष है। अतः अब इसमें रोना ठीक नहीं। (थोड़ी देर विचार कर) मित्र! जैसे मैंने इन दोनों में मित्रता कराई थी, वैसे ही मैं इनका मित्रभेद (मित्रों में फूट करना) भी करा सकता हूँ। क्योंकि ऐसे चित्र खींचने वाले चतुर चित्रकार ... जैसे बराबर जगह पर भी (बराबर पर ...) नीचा-ऊँचा दिखा देते हैं ॥ १२६ ॥

१ '... प्रवर्तितः'। २ '... ...'। ३ '... ...'। ४ '... ...'। ५ '... मित्रभेदोऽपि'। ६ '... दर्शयन्ति ... पेशलाः'।

अपरञ्च—

'उत्पन्नेष्वपि कार्येषु मतिर्यस्य न हीयते ।
स निस्तरति दुर्गाणि, गोपी जारद्वयं यथा' ॥ ११७ ॥

करटकः पृच्छति—'कथमेतत्' ? । दमनकः कथयति—

(६) गोपीजारद्वयकथा ।

अस्ति द्वारवत्यां पुर्यां कस्यचिद् गोपस्य वधूर्बन्धकी । सा ग्रामस्य दण्डनायकेन, तत्पुत्रेण च [1]समं रमते । तथा चोक्तम्—

'नाऽग्निस्तृप्यति काष्ठानां, नाऽऽपगानां महोदधिः ।
नाऽन्तकः सर्वभूतानां, न पुंसां वामलोचनाः[2]' ॥ ११८ ॥

उत्पन्नेष्वपि=उपस्थितेष्वपि । न हीयते=न विषीदति । निस्तरति=तरति । दुर्गाणि=विपदः । जारद्वयं=समकालसमागत-जारद्वयोपधां मध्यम् । विपदम् ॥११७॥

बन्धकी=असती । व्यभिचारिणी । ('छिनाल') । दण्डनायकेन = रक्षापुरुषेणैव । ('कोतवाल' या 'सेनापति') । समम् = सह ।

काष्ठानाम्=इन्धनानाम् । 'इन्धनै'रिति यावत् । सम्बन्धसामान्ये षष्ठी । आपगानाम्=नदीनाम् । नदीभिरिति यावत् । अन्तकः = यमः । पुंसां = पुरुषः । वामलोचनाः=मृगलोचनाः, स्त्रियः न तृप्यन्ति ॥ ११८ ॥

और उत्पन्न (उपस्थित) कार्यों में जिसकी बुद्धि नष्ट नहीं होती है, (व्याकुल नहीं होती है), वही कठिनाइयों से पार होता है, जैसे वह ग्वालिन दो जारों (उपपति पुरुषों) से पार हुई थी ॥ ११७ ॥

करटक पूछने लगा—यह कथा कैसे है ? । दमनक कहने लगा—

द्वारवती (द्वारका) नगरी में किसी ग्वाले की बहू बड़ी कुलटा थी । वह एक तो अपने नगर के दण्डनायक (कोतवाल) से और उसके पुत्र से भी रमण करती थी (उन दोनों से फँसी थी) ।

ऐसा ही कहा भी है—अग्नि की काठों से, समुद्र की नदियों से, यमराज की सब प्राणियों से, और स्त्रियों की अनेक पुरुषों से भी कभी तृप्ति नहीं होती है ॥११८॥

---

१ 'सह' । २ 'वामलोचना' ।

अन्वय—

'न दानेन, न मानेन, नाऽऽर्जवेन, न सेवया ।
न शस्त्रेण, न शास्त्रेण, सर्वथा विषमाः स्त्रियः' ॥११९॥

यतः—

'गुणाऽऽश्रयं, कीर्तियुतं च, कान्तं,
पतिं, रतिज्ञं, सधनं, युवानम् ।
विहाय, शीघ्रं वनिता व्रजन्ति
नराऽन्तरं शीलगुणाऽऽदिहीनम्' ॥ १२० ॥

अपरञ्च—

'न तादृशीं प्रीतिमुपैति नारी,
विचित्रशय्यां शयिताऽपि कामम् ।

न दानेन । 'वशमन्ते' इति शेषः । न मानेन । 'प्रसीदन्ती'ति शेषः । आर्जवेन =सरलतया । नऽवैव । 'वशीभवन्ती'ति शेषः । अतएव विषमाः=दुर्ग्राह्याः, कठिनाश्च ॥ ११९ ॥

गुणाऽऽश्रयं=गुणिनम् । कान्तं=मनोहरम् । रतिज्ञं=सुरतव्यापारचतुरम् । नरा-न्तरं=अन्यपुरुषम् । उपपतिम् ॥ १२० ॥

विचित्रशय्यां=विचित्रसुन्दरपर्यङ्के । शयिताऽपि=सुप्ताऽपि । शायिताऽपि च ।

और स्त्रियाँ—न तो दान से, और न मान से, न सरलता और सज्जनता से, और न सेवा से, न शस्त्र से, और न शास्त्र से ही वश में होती हैं, अतएव स्त्रियाँ तो सर्वथा ही सब प्रकार से विषम (कठिन) ही होती हैं ॥ ११९ ॥

क्योंकि—गुणवान्, कीर्तिमान्, सुन्दर, रति के जानने वाले, धनवान् और जवान पति को भी छोड़कर स्त्रियाँ शील और गुणादि से रहित अन्य मनुष्यों के पास झट चली जाती हैं ॥ १२० ॥

और भी—स्त्री बहुत सुन्दर शय्या पर अपनी इच्छा पूर्वक सोने से भी वैसी प्रसन्न और सुखी नहीं होती है, जैसी कि घास, फूस, दूब आदि के

यथ हि दूर्वाऽऽदिविकीर्णभूमौ
प्रयाति सौख्यं परकान्तसङ्गात्' ॥ १२१ ॥

अथ [1]कदाचित्सा दण्डनायकपुत्रेण सह रममाणा तिष्ठति । [2]अथ दण्डनायकोऽपि रन्तुं तत्राऽऽगतः । तमायान्तं दृष्ट्वा, तत्पुत्रं कुशूले निक्षिप्य,[3] दण्डनायकेन सह तथैव क्रीडितवती । अनन्तरं तस्या भर्ता गोपो गोष्ठात्समागतः । समालोक्य गोप्योक्तं—'दण्डनायक ! त्वं लगुडं गृहीत्वा, कोपं दर्शयन् सत्वरं गच्छ[4]' ।

[5]तथा तेनाऽनुष्ठिते, गोपेन गृहमागत्य, भार्या पृष्टा—'केन कार्येण दण्डनायकः [6]समागत्याऽत्र स्थितः' ? । सा ब्रूते—'अयं केनाऽपि

कामं=यथेच्छम् । दूर्वादिविकीर्णभूमौ = तृणाद्यास्तीर्णायां कठिनायां वनादिभूमौ । सौख्यं=सुखम् । परकान्तसङ्गात्=उपपतिसङ्गमात् ॥ १२१ ॥

सा=गोपी । रममाणा=सुरताऽऽसक्ता । कुशूले=धान्याऽऽधाने । ('ओबरी'ति 'कोठरी'ति च प्रसिद्धे) । तथैव=पूर्ववदेव सुरतक्रीडया । गोष्ठात् = गोस्थानकात् ।

कुछ ऊबड़-खाबड़ कण्टकाकीर्ण कठिन भूमि पर पराये पुरुष के साथ सोकर सुखी व प्रसन्न होती है ॥ १२१ ॥

कुछ काल के बाद एक दिन वह स्त्री दण्डनायक के पुत्र के साथ रमण कर रही थी, कि इतने में दण्डनायक भी उसके साथ रमण करने को उसके घर पर आगया । उसे आते देखकर उसने उसके पुत्र को अन्न की कोठरी में छिपा दिया और स्वयं निर्भय हो दण्डनायक के साथ वैसे ही रति क्रीडा करने लगी । इतने में उसका पति ग्वाला भी गोशाला से घर आ गया । उसे आते देख कर उस गोपी ने कहा कि—'हे दण्डनायक ! आप लाठी हाथ में लेकर उसे पटकते हुए क्रोधमुद्रा में यहाँ से शीघ्र ही चले जाइये । सुनकर वह दण्डनायक (कोतवाल) तो क्रोध से लाठी पटकता हुआ, बड़बड़ाता हुआ, क्रोध करता हुआ शीघ्र वहाँ से चला गया । तब उस गोपी के पति ग्वाले ने घर आकर अपनी स्त्री से पूछा कि यह दण्डनायक यहाँ क्यों आया था ? । तब वह बोली कि—'यह अपने

1. 'अथ सा कदाचिद्दण्डनायकपुत्रेण' 2 'अथान्तरे' । 3 'धृत्वा' । 4 'दर्शि' । 5 'तथाऽनुष्ठिते सति स गोपस्तत्राऽऽगत्य भार्यां पृष्टवान्' । 6 'समागतोऽत्र' ।

[1]कारणेन पुत्रस्योपरि क्रुद्धः। स च पलायमानोऽत्राऽऽगत्य प्रविष्टो, मया कुसूले निक्षिप्य [2]रक्षितश्च। तत्पित्रा चाऽन्विष्यताऽत्र [3]गृहे न दृष्टः। [4]अत एवाऽयं (दण्डनायकः) क्रुद्ध एव गच्छति।'

अथ सा तत्पुत्रं कुसूलादुद्धृत्य[5] दर्शितवती। तथा चोक्तम्—

'आहारो द्विगुणः स्त्रीणां, बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा।
षड्गुणो व्यवसायश्च, कामश्चाऽष्टगुणः स्मृतः' ॥ १२२ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि—'उत्पन्नेष्वपि कार्येषु' इत्यादि ॥ ॥

करटको ब्रूते—'अस्त्वेवम्। किन्त्वनयोर्महानन्योन्यं नैसर्गिकः स्नेहः कथं भेदयितुं शक्यः?'। दमनको ब्रूते—'उपायः[6] क्रियताम्।' तथा चोक्तम्—

स्त्रीणां = स्त्रीणाम्। व्यवसायः = व्यापारः ॥ १२२ ॥

पुत्र पर किसी कारण से क्रुद्ध हो गया है। इसलिये इसका पुत्र डर के मारे भागकर हमारे यहाँ आकर छिप गया था। और मैंने उसे अन्न की इस कोठरी में छिपाकर किसी तरह बचा लिया है। इसके पिता ने ढूँढने पर भी जब यहाँ उसको कहीं नहीं पाया तब यह दण्डनायक क्रुद्ध हो बड़बड़ाता हुआ चला गया है। ऐसा कहकर उस गोपी ने दण्डनायक के पुत्र को कोठरी से बाहर निकाल कर दिखा दिया। और वह भी मौका पाकर अपने घर चला गया।

किसी ने कहा भी है—पुरुषों की अपेक्षा से स्त्रियों का भोजन दूना, बुद्धि चौगुनी, परिश्रम छः गुना और कामदेव आठ गुना अधिक होता है ॥ १२२ ॥

इसीलिये मैं कहता हूँ कि विषम कार्य उपस्थित होने पर भी जिसकी बुद्धि नष्ट नहीं होती है, वही संकट से पार होता है—इत्यादि। तब करटक बोला कि—ठीक है, परन्तु इन दोनों (सिंह-वृषभ) का एक दूसरे में स्वभाव से ही प्रेम उत्पन्न हो गया है, फिर प्रेम कैसे टूट सकता है? तब दमनक बोला कि—उपाय करना चाहिये। जैसे कहा भी है—

१. 'केनचित्'। २ 'रक्षितः'। ३ 'अत्र न दृष्टः'। ४ 'अत एवायं कुपित एव गच्छति'। ५ 'दर्शितवती'। ६ 'उपायश्चिन्तनीयः'।

'उपायेन हि यच्छक्यं न तच्छक्यं पराक्रमैः।
'काक्या कनकसूत्रेण कृष्णसर्पो निपातितः' ॥ १२३ ॥

करटकः पृच्छति—'कथमेतत्?'। दमनकः कथयति—

(काकी-कनकसूत्र-सर्पकथा)।

कस्मिंश्चित्तरौ वायसदम्पती निवसतः। तयोश्चाऽपत्यानि तत्कोटरा-स्थितेन कृष्णसर्पेण खादितानि। ततः पुनर्गर्भवती वायसी [2]वायस-ह—'नाथ! त्यज्यतामयं तरुः। [3]अत्राऽवस्थितकृष्णसर्पेणाऽऽवयोः ततिः सततं भक्ष्यते'। यतः—

'दुष्टा भार्या, शठं मित्रं, भृत्यश्चोत्तरदायकः।
ससर्पे च गृहे वासो, मृत्युरेव न संशयः' ॥ १२४ ॥

नैसर्गिकः=सहजः, अकारणः। कनकसूत्रेण=स्वर्णडोरकाख्येनाऽलङ्कारेण, स्वर्णेन ॥ १२३ ॥

तरौ=वृक्षे। वायसदम्पती=काकमिथुनम्। काकः, काकी च। वायसं=काकं। =दुष्टः ॥ १२४ ॥

उपाय से जो हो सकता है, वह बल से नहीं हो सकता है, जैसे कौवी (कौवे की) ने सोने के डोरे (आभूषण) के अवलम्ब से एक भयङ्कर काले साँप मार डाला था ॥ १२३ ॥

करटक ने पूछा कि—यह कथा कैसे है?। दमनक कहने लगा—

किसी वृक्ष पर एक कौवा अपनी स्त्री के साथ रहता था। उसके बच्चों को ी वृक्ष के खोखले में रहने वाला काला सर्प खा जाता था। तब वह कौवी जब ः गर्भवती हुई तो अपने पति उस कौवे से बोली कि—हे नाथ! इस वृक्ष को द दीजिये, क्योंकि इसमें रहने वाला काला साँप हम दोनों की सन्तान को ा जाता है।

क्योंकि—दुष्ट (खोटी) स्त्री, धूर्त मित्र, उत्तर देनेवाला सेवक (नौकर)

१. 'काकः कनकसूत्रेण कृष्णसर्पमघातयत्।' इति पा०। २. 'वायसी प्राह'।
३. 'इह पादपकृष्णसर्पसद्भावादावयोः सन्ततिः कदाचिदपि न भविष्यति'।

वायसो ब्रूते—'प्रिये ! न भेतव्यं, वारं वारं मयैतस्य ¹महानपराधः सोढः, इदानीं पुनर्न क्षन्तव्यः।' वायस्याह—'कथमेतेन बलवता ²कृष्णसर्पेण सार्धं भवान्विग्रहीतुं समर्थः ?।' वायसो ब्रूते—'अलमनया ³शङ्कया। यतः—

'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य, निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम् ?।
पश्य सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः' ॥ १२५ ॥

वायसी ⁴विहस्याह—'कथमेतत् ?'। वायसः कथयति—

(८) मदोन्मत्तसिंह-शशककथा।

अस्ति मन्दरनाम्नि पर्वते दुर्दान्तो नाम सिंहः। स च सर्वदा पशूनां वधं कुर्वन्नास्ते। ततः सर्वैः पशुभिर्मिलित्वा⁵ स सिंहो विज्ञप्तः—'मृगेन्द्र⁶!

प्र.१२५=सोढस्य। विग्रहीतुं = योद्धुम्। मदोन्मत्तः = बलदर्पितः। निपातितः = हतः ॥ १२५ ॥

और साँप आने पर घर में निवास, ये सब साक्षात् मृत्युरूप ही हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥ १२४ ॥

तब वह कौआ बोला कि—'प्यारी! तुम डरो मत, बारंबार मैंने इस दुष्ट सर्प के बहुत अपराध सहे, पर अब फिर नहीं सहूँगा। तब वह कौवे की स्त्री बोली कि—'इस बली साँप के साथ आप कैसे लड़ सकते हैं ?'। कौआ बोला कि—'तुम यह शङ्का मत करो। क्योंकि—जिसके पास बुद्धि है, वही सदा बलवान् है निर्बुद्धि को बल कहाँ से हो सकता है ? देखो, मद से मस्त सिंह को भी एक छोटे से खरगोश ने मार डाला था ॥ १२५ ॥

तब वह कौए की स्त्री (हँस कर) बोली कि—'यह कथा कैसे है ?'। कौआ कहने लगा कि—

मन्दराचल (मन्दरगिरि) पर दुर्दान्त नाम का सिंह रहता था। वह सदा पशुओं का विनाश ही करता रहता था। तब एक दिन सब पशुओं ने मि

१. 'महदपराधः'। २. 'कृष्णसर्पेण'। ३. 'चिन्तया'। ४. 'वायसपत्नी' पा० ५. 'मिलित्वा' पा०। ६. 'देव'।

किमर्थमेकदा[1] बहुपशुघातः क्रियते। यदि प्रसादो भवति, तदा वयमेव भवदाहाराय प्रत्यहमेकैकं पशुमुपढौकयामः।' ततः सिंहेनोक्तम्—'यद्येतदभिमतं भवतां, तर्हि भवतु तत्'। ततः [2]प्रभृत्येकैकं पशुमुपकल्पितं भक्षयन्नास्ते। अथ कदाचित्कस्याऽपि वृद्धशशकस्य वारः [3]समायातः। ततः सोऽचिन्तयत्—

'ग्रासहेतोर्विनीतिस्तु क्रियते जीविताऽऽशया।
पञ्चत्वं चेद् गमिष्यामि, किं सिंहाऽनुनयेन मे' ? ॥१२६॥

तन्मन्दं-मन्दं [4]गच्छामि।' ततः सिंहोऽपि क्षुधापीडितः कोपात्तमु-

पाठान्तरे मेलकं कृत्वा=सङ्गमं कृत्वा। समूहं विधाय। (मिलकर, इकट्ठे होकर)। प्रसादः=कृपा। उपढौकयामः=उपहरामः। प्रेषयामः। अभिमतम्=अभीष्टम्। उपकल्पितं=प्रेषितं, निश्चितं वा। वारः=पर्यायः। ('वारी' 'पारी')। ग्रासहेतोः=भयप्रदस्य सिंहादेः। विनीतिः=नम्रता, प्रार्थना। विनयश्च। पञ्चत्वं=मृत्युम्। सिंहानुनयेन=सिंहप्रार्थनया। 'सिंहो बुभुक्षितोऽस्ति, अतः शीघ्रं मया गन्तव्य'-मित्यादि सिंहतोषणचिन्तया न मम किम्॥ १२६॥
मन्दं मन्दं=शनैः शनैः। तं=वृद्धशशकम्। अपराधी=कृतापराधः।

कर उस सिंह से जाकर कहा कि—हे मृगेन्द्र! आप एक समय में ही बहुत से पशुओं को क्यों मारते हैं ?। यदि प्रसन्न हों, तो हम लोग ही आपके भोजन के लिये स्वेच्छा से प्रतिदिन एक एक पशु आपको भेज दिया करें। यह सुन कर वह सिंह बोला कि—जो तुम लोगों की यही इच्छा है, तो ऐसा ही हो। तब से उसके पास प्रति दिन एक २ पशु आने लगा और वह भी पास में आये हुए एक ही पशु को खाकर रहने लगा। एक दिन एक बूढ़े खरगोश की बारी आई, तब वह मन ही मन विचार करने लगा कि—

भय के हेतु सिंह आदि की विनति अपने जीने की आशा से ही की जाती है। यदि मुझे मरना ही है, तो मुझे सिंह की विनति (खुशामद) से भी क्या प्रयोजन है?' ॥ १२६॥

इसलिये मैं तो धीरे २ जाऊँगा। जल्दी क्या है?। इस प्रकार वह खरगोश

१. 'सर्वपशुवधः क्रियते'। २. 'प्रभृति प्रत्यहमेकैकं'। ३. 'प्राप्तः'। ४. 'प्रगच्छामि'।

वाच-'कुतस्त्वं विलम्ब्य' समागतोऽसि ? ।' शशकोऽब्रवीत्-'देव !
'नाऽहमपराधी, आगच्छन्पथि सिंहान्तरेण[1] बलाद्धृतः । तस्याऽग्रे पुन-
रागमनाय शपथं कृत्वा स्वामिनं निवेदयितुमत्राऽऽगतोऽस्मि' ।
सिंहः सकोपमाह-'सत्वरं[2] गत्वा[3] (तं) दुरात्मानं मां दर्शय, क स
दुरात्मा तिष्ठति ? ।' ततः शशकस्तं गृहीत्वा [4]गभीरकूपं दर्शयितुं गतः ।
तत्राऽऽगत्य 'स्वयमेव पश्यतु स्वामी'त्युक्त्वा तस्मिन्कूपजले तस्य सिंहस्यैव
प्रतिबिम्बं दर्शितवान् । ततोऽसौ [5]दर्पाऽऽध्मातो दर्पात्तस्योपर्यात्मानं
निक्षिप्य, पञ्चत्वं गतः' । अतोऽहं ब्रवीमि-'बुद्धिर्यस्ये'त्यादि ॥ ● ॥
वायस्याह-'श्रुतं मया सर्वम् । सम्प्रति यथा कर्त्तव्यं तद् ब्रूहि' । वाय-
सोऽवदत्—'अत्राऽऽसन्ने सरसि राजपुत्रः प्रत्यहमागत्य स्नाति । स्नान-

सिंहान्तरेण=अन्येन केनापि सिंहेन । असौ=स सिंहः । तस्यैव=सिंहस्यैव ।
दर्पाध्मातः = कोपाध्मातः ।

सिंह के पास बहुत देर करके पहुँचा । तब भूख से दुःखी होकर सिंह ने भी क्रोध कर उससे कहा कि—अरे ! तू देर करके क्यों आया ? । खरगोश बोला कि—हे प्रभो ! इसमें मैं अपराधी नहीं हूँ । रास्ते में आते हुए मुझे एक दूसरे सिंह ने बलात्कार से पकड़ लिया था । उसके आगे फिर आने की शपथ (कसम) खा कर के ही मैं आपसे निवेदन करने आया हूँ ।

तब वह सिंह क्रोध में भरकर बोला कि—शीघ्र चल, उस दुष्ट को मुझे दिखा, वह दुष्ट कहाँ रहता है ? । तब वह खरगोश एक गहरे कुएँ को दिखाने के लिये उस सिंह को ले चला । और कुएँ के पास पहुँच कर बोला कि—महाराज, आप स्वयं उसको कुएँ में बैठे हुए को देख सकते हैं । यह कह उस कुएँ के पानी में उस सिंह की छाया दिखा दी । उसी समय वह सिंह क्रोध से भयङ्कर शब्द करता हुआ अभिमान से उस कुएँ के भीतर कूद पड़ा और इस प्रकार वह कुएँ में गिर कर मर गया । इसी से मैं कहता हूँ कि—जिसे बुद्धि है, वही बलवान् भी है—इत्यादि ।

तब वह कौवे की स्त्री बोली कि—मैंने ये सब बातें सुन ली, परन्तु अब जो करना चाहिये, सो कहो । तब कौवा बोला कि—पास ही के इस सरोवर में

१. 'सिंहान्तरेणैव' । २. 'सत्वरम्' । ३. 'तं मां दर्शय क्वासौ दुरात्मा' । ४. 'गभीरकूपसमीपमानीतः' । ५. 'कोपाध्मातः' ।

समये तदङ्गादवतारितं तीर्थशिलानिहितं कनकसूत्रं चञ्च्वा विधृत्याऽऽनीयाऽस्मिन्कोटरे धारयिष्यसि।'

अथ कदाचित्कनकसूत्रं दृषदि संस्थाप्य, स्नातुं [1]जलं प्रविष्टे राजपुत्रे, वायस्या तदनुष्ठितम्। अथ कनकसूत्राऽनुसरणप्रवृत्तैः राजपुरुषैस्तत्र तरुकोटरे कृष्णसर्पो दृष्टो, व्यापादितश्च। अतोऽहं ब्रवीमि—'उपायेन हि यच्छक्यम्' इत्यादि ॥ ७ ॥

करटको ब्रूते—'यद्येवं [2]तर्हि गच्छ, शिवास्ते सन्तु पन्थानः।' ततो दमनकः पिङ्गलकसमीपं गत्वा, प्रणम्योवाच—'देव! [3]आत्ययिकं किमपि महाभयकारि कार्यं मन्यमानः समागतोऽस्मि'। यतः—

यथा=यत्कर्म कृत्वा तद्वध चिकीर्षसि। तीर्थशिलानिहितं=सोपानप्रस्तरस्थापितम्। 'तीर्थं शास्त्राध्वरक्षेत्रोपायोपाध्यायमन्त्रिषु। योनौ जलावतारे च'ति कोशः। दृषदि=तीर्थप्रस्तरखण्डे। कनकसूत्राऽनुसरणप्रवृत्तैः=स्वर्णदोरकगवेषणपरैः। राजपुरुषैः=राजानुचरैः। (सिपाही)। (निरूप्यमाणः=दृष्टः)। व्यापादितः=हतः।

शिवाः=शुभाः। आत्ययिकं=महद्भयम्। 'आत्ययिकं महाभीति'रित्यमरः।

एक राजा का पुत्र प्रतिदिन स्नान करने आता है। नहाने के समय उसके शरीर से उतार कर सीढ़ी पर रक्खा हुआ सोने का डोरा (हार) तूँ अपनी चोंच से लाकर इस खोखले में डाल देना। तब एक दिन सोने के हार को गले से उतार कर पत्थर पर रख कर स्नान के लिये राजकुमार के जल में घुसने पर कौवे की की स्त्री ने वैसा ही किया। फिर सोने के हार को खोजने के लिये गए हुए राजपुरुषों (सिपाहियों) ने उस वृक्ष के खोखले (गड्ढे) में उस काले साँप को बैठा हुआ देखा और उसे मार डाला। इस लिये मैं कहता हूँ कि—जो उपाय से हो सकता है, सो बल से नहीं हो सकता है—इत्यादि।

तब करटक बोला कि—यदि यह बात है, तो तुम जाओ, तुम्हारा मार्ग शुभदायी हो। उसके उपरान्त वह दमनक राजा पिङ्गलक के पास जाकर प्रणाम कर बोला कि—हे देव! मैं किसी अत्यावश्यक बड़े भयङ्कर कार्य को समझ कर उससे आप को सावधान करने के लिये आया हूँ।

१. 'जले' पा०। २. 'तदा'। ३. 'आत्ययिकं मन्यमानो निवेदयितुमागतः'।

'आपद्युन्मार्गगमने, कार्यकालात्ययेषु च ।
कल्याणवचनं ब्रूयादपृष्टोऽपि हितो नरः' ॥ १२७ ॥

अन्यच—

'भोगस्य भाजनं राजा, [1]न राजा कार्यभाजनम् ।
[2]राजकार्यपरिध्वंसे मन्त्री दोषेण लिप्यते' ॥ १२८ ॥

तथा हि परय, अमात्यानामेष क्रमः—

'वरं प्राणपरित्यागः, शिरसो वाऽपि कर्त्तनम् ।
न तु स्वामिपदाऽऽप्तिपातकेच्छोरुपेक्षणम्' ॥ १२९ ॥

आपदि=विपत्तौ । उन्मार्गगमने=राज्ञः कुमार्गगमने । कार्यकालस्य अत्यये=उल्लङ्घने । कल्याणवचनं=हितवाक्यम् ॥ १२७ ॥

भोगस्य=सुखस्य । भाजनं=पात्रम् । राजकार्यपरिध्वंसे=राजकार्यविनाशे । पाठान्तरे—राजकार्यपरिध्वंसी=राजकार्यविनाशकः ॥ १२८ ॥

क्रमः=परिपाटी । (ढङ्ग) । स्वामिपदस्य=राजपदस्य, अवाप्तिः=अधिकारः, प्राप्तिः,—और पाना, तस्य इच्छोः=अभिलाषवतो, राजद्रोहिणः, उपेक्षणम्=

क्योंकि—आपत्ति के समय, स्वामी के बुरे रास्ते में जाने पर, और अवश्य कर्तव्य कार्य का काल बीतते देखकर हितकारी मनुष्य को चाहिये कि वह स्वामी के बिना पूछे भी उसे कल्याणकारी वचन कहे ॥ १२७ ॥

और—राजा तो सुखभोग का ही पात्र होता है, कार्य करने का पात्र नहीं। यदि राजा के किसी कार्य की हानि होती हो तो मन्त्री ही उसका उत्तरदायी होता है। अर्थात् राजकार्य यदि बिगड़ता है, तो उसका दोष मन्त्रीपर ही है ॥१२८॥

और भी देखिए, मन्त्रियों का तो यही कार्य करने का क्रम (तरीका, सिद्धान्त) है; कि—वे अपने प्राणों को त्याग देना (मर जाना) यही अच्छा समझते हैं, अपने सिरको भी कटवाना पड़े तो भी वे उसे अच्छा समझते हैं, परन्तु राजा के

---

१. 'मन्त्री कार्यस्य भाजनम्' । २. 'राजकार्यपरिध्वंसी' पा० ।

पिङ्गलकः साऽऽदरमाह[1]—'अथ भवान् किं वक्तुमिच्छति ?' । दमनको ब्रूते[2]—'देव ! [3]अयं तावत्सञ्जीवकस्तवोपर्यसदृशव्यवहारीव लक्ष्यते । तथा चाऽस्मत्सन्निधाने श्रीमद्देवपादानां[4] शक्तित्रयनिन्दां कृत्वा, राज्यमेवाऽभिलषति ।' एतच्छ्रुत्वा पिङ्गलकः सभयं, साश्चर्यं ([5]मत्वा) तूष्णीं स्थितः । दमनकः पुनराह—'देव ! सर्वाऽमात्यपरित्यागं कृत्वैक एवाऽयं [6]त्वया सर्वाऽधिकारे[6] नियुक्तः स एव महान् दोषः । यतः—

'अत्युच्छ्रिते मन्त्रिणि, पार्थिवे च,
विष्टभ्य पादावुपतिष्ठते श्रीः ।

निरासः । न तु=नैव । 'वर'मिति शेषः ॥ १२६ ॥ असदृशव्यवहारी=अनुचिताऽऽचार इव । विकृत इव । लक्ष्यते=दृश्यते । श्रीमद्देवपादानां = भवताम् । पाठान्तरे-स्वामिनः = भवतः । शक्तित्रयनिन्दां = प्रभावोत्साहमन्त्रशक्तित्रयगर्हणम् । प्रभुत्वनिन्दाम् ।

तूष्णीं = मौनम् । देव = राजन् । अयं = सञ्जीवकः ॥ अत्युच्छ्रिते=अत्युन्नते, महामात्ये च । पादौ विष्टभ्य = चरणौ निधाय । पादाक्षेपस्तम्भेन । उपतिष्ठते =

सिंहासन पर अधिकार करने के इच्छुक राजद्रोही की उपेक्षा करना, उसे बिना दण्ड दिए ही छोड़ देना—ये कभी अच्छा नहीं समझते हैं ॥ १२६ ॥

तब पिङ्गलक आदर और स्नेहपूर्वक बोला कि—अच्छा तो तुम कहना क्या चाहते हो ? । तब यह दमनक बोला कि—हे महाराज ! यह सञ्जीवक बैल आपका अनिष्ट करना चाहता है, और आपके ऊपर दुर्भाव रखता है, ऐसा मेरे को मालूम होता है । क्यों कि मेरे सामने यह आपके प्रताप, बल और पुरुषार्थ आदि की निन्दा करता था, इसी से यह स्पष्ट है कि वह आपका राज ही ले लेना चाहता है।

यह सुन कर पिङ्गलक भयभीत हो, अचरज सा मान कर चुप हो रहा । दमनक फिर बोला कि—हे देव ! सब मन्त्रियों को छोड़ कर, आपने जो एक इसीको सब कार्यों का अधिकारी बना दिया है, यही दोष है, जिससे इस बैल को इतना घमण्ड हो गया है ।

क्योंकि—राजलक्ष्मी—राज्य के प्रधान और अत्युच्च स्तम्भ स्वरूप राजा और प्रधान मन्त्री इन दोनों का ही आश्रय लेकर उनके सहारे पर खड़ी होती है। अर्थात्

१. 'ब्रूते' । २. 'आह' । ३. 'सञ्जीवकः' । ४. 'स्वामिनः' । ५. 'पार्थिवः ...' । ६. 'धिकारी कृतः, स एव दोषः' ।

सा स्त्रीस्वभावादसहा भरस्य,
तयोर्द्वयोरेकतरं जहाति' ॥१३०॥

अपरञ्च—
'एकं भूमिपतिः करोति सचिवं राज्ये प्रमाणं यदा,
तं मोहाच्छ्रयते मदः, स च[1] मदादास्येन निर्विद्यते ।
निर्विण्णस्य[2] पदं करोति हृदये तस्य स्वतन्त्रस्पृहा,
स्वातन्त्र्यस्पृहया ततः स नृपतेः[3] प्राणान्तिकं द्रुह्यति' ।

[illegible] । सेवते न । परन्तु सा = लक्ष्मीः, स्त्रीस्वभावात् = स्त्रीजनोचितस्वभावत्वात् । तयोर्द्वयोः
भरस्य = उभयोरागमनाद्भारस्य । असहा = भारं सोढुमसमर्था सती । तयोर्द्वयोः = अन्योऽपि
एकतरम् = एकं, राजानममात्यं वा । जहाति = त्यजति ॥ १३० ॥
[illegible] प्रार्थयमानः [illegible] [illegible]
त = [illegible] । मोहात् = अभिमानात्, मदः = गर्वः, मदादास्येन = [illegible]
[illegible] । 'मदादस्येन निर्विद्यते' इति, निर्विद्यते' इति वा क्वचित् पठ्यते । [illegible]
[illegible] = [illegible] हेतुना, निर्विण्णो = निरानन्दो भवति । [illegible] न कुप्यति, [illegible]
[illegible] । निर्विण्णो इति पाठेऽप्ययमेवार्थः । निर्विण्णस्य = [illegible] पाठान्तरे
[illegible] । 'निर्विण्णस्य' = [illegible] ।

राजा और मन्त्री- इन दोनों को अपना आश्रय बनाती है । और इनके सहारे [illegible]
रह [illegible] होती है । परन्तु फिर वह स्त्री-स्वभाव से इन दोनों के बोझ [illegible]
[illegible] नहीं सह सकने के कारण उन दोनों में से एक को छोड़ देती है ॥
और भी—जब राजा राज्य में एक ही मन्त्री को प्रमाण (प्रधान) [illegible]
तब उस मन्त्री को मोह हो जाता है, और मोह से उसे मद हो जाता है । और उससे निर्वि[illegible]
[illegible] के कारण कार्य [illegible] से खिन्न हो जाता है । और [illegible] उस[illegible]
के [illegible] होने से [illegible] हृदय में स्वतन्त्र होने की इच्छा [illegible] । २.[illegible]

1. 'मदाद्धास्येन निर्विद्यते', 'मदादस्येन निर्विद्यते' इति पा. ।
2. '[illegible] हृदये [illegible]' [illegible] ।

[1]अन्यच्च—

'विषदिग्धस्य भक्तस्य, दन्तस्य चलितस्य च ।
अमात्यस्य च दुष्टस्य, मूलादुद्धरणं सुखम्' ॥ १३२ ॥

किञ्च—

'यः कुर्यात्सचिवाऽऽयत्तां श्रियं, तद्व्यसने सति ।
सोऽन्धवज्जगतीपालः सीदेत्सञ्चारकैर्विना' ॥ १३३ ॥

स च सर्वकार्येषु स्वेच्छातः प्रवर्त्तते । तदत्र स्वामी प्रमाणम् । एतच्च [2]जानामि कार्यतः । ([3]यतः—)

विषदिग्धस्य=विषसंसृष्टस्य । भक्तस्य = ओदनस्य । चलितस्य=श्लथबन्धनस्य । स्वतन्त्रस्पृहा=स्वातन्त्र्येच्छा । पदं = स्थानम् । प्राणेष्वपि = जीवितेऽपि । राजानं विनाशयितुमर्थः ॥ १३१ ॥ उद्धरणम् = उत्पाटनमेव ॥ १३२ ॥

सचिवायत्ताम् = अमात्याधीनाम् । तद्व्यसने = अमात्यविपत्तौ, अमात्ये दुष्टे सति । जगतीपालः = राजा । सीदेत् = दुःखमनुभवेत् । सञ्चारकैः = भृत्यैः ॥ १३३ ॥

फिर स्वतन्त्र होने की इच्छा से वह मन्त्री उस राजा के प्राणों से भी द्रोह करने लगता है । अर्थात् राजा को मार डालना चाहता है ॥ १३१ ॥

और—विष से सने हुए अन्न को, हिलते हुए दाँत को, तथा दुष्ट मन्त्री को जड़ से उखाड़ देना ही सुखदायी होता है ॥ १३२ ॥

और भी—जो राजा अपनी राज लक्ष्मी को सचिवों के अधीन कर देता है, वह राजा उन मन्त्रियों के न रहने पर, या उनके बिगड़ जाने पर अन्धे के समान बिना सहायक के दुःख पाता है ॥ १३३ ॥

और वह (संजीवक) सभी कार्यों को अपनी इच्छा से ही करता है । आप पूछता तक नहीं है । सो इस विषय में अब आप ही प्रमाण हैं । अर्थात्-जैसा आपकी इच्छा हो, वैसा ही प्रतीकार (उपाय) करें । और मैं इस बात को कार्यों से जानता हूँ ।

१. 'तथा चोक्तं' । २. एतत्कार्यं जानामि कार्यतः' । ३. 'क्वचिन्नास्ति पाठः' ।

'न सोऽस्ति पुरुषो लोके यो न कामयते श्रियम् ।
परस्य युवतीं रम्यां 'साऽऽदरं नेक्षतेऽत्र कः' ? ॥१३४॥

सिंहो विमृश्याऽऽह—'भद्र ! यद्यप्येवं, तथापि सञ्जीवकेन सह मम महान् स्नेहः'। पश्य—

'कुर्वन्नपि व्यलीकानि, यः प्रियः प्रिय एव सः ।
अशेषदोषदुष्टोऽपि कायः कस्य न वल्लभः' ? ॥ १३५ ॥

अन्यच्च—

'अप्रियाण्यपि कुर्वाणो यः प्रियः प्रिय एव सः ।
दग्धमन्दिरसारेऽपि कस्य वह्नावनादरः' ? ॥ १३६ ॥

न च=[illegible]। प्रमादं=निरादरः। कामयते=इच्छति। सादरं=[illegible]। [illegible] ॥१३४॥ एवं=यथा त्वं वदसि तथैव। यद्यपि त्वं युक्तं कथयसि। [illegible]। व्यलीकानि=अपराधान् (व्यलीक=विगाड)। अशेषेति। [illegible] [illegible]। कायः=शरीरम्। वल्लभः=प्रियः ॥ १३५ ॥ अप्रियाणीति। दग्धो मन्दिरस्य=गृहस्य, सारः=धनधान्येन, [illegible] [illegible] [illegible]। दग्धं मन्दिरं, [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible]।

अर्थ—संसार में ऐसा कोई भी पुरुष नहीं है, जो लक्ष्मी की इच्छा नहीं करता हो। देखो, दूसरे की [illegible] सुन्दर स्त्री को इस संसार में कौन पुरुष [illegible] नहीं देखता है ? ॥ १३४ ॥

तब यह सिंह विचार कर बोला, कि—हे भद्र ! यद्यपि तुम्हारा कहना [illegible] ठीक है, तथापि सञ्जीवक से तो मेरा बहुत स्नेह हो गया है।

देखो—यद्यपि वह अप्रिय, अहित, [illegible] एवं [illegible] (बुरे) [illegible] [illegible] को प्यारा है, वह प्यारा ही रहता है। क्योंकि सब दोषों से दूषित [illegible] भी शरीर किसे प्यारा नहीं होता है ? ॥ १३५ ॥

और भी—अप्रिय बातों को करने वाला भी जो प्यारा है, वह प्यारा [illegible]

१. 'सस्पृहं' । 'सस्पृहं ईक्षते न कः' ।

[1]दमनकः पुनरेवाह—'देव ! स एवाऽतिदोषः' । यतः—

[2]'यस्मिन्नेवाऽधिकं चक्षुरारोपयति पार्थिवः ।
सुतेऽमात्येऽप्युदासीने, स लक्ष्म्याऽऽश्रीयते जनः' ॥ १३७ ॥

शृणु देव !

'अप्रियस्याऽपि पथ्यस्य परिणामः सुखाऽऽवहः ।
वक्ता, श्रोता च यत्राऽऽस्ते रमन्ते तत्र सम्पदः' ॥ १३८ ॥

त्वया च मूलभृत्यानपास्याऽयमागन्तुकः पुरस्कृतः । एतच्चाऽनुचितं कृतम् । यतः—

...मदः । मन्दिरसारः=उत्कृष्टद्रव्यमिति वा ॥ १३६ ॥

स एव=अतिस्नेह एव । यस्मिन्निति । पार्थिवः=राजा । यत्र जने स्नेहार्द्रां निक्षिपति, स एव लक्ष्मीवान् भवतीत्यर्थः । उदासीने=यस्मिन् कस्मिंश्चिदपि ॥ १३७ ॥ अप्रियस्यापि=अनभीष्टस्यापि, पथ्यस्य=हितकारिणो वाक्यस्य, ... श्रोता च यत्राऽस्ति तत्र सर्वाः सम्पदो रमन्ते, सुखाऽऽवहश्च परिणामो ...त्यन्वयः ॥ १३८ ॥

जैसे घरमें आग लगने पर घर की सारी बहुमूल्य वस्तु जलाने वाली भी ...का कौन निरादर करता है ? । कोई नहीं ॥ १३६ ॥

तब दमनक फिर बोला—महाराज यही (शत्रु पर स्नेह करना ही) तो बड़ा दोष है। क्योंकि—राजा जिस-पुत्र या मन्त्री या किसी उदासीन—को भी जब बहुत ...ता है, तब राज लक्ष्मी भी उस मनुष्य के पास ही चली जाती है ॥१३७॥

और भी महाराज ! सुनिये, पथ्य बात यद्यपि अप्रिय हो तो भी उसका परिणाम (...ष्य) सुखदायी ही होता है, क्योंकि—जहाँ अप्रिय पर पथ्य (हितकर ...) का कहने वाला व सुनने वाला होता है, वहाँ सभी सम्पत्तियाँ रमण ...ती है ॥ १३८ ॥

1. 'दमनको वदति' । २. 'यस्मिन्नेवाधिकं चक्षु' पा० । 'स्नानाद्यं, ...' इति पुस्तकान्तरे ।

[1]'मूलभृत्यान्परित्यज्य नाऽऽगन्तून्प्रतिमानयेत् ।
नाऽतः परतरो दोषो राज्यभेदकरो यतः' ॥ १३९ ॥

सिंहो ब्रूते—'महदाश्चर्यम् । [2]मया यदभयवाचं दत्त्वाऽऽनीतः, संवर्धितश्च, तत्कथं मम द्रुह्यति' ? । दमनको ब्रूते—देव !

'दुर्जनो नाऽऽर्जवं याति सेव्यमानोऽपि नित्यशः ।
स्वेदनाऽभ्यञ्जनोपायैः श्वपुच्छमिव नामितम्' ॥ १४० ॥

मूलभृत्यान् = वंशक्रमागताननुजीविनः । अपास्य = परित्यज्य । आगन्तुः = देशान्तरादागतः सञ्जीवको वृषभः । पुरस्कृतः = अधिकारे स्थापितः । न प्रतिमानयेत् = न पुरस्कुर्यात् । अतः = आगन्तुसत्कारात् ॥ १३९ ॥ आर्जवं = सरलतां नम्रतां च । स्वेदनं = वह्निसन्तापादिना संस्वेदनम् । अभ्यञ्जनं = तैलादिमर्दनम् । उपायाः = नलिकान्यसनादिरूपाः । तैर्नामितमपि श्वपुच्छं पुनरपि वक्रतां याति यादृशः ॥ १४० ॥

और आपने भी अपने वंश परम्परागत पुराने सेवकों को छोड़ कर इस नये आये हुए संजीवक बैल का सम्मान करके इसे ही अधिकारी बनाया है, यह भी अनुचित किया है।

क्योंकि—वंश परम्परागत पुराने सेवकों को छोड़ कर नये आये हुओं का सत्कार और मान नहीं करना चाहिये। क्योंकि इससे बढ़कर और कोई राज्य में उपद्रव खड़ा करने वाला नहीं होता है ॥ १३९ ॥

यह सुन सिंह बोला—यह आश्चर्य की बात है, इसे तो मैंने अभय वचन दे बुलाया है, और बढ़ाया है, वह मुझसे कैसे वैर करने लगा! दमनक बोला हे देव!

सेवा से सदा सेवित किया गया भी दुर्जन कभी सीधा और साधु नहीं होता जैसे कुत्ते की टेढ़ी पूँछ को सेंकने से तथा तेल आदि मल कर सीधी करने से भी कभी सीधी नहीं होती है ॥ १४० ॥

१. 'मूलभृत्यानपास्यैव नाऽऽगन्तून् प्रतिमानयेत्' २. 'मयाऽभयवचनं'।

अपरञ्च—

'स्वेदितो, मर्दितश्चैव, रज्जुभिः परिवेष्टितः ।
मुक्तो द्वादशभिर्वर्षैः श्वपुच्छः प्रकृतिं गतः' ॥ १४१ ॥

अन्यच्च—

'वर्धनं [1]वाऽथ संमानः खलानां प्रीतये कुतः ? ।
फलन्त्यमृतसेकेऽपि न पथ्यानि विषद्रुमाः' ॥ १४२ ॥

परञ्च—

'यः स्वभावो हि यस्याऽस्ति स तेन दुरतिक्रमः ।
श्वा यदि क्रियते राजा, स किं नाऽश्नात्युपानहम्' ? ॥१४३॥

मुक्तः=द्वादशवर्षानन्तरमपि बन्धनान्मुक्तश्चेत्कुटिलतामेव श्वपुच्छो धत्ते ...लर्थः ॥ १४१ ॥

वर्धनं=पालनम् । खलानां=दुष्टानां, अमृतसेकेऽपि=दुग्धादिमधुररस-सेकेऽपि । विषद्रुमाः पथ्यानि—अमृतफलानि न फलन्ति, किन्तु विषफलान्येव ते ...फलन्तीत्यर्थः ॥ १४२ ॥

और—सेंकी गई, दबाई गई, मली गई और और रस्सियों से लपेट कर बाँधी ...गई और फिर बारह वर्ष में भी खोली गई भी कुत्ते की टेढ़ी पूँछ अपने स्वभाव को ...नहीं बदलती है, किन्तु वह पुनः टेढ़ी ही हो जाती है ॥ १४१ ॥

और भी—दुष्टों को धन आदि देकर बढ़ाना, अथवा उनका सम्मान ...करना उनको प्रीतिकारक कैसे हो सकता है ?, जैसे अमृत से सींचने पर भी विष...वृक्ष में कभी मीठे और हितकारी फल नहीं लग सकते हैं ॥ १४२ ॥

...देखो—जिसका जो स्वभाव होता है, वह उससे कभी नहीं छूटता है । ...कुत्ते को यदि राजा भी बना दिया जाए, तो भी वह क्या अपनी जूतियाँ ...चबाना और अपनी हड्डियाँ चबाना छोड़ देता है ? । कभी नहीं ॥ १४३ ॥

[1] 'च' ।

अतोऽहं ब्रवीमि—

'अपृष्टोऽपि हितं ब्रूयाद्यस्य नेच्छेत्पराभवम्।
एष एव सतां धर्मो, विपरीतमतोऽन्यथा' ॥ १४४ ॥

तथा चोक्तम्—

'स स्निग्धोऽकुशलान्निवारयति यस्तत्कर्म यन्निर्मलं,
सा स्त्री यानुविधायिनी, स मतिमान् यः सद्भिरभ्यर्च्यते।
सा श्रीर्या न मदं करोति, स सुखी यस्तृष्णया मुच्यते,
तन्मित्रं यदकृत्रिमं, स पुरुषो यः खिद्यते नेन्द्रियैः' ॥ १४५ ॥

यदि मन्त्रीयकव्यसनाद् दुःखी विज्ञापितोऽपि स्वामी न निवर्तते,

अतोऽहं ब्रवीमीति। यतो हि अपृष्टेनापि हितैषिणा हितवाक्यं वक्तव्यमिति सतां धर्मः, अतोऽहमपृष्टोऽपि ब्रवीमि वचनम्। अतोऽन्यथा = अवक्तव्येऽपि [illegible]। विपरीतम् = असतां मार्गः ॥ १४४ ॥

स्निग्धः = सुहृत्। अकुशलात् = पापात्, हानेः। निर्मलं = निर्दोषम्। अनुविधायिनी = वशंवदा। अभ्यर्च्यते = पूज्यते। मदः = गर्वम्। अकृत्रिमं = स्वाभाविकम्, [illegible]। खिद्यते = न वशीक्रियते ॥ १४५ ॥

दुःखी = [illegible]। मन्त्रिव्यसनात् = मन्त्रीराज्ञोऽकुशलाचरणात्। [illegible]। विज्ञापितः = [illegible] बोधितोऽपि। [illegible]

और मैं तो आप का हितैषी हूँ, इसी लिए आप से बे पूछे हित की बात कहता हूँ। क्योंकि जिसका पराजय न चाहे, उसको बिना पूछे हुए भी हित की बात कहे —यही सज्जनों का धर्म है, और इससे उलटा अधर्म (पाप) है ॥ १४४ ॥

कहा भी है,—वही सच्चा मित्र है, जो बुराइयों से बचावे। और [illegible] वही सच्चा मित्र है। जो स्वच्छ और निर्मल है वही कर्म है। वही स्त्री है, जो आज्ञाकारिणी है। वही बुद्धिमान् है, जो सज्जनों से पूजित होता है। और वही लक्ष्मी है, जो मद (घमण्ड) उत्पन्न नहीं करती है। वही सुखी है, जो तृष्णा से बचा है। वही मित्र है, जो स्वाभाविक है। और वही पुरुष है, इन्द्रियों के वशीभूत नहीं होता है ॥ १४५ ॥

और यदि मन्त्री के व्यसनों से दुःखी हुए हम ने (हंस) द्वारा निवेदन करने

[1]तदा ईदृशे भृत्यस्य न दोषः । तथा च—

'नृपः कामाऽऽसक्तो गणयति न कार्यं, न च हितं,
यथेष्टं स्वच्छन्दः प्रविचरति, मत्तो गज इव ।
ततो [2]मानध्मातः स पतति यदा शोकगहने,
तदा भृत्ये दोषान्क्षिपति, न निजं वेत्त्यविनयम्' ॥१४६॥

पिङ्गलकः— (स्वगतम्)—

'न [3]परस्याऽपराधेन परेषां दण्डमाचरेत् ।
आत्मनाऽवगतं[4] कृत्वा बध्नीयात्[5] पूजयेच्च वा' ॥ १४७ ॥

ईदृशे=ईदृशे प्रसङ्गे ॥ कामासक्तः=कामपरवशः, इन्द्रियपरवशः । कार्यं=कर्तव्यं, हितं=स्वोपकारकमम् । यथेच्छं=स्वेच्छयैव, स्वच्छन्दः=निरवग्रहः सन्, मत्तो गज इव प्रविचरति=व्यवहरति, चेष्टते च । मानध्मातः=गर्वोन्मत्तः । शोकगहने=शोकरूपे गहने । भृत्ये=अमात्यादौ । क्षिपति=योजयति । अविनयं=दोषम् न । वेत्ति=न गणयति ॥ १४६ ॥

स्वगतम्=मनस्येव चिन्तयति । परस्य=अन्यस्य । परेषाम्=अन्येषाम् ।

भी शत्रीक के प्रेम रूपी व्यसन को नहीं छोड़ते हैं, तो फिर इसमें (ऐसे अवसर में) सेवकों का (हमारा) कुछ भी दोष नहीं है । क्योंकि कहा भी है—

कामासक्त राजा न कार्य को गिनता है, और न अपने हित को ही देखता है, वह तो स्वतन्त्र मतवाले हाथी के समान इच्छापूर्वक विचारता है । अर्थात् जो वह चाहता है, वही करता है । और वह जब घमण्ड से चूर होकर गहरे शोक सागर (विपत्ति) में पड़ता है, तब वह सेवकों के ही ऊपर उस विपत्ति का दोष मढ़ता है । पर वह अपने अविनय (दोष) को नहीं देखता है ॥ ११६ ॥

तब पिङ्गलक अपने मन में विचार करने लगा कि—

दूसरों के कहने मात्र से ही दूसरों को दण्ड नहीं देना चाहिये, किन्तु आप स्वयं परीक्षा करके ही दोष और गुणों का निश्चय करे । और तभी किसी को दण्ड

1. 'तदा भृत्यस्य' । 2. 'मानाध्मातः' पा० । 3. 'परस्याऽपराधेन' पा० । 'देवेऽपराधेन' इति शोभनः पाठः । 4. 'ऽवगतं कृत्वा' । 5. 'पूजयेद् वा' ।

तथा चोक्तं—
'गुण-दोषावनिश्चित्य 'विधिर्न ग्रह-निग्रहे ।
स्वनाशाय यथा न्यस्तो दर्पात्सर्पमुखे करः' ॥ १४८ ॥
(प्रकाश्य प्रोक्ते—) 'तदा सञ्जीवक कि प्रत्यादिश्यताम्'? । दमनक
ससंभ्रममाह—'देव । मा मैवम् । एतावता[2] मन्त्रभेदो जायते'।
तथा[3] चोक्तम्—
'मन्त्रबीजमिदं गुप्तं रक्षणीयं तथा, [4]यथा— ।
मनागपि न भिद्येत, तद्भिन्नं न प्ररोहति' ॥ १४९ ॥

अवगत्य = साक्षात् ज्ञात्वा । अनिश्चित्य = स्पष्टयेत्, पूजयेत्=सत्कुर्यात् ॥१४७॥ ... दर्पात् सर्पमुखे न्यस्तो हस्त ...
ग्रहनिग्रहे = सत्कारदण्डयोः । ग्रह = अनुग्रहः । ... इदं ...
स्वनाशायेव भवत्यर्थः ॥ १४८ ॥ एतावता = तत्प्रत्याख्याने । मनाक् = ईष ...
एवम् = इत्थम्, मा मा = नैव कथनं । ... रक्षणीयम् । भिन्नं = स्फुटितं सत्, न ...
गुप्तं मन्त्रबीजम्, यथा तथा = येनकेनापि प्रकारेण, रक्षणीयम् । भिन्नं = ...
न भिद्येत = न भिन्नं भवेत् । तत् = मन्त्रबीजम् । ...
न प्ररोहति ॥ १४७ ॥

भी है, या उसका सम्मान करे ॥ १४७ ॥
क्योंकि कहा भी है—
गुणों और दोषों (अपराध) का पूरा पूरा निश्चय किए बिना ही किसी को ... बिना टीक-ठीक
दण्ड देना, या उसका सत्कार करना, यह सर्वथा अनुचित है । ... किसी को दण्ड देना तो ऐसा ही ...
गुण-दोषों को जाने किसी का आदर करना या किसी को ... गर्व से साँप के मुख में अपना हाथ डाल दे
कपना ही वर्ण है, जैसे कोई घमण्ड से साँप के ... ॥ १४८ ॥
और ... के करने से ... मर जाय ॥ १४८ ॥
(प्रकट में ऐसा—) तब क्या सञ्जीवक को निकाल दिया जाय ? । दमनक
घबड़ाकर बोला कि—देव ! ऐसा न कीजिये । इससे मन्त्रभेद (सलाह की गुप्तता का भेद)
हो जाता है । जैसे कहा भी है—
... मन्त्रणा रूप बीज की ... इस प्रकार से रक्षा करनी चाहिये जिससे यह थोड़ा भी ...

१. 'गुण-दोषावनिश्चित्य' । २. 'मा मैवं, मन्त्रभेदो' । ३. 'उक्तं चैतद्' ।
४. 'यथा ...' ।

किञ्च—

'आदेयस्य, प्रदेयस्य, कर्त्तव्यस्य च कर्मणः ।
क्षिप्रमक्रियमाणस्य, कालः पिबति तद्रसम्' ॥ १५० ॥

तदवश्यं समारब्धं महता प्रयत्नेन सम्पादनीयम् । किं च—

'मन्त्रो योध इवाऽधीरः सर्वाङ्गैः संवृतैरपि ।
चिरं न सहते स्थातुं परेभ्यो भेदशङ्कया' ॥ १५१ ॥

यद्यसौ दृष्टदोषोऽपि दोषान्निवर्त्य सन्धातव्यस्तदतीवाऽनुचितम् । यतः—

हति=न फलति ॥ १४९ ॥

आदेयस्य=ग्राह्यस्य, प्रदेयस्य = देयस्य । क्षिप्रं = झटिति । पिबति = गृह्णा-
ति । तद्रसं=तत्सारम् ॥ १५० ॥

योधः=सैनिको भीरुभट इव । योधो हि सर्वाङ्गैः = सर्वावयवैः, कवचादिना
वृतैः = आच्छादितैरपि, चिरं स्थातु=युद्धे चिरं स्थातुं, न सहते = न समर्थः ।
रेभ्यः=शत्रुभ्यः, भेदशङ्कया = पराजयभीत्या । विनाश (भेद)शङ्कया । रहस्यस्फुट-
शङ्कया च ॥१५१॥

असौ = सञ्जीवकः । दृष्टदोषः=दृष्टापराधोऽपि । सन्धातव्यः=पुनः संधानीयः ।

फूटे, क्योंकि यह थोड़ा भी प्रकट होने पर नहीं जमता है (फलप्रद नहीं होता
) ॥१४९॥

और भी—लेने योग्य, देने योग्य, और करने योग्य काम को शीघ्र न करने से
सका रस समय पी लेता है ॥ १५० ॥

इसलिये अच्छे प्रकार से आरम्भ किये हुए काम का सम्पादन अवश्य ही
यत्न से करना चाहिये ।

और भी—सब अङ्गों से ढका हुआ, सुरक्षित भी मन्त्र (सलाह) डरपोक
द्धा की तरह दूसरों से भेद (पराजय और प्रकट होने) की शङ्का से बहुत
देर तक नहीं ठहर सकता है ॥ १५१ ॥

और यदि इसका अपराध जान लिया गया है, तो भी उसके दोषों को दूर
के फिर इससे संधि (मेल) करना तो और भी अनुचित है ।

'सकृद् दुष्टं तु यो मित्रं पुनः सन्धातुमिच्छति ।
स मृत्युमेव गृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा' ॥ १५२ ॥

सिंहो ब्रूते—'ज्ञायतां तावत्किमस्माकमसौ कर्तुं समर्थः' ? ।
दमनक आह—'देव !

'अज्ञात्वाऽग्निमात्मनो ज्ञाता कथं सामर्थ्यनिर्णयः ? ।
पश्य टिट्टिभमात्रेण समुद्रो व्याकुलीकृतः' ? ॥ १५३ ॥

सिंहः पृच्छति—कथमेतत् ? । दमनकः कथयति—

(९) टिट्टिभ–समुद्र–कथा ।

दक्षिणसमुद्रतीरे टिट्टिभदम्पती निवसतः । तत्र[1] चाऽऽसन्नप्रसव

मृत्युमेवेति । तथा सति नूनं मृत्युरेव सन्धातुरित्यर्थः । अश्वतरी=गर्दभी (खच्चरी)। अश्वतरी हि प्रसवकाले म्रियते, तदुदरकर्तनेनैवाश्वतरो बहिर्निष्काश[illegible] ॥१५२॥

[illegible]=[illegible] । [illegible]=[illegible] । टिट्टिभमात्रेण=[illegible] टिट्टिभेनैव ॥ १५३ ॥

दम्पती=[illegible] । [illegible] । 'ननु' इति निश्चये । [illegible]

क्योंकि—जो एक बार दुष्ट हुए मित्र से फिर मेल चाहता है, वे निश्चय ही मृत्यु को [illegible] है। जैसे खच्चरी गर्भ को धारण करके मृत्यु को प्राप्त होती है ॥१५२॥

सिंह बोला कि—पहले तो यह जानना चाहिये, कि यह हमारा क्या [illegible] कर सकता है ? । दमनक बोला कि—देव !

[illegible] (बलवत्ता) और [illegible] (अपना) को जाने बिना ही किसी के सामर्थ्य का निर्णय कैसे हो सकता है ? । देखिए एक टिट्टिभी ने भी समुद्र को व्याकुल किया था ॥ १५३ ॥

सिंह ने पूछा कि—यह कथा कैसे है ? । दमनक बोला—

दक्षिण समुद्र के किनारे टिट्टिभी का एक जोड़ा रहता था । वहाँ [illegible]

1. '[illegible]' ।

टिट्टिभी भर्त्तारमाह—'नाथ ! प्रसवयोग्यस्थानं निभृतमनुसन्धीयताम्'। टिट्टिभोऽवदत्—'प्रिये[1] ! नन्विदमेव स्थानं प्रसूतियोग्यम्'।

सा ब्रूते—'समुद्रवेलया व्याप्यते [2]स्थानमेतत्।

टिट्टिभोऽवदत्—'भद्रे[3] ! किमहं निर्बलो [4]यत् समुद्रेण निग्रहीतव्यः' ? । टिट्टिभी विहस्याऽऽह—'स्वामिन् ! त्वया, समुद्रेण च महदन्तरम्। अथवा—

> 'पराभवं[5] परिच्छेत्तुं, योग्याऽयोग्यं च वेत्ति यः।
> अस्तीह यस्य विज्ञानं, कृच्छ्रेणाऽपि न सीदति' ॥ १५४ ॥

तीरवर्तिस्थानमेव । समुद्रवेलया = समुद्रवेलाजलेन । (वेला=बाढ, ज्वार-भाटा) अन्तरं = भेदः । पराभवं=स्वपरिभवम् । परिच्छेत्तुं=दूरीकर्त्तुम् । वेत्ति=जानाति । योग्यायोग्यं = योग्यमयोग्यञ्च । वेत्ति=जानाति । विज्ञान=कौशलम् । कृच्छ्रेण= अतिमहता कष्टेनापि । न सीदति=अवसन्नो न भवति । न विषण्णो भवति । 'दुःखमात्मे'त्यादिपाठान्तरे—आत्मा = स्वयं, 'योग्यो, नवे'ति, परिच्छेत्तुमेव= निर्णेतुमेव तावत्, दुःखं=कठिनम् । परन्तु यस्य विदुष ईदृक् विज्ञानंचेदस्ति तदा स न सीदतीत्यर्थः । शोभनोऽयं पाठः ॥ १५४ ॥

जब प्रसवकाल समीप आया तब उसने अपने पति से कहा कि—'हे नाथ ! अब मेरे प्रसव करने योग्य कोई अच्छा सा एकान्त स्थान आपको ढूंढना चाहिये'। टिट्टिभ बोला कि—'हे प्रिये ! यह स्थान भी तो प्रसव (बच्चा जननेके) करने योग्य ही है।' तब वह बोली—इस स्थान पर तो समुद्र की वेला (ज्वार-भाटा) आती है। टिटीहिरा बोला कि—'क्या मैं निर्बल हूँ, जो समुद्र इस तरह मेरे अंडों को हरण कर मुझे पीड़ा देगा ?। टिटीहिरी हँसकर बोली कि—'स्वामी ! तुमारे में और समुद्र में बड़ा अन्तर है।

अथवा अपने पराजय को जो दूर करना जानता है, और जो योग्य और अयोग्य को जानता है, और जो विद्या और बुद्धि तथा कौशल से युक्त है, वह प्रबल विपत्ति का पड़ने पर भी नष्ट नहीं होता है। और न कभी घबड़ाता है, न [illegible] ही पाता है। और न वह दुःखी होता है ॥ १५४ ॥

१ 'भार्ये'। २ 'प्लाव्यते स्थानमेतत्'। ३ 'सोऽब्रवीत्–किमहं'। ४ 'यन्मम [illegible] सुतानि समुद्रेणापहर्तंस्यानि, अहञ्च निग्रहीतव्यः। पा०। ५ 'नाथ'। ६ 'दुःखमात्मा परिच्छेत्तुमेव—'योग्यो, नवे'ति वा। अस्तीदृग्यस्य [illegible]रस्य स कृच्छ्रेऽपि'।

अपि च—

'अनुचितकार्यारम्भः', स्वजनविरोधो, बलीयसा स्पर्द्धा ।
प्रमदाजनविश्वासो, मृत्योर्द्वाराणि चत्वारि' ॥ १५५ ॥

ततः[2] कृच्छ्रेण स्वामिवचनात्सा तत्रैव प्रसूता । एतत्सर्वं श्रुत्वा समुद्रेणापि तच्छक्तिज्ञानार्थं[3] तदण्डान्यपहृतानि । ततष्टिट्टिभी शोकार्ता भर्तारमाह—'नाथ ! कष्टमापतितम्, [4]तान्यण्डानि मे नष्टानि' । टिट्टिभोऽवदत्—'प्रिये, मा भैषीः' । इत्युक्त्वा पक्षिणां मेलकं[5] कृत्वा, पक्षिस्वामिनो गरुडस्य समीपं गतः ।

तत्र गत्वा[6] सकलवृत्तान्तं टिट्टिभेन भगवतो गरुडस्य पुरतो निवेदितं—'देव ! समुद्रेणाहं स्वगृहावस्थितो विनाऽपराधेन* निगृहीतः । ततस्त्वद्

स्पर्द्धा=विरोधः ॥ १५५ ॥ कृच्छ्रेण=महता निर्बन्धेन । (किसी तरह समझाने बुझाने पर) । सा=टिट्टिभी । तत्रैव=समुद्रकूले एव । तदण्डानि=टिट्टिभाण्डानि । अपहृतानि=चोरितानि ।

मेलकं=समागमं । समाज् । निगृहीतः=दण्डितः, क्लेशितश्च । गरुडमा=गरुडेन । सुखि—मिति—वचनेन=समुद्रपक्ष-शासन-विनाशहेतुः । मौली = शिरसि ।

और भी—अयोग्य काम का आरम्भ, अपने स्वजनों से बैर, बलवान् से स्पर्द्धा और स्त्रियों का विश्वास—ये चार बातें मृत्यु के द्वार की मुख्य ही कही हैं ॥१५५॥

फिर अपने स्वामी के बहुत समझाने बुझाने से, बड़ी कठिनाई से उसने वहीं ही अंडे उत्पन्न की (वहीं अण्डे दे दिए) । यह सब सुनकर समुद्र ने भी उस टिटिहरे के बल-पराक्रम को जानने के लिए ही उसके अण्डे हर लिये । तब वह टिटिहरी शोक से दुःखित होकर अपने पति से बोली कि—हे नाथ ! बड़े ही दुःख की बात है, मेरे तो सब अण्डे नष्ट हो गए (समुद्र ने अपहरण कर लिए) । इस पर टिटिहरा बोला कि—हे प्यारी ! तुम डरो मत । ऐसा कह कर सब पक्षियों को इकट्ठा करके उनको साथ लेकर पक्षियों के स्वामी श्री गरुड़ जी के पास गया। और वहाँ जा उस टिटिहरे ने समुद्रद्वारा अपने अण्डे चुराने का सब समाचार भगवान् श्री गरुड़ जी के आगे दो कहा, कि—हे देव ! मुझे अपने घर में ही

१. 'कार्यारम्भः' । २. 'ततः [illegible]' । ३. 'तच्छक्तिदिदृक्षया' । ४ 'तानीमानि [illegible]' । ५. 'मेलनं कृत्वा' । ६. 'गत्वा तेन [illegible] [illegible]—' । • 'विनापराधेन' ।

[1]वचनमाकर्ण्य गरुत्मता, प्रभुर्भगवान्नारायणः सृष्टि-स्थिति-प्रलयहेतुर्विज्ञप्तः। स समुद्रमण्डदानायाऽऽदिदेश।

ततो भगवदाज्ञां मौलौ निधाय, [2]समुद्रेण तान्यण्डानि टिट्टिभाय समर्पितानि। अतोऽहं ब्रवीमि—'अङ्गाङ्गिभावमज्ञात्वा' इत्यादि ॥ ० ॥

राजाऽऽह—'कथमसौ ज्ञातव्यो—'द्रोहबुद्धि'रिति ?।' दमनको [3]ब्रूते—यदाऽसौ [4]सदर्पः, शृङ्गाऽग्रप्रहरणाऽभिमुखश्चकित इवाऽऽगच्छति, तदा ज्ञास्यति स्वामी'। एवमुक्त्वा सञ्जीवकसमीपं गतः। तत्र गतश्च मन्दं मन्दमुपसर्पन्विस्मितमिवाऽऽत्मानमदर्शयत। ततःसञ्जीवकेन साऽऽदरमुक्तं-

असौ=सञ्जीवकः. द्रोहबुद्धिः=राजद्रोहीति, कथं ज्ञातव्यः?। सदर्पः=रौद्रः। शृङ्गाग्रप्रहरणाऽभिमुखः=शृङ्गाग्रेण प्रहर्तुमुद्यत एव। चकित इव=भयम् इतस्ततो विलोकयन्निव। (चौकन्ना होकर)।

विस्मितमिव=व्याकुलमिव, भ्रान्तमिव च। भद्र=साधो। (भद्र=भाई)।

ये को बिना अपराध ही समुद्र ने यह कष्ट दिया है!। उसके वचनों को सुनकर, श्री गरुड़ जी ने जगत् की सृष्टि स्थिति-प्रलय के कारण भगवान् प्रभु श्री नारायण से यह सब निवेदन कर दिया। तब उन्होंने समुद्र को टिटहरे के सब अण्डे दे देने की आज्ञा दी। तदनन्तर भगवान् की आज्ञा को शिर पर धारण कर समुद्र ने उसके सब अण्डे (टिटहरे को) सौंप दिये। इसीलिये मैं कहता हूँ, कि—अङ्ग (सहायक) और अङ्गी (प्रधान) को पूरा २ जाने बिना ही किसी के बल का अनुमान नहीं लगाया जा सकता है, इत्यादि।

तब यह राजा सिंह बोला कि—यह कैसे जाना जाय कि इस बैल की मुझ पर द्रोहबुद्धि है?। दमनक बोला कि—जब यह घमण्ड से (बड़े तपाक से), अपने सींगों की नोक को सामने किये हुए, प्रहार करने की तैयारी में होकर, एवं चौकन्ना सा होकर आवे, तब आप जान लें कि,—इसके मन में कपट है, और यह राजद्रोही है। ऐसे कहकर यह दमनक उस सञ्जीवक के पास गया। और वहाँ जाकर धीरे २ चल कर, डरे हुए के समान ही अपने को उसके सामने दिखाता हुआ वह बाहर खड़ा हो गया। सञ्जीवक ने आदर सहित उससे पूछा कि—भाई! आप

१. 'तच्छ्रुतेन गरुत्मता'। २. 'समुद्रस्तान्यण्डानि टिट्टिभाय समर्पितवान्'। ३. 'ब्रूयात्'। ४. कश्चिन्न।

"भद्र ! कुशलं ते' ? । दमनको ब्रूते-'अनुजीविनां कुतः कुशलम्' । यतः-

'सम्पत्तयः पराधीनाः, सदा चित्तमनिर्वृतम् ।
स्वजीवितेऽप्यविश्वासस्तेषां ये राजसेवकाः'' ॥ १५६ ॥

अन्यच्च—

'कोऽर्थान्प्राप्य न गर्वितो, विषयिणः कस्याऽऽपदोऽस्तङ्गताः,
स्त्रीभिः कस्य न खण्डितं भुवि मनः,को ³नाम राज्ञां प्रियः ।
कः कालस्य भुजान्तरं न च गतः, कोऽर्थी गतो गौरवं,
को वा दुर्जनवागुरासु पतितः क्षेमेण यातः पुमान्' ? ॥१५७॥

अनुजीविनां=सेवकानाम् । सम्पत्तयः=समृद्धयः । पराधीनाः=परायत्ताः । अनिर्वृतम्=अशान्तम् । अनुचितम् । किमधिकं—ये राजसेवकास्तेषां स्वजीवितेऽप्यविश्वासो भवतीत्यन्वयः ॥ १५६ ॥

विषयिणः=विषयोपभोगासक्तस्य । अस्तं गताः=दूरे स्थिताः । आपदः । निर्विषयः सदैव विपद्ग्रस्ता भवन्तीत्यर्थः । खण्डितं=क्षोभितं, पराजितम् । अर्थी=याचकः, गौरवं=महत्त्वम् । दुर्जनवागुरासु=खलवचनजालेषु । क्षेमेण=कुशलेन, यातः=निर्गतः ॥ १५७ ॥

कुशल से तो हैं ? । दमनक बोला कि—सेवकों की कुशल कहाँ है ? ।

क्योंकि—जो राजसेवक हैं, उनकी सभी सम्पत्तियाँ पराधीन होती हैं, और उनका चित्त (मन) भी कभी सुखी नहीं रहता है । अर्थात् वे सदा दुःखी हो रहते हैं । और तो क्या, उन्हें अपने जीने का भी विश्वास नहीं रहता है ॥१५६॥

और भी—कौन पुरुष धन को पाकर घमण्डी नहीं होता है ? । और विषयी के आपत्ति किसकी समाप्त हुई है ? । और स्त्रियों ने पृथ्वी पर किसका मन खण्डित नहीं किया है ? । और राजाओं का प्रिय कौन है ? । और काल की भुजाओं के बीच में कौन नहीं जाता है ? । और किस मांगने वाले ने बड़ाई पाई है ? । और कौन पुरुष दुष्टों के जाल में फँस कर कुशलता से बचा है ? ॥१५७॥

१. 'भद्र ! कुशलं ते ?' । २. 'राजसेवकाः' । ३. 'को नाम राज्ञां' ।

सञ्जीवकेनोक्तम्—'सखे! ब्रूहि, किमेतत्'?। दमनक आह—'किं ब्रवीमि मन्दभाग्यः?। पश्य—

'मज्जन्नपि पयोराशौ लब्ध्वा सर्पाऽवलम्बनम्।
न मुञ्चति, न चाऽऽदत्ते, तथा मुग्धोऽस्मि सम्प्रति' ॥१५८॥

यतः—

'एकत्र राजविश्वासो नश्यत्यन्यत्र बान्धवः।
किं करोमि, क्व गच्छामि, पतितो दुःखसागरे' ॥१५९॥

—इत्युक्त्वा दीर्घं निःश्वस्योपविष्टः। सञ्जीवको ब्रूते—'मित्र! तथापि [१]सविस्तरं मनोगतमुच्यताम्'। दमनकः सुनिभृतमाह—'यद्यपि राज-

पयोराशौ = समुद्रे। सर्पावलम्बन = सर्परूपमवलम्बनम्, तद्युक्त वृक्षादिकमवलम्बनं वा। आदत्ते = गृह्णाति। मुग्धः = मूढः। सम्प्रति = इदानीम्॥ १५८॥
एकत्र = एकस्यां दिशि। (एक ओर तो)। अन्यत्र = अन्यस्मिन् तु। बान्धवः = बन्धुः, भवान् सञ्जीवकः,—नश्यतीत्यन्वयः॥ १५९॥
मनोगतं = मनसि स्थितम्। सुनिभृतं = सुगूढम्। राजविश्वासः = राजमन्त्ररहस्यम्।

सञ्जीवक बोला कि—'मित्र! तुम ऐसे व्याकुल क्यों हो रहे हो।? ऐसी क्या बात है?।' दमनक बोला कि—मैं तो बड़ा ही मन्दभाग्य हूँ, आप से क्या कहूँ?।

देखो—जैसे समुद्र में डूबता हुआ पुरुष सर्प का अवलम्बन (सहारा) पाकर भी उसे न तो छोड़ ही सकता है, और न उसे पकड़ ही सकता है, ऐसी ही इस समय मेरी दशा है। और मैं अपना कर्तव्य निर्धारण करने में असमर्थ होकर व्याकुल और किङ्कर्तव्यविमूढ हो रहा हूँ॥ १५८॥

क्योंकि—एक ओर तो राजा का विश्वास नष्ट होता है, और दूसरी ओर अपने बन्धु (सम्बन्धी, सञ्जीवक,) का विनाश हो रहा है। ऐसे इस दुःख के समुद्र में पड़ रहा हूँ, समझ में नहीं आता है कि अब मैं कहाँ जाऊँ और क्या करूँ?॥ १५९॥

इस तरह कहकर वह लम्बी श्वास ले कर उदास होकर बैठ गया। सञ्जीवक बोला कि हे मित्र! तो भी जो आपके मन में हो उसे आप विस्तार से कहिये। तब वह

१. 'विस्तरं मनोगतं कथ्यताम्'।

"[1]भद्र ! कुशलं ते' ? । दमनको ब्रूते–'अनुजीविनां कुतः कुशलम्' । यतः–

'सम्पत्तयः पराधीनाः, सदा चित्तमनिर्वृतम् ।
स्वजीवितेऽप्यविश्वासस्तेषां ये राजसेवकाः[2]' ॥ १५६ ॥

अन्यच्च–

'कोऽर्थान्प्राप्य न गर्वितो, विषयिणः कस्याऽऽपदोऽस्तङ्गताः,
स्त्रीभिः कस्य न खण्डितं भुवि मनः,को [3]नाम राज्ञां प्रियः ।
कः कालस्य भुजान्तरं न च गतः, कोऽर्थी गतो गौरवं,
को वा दुर्जनवागुरासु पतितः क्षेमेण यातः पुमान्' ? ॥१५७॥

अनुजीविनाम्=सेवकानाम् । सम्पत्तयः=समृद्धयः । पराधीनाः=परायत्ताः । अनिर्वृतम्=अशान्तम् । असुखितम् । किम्बहुना–ये राजसेवकास्तेषां स्वजीवितेऽप्यविश्वासो भवतीत्यन्वयः ॥ १५६ ॥

विषयिणः=विषयोपभोगासक्तस्य । अस्तं गताः=दूरे स्थिताः । आपदः । [illegible] । खण्डितं=क्षोभितं, पराजितम् । अर्थी=याचकः, गौरवं=महत्त्वम् । दुर्जनवागुरासु=दुर्जनवचनरूपजालेषु । क्षेमेण=कुशलेन, यातः=निर्गतः ॥ १५७ ॥

कुशल से तो हैं ? । दमनक बोला कि—सेवकों की कुशल कहाँ है ? ।

क्योंकि—जो राजसेवक हैं, उनकी सभी सम्पत्तियाँ पराधीन होती हैं, और सेवकों का चित्त (मन) भी कभी सुखी नहीं रहता है। अर्थात् वे सदा दुःखी ही रहते हैं। और तो क्या, उन्हें अपने जीने का भी विश्वास नहीं रहता है॥१५६॥

और भी—कौन पुरुष धन को पाकर घमण्डी नहीं होता है ? । और किस [illegible] की आपत्ती [illegible] नहीं गयी हैं ? । और स्त्रियों से पृथ्वी पर किसका मन खण्डित नहीं हुआ है ? । और राजाओं का प्रिय कौन है ? । और काल के भुजाओं के बीच में कौन नहीं जाता है ? । और किस मांगने वाले ने बड़प्पन पाई है ? । और कौन पुरुष दुष्टों के जाल में फँस कर कुशलता से बचा है ? ॥१५७॥

१. 'भद्र ! दमनक !' । २. 'राजसेवकाः' । ३. 'को नाऽस्ति राज्ञां' ।

सञ्जीवकेनोक्तम्—'सखे ! ब्रूहि, किमेतत्' ? ।
[दम]नक आह—'किं ब्रवीमि मन्दभाग्यः ? । पश्य—

'मज्जन्नपि पयोराशौ लब्ध्वा सर्पावलम्बनम् ।
न मुञ्चति, न चाऽऽदत्ते, तथा मुग्धोऽस्मि सम्प्रति' ॥१५८॥

[य]तः—

'एकत्र राजविश्वासो नश्यत्यन्यत्र बान्धवः ।
किं करोमि, क्व गच्छामि, पतितो दुःखसागरे' ॥१५९॥

—इत्युक्त्वा दीर्घं निःश्वस्योपविष्टः । सञ्जीवको ब्रूते—'मित्र ! तथा-[प]ि [१]सविस्तरं मनोगतमुच्यताम्' । दमनकः सुनिभृतमाह—'यद्यपि राज-

पयोराशौ = समुद्रे । सर्पावलम्बनं = सर्परूपमवलम्बनम्, तद्युक्त वृक्षादिक-[माल]म्बनं वा । आदत्ते = गृह्णाति । मुग्धः = मूढः । सम्प्रति = इदानीम् ॥ १५८ ॥

एकत्र = एकस्यां दिशि । (एक ओर तो) । अन्यत्र = अन्यपक्षे तु । बान्धवः = [ब]न्धुः, भवान् सञ्जीवकः,—नश्यतीत्यन्वयः ॥ १५९ ॥

मनोगतं = मनसि स्थितम् । सुनिभृतं = गुप्तम् । राजविश्वासः = राजमन्त्ररहस्यम् ।

सञ्जीवक बोला कि—'मित्र ! तुम ऐसे व्याकुल क्यों हो रहे हो । ? ऐसी क्या [ब]ात है ?' दमनक बोला कि—मैं तो बड़ा ही मन्दभाग्य हूँ, आप से क्या कहूँ ? ।

देखो—जैसे समुद्र में डूबता हुआ पुरुष सर्प का अवलम्बन (सहारा) पाकर [भ]ी उसे न तो छोड़ ही सकता है, और न उसे पकड़ ही सकता है, ऐसी ही इस [स]मय मेरी दशा है । और मैं अपना कर्तव्य निर्धारण करने में असमर्थ होकर [व्या]कुल और किङ्कर्तव्य विमूढ हो रहा हूँ ॥ १५८ ॥

क्योंकि—एक ओर तो राजा का विश्वास नष्ट होता है, और दूसरी ओर अपने [ब]न्धु (सम्बन्धी, सञ्जीवक,) का विनाश हो रहा है । ऐसे इस दुःख के समुद्र में [प]ड़ रहा हूँ, समझ में नहीं आता है कि अब मैं कहाँ जाऊँ और क्या करूँ ? ॥१५९॥

इस तरह कहकर वह लम्बी श्वास ले कर उदास होकर बैठ गया । सञ्जीवक बोला कि 'हे मित्र ! तो भी जो आपके मन में हो उसे आप विस्तार से कहिये । तब वह

१. 'हृद्गतं मनोगतं कथ्यताम्' ।

विश्रामो 'न कथनीयस्तथापि भवानस्मदीयप्रत्ययादागतः, [illegible][1]। तन्मया परलोकार्थिनाऽवश्यं तव हितमावेदयेयम्'। शृणु— अयं स्वामी तवोपरि विकृतबुद्धी [2]रहस्युक्तवान्,—'सञ्जीवकमेव हत्वा स्वपरिवारं तर्पयामि'।

एतच्छ्रुत्वा सञ्जीवकः परं विषादमगमत्। दमनकः पुनराह—'अलं विषादेन, प्राप्तकालं कार्यमनुष्ठीयताम्।' सञ्जीवकः क्षणं विमृश्याऽऽह—'सुष्ठु खल्विदमुच्यते'। [3]यतः—

'दुर्जनगम्या नार्यः, प्रायेणाऽपात्रभृद्भवति राजा।
कृपणाऽनुसारि च धनं, देवो गिरि-जलधिवर्षी च' ॥१६०॥

अस्मदीयप्रत्ययात्=अस्मद्विश्वासात्। आगतः=[illegible]। परलोकार्थिना=परलोकहितार्थिना, धर्मभीरुणा। आवेदनीयम्=कथनीयम्। स्वामी=राजा। विकृतबुद्धिः=दुष्टबुद्धिः। रहसि=एकान्ते। प्राप्तकालम्=अवसरोचितम्। [illegible] वर्षति [illegible] तत्कार्यं [illegible]। दुर्जनगम्याः=[illegible]। अपात्रभृत्=दुष्टपालकः। कृपणानुसारि [illegible]

दमनक बहुत [illegible] हुए, पर २ उसके कान में [illegible] राजा का [illegible] भी [illegible] से [illegible] नहीं करना चाहिये, और राजा का [illegible] पर [illegible] हैं, अतः मैं [illegible] है। [illegible] नहीं करना चाहिये, तो भी आप हमारे ही [illegible] पर [illegible] क्यों कि मुझे [illegible] आप की [illegible] हमें [illegible] भी तो [illegible] ही। अतः मैं [illegible] है [illegible] आप [illegible] है, क्योंकि वह मुझसे [illegible] में आप [illegible] अपने परिवार को [illegible] ही [illegible] हुआ। [illegible] वह [illegible] बहुत ही दुःखी हुआ। [illegible] ऐसी स्थिति के [illegible] दर को [illegible] कहेगा। वह [illegible] ! [illegible] करो। [illegible] संजीवक [illegible] होकर [illegible] है। [illegible] कहा [illegible] करता है। [illegible] बहुत [illegible] करता है। [illegible] दुर्जनों के ही [illegible] जाती है, और राजा [illegible]

[illegible] १. '[illegible]'। २. '[illegible]'। ३. '[illegible]'। [illegible]। ४. '[illegible]'। ५. [illegible]।

[[1]तथा च—

नीचमाश्रयते लक्ष्मीरकुलीनं सरस्वती ।
अपात्रं भजते नारी, गिरौ वर्षति वासवः] ॥

(स्वगतं—) किमिदं[2] दुर्जनचेष्टितं[3], न वेत्येतद्व्यवहारान्निर्णेतुं शक्यते । यतः—

'कश्चिदाश्रयसौन्दर्याद्धत्ते शोभामसज्जनः ।
प्रमदालोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम्' ॥ १६१ ॥

र (पुनः[1]) विचिन्त्योक्तवान्—'कष्टं, किमिदमापतितम्' ? ! यतः—

राराध्यमानो नृपतिः प्रयत्नान्न तोषमायाति किमत्र चित्रम् ।
पं त्वपूर्वः प्रतिभाविशेषो, यः सेव्यमानो रिपुतामुपैति' ! ॥१६२॥

ायस्तगतन् । देवः=मेघः ॥१६०॥ व्यवहारात्=प्रसङ्गात् । कश्चिदसज्जनोऽपि-
श्रयसौन्दर्यात्=आधारगौरवात्-शोभा धत्ते, यथा—प्रमदालोचनन्यस्तं=सुन्दरी-
ानिहितं, मलीमसमपि=मलिनमपि, अञ्जनं=कज्जल-शोभते इत्यर्थः ॥१६१॥
ाराध्यमानः=सेव्यमानः । तोषं=परितोषम् । अपूर्वः=अदृष्टपूर्वः । प्रतिभा-
ेषः=स्वभाववैचित्र्यम् । रिपुतां=शत्रुताम् ॥ १६२ ॥

ः अपात्रों को ही धन देते हैं, धन भी कृपणों (कंजूसों) के ही पास प्रायः
ता है, तथा मेघ भी पहाड़ और समुद्रों में ही व्यर्थ ही ज्यादा बरसते हैं ॥१६०॥
(मन ही मन) परन्तु ये सब दमनक की बातें सच्ची हैं, या इनमें इसकी
ई चाल है (यह सब इसका षड्यन्त्र ही है.) इसका पता इसके व्यवहार से लगाना
कठिन है । क्योंकि कोई-कोई दुष्ट पुरुष आश्रय की सुन्दरता से ही शोभा पाते
। जैसे कि स्त्री के नेत्रों में लगा हुआ काला अञ्जन भी स्त्रियों के नेत्रों का आश्रय
र ही शोभा पाता है ॥ १६१ ॥

फिर सञ्जीवक विचार कर बोला कि—हा! मेरे ऊपर यह क्या कष्ट आ पड़ा।
क्योंकि अत्यन्त प्रयत्न से सेवा करने पर भी यदि राजा प्रसन्न नहीं होता है,
इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, परन्तु अनोखी और अत्यन्त आश्चर्य की तो यही
है, कि सेवा करने पर भी वह उलटा शत्रु हो जाता है ।

१. क्वचिदयं पाठः । २. 'किं वा' । ३. 'अवहितचेष्टितं' ।

तदयमशक्यार्थः प्रमेयः[१] । यतः—

'निमित्तमुद्दिश्य हि यः प्रकुप्यति,
ध्रुवं स तस्यापगमे प्रसीदति ।
अकारणद्वेषि मनस्तु यस्य वै,
कथं जनस्तं परितोषयिष्यति' ? ॥ १६३ ॥

किं मयाऽपकृतं राज्ञः ? । अथवा निर्निमित्तापकारिणश्च[२] भवन्ति राजानः' । दमनको ब्रूते—'एवमेवैतत् । शृणु—

'सिद्धैः स्निग्धैरुपकृतमपि द्वेष्यतामेति कश्चित्,
साक्षादन्यैरपकृतमपि प्रीतिमेवोपयाति ।
चित्रं चित्रं किमथ[३] चरितं नैकभावाश्रयाणां,
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः' ॥१६४॥

अशक्यार्थः = अशक्यप्रतीकारः । प्रमेयः = [illegible] । यस्य = [illegible]
निमित्तं = कारणम्, उद्दिश्य = मनसि कृत्वा । ध्रुवं = नूनम् । निर्निमित्तापकारिण = [illegible]
अपगमे = [illegible] । प्रसीदति = प्रसन्नो भवति ॥ १६३ ॥ [illegible] । [illegible]
[illegible] । [illegible] = [illegible] । [illegible] । [illegible]
[illegible] । [illegible] = [illegible] । [illegible] । [illegible]

[illegible] कोई उपाय ही नहीं है । क्योंकि—
[illegible] उस कारण के दूर हो [illegible]
[illegible] किसी कारण से [illegible] है, [illegible] जिसका मन बिना कारण के ही [illegible]
[illegible] हो जाता है । [illegible] कैसे प्रसन्न कर सकता है ? ॥ १६३ ॥
[illegible] है, उसने [illegible] ही क्या किया है ? । अथवा [illegible]
[illegible] राजा का [illegible] ही [illegible] होते हैं । [illegible]
[illegible] के ही [illegible] ([illegible]) [illegible] है । [illegible]—
[illegible] करने पर भी [illegible]
[illegible] ([illegible]) [illegible]
[illegible] है, [illegible]

[illegible]

अन्वय—

'कृतशतमसत्सु नष्टं, सुभाषितशतं च नष्टमबुधेषु ।
वचनशतमवचनकरे, बुद्धिशतमचेतने नष्टम्' ॥ १६५ ॥

किञ्च—

'चन्दनतरुषु भुजङ्गा, जलेषु कमलानि, तत्र च ग्राहाः ।
गुणघातिनश्च [1]भोगे खला, न च सुखान्यविघ्नानि ॥१६६॥'

चिन्त्ये'ति शेषः। प्रीतिमेव=प्रसन्नतामेव । चित्र = महदेवाश्चर्यम् । नैकभावाश्रयाणां = नानाविधस्वभावाश्रयाणां, राज्ञां—चरितं किमपि विचित्रं भवतीत्यन्वयः। सेवा एक-धर्मं, नितरां गहनः—योगिनामपि = अतीन्द्रियज्ञानशालिनामपि, अगम्यः = अज्ञेयः ॥ १६४ ॥

कृतशतम्=उपकृतशतान्यपि । अबुधेषु=मूर्खेषु । अवचनकरे=आज्ञा-विघातके। अचेतने=मूढे। नष्ट = निष्फलम् ॥ १६५ ॥

भुजङ्गाः=सर्पाः। जलेषु=सलिलेषु। तत्र=ग्राहाः=मकरादयः। गुणघातिनः= गुणविनाशकाः, सुखविघातकाः, खला=दुष्टाः। भोगे=सुखोपभोगेऽन्तरायभूताः। 'भोगे'इत्यत्र 'लोके'इति पाठस्तु शोभनः प्रतिभाति। न च=नहि। सुखानि=

पर भी प्रीति को ही प्राप्त होता है—यह अत्यन्त आश्चर्य ही है। ठीक है, अनेक प्रकार के भावों (चित्तवृत्तियों) से युक्त रहने वालों का चरित्र विचित्र ही होता है। और यह सेवा धर्म भी बड़ा कठिन है, योगियों से भी यह दुर्गम है ॥ १६४ ॥

और भी—दुर्जनों पर किए गए हजारों उपकार भी व्यर्थ ही हो जाते हैं। और मूर्खों को कहे गए सैकड़ों सुन्दर-सुन्दर हितकारक वचन भी व्यर्थ ही हो जाते हैं और कहना न मानने वालों को कहे हुए सैकड़ों वचन भी नष्ट हो जाते हैं। और जड़ पुरुष में सैकड़ों बुद्धियाँ भी नष्ट ही हो जाती हैं, अर्थात् उनसे कोई भी फल नहीं होता है ॥ १६५ ॥

और—चन्दन के वृक्षों पर साँप हैं, जल में कमल हैं, और वहीं ग्राह भी हैं, भोगों

1. 'गुणघातिनश्च विगुणा भोगे, न सुखान्यविघ्नानि'।

अन्वय—

'मूलं भुजङ्गैः, कुसुमानि भृङ्गैः
शाखाः प्लवङ्गैः, शिखराणि भल्लैः ।
नास्त्येव तच्चन्दनपादपस्य,
यन्नाऽऽश्रितं दुष्टतरैश्च हिंस्रैः' ॥ १६७ ॥

अयं स्वामी [1]वाचि मधुरो, विषहृदयो [2]मया ज्ञायते' । यतः—

'दूरादुच्छ्रितपाणिरार्द्रनयनः, प्रोत्सारिताऽर्द्धासनो,
गाढाऽऽलिङ्गनतत्परः, प्रियकथाप्रश्नेषु दत्ताऽऽदरः ।
[3]अन्तर्गूढविषो, बहिर्मधुमयश्चाऽतीव मायापटुः,
को नामाऽयमपूर्वनाटकविधिर्यः शिक्षितो दुर्जनैः' ? ॥१६८

भोगाः, आश्रितानि=स्वीकृतानि न ॥ १६६ ॥

मूलमिति । मूलम्=जटाभिः । भुजङ्गैः=सर्पैः । प्लवङ्गैः = वानरैः । भल्लैः = भल्लूकैः । (भालू) । कुसुमैः = पुष्पैः । भृङ्गैः । हिंस्रैः=घातुकैः, व्याप्तेश्च ॥१६७॥

वाचालत्वे-ज्ञानं=[illegible] मया । दूरादिति । उच्छ्रितपाणिः=कृत[illegible] [illegible] । [illegible], [illegible] हस्तो वा । आर्द्रनयनः = [illegible] । '[illegible]' [illegible] । [illegible] अर्द्धासनः=[illegible] । '[illegible]' [illegible] । प्रिय

से दुष्ट का नाश करने वाले दुष्ट हैं । इस लिये चिन्ता रहित सुख कहीं भी नहीं है।

और भी—चन्दन वृक्ष भी जड़ सर्पों से, फूल भौंरों से, शाखा वानरों से और चोटियाँ भालुओं से व्याप्त रहती हैं । अतः चन्दन के वृक्ष का ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जो अतिदुष्ट हिंसक जीवों से व्याप्त नहीं हो । (भालू वृक्ष पर चढ़ जाते हैं) ॥ १६८ ॥

और यह स्वामी बोलने में तो मधुर होता है, पर हृदय में विष से भरा हुआ है, यह बात अब मुझे मालूम हुई । क्योंकि दुर्जन दूर से हाथ उठाने वाले, आँ

१. 'वाचि मधुरो' । २. 'विषहृदयो ज्ञातः' ॥. 'अन्तर्गूढविषो' पा० ।

तथाहि—

'पोतो दुस्तरवारिराशितरणे, दीपोऽन्धकाराऽऽगमे,
निर्वाते व्यजनं, मन्दाऽन्धकरिणां दर्पोपशान्त्यै सृणिः ।
इत्थं तद्भुवि नास्ति यस्य विधिना नोपायचिन्ता कृता,
मन्ये दुर्जनचित्तवृत्तिहरणे धाताऽपि भग्नोद्यमः' ॥१६९॥

सञ्जीवकः पुनर्निःश्वस्य[1]—(स्वगतं) 'कष्टं भोः ! कथमहं सस्यभक्षकः
[illegible]ने [2]निपातयितव्यः' ? । यतः—

[illegible]र्ता=प्रियप्रश्नेषु च, दत्तादरः=दर्शिताऽऽदरः । बहिरेव प्रणयपेशलमित-
[illegible]रन्तरि—अन्तर्गूढविषः=हृदयनिहितमहाविषः । 'अन्तर्भरो'ति पाठान्तरम् ।
[illegible]सः=अमृतमधुरः । मायापटुः=कपटघटनाकुशलः । दुर्जनैः=खलैः ॥१६८॥

पोतः=उडुपः । (जहाज) । दुस्तरवारिराशितरणे=दुर्लङ्घ्यसमुद्रसन्तरणे ।
[illegible]=प्रदीपः । निर्वाते=वाताऽभावे । सृणिः=अङ्कुशः । दुर्जनचित्तवृत्तिहरणे=
[illegible]दशाऽपवर्जने । धाता=प्रजापतिरपि । भग्नोद्यमः=कुण्ठितव्यापारः ॥१६९॥

[illegible] रमने वाले, अपना आधा आसन देने वाले, निकट में आलिङ्गन करने
[illegible]प्यारी २ कथा और प्रश्नों में आदर करने वाले, और बाहर से मीठे के
[illegible] और भीतर विष धारण करने वाले माया (छलकपट) करने में बड़े चतुर होने
[illegible]अपूर्व नाटक का यह कौन सा व्यवहार है, जो दुर्जनों ने सीखा है ? ॥१६८॥
[illegible]किसी ने कहा भी है कि—गहरे समुद्र को पार करने को जहाज, अन्धेरा
[illegible] को दीप, हवा न होने पर हवा करने को पंखा, और मद से अन्धे हुए
[illegible]ों के घमण्ड को शान्त करने के लिये विधाता ने अङ्कुश-उत्पन्न किया है ।
[illegible]पर पृथ्वी पर ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसके उपाय की चिन्ता ब्रह्माजी ने
[illegible]ी है, परन्तु दुष्ट के चित्त की वृत्ति को बदलने में तो ब्रह्मा भी हार चुके हैं,
मैं समझता हूँ ॥ १६९ ॥

[illegible]. 'स्वगतं'मिति क्वाचित्कम् । २. 'व्यापादयितव्यः' ।

'ययोरेव समं वित्तं, ययोरेव समं बलम् ।
तयोर्विवादो,[1] मैत्री च, नोत्तमाऽधमयोः क्वचित्' ॥१७०॥

पुनर्विचिन्त्याऽऽह[2]—'केनाऽयं राजा ममोपरि विकारितो, न जाने भेदमुपगताद्राज्ञः सदा भेतव्यम्' । यतः—

'मन्त्रिणा पृथिवीपालचित्तं विघटितं क्वचित् ।
वलयं स्फटिकस्येव, को हि सन्धातुमीश्वरः' ॥ १७१॥

'विवाहश्च' इत्यत्र 'हस्तश्च' इति पाठान्तरम् । वित्तं=धनम् । मैत्री=सौहार्दम् ॥१७०॥ विकारितः=अन्यथाबुद्धिः कृतः । ('किसने बिगाड़ दिया है' 'नाराज कर दिया है')।

भेदं=विरागम् । मन्त्रिणा=अमात्यादिना सह । विघटितं=भिन्नं, विच्छेदं वलयं=करभूषणम् । (चूड़ी) । सन्धातुं=पुनः सम्मिलयितुम् । क ईश्वरः=कः समर्थः । न कोऽपी समर्थः ॥१७१॥

सञ्जीवक फिर दीर्घ श्वास लेकर कहने लगा कि—हाय, बड़े दुःख की बात है। मैं तो घास और पात खाने वाला हूँ, अतः मैं सिंह से कैसे मारे जाने योग्य हूँ।

क्योंकि—जिन दोनों का बराबर धन है, और जिनका बराबर बल है, उन दोनों में ही विवाह या विवाद होना उचित माना जाता है। परन्तु बड़े और छोटे में तो विवाद कहीं भी उचित नहीं होता है ॥ १७० ॥

(फिर मन ही मन विचार कर देखा कि—) मैं यह भी नहीं जानता कि किसने इस राजा को मेरे ऊपर अप्रसन्न (नाराज) कर दिया है। भेद को प्राप्त हुए (भेद को प्राप्त हुए) राजा से सदा डरना ही चाहिये ॥

क्योंकि—यदि कदाचित् राजा का मन अपने मन्त्री से फट जाय, कंगन के समान, तो फिर उसको पुनः मिला देने में किसी की भी शक्ति नहीं होती स्फटिक (बिल्लौर) की चूड़ियों के टूट जाने पर पुनः उनको जोड़ देने में कोई भी समर्थ नहीं हो सकता है ॥ १७१ ॥

१. 'विवाहो मन्दयोः' । २. 'अगत्' इति क्वचित् पाठः ।

अन्यच्च—

'वज्रं च, राजतेजश्च द्वयमेवाऽतिभीषणम् ।
एकमेकत्र पतति, पतत्यन्यत्समन्ततः' ॥ १७२ ॥

ततः संग्रामे मृत्युरेव [1]वरम् । इदानीं तदाज्ञानुवर्त्तनमयुक्तम् । यतः—

'मृतः प्राप्नोति वा स्वर्गं, शत्रुं हत्वा सुखानि वा ।
उभावपि हि शूराणां गुणावेतौ सुदुर्लभौ' ॥ १७३ ॥

[2]अन्यच्च—

आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः ।
युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ॥

युद्धकालश्चाऽयम्—

'यत्राऽयुद्धे ध्रुवं [3]मृत्युर्युद्धे जीवितसंशयः ।
तमेव कालं युद्धस्य प्रवदन्ति मनीषिणः' ॥ १७४ ॥

वज्र=दम्भोलिः । एक=वज्रम् । अन्यत्=राजतेजः । समन्ततः=
विश विततपुत्रकलत्रादिषु ॥ १७२ ॥

तदाज्ञानुवर्त्तनं=तिष्ठमनिगजाद्यापालनम् । अयुक्त=नौचितम् ॥ सुखानि
ा-मनोभीप्सव: । शूराणां=संग्रामे युद्धमानानाम् । उभौ=द्वौ,
ोसुखं च । सुदुर्लभौ=अन्यजनदुरवापौ ॥ १७३ ॥

अयुद्धे=युद्धाऽकरणे । ध्रुवम्=अवश्यम् ॥१७४॥

और भी—वज्र और राजा का तेज ये दोनों ही बड़े भयङ्कर होते हैं । परन्तु
ह (वज्र) तो एक ही जगह गिरता है, और दूसरा (राजा का कोप) तो सब
ओर गिरता है (सब कुटुम्ब नष्ट कर देता है) ॥ १७२ ॥

इसलिये अब तो इस राजा से लड़कर मेरा युद्ध में मरना ही उत्तम है ।
र उस राजा की आज्ञा का अनुसरण (पालन)—करना अयोग्य है ।

क्योंकि—शूर या तो रण में स्वयं मरकर स्वर्ग पाता है, या शत्रु को मारकर
सुख पाता है । शूरों के ये दोनों गुण बड़े ही दुर्लभ हैं । अर्थात् युद्ध करनेवाले
के ये दोनों ही हाथों में लड्डू हैं ॥ १७३ ॥

और, अब तो यह युद्ध का ही समय है । क्योंकि—

यदि युद्ध न करने से निश्चय मृत्यु होती हो, और युद्ध में बचने का सन्देह
ता हो, उसी को पण्डित लोग युद्ध का समय कहते हैं ॥ १७४ ॥

1. 'देवाभीप्सितमिति वरम्' । २ क्षायिकः पाठः । ३ 'ध्रुवं नाशो' ।

यतः—

'अयुद्धे हि यदा पश्येन्न किञ्चिद्धितमात्मनः ।
युध्यमानस्तदा प्राज्ञो म्रियेत[1] रिपुणा सह' ॥ १७५ ॥
'जये च लभते लक्ष्मीं, [2]मृत्युनाऽपि सुराङ्गनाम् ।
क्षणविध्वंसिनः कायाः, का चिन्ता मरणे रणे' ? ॥१७६॥

एवं चिन्तयित्वा सञ्जीवक आह—'भो मित्र ! कथमसौ मां जिघांसुरिति ज्ञातव्यः[3] ? ।' दमनको ब्रूते—'यदाऽसौ पिङ्गलकः[4]समुन्नतलाङ्गूल, उन्नतचरणो, विवृताऽऽस्यस्त्वां पश्यति, तदा त्वमपि स्वविक्रमं दर्शयिष्यसि' । यतः—

अयुद्धे=युद्धाऽभावे । 'रिपुणा सह युध्यमान' इत्यन्वयः ॥१७५॥

सुराङ्गनाम्=अप्सरसः । कायाः=शरीराणि । रणे=युद्धे च, मरणे=मृत्यौ, का चिन्ता ? ॥१७६॥

जिघांसुः='मां हन्तुमिच्छु'रिति कथं ज्ञातव्य इत्यर्थः । समुन्नतलाङ्गूलः=उच्छ्रितपुच्छः । उन्नतचरणः=उत्थापितपादः, बद्धक्रमः । विवृतास्यः=व्यात्तमुखः । स्वविक्रमं=स्वपराक्रमम् ।

क्योंकि—युद्ध न करने में जब कुछ अपना हित न देखे, तो भी शत्रु के साथ युद्ध करता हुआ मर जाये यही पण्डित (नीतिज्ञ) है ॥ १७५ ॥

और विजय से लक्ष्मी की प्राप्ति होती है, और मरने पर भी स्वर्ग में अप्सराएँ मिलती हैं । और यह शरीर भी क्षणभङ्गुर है ही, फिर युद्ध में मरने में क्या चिन्ता है ? ॥ १७६ ॥

ऐसा विचार कर, सञ्जीवक ने कहा कि—'मित्र ! यह कैसे जाना जाए कि वह राजा मेरे मारने की इच्छा रखता है ? ।' दमनक बोला कि—'जब वह पिङ्गलक पूँछ उठाकर, ऊँचे पैर किये हुए और मुँह फाड़कर तुम्हारी ओर देखे, तब समझ लेना, कि—वह मुझे मारेगा और उस समय तुम भी अपना पराक्रम दिखाना । अर्थात् जो तुम्हें मारे उसे तो तुम भी मारना ।

१. 'म्रियते' । २. 'मृतेऽपि सुराङ्गना' । ३. 'ज्ञातव्यं' । ४. 'यदासौ [illegible]' ।

'बलवानपि निस्तेजाः कस्य नाऽभिभवास्पदम् ?।
निःशङ्कं दीयते लोकैः पश्य भस्मचये पदम्' ॥ १७७ ॥

किं तु सर्वमेतत्सुगुप्तमनुष्ठातव्यम्, नो चेन्न त्वं, नाऽहम्। इत्युक्त्वा नकः करटकसमीपं गतः। करटकेनोक्तम्—'किं निष्पन्नम्?।' नकेनोक्तम्—'निष्पन्नोऽनयोरन्योन्यभेदः'।
करटको ब्रूते—'कोऽत्र सन्देहः?'। यतः—

'बन्धुः को नाम दुष्टानां, 'कुप्यते को न याचितः?।
को न दृप्यति वित्तेन, कुकृत्ये को न पण्डितः'? ॥१७८॥

निस्तेजाः=पराक्रमविकलः, निस्सत्त्वश्च। अभिभवास्पदम्=अपमानभाजनम्। मचये=भस्मराशौ। निश्शङ्कम्=निर्भयम्। पदम्=पादः। दीयते=न्यस्यते। यते' इत्यपि पाठः ॥ १७७ ॥
सुगुप्त=निभृततमम्। त्वं न=त्वं न स्थास्यसि। न तव कुशलम्। अहं न= हं च न स्थास्यामि। सिंहोऽस्मान्विनाशयिष्यतीत्याशयः।
अन्योन्यभेदः=परस्परविरोधः। याचितः=धनं याचितः सन्। दृप्यति= र्वोद्धुरो भवति। कुकृत्ये=पापकर्मणि ॥ १७८ ॥

क्योंकि—तेज से रहित होने पर बलवान् का भी अनादर कौन नहीं करता है। दो। भस्म (राख) के ढेर पर सभी लोग निडर होकर पैर रखते हैं ॥१७७॥
और भाई! ये सब बातें तुम छिप कर ही करना। नहीं तो न मैं रहूँगा र न तुम ही बचने पाओगे। अर्थात् सिंह के हाथ तुम भी मारे जाओगे और मैं मारा जाऊँगा'। इस प्रकार सञ्जीवक को उल्टी सीधी बातें समझा कर यह नक करटक के पास गया। करटक बोला कि—'क्या कर आए?'। तब यह नक बोला कि—राजा और मन्त्री (सिंह-वृषभ) इन दोनों में आपुस में भेद ट) डाल आया हूँ। करटक बोला कि—ठीक है, इसमें क्या सन्देह है।
क्योंकि दुष्टों का बन्धु कौन है?, कोई नहीं। बार २ माँगने पर कौन क्रोध हीं करता है?। और धन से कौन दृप्त (घमण्डी) नहीं होता है?। और बुरे कामों के करने में कौन पण्डित नहीं है? ॥ १७८ ॥

---

१. 'दुष्टे हो नाऽभिगर्वितः'।

अन्वय—

'दुर्वृत्तः क्रियते धूर्तैः श्रीमानात्मविवृद्धये ।
किं नाम खलसंसर्गः कुरुते नाऽऽश्रयाऽऽशवत्' १ ॥ १७९ ॥

ततो दमनकः पिङ्गलकसमीपं गत्वा–'देव ! समागतोऽसौ पापा-ऽऽशयः, तत्–सज्जीभूय स्थीयताम्' । इत्युक्त्वा पूर्वोक्ताऽऽकारं कारयामास । सञ्जीवकोऽप्यागत्य, तथाविधं विकृताऽऽकारं सिंहं दृष्ट्वा, स्वाऽनुरूपं विक्रमं चकार । ततस्तयोर्युद्धे २सञ्जीवकः सिंहेन व्यापादितः । अथ पिङ्गलकः सञ्जीवकं सेवकं व्यापाद्य, विश्रान्तः, सशोक इव तिष्ठति । प्रोक्तं च—'किं मया दारुणं कर्म कृतम्' । यतः—

श्रीमान्=राजादिधनी । समागतः सम्प्राप्तोऽस्ति,—आत्मविवृद्धये=स्वसमृद्धये । खलसंसर्गः किं नाम [illegible] धूर्तैः=वञ्चकैः । दुर्वृत्तः=दुराचारी । क्रियते=विधीयते । आश्रयाशवत्=अग्निवत् । [illegible] न कुरुते ? । सर्वमेवानर्थं कुरुते । [illegible] [illegible] पूर्वोक्ताकारं [illegible] ॥१७९॥ पापाऽऽशयः=दुष्टहृदयः । [illegible] तथाविधम्=उक्तप्रकारकम्, क्रुद्धम् । [illegible] विकृताऽऽकारम्=[illegible]

और भी—धूर्त लोग अपनी वृद्धि (लाभ) के लिये श्रीमानों और [illegible] को दुर्वृत्त बना देते हैं। उन्हें बुरे मार्ग पर चलाते हैं। ठीक है—दुष्टों का [illegible] अग्नि के समान ही अपने आश्रय को भी क्या नाश नहीं करता है ? ॥ १७९ ॥

इसके अनन्तर वह दमनक पिङ्गलक सिंह के पास जाकर बोला—देव ! [illegible] वह पापी सञ्जीवक आता ही होगा, सो तैयार होकर बैठिये। यह कह के उससे [illegible] का पहले कहा हुआ रूप (जैसा बता कर बैठना आदि) करा दिया। सञ्जीवक ने भी आकर वैसे ही विकृत रूप वाले सिंह को देख, अपनी शक्ति के अनुसार [illegible] पराक्रम किया और उन दोनों के युद्ध में सञ्जीवक उस सिंह से मार डाला गया।

फिर पिङ्गलक अपने सेवक सञ्जीवक को मार कर थका हुआ सा और [illegible] दुःख सा [illegible] होकर बैठ गया। और कहने लगा कि—मैंने यह क्या दारुण कर्म किया है।

१. '[illegible]' । २ 'सञ्जीवकः' ।

'परैः सम्भुज्यते राज्यं, स्वयं पापस्य भाजनम् ।
धर्माऽतिक्रमतो राजा, सिंहो हस्तिवधादिव' ॥ १८० ॥

अपरञ्च—

'भूम्येकदेशस्य गुणान्वितस्य,
भृत्यस्य वा बुद्धिमतः [1]प्रणाशे ।
भृत्यप्रणाशो मरणं नृपाणां,
नष्टाऽपि भूमिः सुलभा, न भृत्याः' ॥ १८१ ॥

मृगारिः = सिंहः । दारुणं = दुष्टं, क्रूरम् । परैः = अनुजीविभिः, मन्त्रि-राजकुमारादिभिः । स्वयं = राजा । धर्मातिक्रमतः = धर्मोल्लङ्घनात् । पापस्य = वधबन्धनादिजन्यदुरितस्य । भाजनं = पात्रम् ॥ १८० ॥

गुणान्वितस्य = गुणिनः । भूम्येकदेशस्य = भूभागस्य । बुद्धिमतो भृत्यस्य च, प्रणाशे = विनाशे सति । नृपाणां योग्यस्य भृत्यस्य मरणं = राजमृत्युसमः । उभयोरपि मध्ये विशेषमाह—नष्टाऽपीति । सुलभाः = पुनर्लब्धुं शक्या । योग्या भृत्यास्तु न सुलभाः ॥ १८१ ॥

क्योंकि—राज्य का सुख तो दूसरे लोग भोगते हैं, और धर्म का उल्लंघन करके पाप का भागी राजा होता है। जैसे सिंह हाथी के मारने से पाप ही कमाता है। क्योंकि—हाथी को मारता तो सिंह है, पर उसका मांस तो अन्यान्य पशु शृगाल आदि ही खाते हैं ॥ १८० ॥

और भी—बुद्धिमान् सेवक का और उत्तम गुणयुक्त पृथ्वी के एक देश का नाश—इन दोनों में से योग्य भृत्य का विनाश राजाओं के लिए मृत्यु के समान ही है। क्योंकि खोई हुई उत्तम भूमि (देश) तो फिर भी कालान्तर में यत्न से मिल सकती है, पर योग्य सेवक जल्दी नहीं मिलता है ॥१८१॥

१. 'प्रणाशः' पा० ।

दमनको ब्रूते—'स्वामिन् ! कोऽयं नूतनो न्यायो यदरातिं हत्वा सन्तापः क्रियते ! । तथा [1]चोक्तम्—

'पिता वा, यदि वा भ्राता, पुत्रो वा, यदि वा सुहृत् ।
प्राणच्छेदकरा राज्ञा हन्तव्या भूतिमिच्छता' ॥ १८२ ॥

अपि च—

'धर्मा-ऽर्थ-कामतत्त्वज्ञो नैकान्तकरुणो भवेत् ।
न हि हस्तस्थमप्यन्नं [2]क्षमावान्भक्षितुं क्षमः' ॥ १८३ ॥

किञ्च—

'क्षमा शत्रौ च, मित्रे च, यतीनामेव भूषणम् ।
अपराधिषु सत्त्वेषु नृपाणां सैव दूषणम्' ॥१८४॥

नूतनः=अभिनवः । अराति=शत्रुम् । प्राणच्छेदकराः=जीवितद्रोहिणः भूति=कल्याणम् ॥ १८२ ॥ एकान्तकरुणः=केवलदयापरः । नितरां दयावान् क्षमावान्=शान्तिपरः, क्षमाशीलः । घस=भक्षः ॥ १८३ ॥
शत्रौ, मित्रे च तुल्यैव क्षमा ननु यतीनां=संन्यासिनामेव । भूषण

तब दमनक बोला कि—हे स्वामिन् ! यह क्या नई रीति है, कि शत्रु को मार कर भी आप सन्ताप करते हैं ! ।

कहा भी है—पिता या भ्राता या पुत्र या मित्र, इनमें से कोई भी हो, अपने प्राणों को नष्ट करने वाला हो, उन्हें ऐश्वर्य चाहने वाला अवश्य ही मार डाले ॥ १८२ ॥

और भी—धर्म, अर्थ और काम (त्रिविध पुरुषार्थों) के तत्त्व को जानने वाले पुरुष को चाहिए, कि वह अधिक दयापरायण नहीं होवे, क्योंकि क्षमा करने वाला पुरुष अपने हाथ में धरे हुए अन्न को भी खाने में समर्थ नहीं होता है । अर्थात्—अत्यन्त दया और मृदुता भी हानि हो जाती है ॥१८३॥

और—शत्रु और मित्र में समान रूप से क्षमा करना—यह तपस्वियों का

१. 'यच्चोक्तम्' । २ 'क्षमावानल्पमपि भक्षितुं क्षमः' ।

अन्यच्च—

'राज्यलोभादहङ्कारादिच्छतः स्वामिनः पदम् ।
प्रायश्चित्तं तु[1] तस्यैकं जीवोत्सर्गो, न चाऽपरम्' ॥१८५॥

अन्यच्च—

'राजा घृणी, ब्राह्मणः सर्वभक्षः,
स्त्री चाऽवशा, दुष्प्रकृतिः सहायः ।
प्रेष्यः प्रतीपोऽधिकृतः प्रमादी,
त्याज्या इमे, यश्च कृतं न वेत्ति' ॥१८६॥

भूषण = शोभाऽऽधायकम् । सत्त्वेषु = प्राणिषु । एव = क्षमैव ॥ १८४ ॥

राज्येति । राज्यलोभात्, अहङ्कारात् । स्वामिनः = प्रभोः, पदं = स्थानम्, राज्यम् । इच्छतः = वाञ्छतो जनस्य । जीवोत्सर्गः = वधः, प्राणपरित्यागश्च ॥१८५॥

घृणी = दयापरः । अवशा = स्वतन्त्रा । दुष्प्रकृतिः = दुष्टस्वभावः । सहायः = अनुजीविवर्गः, सखा च । प्रेष्यः = भृत्यः । प्रतीपः = अननुकूलः । अधिकृतः = अधिकारी । प्रमादी = अनवधानः । यश्चेति । कृतं = कृतमुपकारं, न वेत्ति = न मनुते । कृतघ्न इत्यर्थः ॥ १८६ ॥

भूषण है। और अपराधी जीवों पर क्षमा करना राजाओं का भूषण है ॥ १८४ ॥

और भी, राज्य के लोभ से—या अहङ्कार से जो स्वामी के पद (राज्य) की इच्छा करता है, उसका तो मरना ही एक प्रायश्चित्त है, दूसरा कोई प्रायश्चित्त नहीं है ॥ १८५ ॥

और भी—अपराधियों पर दया करने वाला राजा, और सबके हाथ का और सब चीज़ों का अन्न खाने वाला ब्राह्मण, उच्छृङ्खल एवं स्वैरिणी स्त्री, दुष्ट स्वभाव का सहायक, कहा नहीं मानने वाला नौकर, असावधान अधिकारी (अफसर) और जो किये हुए को न जाने (कृतघ्न)—इनका त्याग करना ही श्रेष्ठ है ॥ १८६ ॥

1. 'हि'।

यतोऽयम्—

'सत्याऽनृता च, परुषा, प्रियवादिनी च,
हिंस्रा, दयालुरपि, चार्थपरा, वदान्या ।
नित्यव्यया, प्रचुररत्नधनाऽऽगमा च,
वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा' ॥ १८७ ॥

—इति करटकवचनेन दमनकेन सन्तोषितः, स्वां प्रकृतिमापन्न पिङ्गलकः, सिंहासने समुपविष्टः । दमनकश्च प्रहृष्टमना भूत्वा 'विजय महाराजः, शुभमस्तु सर्वजगताम्' इत्युक्त्वा यथासुखमवस्थितः ॥३॥

सत्येति । सत्या=सत्याऽपि, अनृता=मिथ्याभाषिणी, परुषा=रूक्षाऽपि । प्रियवादिनी=मधुरभाषणशीला । हिंस्रा=हिंसापराऽपि, दयालुः । अर्थपरा=अर्थसंग्रहपराऽपि । वदान्या=त्यागशीला । प्रचुररत्नधनागमा=प्रचुररत्न-द्रविणोपार्जनपरा । वाराङ्गना=वेश्या । अनेकरूपा=विविधनानारूपा ॥ १८७ ॥ यथासुखं=सुखं यथा आपन्नः=प्राप्तः । प्रहृष्टमनाः=प्रसन्नमानसः ।

और भी विशेष करके—राजाओं की नीति, वेश्याओं की तरह ही—सत्य और झूठ से मिश्रित होती है, और वह कठोर होते हुए भी प्रिय बोलने वाली होती है। और क्रूर तथा हिंसा परायण होते हुए भी दया करने वाली होती है। और अर्थ परायण (धन संग्रह करने वाली, कौड़ी २ को बटोरने में तत्पर करने वाली) भी होती है। और नित्य होते हुए भी उदारता से धन व्यय करने वाली भी होती है। और इन्हीं व्यय करने वाली (खर्चीली) होते हुए भी प्रचुर धन और रत्नों के आमदनी करनेवाली होती है। इस प्रकार राजाओं की नीति वेश्याओं के समान ही अनेक (बहुत किस्म) रूप वाली होती है। उनका भेद पाना कठिन होता है। वेश्याएँ भी इसी प्रकार की नाना रूप रचनाएँ किया ही करती है ॥ १८७ ॥

इस प्रकार दमनक के समझाने पर वह पिङ्गलक अपने प्रकृत स्वभाव को प्राप्त हो, सिंहासन पर जा कर बैठ गया। और दमनक ने कहा—महाराज विजयी हो। संपूर्ण जगत् का कल्याण हो। यह कहकर वह भी सुख से बैठ गया।

विष्णुशर्मोवाच—'सुहृद्भेदः श्रुतस्तावद्भवद्भिः ?।'
राजपुत्रा ऊचुः—'भवत्प्रसादाच्छ्रुत्वा[1] सुखिनो भूता वयम्'।
विष्णुशर्माऽब्रवीत्,—अपरमपीदमस्तु—

'सुहृद्भेदस्तावद्भवतु भवतां शत्रुनिलये,
खलः कालाऽऽकृष्टः प्रलयमुपसर्पत्वहरहः।
जनो नित्यं भूयात्सकलसुखसम्पत्तिवसतिः,
कथाऽऽरामे रम्ये सततमिह बालोऽपि रमताम्' ।११८।

इति श्रीविष्णुशर्मकृते हितोपदेशे सुहृद्भेदो नाम द्वितीयः कथासंग्रहः।

श्रावचा। प्रसादात् = कृपया। अपरमपि = अन्यदपि (और भी)।

सुहृदिति। भवतां ये शत्रवस्तेषां निलये = गृहे। खलः = दुष्टः। कालाऽऽकृष्टः = कालाकृष्टः, दुर्दैवाकृष्टः सन्निति था। प्रलय = विनाशम्। उपसर्पतु = गच्छतु। अहरहः = प्रतिदिनम्। सकलसुखसम्पत्तिवसतिः = सम्पूर्णकल्याणसमृद्धिनिवासः। कथाऽऽरामे = हितोपदेशकथाप्रबन्धरूपे उपवनेऽस्मिन्। सततं = निरन्तरम्। बालोऽपि। अविशब्दात् युवाऽपि, वृद्धोऽपि च। रम।ताम् = क्रीडतु। प्रसीदताम् ॥ १८८ ॥

इति मध्यप्रदेशमार्तण्ड-विद्वद्गौरव-श्रीशङ्कराचार्यावतार-नरेन्द्र श्री १०८ स्वामीहरिहरानन्द-श्रीचरणानुगेन, न्यायाचार्य-पण्डितप्रकाण्ड-श्री १०८ श्रीशिवनारायणशास्त्रि-चरणाम्बुजचञ्चरीकेण, न्यायव्याकरणदर्शनाचार्यश्रीगुरुप्रसादशास्त्रिणा विरचितायां हितोपदेशाभिनवराजलक्ष्म्यां द्वितीयं सुहृद्भेदप्रकरणम्।

तब विष्णुशर्मा बोले कि—हे राजपुत्रो! आप लोगों ने सुहृद्भेद तो सुन ही लिया। राजपुत्र बोले कि—आपके प्रसाद से सुन लिया, और हम लोग इससे बड़े ही प्रसन्न और सुखी हुए। विष्णुशर्मा बोले कि—अच्छा, दूसरा यह भी हो, कि—

आपके शत्रुओं के घर में सुहृद्भेद (परस्पर लड़ाई, फूट) हो, दुष्टजन काल के वश होकर प्रति-दिन प्रलय (विनाश) को प्राप्त हों, सभी मनुष्य सदा सभी सुख सम्पत्ति के भण्डार बनें। और इस संसार में बालक भी इस सुन्दर कथा आराम (बगीचे में, प्रबन्ध में) निरन्तर क्रीडा करें। अर्थात् इसे पढ़ें और मनन करें ॥ १८८ ॥

हितोपदेश का 'सुहृद्भेद' नामक दूसरा कथा संग्रह समाप्त।

---

1. 'श्रुतः। सुखिनो'।

अथ विग्रहः ।

अथ पुनः कथाऽऽरम्भकाले राजपुत्रा ऊचुः—'आर्य ! राजपुत्रा वयम् । तद्विग्रहं श्रोतुं नः कुतूहलमस्ति ।' विष्णुशर्मणोक्तम्[1]—'यदेव भवद्भ्यो रोचते तत् कथयामि । विग्रहः श्रूयताम्, यस्याऽयमाद्यः श्लोकः—

'हंसैः सह मयूराणां विग्रहे तुल्यविक्रमे ।
विश्वास्य वञ्चिता हंसाः काकैः स्थित्वाऽरिमन्दिरे' ॥ १ ॥

राजपुत्रा ऊचुः—कथमेतत् ? । विष्णुशर्मा कथयति—

❀ अभिनवराजलक्ष्मीः ❀

विग्रहं = युद्धम् । नः = अस्माकम् ॥ यदेव = युष्मभ्यं [illegible] । यस्य = विग्रहस्य [illegible] । तुल्यविक्रमे = समानपराक्रमे । [illegible] । अरिमन्दिरे [illegible] ॥ १ ॥

[illegible]—[illegible]रिमन्दिरे, [illegible] विश्वास्य काकैर्हंसा वञ्चिता इत्यन्वयः ॥ १ ॥

भाषाटीका

इसके बाद फिर कथा के आरम्भ के समय में राजपुत्र बोले कि—हे आर्य ! हम लोग राजपुत्र (क्षत्रिय) हैं । इसलिये हम लोगों को विग्रह (युद्ध) सुनने का बड़ा चाव (कौतुक, लालसा) है । यह सुनकर विष्णुशर्मा जी बोले, कि जो (जिस) आप लोगों को रुचिकर है, वही मैं वर्णन करता हूँ । अब आप लोग विग्रह का वर्णन सुनिये । जिसका पहला श्लोक यह है—

समान पराक्रम वाले हंसों के साथ मयूरों के युद्ध में कौओं ने शत्रु (हंसों) के घर में रहकर और उन्हें विश्वास देकर (उन हंसों को धोखा देकर) ठग लिया था ॥ १ ॥

राजपुत्र बोले—यह कथा कैसे है ? । विष्णुशर्मा कहने लगे कि—

1. 'विष्णुशर्मणोक्तम्' । 2 'विष्णुशर्माऽऽह' ।

'अस्ति कर्पूरद्वीपे पद्मकेलिनामधेयं सरः। तत्र हिरण्यगर्भो नाम राजहंसः प्रतिवसति। स च सर्वैर्जलचरैः पक्षिभिर्मिलित्वा पक्षिराज्ये-ऽभिषिक्तः। यतः—

'यदि न स्यान्नरपतिः सम्यङ्नेता, ततः प्रजा।
अकर्णधारा जलधौ विप्लवेतेह नौरिव' ॥ २ ॥

अपरञ्च—

'प्रजां संरक्षति नृपः, सा वर्द्धयति पार्थिवम्।
वर्द्धनाद्रक्षणं श्रेयस्तदभावे सदप्यसत्' ॥ ३ ॥

पद्मकेलिनामधेयं=पद्मकेलिनामकम्। तत्र=सरसि। अभिषिक्तः=स्थापितः।

यतीति। यदि सम्यक् प्रकारेण नेता=पालकः, नरपतिः=राजा, न स्यात्ततः=[illegible]दा, प्रजा-इह=जगति। जलधौ=सागरे। अकर्णधारा=नाविकशून्या, नौरिव=तरणिरिव-[illegible]रेन=जले निमज्जेत् ॥ २ ॥

सा=प्रजा। पार्थिवं=राजानम्। वर्द्धनात्=धनधान्यवर्द्धनात्। रक्षणम्=[illegible]र्वविधजनरक्षणं, श्रेयः=श्रेष्ठम्। तदभावे=रक्षणाऽभावे। सत्=शोभनमपि,

---

कर्पूरद्वीप में पद्मकेलिनामका एक सरोवर (झील या तालाब) है। जहाँ हिरण्य-[गर्भ] नाम का राजहंस रहता था। और उसे सब जलचर पक्षियों ने मिलकर पक्षियों [के] राज्य पर अभिषिक्त करा दिया था, अर्थात् उसे पक्षियों का विधिवत् राजा [ब]ना दिया था।

क्योंकि—यदि कोई अच्छा राजा प्रजा का नेता (रक्षक) नहीं हो, तो प्रजा—[बि]ना मल्लाह के नाव की समान ही इस अथाह संसार सागर में डूब जाती [है]। २ ॥

और भी—राजा प्रजा की रक्षा करता है, और वह प्रजा भी राजा को कर [दे]कर उसे बढ़ाती है। परन्तु बढ़ाने की अपेक्षा से प्रजा की रक्षा करना ही अधिक [श्रेष्ठ] है। क्योंकि उसके अभाव में, अर्थात् ठीक २ रक्षा नहीं करने से, जो वस्तु [ध]न आदि) है, वह भी नहीं होने के समान ही हो जाती है। और राजा के

एकदाऽसौ राजहंसः सुविस्तीर्णकमलपर्यङ्के सुखाऽऽसीनः परिवार-परिवृतस्तिष्ठति । ततः ¹कुत'श्चदेशादागत्य दीर्घमुखो नाम बकः प्रणम्योपविष्टः । राजोवाच—'दीर्घमुख ! देशान्तरादागतोऽसि, वार्तां कथय ।' स ब्रूते-'देव ! अस्ति महती वार्ता । ²तामाख्यातुकाम एव सत्वरमागतोऽहम् । श्रूयताम्—

'अस्ति जम्बुद्वीपे विन्ध्यो नाम गिरिः । तत्र चित्रवर्णो नाम मयूरः पक्षिराजो निवसति । तस्याऽनुचरैश्चरद्भिः पक्षिभिरहं ³दग्धाऽरण्यमध्ये चरन्नवलोकितः, पृष्टश्च—'कस्त्वम् ? । कुतः समागतोऽसि' ? ।' ⁴तदा

विद्यमानमपि न धनादिकम् । असत् = नष्टमेव । यद्वा धनादिकम् अयोग्येनैव यतो राजानं विनोदार्थमप्यपि धनस्य विनाशादित्यर्थः ॥ १ ॥ परिवारपरिवृतः = स्वजनपरिवेष्टितः सुविस्तीर्णं कमलमेव पर्यङ्कस्तस्मिन् । महती = विस्तृता गुर्वी । आख्यातुकामः बकः = बकः (बगुला) । सः = बकः । दग्धाऽरण्यमध्ये = तन्नाम्ना प्रसिद्धे कानने । कथयितुकामः । सत्वरं = शीघ्रम् ।

बिना धन की कोई भी वस्तु सुरक्षित नहीं रह सकती है, अतः राजा का कार्य बहुत ही गौरव पूर्ण है ॥ १ ॥

कुछ काल के बाद एक समय वह राजहंस बहुत विस्तृत कमल की शय्या पर अपने परिवार के साथ सुख से बैठा था, कि उसी समय किसी देश से आ- दीर्घमुख नामक एक बगला प्रणाम कर बैठ गया । तब वह राजा बोला कि— 'दीर्घमुख ! तुम दूर देशान्तर से आए हो, अतः तुम वहाँ का देखा सुना हुआ कुछ नया समाचार कहो' । तब वह बोला कि—'हे देव ! एक बड़े ही महत्व का समाचार कहने के लिए मैं शीघ्रता से यहाँ आया हूँ । सुनिये, जम्बूद्वीप में एक विन्ध्याचल पर्वत है । वहाँ पक्षियों का राजा चित्रवर्ण नाम का एक मयूर (मोर) रहता है । वन में फिरते हुए उसके अनुचर पक्षियों ने दग्धारण्य में घूमते हुए मुझे देख कर पूछा कि—तुम कौन हो, और क-

१. 'कुतोऽपि देशात्' । २. 'तामाख्यातुं त्वरया' । ३. 'दीर्घारण्यमध्ये' पा-
ठः । ४. '...मयोक्तम्' ।

मयोक्तम्—'कर्पूरद्वीपस्य राजचक्रवर्त्तिनो हिरण्यगर्भस्य राजहंसस्यानुचरोऽहं, कौतुकाद्देशान्तरं द्रष्टुमागतोऽस्मि।' एतच्छ्रुत्वा पक्षिभिरुक्तम्—'अनयोर्देशयोः को देशो भद्रतरो, राजा च' ?।

[1]ततो मयोक्तम्—'आः किमेवमुच्यते, महदन्तरम्। यतः कर्पूरद्वीपः स्वर्ग [2]एव, राजहंसश्च द्वितीयः स्वर्गपतिः, कथं वर्णयितुं शक्यते। अत्र मरुस्थले पतिता यूयं किं कुरुथ, [3]अस्मद्देशे गम्यताम्।'

ततोऽस्मद्वचनमाकर्ण्य सर्वे [4]पक्षिणः सकोपा बभूवुः। तथा चोक्तम्—

'पयःपानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्द्धनम्।
उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय, न शान्तये' ॥ ४ ॥

राजचक्रवर्तिनः=राजमण्डलाधिपस्य। महाराजाधिराजस्य। सम्राजः। अनुचरः=सेवकः। भद्रतरः=श्रेष्ठः। अनयोर्मध्ये को वा राजा भद्रतर इति योजना। स्वर्ग एव=स्वर्गप्रदेशवद्रमणीयः। द्वितीयः=अपरः। स्वर्गपतिः=इन्द्रः। मरुस्थले=मरुस्थलवदसुन्दरे॥ पयःपानं=दुग्धपानम्। भुजङ्गानां=सर्पाणाम्। केवलं=नितराम्। विषवर्द्धनं=विषोत्तेजकमेव भवति ॥ ४ ॥

आए हो ?। तब मैंने कहा कि—'मैं कर्पूरद्वीप के चक्रवर्ती राजा हिरण्यगर्भ राजहंस का सेवक हूँ, और कौतुक वश ही इस देश को देखने आया हूँ। यह सुनकर उन पक्षियों ने मुझसे कहा कि—इन दोनों देशों में कौन सा देश श्रेष्ठ है, और इनमें से कौन सा राजा श्रेष्ठ है ?। मैंने कहा—ओह ! तुम लोग यह क्या कहते हो ?। इन दोनों में तो बड़ा अन्तर है। क्योंकि—कर्पूरद्वीप तो दूसरा स्वर्ग ही है। और वहाँ का राजा राजहंस भी उस स्वर्ग का राजा दूसरा इन्द्र ही है। उनका क्या वर्णन किया जाए, उनका तो वर्णन हो ही नहीं सकता है। और तुम लोग यहाँ इस निर्जल रेतीले स्थल में पड़े हुए सब क्या करते हो ?। हमारे देश में चलो। फिर मेरे इस वचन को सुन कर वे सब पक्षी बड़े क्रुद्ध हुए। किसी ने ठीक ही कहा है—जैसे सर्पों को दूध पिलाना केवल उनका विष बढ़ाना है, वैसे ही मूर्खों को भी उपदेश देना केवल उनके क्रोध को बढ़ाने के लिए ही होता है, उनकी शान्ति के लिए नहीं ॥ ४ ॥

१. 'ततः' इति क्वचित्। २ 'स्वर्गैकदेशः। 'राजा च द्वितीयः। ३ 'आगम्यताम्, अस्मद्देशे'। ४ 'सर्वे सकोपाः' इति, 'पक्षिणः सकोपाः' इति च पा०।

अन्यच—

'विद्वानेवोपदेष्टव्यो, नाऽविद्वांस्तु कदाचन ।
वानरानुपदिश्याऽथ' स्थानभ्रष्टा ययुः खगाः' ॥ ५ ॥

राजोवाच—'कथमेतत्' ? । दीर्घमुखः कथयति—

१ पक्षि-वानर-कथा ।

अस्ति नर्मदातीरे पर्वतोपत्यकायां विशालः शाल्मलीतरुः । तत्र निर्मितनीडक्रोडे पक्षिणः सुखेन निवसन्ति । अथैकदा वर्षासु नीलपटैरिव जलधरपटलैरावृते नभस्तले, धाराऽऽसारैर्महती वृष्टिर्बभूव । ततो वानरांश्च तरुतलेऽवस्थितान् शीताऽऽकुलान् कम्पमानानवलोक्य, कृपया पक्षिभिरुक्तम्—'भो भो वानराः ! शृणुत'—

अविद्वान् = मूर्खः । खगाः = पक्षिणः ॥ ५ ॥
पर्वतोपत्यकायां = पर्वतासन्नभूभागे । 'उपत्यकाऽद्रेरासन्ना भूमि'रित्यमरः । धारासारैः
नीडक्रोडे = कुलायकुहरे । (घोंसले में) । जलधरपटलैः = मेघवृन्दैः ।

और कहा भी है, कि—विद्वान् ही को उपदेश देना चाहिये, मूर्खों को तो कभी कुछ उपदेश नहीं देना चाहिए, क्योंकि वानरों को उपदेश देने से ही वे सब पक्षी स्थानभ्रष्ट हो गए थे ॥ ५ ॥

राजा बोला कि—यह कथा कैसे है ? । तब यह दीर्घमुख कहने लगा कि—नर्मदा के किनारे पर्वत के पास की तराई में एक बड़ा भारी सेमर का वृक्ष है । उस वृक्ष पर अपने २ घोंसले बना कर पक्षी गण बड़े ही सुख से रहते थे । इसके अनन्तर एक समय बरसात में नील वस्त्रों की समान ही घोर काले २ बादलों से जब आकाश आच्छादित हो रहा था उसी समय मोटी २ धाराओं के साथ ही बड़े वेग से घोर वर्षा भी होने लगी ।

तदनन्तर वृक्ष के नीचे बैठे हुए, शीत से पीड़ित, ठिठुरे हुए, और काँपते हुए वानरों को देख कर, उन पक्षियों ने कृपापूर्वक उन से कहा—रे वानरो ! सुनो, हम लोग कहते हैं कि—

१. 'उपदेष्टव्यः' । २ 'वानरान् उपदिश्य' । ३ 'शीताकुलान्' । ४ 'शृणु'

'अस्माभिर्निर्मिता नीडाश्चञ्चुमात्राऽऽहृतैस्तृणैः ।
हस्तपादाऽऽदिसंयुक्ता यूयं किमवसीदथ' ! ॥ ६ ॥

तच्छ्रुत्वा वानरैर्जाताऽमर्षैरालोचितम्—'अहो ! निर्वातनीडगर्भाऽवस्थिताः सुखिनः पक्षिणोऽस्मान्निन्दन्ति ! । 'तद् भवतु तावद्वृष्टेरुपशमः' । अनन्तरं शान्ते पानीयवर्षे, तैर्वानरैर्वृक्षमारुह्य, सर्वे नीडा भग्नाः, तेषामण्डानि चाऽधः पातितानि । अतोऽहं ब्रवीमि 'विद्वानेवोपदेष्टव्यः' इत्यादि ॥ ॥

राजोवाच—[1]'ततस्तैः पक्षिभिः किं कृतम्' ? ।

[2]बकः कथयति—'ततस्तैः पक्षिभिः कोपादुक्तं—'केनाऽसौ राजहंसो

धारासम्पातैः । 'आसारो वेगवान्वर्षः' इति कोशः ॥ नीडाः=कुलायाः । (घोंसला) । चञ्चुमात्राहृतैः=चञ्चुमात्रानीतैः । किं=कस्मात् । अवसीदथ=क्लिश्यध्वम् ॥ ६ ॥
जाताऽमर्षैः=जातकोपैः । निर्वातनीडगर्भावस्थिताः = वायुरहितकुलायमध्यस्थाः । उपशमः = निवृत्तिः । (वर्षा रुकने दो, तब इनको समझेंगे) ।

हम लोगों ने तो केवल अपनी छोटी सी चोंच से ही तृण लाकर ये अपने घोंसले बनाए हैं, फिर हाथ पैर आदि से युक्त होने पर भी आप लोग इस तरह क्यों दुःखी हो रहे हो ? । आप लोग भी अपने रहने लायक घर क्यों नहीं बनाते हैं ? ।

यह बात सुन कर उन वानरों ने क्रोधित होकर मन ही मन विचारा कि—अहो ! वायु और वर्षा के कष्टों से रहित घोंसलों में रहने के कारण ही ये सुखी पक्षी लोग हमारी निन्दा करते हैं । अच्छा वृष्टि को शान्त होने दो, तब इन्हें हम समझेंगे । इसके अनन्तर जब वर्षा शान्त हो गई, तब उन वानरों ने वृक्षों पर चढ़कर उनके सब घोंसले तोड़ डाले और उनके अण्डे भी नीचे गिरा दिये । इसी लिये मैं कहता हूँ, कि—'विद्वानों ही को उपदेश देना चाहिए, मूर्खों को नहीं' इत्यादि ॥

राजा बोला कि—फिर उन पक्षियों ने क्या किया ? । तब वह बगुला बोला कि—फिर उन पक्षियों ने क्रोध से कहा कि, उस राजहंस को किसने राजा बनाया

---

१. 'ततः किं कृतम्' । २ 'तदा पक्षिभिः किमुक्तं' । ३ 'दीर्घमुखः कथयति' ।

राजा कृत'?। ततो मयोपजातकोपेनोक्तम्—'अयं युष्मदीयो मयूरः केन राजा कृत'?। एतच्छ्रुत्वा ते [1]'पक्षिणो मां हन्तुमुद्यताः। ततो मयाऽपि स्वविक्रमो दर्शितः'। यतः—

'अन्यदा भूषणं पुंसः क्षमा लज्जेव योषितः[2]।
पराक्रमः परिभवे, वैयात्यं सुरतेष्विव' ॥ ७ ॥

राजा विहस्याऽऽह—

'आत्मनश्च परेषां च यः समीक्ष्य बलाऽबलम्।
अन्तरं नैव जानाति, स तिरस्क्रियतेऽरिभिः' ॥ ८ ॥

उपजातकोपेन=सञ्जातकोपेन। युष्मदीयः=त्वदीयः। (युष्माकं)। स्वविक्रमः=स्वपराक्रमः॥

अन्यदेति। पराभवाऽनिमित्ते काले, योषितः=स्त्रियाः, लज्जेव=व्रीडेव, पुंसः=पुरुषस्य, क्षमा भूषणम्। परिभवे=तिरस्कारकाले तु, पुंसः पराक्रमो भूषणम्, सुरतेषु स्त्रिया यथा वैयात्यं=धाष्टर्यं भूषणं, तद्वदित्यर्थः॥ ७ ॥

अन्तरं=भेदम्। बलाऽबलम्॥ ८ ॥

है?। तब मैं भी बड़े क्रोध से बोला, कि—तुम्हारे इस मोर को भी किसने राजा बनाया है?। यह सुन कर वे सब मुझे मारने लगे। तब मैंने भी अपना पराक्रम दिखाया और मैंने भी उनको खूब मारा।

क्योंकि—अपने अपमान से और जगह तो पुरुषों का क्षमा ही भूषण है, जैसे स्त्रियों का भूषण लज्जा है, उसी तरह पुरुषों का भी स्वपराभवानिमित्त समय क्षमा ही भूषण है। परन्तु अपमान होने पर तो पुरुषों का पराक्रम ही भूषण है, जैसे स्त्रियों का रति के समय धृष्टता पूर्वक अनेक प्रकार से रति क्रीड़ा करना ही भूषण (शोभादायक) है ॥ ७ ॥

तब राजा हँसकर बोला कि—

अपने और दूसरों के बलाबल को देखकर भी जो मूर्ख दोनों में अन्तर (भेद, फेर,) नहीं जानता है, वह शत्रुओं से अवश्य ही तिरस्कार पाता है ॥ ८ ॥

१. 'ते सर्वे मां'। २. 'देवं स्मरन्'।

'सुचिरं हि चरन्नित्यं क्षेत्रे सस्यमबुद्धिमान् ।
द्वीपिचर्मपरिच्छन्नो, वाग्दोषाद् गर्दभो हतः' ॥ ६ ॥

बकः पृच्छति—कथमेतत् ? । राजा कथयति—

२. व्याघ्रचर्मावृतगर्दभकथा ।

अस्ति हस्तिनापुरे विलासो नाम रजकः । तस्य[१] गर्दभोऽतिभारवहनाद् दुर्बलो मुमूर्षुरिवाऽभवत् । ततस्तेन रजकेनाऽसौ व्याघ्रचर्मणा प्रच्छाद्याऽरण्यसमीपे सस्यक्षेत्रे विमुक्तः[२] । ततो दूरात्तमवलोक्य व्याघ्रबुद्ध्या क्षेत्रपतयः सत्वरं पलायन्ते ।

अथैकदा केनाऽपि सस्यरक्षकेण धूसरकम्बलकृततनुत्राणेन धनुष्काण्डं

अबुद्धिमान्=मूर्खः । द्वीपिचर्मपरिच्छन्नः=व्याघ्रचर्मावगुंठितः । वाग्दोषात् =केवल स्ववाक्चापलात् । हतः = क्षेत्रपतिना व्यापादितः ॥ ६ ॥

रजकः=निर्णेजकः । (धोबी) । असौ=गर्दभः । व्याघ्रबुद्ध्या=व्याघ्रोऽयमिति-धिया । सस्यरक्षकेण =धान्यरक्षकेण क्षेत्रपतिना । धूसरकम्बलकृततनुत्राणेन=

और भी—चीते का चमड़ा ओढ़कर एक मूर्ख गदहे ने बहुत दिनों तक लोगों के खेतों में यथेच्छ धान्य खाया, परन्तु वह केवल 'अपने अनवसर बोलने के ही दोष से मारा गया ॥ ६ ॥

तब बगुले ने पूछा—यह कथा कैसे है ? । राजा कहने लगा कि—

हस्तिनापुर में विलास नाम का एक धोबी रहता था । उसका गधा बहुत बोझ ढोने से दुर्बल होकर मरणासन्न हो गया था । तब उस धोबी ने उसे चीते की खाल ओढ़ा कर, वन के समीप अन्न के किसी खेत में छोड़ दिया । तदनन्तर दूर से ही उसे देख कर व्याघ्र जानकर खेतों के स्वामी लोग शीघ्र भाग जाते थे । कुछ काल के बाद एक समय कोई अन्न का रक्षक धूसर (मटमैले, धूमिल

१. 'तस्य' । २ 'मोचितः' ।

[1]सज्जीकृत्याऽवनतकायेनैकान्ते स्थितम्। तं [2]च दूराद् दृष्ट्वा गर्दभः पुष्टाङ्गो, यथेष्टसस्यभक्षणजातबलो, 'गर्दभोऽय'मिति मत्वोच्चैः शब्दं कुर्वाण-स्तदभिमुखं धावितः। ततस्तेन सस्यरक्षकेण चीत्कारशब्दात् 'गर्दभोऽय'मिति निश्चित्य[3], लीलयैव व्यापादितः। अतोऽहं ब्रवीमि—'सुचिरं हि चरन्नित्यम्'—इत्यादि ॥ ❀ ॥

दीर्घमुखो ब्रूते—'ततः पश्चात् तैः पक्षिभिरुक्तम्—'अरे पाप दुष्टबक! अस्माकं भूमौ चरन्नस्माकं स्वामिनमधिक्षिपसि!। तन्न क्षन्तव्यमिदानीम्'। इत्युक्त्वा सर्वे मां चञ्चुभिर्हत्वा, सकोपा ऊचुः—'पश्य रे मूर्ख! स हंसस्तव राजा सर्वथा मृदुः। तस्य [4]राज्याऽधिकारो नास्ति। यतः

धूसरकम्बलकृताऽवगुण्ठनेन। धनुःशरं=धनुर्बाणं। सज्जीकृत्य=सज्जं कृत्वा। अव-नतकायेन=निम्नदेहेन। तस्य=सस्यरक्षकस्य। यथेष्टसस्यभक्षणजातबलः=यथेच्छ-सस्यभक्षणोत्पन्नबलः। तदभिमुखं=सस्यरक्षकाऽभिमुखम्। लीलयैव=अनायासेनैव, सहजे। पाप=हे पापिन्। अधिक्षिपसि=निन्दसि। मृदुः=

रंग) के कम्बल से अपने शरीर की रक्षा करके (कम्बल ओढ़कर) धनुष बाण हाथ में लेकर, बाण चढ़ाकर, नीचे काया करके (छिप करके) एकान्त में बैठ गया। और इच्छा पूर्वक (भर पेट) धान खाने से अत्यन्त बलवान्, और पुष्ट शरीर वाला वह गदहा 'यह भी कोई गधा ही है' ऐसा जानकर, ऊँचा शब्द करता (रेंकता) हुआ, उसके सम्मुख दौड़ा। तब धान के रक्षक ने गदहे के चीत्कार शब्द से निश्चय करके यह जान लिया कि—'यह गधा ही है।' और उसी समय उसे सहज ही बाण से मार गिराया। इससे मैं कहता हूँ कि—'चिरकाल से खेतों में चरता हुआ वह गदहा रेंकने से ही मारा गया' इत्यादि।

दीर्घमुख ने कहा कि,—'तब उन पक्षियों ने कहा—अरे दुष्ट बगुले! तू हमारी भूमि में चरता है, और हमारे ही राजा की निन्दा करता है!। इसलिये तू अब क्षमा योग्य नहीं है। यह कह कर के सब मुझे चोंच से मारते हुए क्रोध से बोले कि—'देख रे मूर्ख! वह तेरा राजा राजहंस तो निश्चय कोमल प्रकृति का (मृदु) ही है। अतः वह राज्य का अधिकारी योग्य नहीं है। क्योंकि यह

१. 'कवचनद्ध देह'। २ 'तस्मात्'। ३ 'ज्ञात्वा'। ४ 'राज्येऽधिकारो' पा०।

एकान्तमृदुः करतलस्थमप्यर्थं रक्षितुमक्षमः। स कथं पृथिवीं शास्ति ?, राज्यं वा तस्य किम् ?। त्वं च कूपमण्डूकः, तेन तदाऽऽश्रयमुपदिशसि'। शृणु—

'सेवितव्यो [1]महावृक्षः फलच्छायासमन्वितः।
यदि दैवात्फलं नास्ति, छाया केन निवार्यते' ? ॥ १० ॥

अन्यच्च—

'हीनसेवा न कर्त्तव्या, कर्त्तव्यो महदाश्रयः।
पयोऽपि शौण्डिकीहस्ते 'वारुणी'त्यभिधीयते' ॥ ११ ॥

हीनसत्त्वः। निर्वीर्यः। निस्तेजा इति यावत्। एकान्तमृदुः=नितरां कोमलः। अर्थं=धनम्। शास्ति=रक्षति। कूपमण्डूकः=कूपमण्डूकवद्देशान्तरीयवृत्तान्तानभिज्ञः। तदाश्रयणं=तन्महत्त्वाल्पत्वराज्याश्रयणम्। निवार्यते=निषिध्यते ॥ १० ॥ महदाश्रयः =महत्सेवा। पयः=दुग्धमपि। शौण्डिकीहस्ते=कल्यपालस्त्रीहस्ते। मद्यपीहस्ते। (कलवार की स्त्री के हाथ में)। वारुणी=मद्यम् ॥ ११ ॥

एकान्त कोमल (दुर्बल) पुरुष होने के कारण अपनी हथेली में रक्खे हुए धन की भी रक्षा करने में समर्थ नहीं है, तब वह पृथ्वी (राज्य) की रक्षा कैसे कर सकता है ?। और उसका राज्य ही किस गिनती में है ?। और तूँ भी कूपमण्डूक=कुएँ का मेंढक ही है, इसीलिए तूँ उसके आश्रय का हमें उपदेश देता है। सुन—

फल और छाया से युक्त किसी महान् वृक्ष का ही आश्रय लेना चाहिए। क्योंकि जो कदाचित् वह वृक्ष दैव योग से फलहीन भी हो जाय तो भी उसकी छाया को कौन रोक सकता है ?॥ १० ॥

और भी—नीच की सेवा कभी नहीं करनी चाहिए। किन्तु बड़े का ही आश्रय लेना चाहिये। देखो, शौण्डिकी (कलवारिन) के हाथ में यदि दूध भी हो तो उसे लोग मदिरा ही समझा जाता है ॥ ११ ॥

1. 'महान् वृक्षः' पा०।

[1]अन्यच—

'महानप्यल्पतां याति निर्गुणे गुणविस्तरः ।
आधाराऽऽधेयभावेन गजेन्द्र इव दर्पणे' ॥ १२ ॥

किञ्च—

'अजा सिंहप्रसादेन वने चरति निर्भयम् ।
राममासाद्य लङ्कायां लेभे राज्यं विभीषणः' ॥ १३ ॥

विशेषतश्च—

'व्यपदेशेऽपि सिद्धिः स्यादतिशक्ते नराधिपे ।
शशिनो व्यपदेशेन [2]शशकाः सुखमासते' ॥ १४ ॥

महानपि गुणविस्तरः=गुणसमूहः, आधाराधेयभावेन=आश्रयाश्रयिभावेन । निर्गुणे-गुणरहिते आश्रयस्य निर्गुणस्य दोषवत्तया, [illegible] च, आश्रयदोषेण । गजेन्द्र इव=[illegible] अल्पतां=लघुत्वं, याति=गच्छति । दर्पणे=आदर्शे । ॥ १२ ॥ अजा=छागी । (बकरी) । आसाद्य=प्राप्य ॥ १३ ॥ व्यपदेशेऽपि=नाम [illegible] अतिशक्ते=बलवति । नराधिपे=राजनि सति । व्यपदेशेन=नाममात्रेण । सिद्धिः=कार्यसिद्धिः । [illegible]

और भी—आधार (रहने का स्थान) और आधेय (रहने वाले) के सम्बन्ध से, निर्गुणी मनुष्य में स्थित महान् गुणों का समूह भी अल्पता को ही प्राप्त होता है । जैसे छोटे से दर्पण में बड़ा हाथी भी छोटा ही दीखता है ॥ १२ ॥

किञ्च—सिंह की कृपा (सिंह के आश्रय) से बकरी भी जङ्गल में निर्भय होकर चरती है । जैसे रामचन्द्र के आश्रय से ही विभीषण ने लङ्का का राज्य प्राप्त कर लिया था ॥ १३ ॥

और विशेष—बड़े शक्तिशाली, बलवान् प्रतापी, प्रतिभावान् राजा के नाम लेने से भी कार्य की सिद्धि हो जाती है । जैसे शशी (चन्द्रमा) का नाम लेने से ही खरगोश सुख से रहते हैं ॥ १४ ॥

१. '[illegible]' । २. '[illegible] शशकाः सुखम्' ।

मयोक्तं– कथमेतत् ?। पक्षिणः कथयन्ति—

२ गज-शशककथा।

कदाचिद्वर्षास्वपि वृष्टेरभावात्तृषार्त्तो गजयूथो यूथपतिमाह—'नाथ ! कोऽभ्युपायोऽस्माकं जीवनाय ?। नाऽस्ति क्षुद्रजन्तूनाम् [[1]अपि] निमज्जनस्थानम्। वयं च निमज्जनस्थानाऽभावान्मृताः[2], अन्धा इव किं कुर्मः ?, क्व यामः ?'। ततो हस्तिराजो नाऽतिदूरं गत्वा निर्मलं ह्रदं दर्शितवान्। ततो दिनेषु गच्छत्सु तत्तीरावस्थिताः[3] क्षुद्रशशका [4]गजपादाऽऽहतिभिश्चूर्णिताः। अनन्तरं शिलीमुखो नाम शशकश्चिन्तयामास–'अनेन गजयूथेन पिपासाऽऽकुलितेन प्रत्यहमत्राऽऽगन्तव्यम्, [5]ततो विनष्टमस्मत्कुलम्।'

तृषाऽऽर्त्तः=पिपासाऽऽतुरः। यूथपतिम्=गजयूथाऽधिपम्। अभ्युपायः=उपायः। क्षुद्रजन्तूनां=मूषकादीनां स्वल्पानां जन्तूनामपि। निमज्जनस्थानं=स्नानयोग्यो जलाशयः। 'किं पुनरस्माकम्' इति शेषः। निमज्जन=स्नानम्। क्षुद्रशशकाः=स्वल्पकायाः शशकाः। गजयूथपादाऽऽहतिभिः=हस्तिपादताडनैः। तेषां पादाऽऽघातः।

मैंने कहा—यह कथा कैसे है ?। वे पक्षी बोले—

एक समय वर्षाऋतु में भी वर्षा नहीं होने के कारण, प्यास से व्याकुल (पीड़ित) होकर हाथियों का यूथ (झुण्ड) व्याकुल होकर अपने यूथपति से बोला कि–हे नाथ (हे महाराज!) हमारे जीनेका अब क्या उपाय है ?। क्योंकि छोटे २ जीवों के स्नान करने लायक भी स्थान (जलाशय) कहीं नहीं रहा है। और हम लोग स्नान के योग्य स्थान (जलाशय) न होने से मृतक के समान और अन्धे के समान हो रहे हैं। कहिए, अब हम लोग क्या करें ?, और कहाँ जाएँ ?। यह सुन कर हाथियों के राजा ने जाकर समीप में एक निर्मल तालाब उन्हें दिखला दिया। पीछे कुछ दिन बीतने पर उसके किनारे पर रहने वाले बहुत से छोटे छोटे खरगोश हाथियों के पैरों की ठोकरों से मरगए, और बहुत से पैरों के नीचे दबकर मर गये। तब शिलीमुख नाम का एक खरगोश विचार करने लगा (और बोला) कि–तृषा से पीड़ित होकर हाथियों का यह झुण्ड प्रतिदिन यहाँ आवेगा, और इससे हमारा कुल ही नष्ट हो जायगा। यह सुन

१ 'क्वापि क्वचिन्न'। २ 'वयञ्च निमज्जनाऽभावादन्धा इव क्व यामः, किं वा कुर्मः'। ३ 'तत्तीरस्थिता'। ४ 'गजयूथ'। ५ 'ततो'।

ततो विजयो नाम वृद्धशशकोऽवदत्—'मा विषीदत, [1]मयाऽत्र प्रतीकारः कर्तव्यः।' ततोऽसौ प्रतिज्ञाय चलितः। गच्छता च तेनाऽऽलोचितम्—कथं मया गजयूथनाथसमीपे[2] स्थित्वा वक्तव्यम्? । यतः—

'स्पृशन्नपि गजो हन्ति, जिघ्रन्नपि भुजङ्गमः।
[3]पालयन्नपि भूपालः, प्रहसन्नपि दुर्जनः' ॥ १५ ॥

अतोऽहं पर्वतशिखरमारुह्य यूथनाथं संवादयामि[4]।' तथाऽनुष्ठिते सति यूथनाथ उवाच—'कस्त्वम्?, कुतः समायातः?'। स ब्रूते—[5]'शशकोऽहम्, भगवता चन्द्रेण भवदन्तिकं प्रेषितः'। यूथपतिराह—'कार्यमुच्यताम्'। विजयो ब्रूते—

वृद्धः=[illegible]। मा विषीदत = मा खेदमनुभवत ॥ [illegible] पालयन्=रक्षन्नपि, पाठान्तरे—मानयन्नपि=[illegible] [illegible]। प्रहसन्=प्रसन्नवदनो, हसन्नपि, सौहार्दं दर्शयन्नपि [illegible] दर्शयन्नपि—इत्यर्थः। [illegible]। दुर्जनः=खलः ॥ १५ ॥ संवादयामि=[illegible]। तेन सह वार्तालापं करोमीति भावः। [illegible]

तब विजय नाम का एक वृद्ध खरगोश बोला कि—तुम लोग विषाद मत करो, मैं इसका उपाय करूँगा। ऐसी प्रतिज्ञा करके वह चला और जाते जाते उसने मन में विचार किया कि—मैं उन हाथियों के झुण्ड के स्वामी के पास [illegible] कैसे बात करूँगा? । क्योंकि—हाथी छूने ही से मार डालता है, और सर्प सूँघने ही से मार डालता है, राजा पालन करता हुआ भी मार डालता है, और दुर्जन हँसता हुआ भी मार डालता है ॥ १५ ॥

इसलिये मैं पर्वत की चोटी पर चढ़ कर उस यूथ के स्वामी से बातें करूँगा। ऐसा विचार कर उस खरगोश ने वैसा ही किया। अर्थात् वह पर्वत शिखर पर चढ़ कर हाथियों के राजा से बातें करने लगा। तब हाथियों के झुण्ड का सरदार बोला कि—तुम कौन हो? [illegible] वह बोला—मैं खरगोश हूँ। भगवान् चन्द्रमा ने [illegible] यूथ का स्वामी बोला कि—[illegible]

१ [illegible] । २ [illegible] । ३ [illegible] । ४ [illegible] । ५ [illegible] ।

'उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु दूतो वदति नान्यथा ।
सदैवावध्यभावेन यथार्थस्य हि वाचकः' ॥ १६ ॥

तदहं तदाज्ञया ब्रवीमि, शृणु — 'यदेते चन्द्रसरोरक्षकाः शशकास्त्वया [1]निःसारितास्तदनुचितं [2]कृतम् । ते [3]शशकाश्चिरमस्माकं रक्षिताः । अत एव मे 'शशाङ्क' इति प्रसिद्धिः ।'

एवमुक्तवति दूते यूथपतिर्भयादिदमाह — '[4]प्रणिधे ! इदमज्ञानतः कृतम्, पुनर्न तत्र गमिष्यामि' ।

दूत उवाच — 'यद्येवं तदत्र सरसि [5]कोपात्कम्पमानं भगवन्तं शशाङ्कं प्रणम्य, प्रसाद्य च गच्छ ।'

व्याख्या ॥ 'दूतोऽन्यथा न वदती'त्यन्वयः । दूतस्य सदैवाऽवध्यतया, स = दूतः यथार्थस्य, वाचकः = कथयिता । वक्ता ॥ १६ ॥

तदाज्ञया=स्वामिनश्चन्द्रस्याऽऽज्ञया । चन्द्रसरोरक्षकाः=एतच्चन्द्रसरोवररक्षकाः । प्रणिधे=हे दूत ! । कोपात्=क्रोधात् । प्रसाद्य=प्रसन्नं कृत्वा । तेन=हृदयवचेन । =सरसि । अस्माकं रक्षिताः = मया प्रतिपालिताः । (हमारे रखे हुए है) ।

शस्त्रों के बीच में भी, शस्त्रधारी के सामने भी, दूत कभी झूठ नहीं कहता क्योंकि वह तो अवध्य होता है, अतः वह अवध्य होने से निडर होकर यथार्थ (सत्य) ही कहता है ॥ १६ ॥

इसलिये मैं चन्द्रमा की आज्ञा से आपको उनका सन्देश कहता हूँ, चन्द्रमा आपसे कहलाता है, कि जो चन्द्रसरोवर के रक्षक खरगोश तुमने निकाले हैं, यह तुमने अयोग्य कार्य किया है । क्योंकि वे—खरगोश चिरकाल से मेरे पाले हुए हैं, इसी से मेरा 'शशाङ्क' यह नाम भी प्रसिद्ध है । दूत के यह कहने पर यूथपति भय से बोला कि—क्षमा करिए, यह अपराध बिना जाने से ही अनजाने से हो गया है । फिर ऐसा कभी नहीं होगा । दूत बोला कि—जो ऐसा है, तो इस सरोवर में कोप से काँपते हुये भगवान् शशाङ्क (चन्द्रमा) को प्रणाम करके और उन्हें प्रसन्न करके, आप यहाँ से कहीं अन्यत्र चले जाइए । ऐसा

1. 'निःसारिताः' । २ 'तन्न युक्तं कृतं' । ३ 'यतो रक्षकास्ते शशका मदीयाः' पा० । ४ 'देव' । ५ 'भगवन्तं चन्द्रमसं कोपात्प्रकम्पमानं' ।

ततस्तेन रात्रौ यूथपतिं नीत्वा, तत्र जले चञ्चलं [1]चन्द्रबिम्बं दर्शयित्वा, [2]स यूथपतिः प्रणामं कारितः। उक्तञ्च तेन—'देव! अज्ञानादनेनाऽपराधः कृतः, [3]ततः क्षम्यताम्, नैवं वारान्तरं विधास्यते।' इत्युक्त्वा [4]प्रस्थापितः। अतो [5]वयं ब्रूमः—'व्यपदेशेऽपि सिद्धिः स्यात्' इति ॥ ● ॥

ततो मयोक्तम्—'स एवाऽस्मत्प्रभू राजहंसो महाप्रतापोऽतिसमर्थः। त्रैलोक्यस्याऽपि प्रभुत्वं तत्र युज्यते, किं पुना राज्यम्—' इति। तदाऽ[हं] तैः पक्षिभिः—'दुष्ट! कथमस्मद्भूमौ चरसि'—इत्यभिधाय, राज्ञश्चित्रवर्ण[स्य] समीपं नीतः। ततो राज्ञः [6]पुरो मां प्रदर्श्य, तैः प्रणम्योक्तम्—'देव! अ[व]धीयताम्, एष [7]दुष्टोऽस्मद्देशे चरन्नपि देवपादानधिक्षिपति'!।

वारान्तरं=पुनरपि। (फिर कभी)। महाप्रतापः=अतिप्रभावः। अतिसमर्थः। इ[ति]
तदा=तस्मिन् समये। प्रदर्श्य=पश्चिमावगमयन्। तैः=पक्षिभिः।
समर्थः=सत्त्वतः सामर्थ्यवान्, अवधीयताम्=सावधानेन श्रूयताम्। (ध्यान देकर सुनिए)। देवपा[दान्]
अधिक्षिपति=पदपातनादिना दूषयन्।

कहकर रात्रि में उस यूथपति को ले जाकर, जल में चलायमान चन्द्रमा का प्र[तिबिम्ब] दिखलाकर यूथपति से प्रणाम कराया और उस खरगोश ने कहा कि 'दे[व!] इसने बिना जाने ही यह अपराध हो गया है, सो आप क्षमा करिये। फिर ऐसा कभी नहीं करेंगे।' ऐसा कहकर उसे विदा कर दिया। इसी से हम कहते हैं कि—'बड़े के व्यपदेश (नाम लेने) से भी कार्य की सिद्धि हो जाती है'। तब मैंने कहा कि—'वही हमारा स्वामी राजहंस बड़े ही प्रतापी और समर्थ है। तीनों लोकों का भी स्वामित्व उनके योग्य है, फिर यह पक्षियों का (राज्य) क्या चीज है।' यह सुनकर वे सब पक्षी कहने लगे कि—अरे दुष्ट! तू हमारी भूमि में क्यों घूमता है। ऐसा कहकर मुझे अपने राजा चित्रवर्ण के पास ले गये और वहाँ ले जाकर अपने राजा को प्रणाम करके कहने लगे कि देव! ध्यान देकर सुनिये, यह दुष्ट हमारे राज्य में आता है, और हमारे श्रीमान् के चरणों की निन्दा करता है।

१ 'प्रतिबिम्बं'। २ 'अचिरं'। ३ 'नूनं'। ४ 'तेन शशकेन स यूथ[पतिः]'। ५ 'पश्चात् वयं'। ६ 'पुरः'। ७ 'दुराचारो'।

राजाऽऽह—'कोऽयम् ?, कुतः समायातः ।' ते ऊचुः—'हिरण्यगर्भनाम्नो राजहंसस्याऽनुचरः कर्पूरद्वीपादागतः ।'

अथाऽहं गृध्रेण मन्त्रिणा पृष्टः—'कस्तत्र मुख्यो मन्त्री'ति ? । मयोक्तम्—'सर्वशास्त्रार्थपारगः सर्वज्ञो नाम चक्रवाकः ।'

गृध्रो ब्रूते—'युज्यते । स्वदेशजोऽसौ' । यतः—

[1]स्वदेशजं, [1]कुलाऽऽचारविशुद्धमुपधाशुचिम् ।
[2]मन्त्रज्ञमव्यसनिनं, व्यभिचारविवर्जितम् ॥ १७ ॥

=भीमतो महाराजान् । अधिक्षिपति=निन्दति । तत्र=कर्पूरद्वीपे राजहंसनिकटे । युज्यते=प्रधानमन्त्रिपदार्हः । कुलाऽऽचारविशुद्ध=विशुद्धिकुलोत्पन्नं, विशुद्धाऽऽचारञ्च । उपधाशुचिम्=परीक्षासु शुद्धम् । प्रदर्शितेऽपि नानाविधे लोभे यः स्वमर्यादां नोल्लङ्घते, स 'उपधाशुचि'रित्युच्यते । 'उपधा तु धर्माद्यैर्यत्परीक्षणम्' इति कोशः । मन्त्रज्ञं=शास्त्ररहस्यविदम् । अव्यसनिनं=

मैं रिरता हुआ भी आपकी निन्दा करता है। राजा बोला कि—यह कौन है ?, कहाँ से आया है ?' । तब वे सब पक्षी बोले—यह हिरण्यगर्भनामक राजहंस का सेवक है। कर्पूरद्वीप (जापान या फारमोसा) से आया है। तब उस राजा के मन्त्री गृध्र ने मुझसे पूछा कि तुम्हारे यहाँ प्रधान मन्त्री कौन है ?'। मैंने कहा कि सब शास्त्रों का तत्त्व जानने वाला 'सर्वज्ञ' नामक चकवा ही हमारे यहाँ प्रधान मन्त्री है। तब गीध बोला—यह बात बिलकुल ठीक ही है। क्योंकि यह चकवा राजहंस के अपने देश में उत्पन्न होनेवाला है। अतः उसको प्रधान मन्त्री बनाना उचित ही है। क्योंकि—

राजा को चाहिये कि—जो (पुरुष) अपने देश में उत्पन्न होनेवाला हो, और कुलीन सुन्दर हो, आचार-विचार में शुद्ध हो, सब प्रकार की परीक्षाओं में खरा उतरा हुआ हो, अर्थात् जिसकी सच्चाई आदि की पूरी २ परीक्षा कर ली हो, मन्त्र (सलाह, राजनीति) को जाननेवाला हो, व्यसन रहित हो, व्यभिचा

१. 'कुलाचारे विशुद्धम्' पाठ० । २ 'शास्त्रज्ञ' ।

अधीतव्यवहारार्थं[1] मौलं, [2]ख्यातं, विपश्चितम् ।
अर्थस्योत्पादकं चैव[3], विदध्यान्मन्त्रिणं नृपः ॥१८॥

अत्राऽन्तरे शुकेनोक्तम्—'देव ! कर्पूरद्वीपादयो लघुद्वीपा जम्बुद्वीपान्तर्गता एव, तत्राऽपि देवपादानामेवाऽऽधिपत्यम् ।' ततो राज्ञाऽप्युक्तम्—'एवमेव' । यतः—

'राजा, मत्तः, शिशुश्चैव, प्रमदा[4], धनगर्वितः ।
अप्राप्यमपि वाञ्छन्ति, किं पुनर्लभ्यतेऽपि[5] यत्' ॥१९॥

द्यूतादिव्यसनरहितम् । व्यभिचारः=परदारागमनम् । अनुरागः=अन्तरानुरागश्च ॥१७॥

अधीतव्यवहारार्थम्=अध्ययनधर्मशास्त्रो व्यवहारमार्गम्, अर्थशास्त्रनिष्णातम् । ख्यातम्=प्रसिद्धम् । मौलम्=कुलक्रमागतम् । विपश्चितम्=पण्डितम् । अर्थस्य=धनस्य । उत्पादकम्=उपार्जकम् ॥ १८ ॥

अन्तर्गता=अभिप्रेतावयवे । लघुद्वीपाः=क्षुद्रद्वीपाः । देवपादानाम्=भवतामेव । एवमेव=एवमेतत् । (ठीक है) ।

राजा=नृपः । मत्तः=उन्मत्तः । शिशुः=बालकः । प्रमदा=यौवनमदोन्मत्ता कामिनी । अप्राप्यमपि=दुर्लभमपि वस्तु । वाञ्छन्ति=इच्छन्ति । किं पुनः

आदि दोषों से रहित हो, व्यवहार में और राजनीति के शास्त्रों को पढ़ा हुआ हो, वंशपरम्परा से चला आता हुआ एवं सुप्रसिद्ध विद्वान् हो और धन को उपार्जन करने में चतुर हो, उसको ही अपना मन्त्री बनावे ॥ १७-१८॥

इतने में शुक बोला, कि—हे देव ! ये जो कर्पूरद्वीप आदि छोटे-छोटे द्वीप हैं, वे सब जम्बूद्वीप के अन्तर्गत ही हैं । अतः वहाँ पर भी आप ही का आधिपत्य है । अर्थात् वहाँ के भी आप ही राजा हैं ।

यह सुनकर राजा ने भी कहा कि—हाँ, ऐसा ही है ।

क्योंकि—राजा, उन्मत्त (पागल), बालक, यौवनमदमाती कामिनी और धन के अभिमानी पुरुष—दुर्लभ वस्तुओं को भी इच्छा किया करते हैं, फिर जो

१. 'व्यवहारज्ञम्' क० । २. 'ख्यातं मौलं' । ३ 'प्रमादी' इति पाठा० । ४ 'ललना' ख० ५ 'लभ्यते यत्' पा० ।

ततो मयोक्तम्—'यदि [1]वचनमात्रेणैवाऽऽधिपत्यं सिद्ध्यति, तदा जम्बूद्वीपेऽप्यस्मत्प्रभोर्हिरण्यगर्भस्य स्वाम्यमस्ति।' शुको [2]ब्रूते—'कथमत्र निर्णयः ?।' मयोक्तम्—'संग्राम एव।'

राज्ञा विहस्योक्तम्—'स्वस्वामिनं गत्वा सज्जीकुरु।' तदा मयोक्तम्—'स्वदूतोऽपि प्रस्थाप्यताम्'। राजोवाच[3]—'कः प्रयास्यति दौत्येन ?। यत एवम्भूतो दूतः कार्यः'—

'भक्तो, गुणी, शुचिर्दक्षः, प्रगल्भोऽव्यसनी, क्षमी।
ब्राह्मणः, परमर्मज्ञो, दूतः स्यात्प्रतिमानवान्' ॥२०॥

लभ्यं = सुलभम् ॥ १९ ॥

मया = बकेन। आधिपत्यं = कर्पूरद्वीपे आधिपत्यम्। संग्रामः = युद्धम्। उवाच = स्वानुयायिनः प्रोवाच। (यतः = क्योंकि)। एवंविधः = ईदृशो वक्ष्यमाणगुणविशिष्टः। भक्त इति। गुणी = गुणान्वितः। क्षमी = क्षमावान्। प्रगल्भः = धृष्टः। प्रतिमानवान् = प्रतिभाशाली। उत्तरे, प्रत्युत्तरे च प्रत्युत्पन्नमतिः ॥२०॥

वस्तु मिल सकती है, उसके लिये तो कहना ही क्या है ? ॥ १९ ॥

तब मैं (बगला) बोला—यदि केवल कहने से ही स्वामित्व सिद्ध होता है, तो इस जम्बूद्वीप में भी हमारे स्वामी हिरण्यगर्भ का ही स्वामित्व है। तब तोता बोला कि—तब इसका निर्णय कैसे हो ?। मैं बोला—संग्राम (युद्ध) से ही हो जायगा।

तब वह राजा हँसकर बोला—अच्छा, अपने स्वामी को जाकर युद्ध के लिये तैयार करो। मैं बोला—आप भी अपना दूत मेरे साथ भेजिये। राजा बोला कि—कौन दूत होकर जायेगा ?। क्योंकि दूत ऐसा करना चाहिये—

जो स्वामी भक्त हो, और गुणी, पवित्र, कार्यकुशल, प्रगल्भ, (चतुर) व्यसनरहित, क्षमावान्, जातिका ब्राह्मण, पराये भेद का जानने वाला और प्रतिभावान् हो ॥२०॥

१. 'यदि वचनमात्रेण तथापि श्रीमद्देवपादानामाधिपत्यं सिद्ध्यति'। २ 'शुक[illegible]त्वा'। ३ 'राजाह—कः प्रयातु'।

गृध्रो वदति—'सन्त्येव[1] दूता बहवः, किन्तु ब्राह्मण एव [2]कर्त्तव्यः। यतः—

'प्रसादं कुरुते पत्युः, सम्पत्तिं नाऽभिवाञ्छति।
कालिमा कालकूटस्य नाऽपैतीश्वरसङ्गमात्' ॥ २१ ॥

राजाऽऽह—'ततः शुक एव व्रजतु। शुक ! त्वमेवाऽनेन सह [3]गत्वाऽस्मदभिलषितं ब्रूहि।' शुको[4] ब्रूते—'यथाऽऽज्ञापयति देवः। किन्तु दुर्जनो बकः, तदनेन सह न[5] गच्छामि'। तथा[6] चोक्तम्—

ब्राह्मणो हि पत्युः=स्वामिनो राजादेः। कालकूटपक्षे—शम्भोश्च। प्रसादं शोभां, वृद्धिञ्च। सम्पत्तिं=शोभां, समृद्धिञ्च। ईश्वरसङ्गमात्=शिवकण्ठसम्बन्धात् राजसम्बन्धाच्च। कालकूटस्य=विषस्य। कालिमा=कालुष्यम्, मालिन्यं नाऽपैति=न दूरीभवति। यथा गरलं शिवकण्ठे स्थितमपि शिवस्य शोभां, स्वच्छतासम्पदञ्च न गृह्णाति (गृह्णाति), किन्तु स्वकालिमानमेव सम्पादयते, तथैव ब्राह्मणोऽपि राजसम्बन्धेऽपि स्वदारिद्र्यं नैव जहाति, राज्ञः सम्पदञ्च गृह्णाति, किन्तु विपरीतं नीलकण्ठस्य गले विषमिव, तस्य राज्ञः शोभामेव वर्द्धय- त्येव ॥ २१ ॥

शुक एवेति। शुकस्य पक्षिषु पाठकत्वेन ब्राह्मणस्थानीयत्वात्। अनेनः

तब गृध्र बोला—यद्यपि दूत तो बहुत हो सकते हैं, पर किसी ब्राह्मण को दूत बनाना चाहिए।

क्यों कि—वह ब्राह्मण स्वामी को प्रसन्न करता है, और उसकी सम्पत्ति इच्छा नहीं करता है। जैसे ईश्वर (महादेव) का सङ्ग होने से भी विष की श्यामता नहीं जाती है। अर्थात्—सम्पत्ति को देखकर भी ब्राह्मण का निर्लोभ स्वभाव नहीं बदलता है ॥ २१ ॥

राजा बोला कि—अच्छा, तो दूत बनकर यह तोता ही जाये। हे शुक तुम ही इसके साथ जाकर राजा हंस से मेरी इच्छा को कहो।' तोता बोले कि—देव ! आप की जैसी आज्ञा। मैं जाने को तैयार हूँ। परन्तु यह बगुला दुष्ट जीव है, अतः मैं इसके साथ तो नहीं जाऊँगा। क्योंकि, कहा भी है—

१ 'सन्त्येवैभूता बहवः'। २ 'दूतः कर्त्तव्यः'। ३ 'गत्वे'ति नास्ति। ४ 'शुकोऽवदत्'। ५ 'न व्रजामि'। ६ 'तदप्युक्तम्'।

'खलः करोति दुर्वृत्तं, नूनं फलति साधुषु ।
दशाननोऽहरत्सीतां, '[1]बन्धनं स्यान्महोदधेः' ॥ २२ ॥

अपरञ्च—

'न स्थातव्यं, न गन्तव्यं दुर्जनेन समं क्वचित् ।
काकसङ्गाद्धतो हंसस्तिष्ठन् गच्छंश्च वर्त्तकः' ॥ २३ ॥

राजोवाच—'कथमेतत् ?' । शुकः कथयति—

४ हंस-काककथा ।

अस्त्युज्जयिनीवर्त्मप्रान्तरे [2]प्लक्षतरुः । तत्र हंस-काकौ निवसतः ।

...रेन । तत्=तस्मात् । दुर्वृत्तं = दुराचारम्, उपद्रवञ्च । फलति = तत्फलञ्च साधुषु पततीत्यर्थः । यथा रावणसम्बन्धादेव हि—समुद्र-बन्धन = समुद्रे सेतुरचना-...भूदित्याशयः ॥ २२ ॥ काकेन सह तिष्ठन्, तत्सङ्गाद्धंसो हतः, काकेन सह ...च्छंश्च वर्त्तकः (बटेर) हत इत्यन्वयः ॥ २३ ॥

उज्जयिनीवर्त्मप्रान्तरे = उज्जयिनीदुर्गममार्गमहावने । 'प्रान्तरं दूरशून्योऽध्वा'

दुर्जन तो दुष्कर्म करते हैं, और उसका फल निश्चय करके साधुओं को ...ना पड़ता है । देखिए, रावण तो सीता को हर ले गया, पर उसका फल समुद्र ...बन्धन हुआ, अर्थात् रावण के पास रहने से निरपराध समुद्र ही व्यर्थ में बान्धा ...॥२२॥

और—दुष्ट के साथ कहीं भी नहीं जाना चाहिये और न उसके साथ रहना ...हिये । क्योंकि, कौवे के साथ रहकर निरपराध हंस मारा गया था । और ...के संग जाता हुआ बेचारा निरपराध बटेर भी मारा गया था ॥ २३ ॥

...राजा बोला कि—यह कथा कैसे है ? । तोता बोला कि—

...उज्जयिनी के लम्बे, निर्जन, बीहड़ मार्ग के निकट एक पिप्पल (या पाकर)

---

१ 'बन्धनन्तु महोदधेः' पा० । २ 'पिप्पलतरुः' इति, 'महान् पिप्पलतरुः' पा० ।

कदाचित् ग्रीष्मसमये परिश्रान्तः कश्चित्पथिकस्तत्र तरुतले धनुष्काण्डं संनिधाय सुप्तः। तत्र क्षणान्तरे तन्मुखाद्वृक्षच्छायाऽपगता। ततः सूर्यतेजसा तन्मुखं व्याप्तमवलोक्य, तद्वृक्षस्थितेन पुण्यशीलेन शुचिना राजहंसेन कृपया पक्षौ प्रसार्य पुनस्तन्मुखे छाया कृता। ततो निर्भरनिद्रासुखिना पथिभ्रमणपरिश्रान्तेन पान्थेन मुखव्यादानं कृतम्। अथ परसुखमसहिष्णुः स्वभावदौर्जन्येन स वायसस्तस्य मुखे पुरीषोत्सर्गं कृत्वा पलायितः। ततो यावदसौ पान्थ उत्थायोर्ध्वं निरीक्षते, तावत्तेनाऽवलोकितो हंसः काण्डेन हतो, व्यापादितः। अतोऽहं ब्रवीमि- 'न स्थातव्यमिति'॥ ● ॥

इत्यादि। (प्रान्तर = उजाड़, वियावान)। धनुष्काण्डं=धनुर्बाणम्। अपगता =दूरीभूता। (हट गई)। तन्मुखं = पथिकमुखम्। शुचिना=शुद्धाऽऽचारेण। निर्भरनिद्रासुखितेन = गाढनिद्रासुखशालिना। पराक्रम। तन्मुखे = पान्थमुखे। पुरीषोत्सर्गं = विष्ठा त्याग। काण्डेन =बाणेन। व्यादानं = विस्तृतम्। (मुँह खोल दिया)।

का वृक्ष है। उस वृक्ष पर हंस और कौआ ये दो पक्षी रहा करते थे। कुछ का के बाद कभी ग्रीष्म समय (गर्मी के मौसम) में थका हुआ कोई पथि (मुसाफिर) उस वृक्ष के नीचे धनुष बाण सिरहाने रख कर सो गया। तब समय के बाद (क्षणमात्र में) उसके मुँह पर से वृक्ष की छाया हट गई। तब को धूप से उसके मुँह को ढका देख कर उस वृक्ष पर बैठे हुए साधुस्वभाव हंस ने कृपा करके अपने पंख फैलाकर उसके मुँह पर छाया कर दी। जिससे घर फिर गहरी निद्रा में सो गया। तब सुख से सोते हुए उस पथिक ने अपना मुँह फैला दिया (खोल दिया)। उसी समय पराये सुख को नहीं सह सकने वाला पर कौआ अपने स्वभाव की दुष्टता से ही उस पथिक के मुँह में बीट करके भा गया। फिर जब उस मुसाफिर ने उठ कर ऊपर की ओर देखा, तब हंस को बैठे हुए ऊपर बैठे देखा और उसे देखकर कर इसी ने मेरे मुख में बीट की है, ऐसा जान कर, उस पर तीर चला दिया और उसे मार डाला। इसलिए मैं कहता हूँ कि 'दुष्ट के साथ कभी नहीं रहना चाहिए' इत्यादि।

१. 'प्रान्तरे'। २. 'पुण्यशीलेन धर्मात्मना'। ३. 'पथिभ्रमणपरिश्रान्तेन'। ४. 'स्वभावदौर्जन्यात्'। सत्यपि स्थितेन'। ५. 'मुखे हंसः'।

[[1]तथाचोक्तं—

त्यज दुर्जनसंसर्गं, भज साधुसमागमम् ।
कुरु पुण्यमहोरात्रं, स्मर नित्यमनित्यताम्] ॥

'देव ! वर्त्तककथामपि कथयामि । श्रूयताम्—

५ काक-वर्त्तककथा ।

[2]एकत्र वृक्षे काक-वर्त्तकौ सुखं निवसतः । एकदा भगवतो गरुडस्य यात्राप्रसङ्गेन सर्वे पक्षिणः समुद्रतीरं गताः[3] । ततः काकेन सह वर्त्तकश्च- लितः । अथ गच्छतो गोपालस्य मस्तकावस्थितदधिभाण्डाद्वार वारं तेन काकेन दधि खाद्यते । ततो यावदसौ दधिभाण्डं भूमौ निधायोर्ध्वमव- लोकते, तावत्तेन काक-वर्त्तकौ दृष्टौ । ततस्तेन [4]दृष्टः काकः पलायितः । वर्त्तकः स्वभावनिरपराधो, मन्दगतिस्तेन प्राप्तो, व्यापादितः । अतोऽहं ब्रवीमि—'न गन्तव्यम्' इत्यादि ॥४॥

ततो मयोक्तम्—'भ्रातः शुक ! किमेवं ब्रवीषि ? । मां प्रति यथा

यात्राप्रसङ्गेन = दर्शनप्रसङ्गेन । तेन = गोपालेन । 'खेदितः' इति पाठे-

हे महाराज अब बटेर की भी कथा कहता हूँ, सुनिए—

एक वृक्ष पर कौवा और बटेर ये दोनों पक्षी सुख से रहा करते थे । एक समय भगवान् गरुड़ की यात्रा (दर्शन) के प्रसङ्ग में सभी पक्षी समुद्र के किनारे पर आ रहे थे । तब उसी समय कौवे के साथ साथ एक बटेर भी वहाँ जाने को चल पड़ा । इसके पीछे कौवे ने राह में जाते हुए एक ग्वाले के दही के बर्तन में से बार बार दही खाना प्रारम्भ किया । तब ज्योंही इस ग्वाले ने दही का बर्तन पृथ्वी पर रख कर ऊपर की ओर देखा, त्योंही कौवा और बटेर ये दोनों ही साथ साथ जाते हुए दिखाई पड़े, परन्तु वह कौवा तो उसके खदेड़ने पर (पीछा करने पर) दूर भाग गया, पर स्वभाव से निरपराध और धीरे धीरे चलते हुए बटेर को उसने पा लिया (पकड़ लिया), और उसे उसने मार डाला । इसी से मैं कहता हूँ, कि—'दुष्ट के साथ कभी कहीं नहीं जाना चाहिये' इत्यादि ॥

तब मैं (बगला) बोला कि—भाई तोते ! आप यह क्या कहते हैं ! ।

१. क्वचिन्न । २ 'एकः काको वृक्षशाखायां स्वपिति । वर्त्तकश्चापसाद ...ते मित्रतौ' । ३ 'तीरं प्रचलिताः । तत्र' । ४. 'खेदितः' इति पाठान्तरम् ।

श्रीमद्देवपादास्तथा भवानपि ।' शुकेनोक्तम्[१]—'अस्त्येवम्' । किन्तु—

'दुर्जनैरुच्यमानानि [२]संमतानि प्रियाण्यपि ।
अकालकुसुमानीव भयं सञ्जनयन्ति हि' ॥ २४ ॥

दुर्जनत्वं च भवतो [३]वाक्यादेव ज्ञातं, यदनयोर्भूपालयोर्विग्रहवर्णनमेव निदानम्' । यतः—

'प्रत्यक्षेऽपि कृते दोषे, मूर्खः सान्त्वेन तुष्यति ।
रथकारो निजां भार्यां सजारां शिरसाऽकरोत्' ॥ २५ ॥

राज्ञोक्तम्[४]—'कथमेतत् ?' । शुकः कथयति—

रोदितः = भर्त्सितः (फटेहा गया) । तेन = गोवेन । श्रीमद्देवः = चरमनः हिरण्यगर्भः । संमतानि = इष्टानि । 'वाक्यानी'ति शेषः ॥ २४ ॥

अनयोः = हंसमयूरयोः । विग्रहे = युद्धे । भयदर्शनं = वध्याख्यने निदानं = कारणम् । सान्त्वेन = केवलं मधुरभाषणवादेन । निजां = स्वीयां सजारां = जारेण सह तामपि । शिरसाऽकरोत् = शिरसोदवहत् ॥ २५ ॥

शुकजी ने जैसे हमारे महाराज हैं, वैसे ही आप भी हैं । तब यह तोता बोला कदाचित् ऐसा ही होगा । परन्तु—

दुर्जन के कहे हुए मीठे मीठे वचन भी यदि वे अपने सम्मत और भी हों तो भी-कुसमय के पुष्पों के समान ही ये भय उत्पन्न करते हैं । अ से यदि किसी वृक्ष में फूल आ जायें तो वह उत्पात माना जाता है, और इसलिए भयजनक होता है ॥ २४ ॥

और तुम्हारा दुर्जनता तो तुम्हारे वचनों से ही जानी गई । क्योंकि इन राजाओं की लड़ाई होने में तुम्हारे वचन ही प्रधान कारण हैं ।

देखो-प्रत्यक्ष दोष (अपराध) करने पर भी मूर्ख लोग ही मीठी २ बातों से हो जाते हैं । जैसे एक रथकार (बढ़ई) ने अपनी स्त्री को जार सहित (य सहित) अपने सिर पर धारण कर लिया था ॥ २५ ॥

यह सुनकर राजा बोला कि—यह कथा कैसे है ? । तोता कहने लगा कि

---

१ 'दूतो ब्रूते' । २ 'संमितानि' । ३ 'वाक्यात्सारादेव ज्ञायते' । ४ 'मयूरोऽपि' वाठः ।

६ रथकार-तद्वधू-जारकथा।

अस्ति[1] यौवनश्रीनगरे मन्दमतिर्नाम रथकारः। स च स्वभार्यां बन्धकीं जानाति। किन्तु जारेण समं [2]स्वचक्षुषा नैकस्थाने पश्यति। ततोऽसौ रथकारः 'अहमन्यं ग्रामं गच्छामि' इत्युक्त्वा चलितः। स कियद्दूरं गत्वा पुनरागत्य [3]पर्यङ्कतले स्वगृहे निभृतं स्थितः। 'अथ[4] रथकारो ग्रामान्तरं गतः' इत्युपजातविश्वासः स जारः सन्ध्याकाल एवाऽऽगतः। पश्चात्तेन जारेण समं तस्मिन्पर्यङ्के निर्भरं क्रीडन्ती, पर्यङ्कतलस्थितस्य भर्तुः किञ्चिदङ्गस्पर्शात्स्वामिनं मायाविनं विज्ञाय, मनसि सा विषण्णाऽभवत्।

बन्धकीम्=असतीम्। (बदचलन)। एकस्थाने=एकत्र। (एकान्त में)। कियद्दूरं=किञ्चिदन्तरम्। (कुछ दूर जाकर)। पर्यङ्कतले = खट्वाया अधस्तात्। (पलङ्ग के नीचे)। निभृत=प्रच्छन्नं (छिपकर)। इति=इत्थम्। आगतः = स्वगृहे आगतः। निर्भरम्=भृशम्। (खूब)। मायाविनं = कपट-

यौवनश्रीनगर (झाँसी) में मन्दमति नाम का एक रथकार (बढ़ई) रहता था। वह अपनी स्त्री को व्यभिचारिणी (छिनार) तो जानता था, परन्तु जार के साथ अपनी स्त्री को एक स्थान में अपनी आँख से नहीं देख पाता था। इसी से वह उसको दण्ड नहीं दे सकता था। तब वह रथकार 'मैं दूसरे गाँव को जाता हूँ' ऐसा अपनी स्त्री से कहकर बाहर चला गया। और कुछ दूर जाकर फिर चुपके से घर पर ही लौट आया और अपने पलँग के नीचे छिप कर बैठ गया। पीछे से 'रथकार दूसरे गाँव गया है' ऐसा विश्वास होने से वह जार (यार) संध्या ही को निर्भय होकर उसके घर पर आगया। पीछे उस जार के साथ उस पलँग पर क्रीड़ा करती हुई उस स्त्री का कोई अङ्ग पलँग के नीचे स्थित अपने स्वामी के किसी अङ्ग से छू गया, तब वह स्त्री 'यह मायावी मेरा स्वामी ही है' ऐसा जान कर मन ही मन बहुत दुःखी हुई

१. 'श्रीनगरे' पा०। २ 'एकस्थाने स्वचक्षुषा न पश्यति'। ३ 'स्वगृहे पर्यङ्के'। ४ 'मत्स्वामी ग्रामान्तरं गत इत्युपजातविश्वासया तद्भार्यया स्वजारः ... '।

ततो जारेणोक्तम्—'किमिति त्वमद्य मया सह निर्भरं न रमसे ?। विम्मितेव प्रतिभासि मे त्वम् ?।' अथ तयोक्तम्—'अनभिज्ञोऽसि, योऽसौ मम प्राणेश्वरो—येन ममाऽऽकौमार सख्यं, सोऽद्य ग्रामाऽन्तरं गतः, तेन विना सकलजनपूर्णोऽपि ग्रामो मां प्रत्यरण्यवत्प्रतिभाति। किं भावि ?। तत्र परस्थाने किं खादितवान् ?। कथं वा प्रसुप्तः ?—इत्यस्मद्धृदयं विदीर्यते।

जारो ब्रूते—'तव किमेवंविधा स्नेहभूमी रथकारः ?।'

[illegible]—रे बर्बर ! किं वदसि ?। शृणु—

[illegible]। विलक्षणा = दुःखिता। निर्भरम् = अतिमात्रम् (खुले मन से)। रमसे = [illegible] क्रीडसि। विम्मितेव = चकितेव। ('अनमनी सी' 'घबड़ाई हुई सी')। प्राणेश्वरः = 'प्रियः पति' [illegible] = शादमे। अनभिज्ञः = अज्ञः। (तुम क्या जानो)। किं भावि = किं भविष्यति। इति = [illegible] [illegible] = कानन [illegible]। [illegible] = [illegible]। [illegible] = [illegible], [illegible] [illegible]। स्नेहभूमिः = प्रणयपात्रम्। [illegible] = [illegible] मूर्ख।

तब वह जार उससे बोला कि—तू आज मेरे साथ अच्छी प्रकार [illegible] नहीं [illegible] है ?। आज तो तू मुझे कुछ घबड़ाई हुई सी जान पड़ती है। [illegible] [illegible] [illegible] है, कि मेरा प्राणेश्वर, जिससे कि—मेरा कुमार [illegible] [illegible]) से ही [illegible] है, वह आज दूसरे गाँव को गया है। उसके [illegible] सब मनुष्यों से भरा हुआ यह गाँव भी मुझे वन के समान ही सूना सा [illegible] वह [illegible] है। मेरा वह पति वहाँ कैसे होगा ?, वहाँ पर उसने क्या [illegible] होगा ?। और वह कैसे सोया होगा ?—इत्यादि चिन्ताओं से मेरा हृदय [illegible] है। तब वह जार बोला कि—क्या उस रथकार से तेरा ऐसा प्यार और ([illegible]) है ?। तब वह ([illegible]) बोली कि—अरे मूर्ख, यह तू क्या कहता है ?।

१. [illegible]—'तव किमेवं स्नेहभूमिः स रथकारो मम ?।' २ [illegible]। [illegible] स्नेहभूमि [illegible] यहाँ कहाँ [illegible] [illegible]

'परुषाण्यपि या प्रोक्ता, दृष्टा या क्रोधचक्षुषा ।
सुप्रसन्नमुखी भर्तुः, सा नारी धर्मभाजनम्' ॥२६॥

अपरञ्च—

'नगरस्थो, वनस्थो वा, पापो वा, यदि वा (ऽ) शुचिः ।
यासां स्त्रीणां प्रियो भर्ता, तासां लोका महोदयाः' ॥२७॥

अन्यच्च—

'भर्ता हि परमं नार्या भूषणं भूषणैर्विना ।
एषा विरहिता तेन शोभनाऽपि न शोभते' ॥ २८ ॥

त्वञ्च जारः पापमतिः, मनोलौल्यात्पुन्नागपूलसदृशः कदाचित्

परुषाणि=रूक्षाणि वाक्यानि । भर्तुः क्रोधचक्षुषाऽपि दृष्टा या नारी सुप्रसन्नैव भवति, सा धर्मभाजन=धर्मफलभागिनी भवति ॥ २६ ॥ शुचिः=पवित्रात्मा । महोदयाः=सर्वसुखदाः, सर्वश्रेष्ठाश्च लोका भवन्तीत्यर्थः ॥ २७ ॥ नार्या भर्ता हि=भर्तैव, भूषणैर्विनाऽपि भूषणम् । एषा=एतद्वते-स्त्री । मूलम पे-ग च । शोभना=सर्वगुणान्विताऽपि, तेन=पत्या । विरहिता=रहिता, न शोभते=न रोचते (रामायणस्थं पद्यमेतत्) ॥ २८ ॥ पापमतिः=दुष्टबुद्धिः । परदाराभिमर्शपापरतम् । पुन्नागपूलसदृशः=

मुख—खारे और कडुवे वचन बोलने पर भी, तथा पति के क्रोधभरी ी से देखने पर भी जो स्त्री पति के आगे सदा प्रसन्नमुख हो रहती है, वही र्मभागिनी होती है ॥ २६ ॥

और भी—नगर में रहने वाला, अथवा वन में रहने वाला, या पापी या पवित्र,-कैसा भी अपना पति हो, वही जिन स्त्रियों को प्यारा है, उन्हीं स्त्रियों को न सुखद लोक (स्वर्ग) प्राप्त होते हैं ॥ २७ ॥

और भी—भूषण के बिना भी स्त्री का पति ही परम भूषण है । और भूषण से सुन्दर स्त्री भी पति के बिना शोभायमान नहीं होती है ॥ २८ ॥

और तू तो जार है, और पापबुद्धि है । मैं अपने मन की चञ्चलता से ही

1. 'कुद्ध' ।

सेव्यसे, कदाचिन्न सेव्यसे च । स च पुनर्मे स्वामी, मां विक्रेतुं, देवेभ्यो, ब्राह्मणेभ्यो वा दातुमीश्वरः¹ । किं बहुना ? । तस्मिञ्जीवति जीवामि, तन्मरणे चाऽनुमरणं करिष्यामी'ति प्रतिज्ञा² वर्तते । यतः—

'तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यानि लोमानि मानवे ।
तावत्कालं वसेत्स्वर्गे भर्तारं याऽनुगच्छति' ॥ २९ ॥

अन्यच—

³व्यालग्राही यथा व्यालं ³बलादुद्धरते बिलात् ।
तद्वद्भर्तारमादाय ⁴स्वर्गलोके महीयते' ॥ ३० ॥

स्वल्पसुखकरः । (पान पत्ते की तरह केवल थोड़ी देर को मन बहलाव की चीज समझ कर हो) । ईश्वरः=समर्थः । तस्मिन्=मम पत्यौ स्वभर्तरि । लोमानि=केशाः । मानवे=मनुष्यदेहे । तावत्कालं=सार्धत्रिकोटिवत्सरपर्यन्तम् । (साढ़े तीन करोड़ वर्ष तक) ॥ २९ ॥

व्यालग्राही=आहितुण्डिकः । ('सपेरा' इति भाषायाम्) । व्यालं=सर्पम् । आदाय=गृहीत्वा [illegible] स्वभर्तारं रज्जुबन्धनादुद्धृत्य । महीयते=पूज्यते,

तेरा पूग पान के समान कभी २ उपभोग करती हूँ, कभी नहीं भी करती हूँ । पर वह तो मेरा स्वामी है । वह मुझे बेचने को और देवता या ब्राह्मणों को भी देने को भी समर्थ है । और बहुत कहने से क्या है । उसके जीने से ही मैं जीती हूँ, और उसके मरने पर उसके साथ ही मैं भी सती होऊँगी, उसके साथ ही चिता में जलकर मैं मरूँगी—यही मेरी प्रतिज्ञा है ।

क्योंकि—जो स्त्री पति का अनुगमन करती है (पति के साथ सती होती है) वह जो मनुष्य के शरीर में जितने रोम हैं उतने हो समय तक अर्थात् साढ़े तीन करोड़ वर्ष तक स्वर्ग में बसती है । (मनुष्य के शरीर में साढ़े तीन करोड़ रोम होते हैं) ॥ २९ ॥

और भी-जैसे सर्प का पकड़ने वाला सपेरा मन्त्र के बल से सर्प को

१. 'शक्तः समर्थः.' । २ 'इ देव से निश्चयः' पा० । ३ 'बिलादुद्धरते बलात्' ।
४ 'तेनैव सह मोदते' ।

अपरञ्च—

'चितौ परिष्वज्य विचेतनं पतिं,

प्रिया हि या मुञ्चति देहमात्मनः ।

कृत्वाऽपि पापं ¹शतलक्षमप्यसौ,

पतिं गृहीत्वा सुरलोकमाप्नुयात्' ॥ ३१ ॥

यतः—

'यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां, भ्राता वाऽनुमते पितुः ।

तं शुश्रूषेत जीवन्तं, संस्थितञ्च न लङ्घयेत्' ॥ ३२ ॥

एतत्सर्वं श्रुत्वा ²मन्दमतिः स ³रथकारः—'धन्योऽहं ⁴यस्येदृशी प्रिय-

भुजगमनुसरति च ॥३०॥ चितौ = चितायाम् । परिष्वज्य = आलिङ्ग्य, विचेतनं = मृतम् । असौ = पतिव्रता स्त्री । सुरलोकं = स्वर्गम् ॥ ३१ ॥

एनां = कन्याम् । तं = पतिम् । शुश्रूषेत = सेवेत । संस्थितं = मृतमपि । न लङ्घयेत् = नाऽतिचरेत् । किन्तु तमनुगच्छेत् ॥ ३२ ॥

जबरदस्ती बिल से निकाल (खींच) लेता है, वैसे ही पतिव्रता स्त्री भी अपने पति को नरक से निकाल कर उसे स्वर्गलोक में ले जाती है, और पति की प्यारी होकर उसके साथ स्वर्ग लोक में पूजित होती है ॥ ३० ॥

और भी—मरे हुए पति का आलिङ्गन करके चिता में जो पति की प्यारी स्त्री अपनी देह को छोड़ती है, तो यदि वह सैकड़ों पाप करने वाली हो तो भी वह अपने उस पति को लेकर स्वर्गलोक में पहुँचती है ॥ ३१ ॥

क्योंकि—कन्या (स्त्री) को चाहिये कि उसका पिता, या पिता की अनुमति से बड़ा भाई जिसको देदे, जिसके साथ विवाह करदे, उसकी यावत् जीवन सेवा करे, और उसके मरने पर भी उस का उल्लङ्घन न करे । अर्थात् उसके साथ ही चिता में जलकर मर जाए ॥ ३२ ॥

यह सब सुनकर वह रथकार मन ही मन प्रसन्न होकर बोला कि—अहो !

1. 'शतमङ्गम' । २ कचित्र । ३ 'रथकारोऽवदत्' । ४ 'एतादृशी भार्या प्रेमरती निरवादिनी' ।

वादिनी, स्वामिवत्सला च भार्येति मनसि निधाय, तां खट्वां स्त्रीपुरुष-
सहितां मूर्ध्नि धृत्वा, सानन्दं ¹ननर्त । अतोऽहं ब्रवीमि—'प्रत्यक्षेऽपि
कृते दोषे'—इत्यादि ॥ • ॥

अतोऽहं तेन राज्ञा यथाव्यवहारं सम्पूज्य प्रस्थापितः । युष्मोः
मम पश्चादागच्छमाने । एतत्सर्वं परिज्ञाय ²यथाकर्तव्यमनुसन्धीयताम्

चमत्कारो विहस्याऽऽह—'देव ! यद्येन तावद्देशान्तरमपि गत्वा
शक्ति राजकार्यमनुष्ठितम् । किन्तु ³देव ! स्वभाव एव मूर्खाणाम्'।
यतः—

स्त्रीपुरुषसहितां = स्त्री-पुरुष सहिताम् । तेन = मयूरेण । यथाव्यवहारं = यथा-
तव = गुरुवारदमयन्तानन्तरम् । अनुगच्छमाने = अनुगच्छत्स्वेव । (आती रहा है) । ननर्त = ननृत । यद्येन दोरल्लक
देव = हे राजन् । 'राजकार्यमनुष्ठितमिति' सोल्लुण्ठनं वचः ।
द्वारा निर्वाहित इति तु हृदयोऽर्थः ।

मैं धन्य हूँ, जिसके ऐसी पतिव्रता एवं प्रियवचन करने वाली और (स्वामी
से स्नेह करने वाली भार्या है । और ऐसा मन ही मन निश्चय करके वह स्व
(बढ़ई) स्त्रीपुरुष सहित उस खाट को ही सिर पर उठा कर बड़े ही आ
से नाचने लगा । इसीलिये मैं कहता हूँ कि—'प्रत्यक्ष दोष करने पर भी
मीठी मीठी बातों से बदमाश मैं आ जाता है' इत्यादि ॥

फिर उस राजा मयूर ने यथोचित व्यवहार से अनुसार मेरा सत्
मुझे (अकेले को) विदा कर दिया । लोग भी मेरे पीछे पीछे आ ही रहे
सब जानकर ऐसा करना चाहिये, जो उचित विचार करिये ।

इस प्रकार सुनकर चमत्कार हँसकर बोला—'हे देव ! इस अनु
देशान्तर में भी जाकर यथाशक्ति राजा का कार्य कर ही दिया ।
स्वाभाविक गुण से बात को स्थिति में (अर्थ के अर्थ में)
— चाहु हे देव ! ऐसा मूर्खों का स्वभाव ही होता है । क्योंकि—

१. 'अनृत्यत्' । २. 'कर्तव्य यथाकार्यमनुसंधीयताम्' ।

'शतं दद्यान्न विवदेदिति विज्ञस्य संमतम् ।
विना हेतुमपि द्वन्द्वमेतन्मूर्खस्य लक्षणम्' ॥ ३३ ॥

राजाऽऽह—[1]'अलमनेनाऽतीतोपालम्भनेन, प्रस्तुतमनुसन्धीयताम्' ।
चक्रवाको ब्रूते—'देव ! विजने ब्रवीमि' । यतः—

'वर्णा-ऽऽकार-प्रतिध्वानैर्नेत्र-वक्त्रविकारतः ।
अभ्यूहन्ति मनो धीरास्तस्माद्रहसि मन्त्रयेत्' ॥ ३४ ॥

ततो राजा, मन्त्री च [2]तत्र स्थितौ, अन्येऽन्यत्र गताः । चक्रवाको

विज्ञस्य=विदुषः । हेतुं=कारणं विनाऽपि । द्वन्द्वं=कलहः ॥ ३३ ॥
उपालम्भः=निन्दा । (कोसना) । अनुसन्धीयतां=चिन्त्यताम् । विजने=एकान्ते । वर्णेन=मुखवर्णेन, आकारेण=आकृत्या, प्रतिध्वानेन=ध्वनिना । नेत्रविकारेण=नेत्रभ्रूक्षेपादिना, वक्त्रविकारेण=मुखभङ्गिभेदेन च । धीराः=बुद्धिमन्तः । मनः=मनोगतमपि भावम्, ऊहन्ति=तर्कयन्ति । रहसि=एकान्ते ॥ ३४ ॥

सैकड़ों रुपये दे दे परन्तु किसी के साथ विवाद न करे, यह ज्ञानी पण्डितों का मत (सिद्धान्त) है, और बिना कारण के भी कलह करना-यह मूर्खों का लक्षण है ॥ ३३ ॥

राजा बोला कि—गई बात के बारे में अब किसी को उलहना देने से क्या लाभ है ? । अब तो हमें प्रस्तुत विषय का ही अनुसन्धान (विचार) करना चाहिये । चक्रवाक बोला कि—देव ! मैं आप से एकान्त में ही इस विषय में अपना मत कहूँगा ।

क्योंकि—रूप, रंग, आकार, शब्द, चेष्टा तथा आँख व मुँह के विकार से बुद्धिमान् लोग मनुष्य के मन की बात को जान लेते हैं, इसलिए एकान्त में ही मंत्रणा (मन्त्र, सलाह) करनी चाहिये ॥ ३४ ॥

तब राजा तथा मन्त्री ये दो ही दोनों वहाँ रह गए और दूसरे सब सभासद उठकर बाहर चले गये ।

---

१. 'विमतोपालम्भनेन' । २ 'स्थितौ तत्र' ।

ब्रूते—'देव ! अहमेवं जानामि—'कस्याऽप्यस्मन्नियोगिनः प्रेरणया बकेनेदमनुष्ठितम्' । यतः—

'वैद्यानामातुरः श्रेयान्, व्यसनी यो नियोगिनाम् ।
विदुषां जीवनं मूर्खः, 'सद्वर्णो जीवनं सताम्' ॥ ३५ ॥

राजाऽब्रवीत्—'भवतु, कारणमत्र पश्चान्निरूपणीयम्, सम्प्रति यत्सत्यं 'तन्निरूप्यताम् ।' चक्रवाको ब्रूते—'देव ! प्रणिधिस्तावदत्र

नियोगिनः = राजसेवकाः, राज्याधिकारिणो वा । ['अफसर' 'अहलकार' 'राजकर्मचारी'] ।

आतुरः = रोगी । श्रेयान् = द्रविणदानेन सुखदः । व्यसनी = विपत्तिग्रस्तः । नियोगिनां = राज्याधिकारिणाम् । जीवनं = जीविकासाधनम् । सद्वर्णः = ब्राह्मण-वैश्यक्षत्रियादिः । सतां = साधूनाम् ॥ ३५ ॥ अत्र = मत्कुणपतिते सद्दाने । साम्प्रतं = इदानीम् । निरूपणं = कथनम्, अवधारणम् । प्रणिधिः = चरः ।

तब चक्रवाक बोला—हे देव ! मैं ऐसा जानता हूँ कि हमारे किसी राजकर्मचारी की भीतरी प्रेरणा से ही इस बगुले ने ऐसा झगड़ा खड़ा किया है ।' क्योंकि—

वैद्यों के लिए रोगी अच्छा है । अर्थात् रोगी होने से ही वह वैद्य को कुछ देता, अतः उसके लिए रोगी ही लाभदायक है । नियोगियों (अधिकारियों) के लिये व्यसनी राजा—अर्थात् युद्ध आदि विपत्तियों में तथा तथा मद्य, जुआ वेश्या आदि व्यसनों में फँसा हुआ राजा (स्वामी) अच्छा होता है, और विद्वानों के लिए जीवन (अर्थात् आजीविका देने वाला) मूर्ख है । और भलों के जीवन—उत्तम वर्ण (क्षत्रिय वैश्य आदि) हैं ॥ ३५ ॥

तब वह राजा बोला—ठीक है,—जो भी कुछ हो, परन्तु इसका कारण पीछे सोचना । इस समय तो जो करना चाहिये, उसे निश्चय करना योग्य है ।

तब चकवा बोला कि—देव ! पहले तो शत्रु के स्थान में किसी प्रणिधि (दूत दूसरे

१. '[illegible]' इति पाठे—[illegible] । [illegible] पदः, [illegible] । २. '[illegible]' ।

प्रहीयताम्। ततस्तदनुष्ठानं, बलाऽबलं च जानीमः'। तथाहि—

'भवेत्स्व-पर-राष्ट्राणां कार्या-ऽकार्याऽवलोकने।
चारश्चक्षुर्महीभर्त्तुर्यस्य नास्त्यन्ध एव सः' ॥ ३६ ॥

स च द्वितीयं विश्वासपात्रं गृहीत्वा यातु। तेनाऽसौ स्वयं तत्राऽवस्थाय, द्वितीयं तत्रत्यमन्त्रकार्यं सुनिभृतं निश्चित्य, निगद्य, प्रस्थापयति''। तथा चोक्तम्—

(आयुम)। प्रहीयतां=प्रेष्यताम्। तदनुष्ठानं=शत्रुमन्तव्यं, तदभिमतं वा।

भवेदिति। स्वराष्ट्रपरराष्ट्राणां कार्यस्य, अकार्यस्य च=उचितानुचितयोरवलोकने, राज्ञां चारा एव चक्षूंषि भवन्ति। चाररहितस्तु राजा चक्षुःसत्त्वोऽप्यन्ध एवेत्यर्थः ॥ ३६ ॥

स च=प्रणिधिश्च। द्वितीयं=स्वसहायकं कञ्चनाऽपरं प्रणिधिम्। असौ=प्रणिधिः। तत्र=शत्रुराज्ये। तत्रत्यमन्त्रकार्यं=शत्रुपक्षमन्त्रादीनि, तत्रत्यानि कार्याणि च शत्रुभिर्निश्चितानि, तं कथयित्वा निभृतमत्र प्रेषयिष्यति।

को भेजना चाहिये, जिससे हम शत्रु के कर्त्तव्य और बलाबल को जान सकें। जैसे कहा भी है—

अपने और पराये राज्यों के कार्य और अकार्य के देखने के लिए राजा के चार (दूत) ही नेत्र होते हैं, जिस राजा के पास ये (चार) नहीं हैं, वह राजा अन्धा ही है ॥ ३६ ॥

और जो दूत भेजना है, वह अपने साथ दूसरे विश्वासपात्र को साथ लेकर जावे जिससे वह आप वहीं रहकर, वहाँ की गुप्त बातों को गुप्तचार बड़ी सावधानी से जान कर, पक्की खबरों को एकत्रित करके, दूसरे को वहाँ की गुप्त बातें अच्छी प्रकार समझा कर, यहाँ सूचना देने को भेज सके।

१. 'प्रस्थापयतु'।

'तीर्था ऽऽश्रम-सुरस्थाने शास्त्रविज्ञानहेतुना ।
तपस्विव्यञ्जनोपेतैः स्वचरैः सह 'संवसेत्' ॥ ३७ ॥

गूढचारश्च—यो जले, स्थले च¹ चरति । ततोऽसावेव चरो नियुज्यताम् । एतादृश एव च अन्यो द्वितीयत्वेन प्रयातु । तद्गृहलोकाश्च² राजद्वारे तिष्ठन्तु । किन्तु एतदपि सुगुप्तमनुष्ठातव्यम्³ । यत —

स चेति । पुण्येषु तीर्थस्थानेषु, [illegible] मुन्यादीनामाश्रमभुवि, देवस्थानेषु च । शास्त्रविज्ञानहेतुना = शास्त्राऽध्ययन-विज्ञान-कलाकौशल [illegible] [illegible] दर्शन—[illegible] पठनादिव्याजेन । तपस्विव्यञ्जनोपेतैः = [illegible] स्वचरैः = स्वगूढपुरुषैः सह [illegible] = राजप्रणिधिः, प्रधानगूढपुरुषः । संवसेत् = तिष्ठेत् । 'सं[illegible] इति [illegible] ॥ ३७ ॥

गूढचारश्च = प्रधानप्रणिधिश्च । 'स एव भवितुं योग्य' इति [illegible] । चरति = [illegible] । राजद्वारे = राजभवने । तिष्ठन्तु = प्रतिभूतया तिष्ठन्तु । (आश्रम [illegible] [illegible] जिससे वह प्रणिधि [illegible] राज्य के [illegible]

ऐसा [illegible] है कि प्रणिधि—तीर्थ, आश्रम और देवालय आदि में शास्त्र (वि[illegible] अध्ययन, कला कौशल [illegible] आदि) जानने के [illegible], ([illegible]) से, या तपस्वि[illegible] के चिह्नों से युक्त हो कर, अपने दूतों के साथ निवास करे ॥ ३७ ॥

और गूढचर वही होने के योग्य है, जो जल में और स्थल में [illegible] [illegible] से चल सकता हो । इसलिए यह [illegible] ही प्रणिधि के रूप में [illegible] नियुक्त किया जाय, और इसके साथ ऐसा ही कोई दूसरा [illegible] और इन दोनों के घर के लोग ([illegible] आदि) राजद्वार में [illegible] के [illegible] । जिससे वे लोग राजा के साथ [illegible] न कर सकें और [illegible] [illegible] । परन्तु वे सब कार्य भी [illegible] कीजिये । क्योंकि

१. [illegible] । २. [illegible] । ३. [illegible] ।

'षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रस्तथा प्राप्तश्च वार्तया' ।
इत्यात्मनाद्वितीयेन मन्त्रः कार्यो महीभृता' ॥ ३८ ॥

'परय—

'मन्त्रभेदेऽहि ये दोषा भवन्ति पृथिवीपतेः ।
न शक्यास्ते समाधातु' मिति नीतिविदां मतम्' ॥ ३९ ॥

राजा विमृश्योवाच—'प्राप्तस्तावन्मयोत्तमः प्रणिधि.।' मन्त्री ब्रूते–देव ! तदा सङ्ग्रामे² विजयोऽपि प्राप्तः ।'

…षाधान न कर सके)। एतदपि = प्रणिधिप्रेषणम् ॥ षट्कर्णः = त्रिभिः पुरुषैः …नः। वार्तया प्राप्तः = पुरुषान्तरादिद्वारा, पत्रादिद्वारा वा दूरादेव सन्दिष्टः। …चिट्ठी पत्री से, या दूत द्वारा की गई मन्त्रणा एवं गुप्त सन्देश)। इति = …नि हेतोः। आत्मनाद्वितीयेन = आत्मना, मन्त्रिणा च एकाकिना। द्वाभ्यामेवेति …तत् ॥ ३८ ॥

मन्त्रभेदेऽपि ये दोषाः समाधातुमपि न शक्यन्ते इति नीतिविदां मतमित्यर्थः ॥ ३९॥ उत्तम = सर्वगुणोपेतः। श्रेष्ठः। प्राप्तः = प्राप्त एवेत्यर्थः। मया सुगूढ-…रेण पूर्वमेव तत्र प्रणिधिः कश्चन नियुक्त एवेति भावः।

…छः कानों से की हुई संमति (मन्त्र, गुप्त बात चीत), कभी छिपी नहीं रहती …। तथा पत्र आदि से, अथवा दूसरे मनुष्य के द्वारा (दूत आदि से) बातचीत …प्त हुआ मन्त्र भी छिपा नहीं रह सकता है। इसलिए राजा को उचित …कि वह स्वयं–अपने, और दूसरे जिससे मन्त्र करना हो वह, ये दो व्यक्ति एकान्त में बैठकर मन्त्रणा करें ॥ ३८ ॥

देखिये—मन्त्रभेद (गुप्त संमति के प्रगट होने) से राजा के लिए जो …र होते हैं, (आपत्तियाँ आती हैं) उनका समाधान हो ही नहीं सकता है,– …र्ग के जानने वालों (राजनीतिज्ञों) का मत है ॥ ३९ ॥

…तब राजा सोचकर बोला कि—प्रणिधि तो मैंने उत्तम पा ही लिया है। …रैद कर दिया है)। मन्त्री बोला कि—तो फिर आपने युद्ध में विजय भी पा ही

---

१. 'मनरत्न' । २. 'जयोऽपि' ।

अत्रान्तरे प्रतीहारः प्रविश्य प्रणम्योवाच—'देव ! जम्बूद्वीपादागं
द्वारि शुकस्तिष्ठति ।' राजा चक्रवाकमालोकते ।
चक्रवाकेणोक्तम्—'कृताऽऽवासे तावद् गत्वा तिष्ठतु, पश्चादा
द्रष्टव्यः ।' 'यथाऽऽज्ञापयति देवः' इत्यभिधाय 'प्रतीहारः शुकं गृहो
समावासस्थानं गतः । राजाऽऽह—'वि' ह्स्तावत्समुपस्थितः ।' चक्र
ब्रूते—देव ! 'तथापि सहसा विग्रहो न विधिः' । यतः—

'स किंभृत्यः, स किंमन्त्री य आदावेव भूपतिम् ।
युद्धोद्योगं, स्वभृत्यागं निर्दिशत्यविचारितम्' ॥ ४० ॥

कृताऽऽवासे = कृतावासं कल्पिते स्थाने । (अतिथिभवन में) । द्रष्टव्यः =
उपस्थितः । तं = द्रूतं शुकम् । विग्रहः = युद्धम् । तावत् = सर्वतोभावेन ।
सहसा = अकस्मात् । न विधिः = नोचितः ।

किंभृत्य = कुत्सितो भृत्यः । कुत्सित स्वः । किंमन्त्री = कुत्सितोऽमात्यः । आदावेव
सर्वोपायपरित्यागेनाऽऽदावेव । स्वभृत्याग = स्वामिपरित्यागम् , स्वराज्यत्यागं, प
दनम् । निर्दिशति = उपदिशति । अविचारितम् = विचार किये ॥ ४०

[illegible]ता है—यही मर्यादा है । क्योंकि—जिस राजा के पास उत्तम मन्त्रि (अगुण)
है, उस राजा की विजय निश्चित ही है ।
इसी बीच में द्वारपाल ने आकर प्रणाम कर कहा कि हे देव ! जम्बूद्वीप से
—[illegible] एक शुक (तोता) द्वार पर खड़ा है । तब राजा चक्रवाक की तरफ देख

अपरञ्च—

'विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन ।
अनित्यो विजयो यस्माद् दृश्यते युध्यमानयोः' ॥ ४१ ॥

अन्यच्च—

'साम्ना, दानेन, भेदेन, समस्तैरथवा पृथक् ।
साधितुं प्रयतेतारीन्, न युद्धेन कदाचन' ॥ ४२ ॥

[1]अपरञ्च—

'सर्व एव जनः शूरो ह्यनासादितविग्रहः ।
अदृष्टपरसामर्थ्यः सदर्पः को भवेन्न हि' ? ॥ ४३ ॥

अरीन्=शत्रून्, युद्धेन विजेतुं न प्रयतेत, यतः—युध्यमानयोर्द्वयोर्विजयः—अनित्यो लोके प्रायेण दृश्यते ॥ ४१ ॥

साम्ना=सान्त्वेन। एभिस्त्रिभिरुपायैः। पृथक् पृथग्वा, समस्तैर्वा। अरीन्=शत्रून्। साधितुं=वशीकर्तुं—प्रयतेत, परन्तु युद्धेन शत्रून् वशीकर्तुं कदापि न प्रयतेत ॥ ४२ ॥ अनासादितविग्रहः=अप्राप्तयुद्धः, सर्व एव जनः शूरः।

विचारे पहले ही अपने राजा को युद्ध के उद्योग करने की अथवा अपनी भूमि (राज्य) का त्याग करने की (भाग जाने की) सलाह दे ॥ ४० ॥

और भी—अपने शत्रुओं को युद्ध से ही जीतने का कभी भी प्रयत्न न करे। किन्तु जहाँ तक हो सके शान्तिमय उपायों से ही अपने शत्रुओं को दबाने का प्रयत्न करे। क्योंकि युद्ध करने वालों में से किसी का भी विजय निश्चित नहीं रहता है। न जाने, दोनों लड़ने वालों में से कौन सा जीते और कौन सा हारे ॥ ४१ ॥

और भी—साम (शान्ति) से, दान से, और भेद से, (फूट डालकर) इन प्रत्येक उपायों से, अथवा संमिलित इन तीनों उपायों से ही शत्रुओं को वश में करने का प्रयत्न करे, परन्तु युद्ध कभी न करे ॥ ४२ ॥

और भी—युद्ध प्राप्त होने के पहिले तो सभी मनुष्य शूर वीर होते हैं।

---

१ 'दर्प'।

किञ्च—

'न तथोत्थाप्यते ग्रावा प्राणिभिर्दारुणा यथा ।
अल्पोपायान्महासिद्धिरेतन्मन्त्रफलं महत्' ॥ ४४ ॥

अल्पोपायान्महासिद्धिरेतन्मन्त्रफलं महत्' । यतः—

किन्तु विग्रहमुपस्थितं विलोक्य व्यवह्रियताम्' । यतः—

'यथा कालकृतोद्योगात्कृषिः फलवती भवेत् ।
तद्वन्नीतिरियं देव ! चिरात्फलति, न क्षणात्' ॥ ४५ ॥

[illegible] =अ-[illegible], [illegible] । कः—सर्पः= [illegible] ॥४३॥ [illegible] साधनं विना माया [illegible]—न भवेत् ।, [illegible] शक्यते, यथा दारुणा=[illegible] =प्रस्तरः, तथा=अनायासेन नो स्थापयितुं शक्यते, एवमेव अल्पोपायान्महा[illegible] [illegible] मन्त्रस्य फलम् । [illegible] ॥ ४४ ॥

उपस्थितम्=[illegible] । विलोक्य=मत्वा । व्यवह्रियताम्=उपाय [illegible] । देव=हे राजन् । कालकृतोद्योगात्=[illegible] । कृषिः फलवती=[illegible], [illegible] । एवमेव नीतिः=राजनीतिः [illegible] । चिरात्=[illegible], न क्षणात्=न तु [illegible] । [illegible]

[illegible] देखने के पहले तो मौन पुरुष [illegible] (बहुमोल) [illegible] नहीं होता है ॥ ४४ ॥

और भी—जितनी आसानी से मनुष्य काठ की सहायता से, और [illegible] से ही बड़े बड़े पत्थरों को उठा सकता है, वैसा बिना काठ के नहीं उठा [illegible] है, इसी प्रकार [illegible] से भी बहुत बड़ा लाभ [illegible] (उपाय, उपाय) भेद है।

[illegible] (युद्ध) उपस्थित हो ही गया है—ऐसा [illegible] करके [illegible] ही [illegible] हे देव ! जैसे समय पर किये हुए उपाय [illegible] ही [illegible] (मन्त्र) भी कुछ काल के बाद ही [illegible] होती है, [illegible]

अपरं च—

'दूरे[1] भीरुत्वमासन्ने शूरता महतो गुणः ।
विपत्तौ[2] हि महाँल्लोके[3] धीरत्वमधिगच्छति' ॥ ४६ ॥

अन्यच्च—

'प्रत्यूहः सर्वसिद्धीनामुत्तापः प्रथमः किल ।
अतिशीतलमप्यम्भः किं भिनत्ति न 'भूभृतः'[4] ? ॥ ४७ ॥

इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

भये दूरे सति भीरुता, परन्तु भये समासन्ने तु—शूरता = शौर्यमाश्रयणम्, इत्युभयमपि—अयमेव महतः = महात्मनो,—गुणः । लोके हि—यतो विपत्तौ सत्यां महान् धीरत्वम् अधिगच्छति = प्रतिपद्यते, आविष्करोति ॥ ४६ ॥

उत्तापः = अधैर्यम्, कोपः, क्षोभश्च, (घबड़ाना, जल्दी गरम होना)। सर्वसिद्धीनां-प्रथमः=मुख्यः, प्रत्यूहः=विघ्नः । किल = प्रसिद्धमेतत् । अम्भः= जलम्, अतिशीतलमपि, भूभृतः = पर्वतान् । भिनत्त्येव = विदारयत्येव । एवञ्च उपशान्ते एव कार्यं सिद्ध्यति, उत्तापेन तु कार्यहानिर्भवत्यतः क्षोभशून्यो दक्ष स्यादित्यर्थः ॥ ४७ ॥

होती है, न कि क्षणभर में ॥ ४५ ॥

और भी-बड़े लोगों का—विपत्ति दूर हो तो भीरुता रखना, और विपत्ति जब [illegible] में ही आ जावे तो शूरता दिखाना यही गुण है । क्योंकि बड़े लोग विपत्ति में धीरता रखते हैं—यह लोक प्रसिद्ध है ॥ ४६ ॥

और भी—धीरज छोड़ना और घबड़ा जाना—ही सम्पूर्ण सिद्धियों का विघ्न (बाधक) है । देखो—ठंढा भी जल क्या पहाड़ को नहीं फोड़ देता है ? अवश्य ही फोड़ देता है । अतः धीरता और शान्ति से ही बड़े से बड़े कार्य सम्पादन ही हो सकते हैं ॥ ४७ ॥

१. 'महतो दूरभीरुत्वमासन्ने शूरता गुणः' पा० । २. 'विपदो च'। ३. 'धैर्यमनुगच्छति' पा० । ४. 'भूधरम्' ।

विशेषतश्च देव ! महाबलोऽसौ[1] चित्रवर्णो राजा । यतः—

'बलिना सह योद्धव्य' मिति नास्ति निदर्शनम् ।
तद्युद्धं हस्तिना सार्द्धं नराणां मृत्युमावहेत्' ॥ ४८ ॥

अन्यच्च—

'स मूर्खः कालमप्राप्य योऽपकर्त्तरि वर्त्तते ।
कलिर्बलवता सार्धं कीटपक्षोद्गमो यथा' ॥ ४९ ॥

किञ्च—

'कौर्मं सङ्कोचमास्थाय प्रहारमपि मर्षयेत् ।
[2]प्राप्तकाले तु नीतिज्ञ उत्तिष्ठेत्क्रूरसर्पवत्' ॥ ५० ॥

निदर्शनम्=प्रमाणम् । उदाहरणम् । पदचारिणा मनुष्यस्य हस्तिना सह युद्धे मनुष्यस्य मृत्युरेव न संशयः ॥ ४८ ॥ यः कालम्=अप्राप्य-अनवसरे ए[व] अपकर्त्तरि वर्त्तते=तेन सह कलहं करोति, स मूर्खः । यतश्च । सह बलि[ना] [illegible] कीटपक्षोद्गमो यथा=कीटानां पक्षोद्गम इव—स्वविनाशायैव भव[ति] (कीड़ों के पङ्ख तो उनके नष्ट होने के लिये ही होते हैं) ॥ ४९ ॥

* टिप्प.=[illegible] । कौर्मं=कच्छपसम्बन्धिनं, सङ्कोचम्=अङ्गसङ्कोच[illegible]

और हे महाराज, विशेष करके यह बात भी है कि वह चित्रवर्ण राजा ब[ल]वान् है ।

और—बलवान् के साथ लड़ना, यह शास्त्र और व्यवहार में सं[गत] नहीं है । क्योंकि हाथी के साथ युद्ध करने (लड़ने) से तो मनुष्य की [मृत्यु] ही होती है ॥ ४८ ॥

और भी—वह मूर्ख है, जो बिना उचित समय के (बेमौके) ही अपकार करनेवाले शत्रु का सामना करता है । क्योंकि बलवान् शत्रु के [साथ] युद्ध करना कीड़े के पङ्ख निकलने के समान अपनी मृत्यु का ही कारण होता है ॥ ४९ ॥

और—[नीति]ज्ञ मनुष्य को चाहिये कि वह कछुवे के समान दबकर शत्रु

१. 'राजा चित्रवर्णः' । २ 'प्राप्तकालस्तु' ।

'महत्यल्पेऽप्युपायज्ञः सममेव भवेत्क्षमः ।
समुन्मूलयितुं वृक्षांस्तृणानीव नदीरयः' ॥ ५१ ॥

अतो [1]'दूतोऽयं शुकोऽप्याश्वास्य तावद्ध्रियतां [2]यावद्दुर्गं सज्जीक्रियते । यतः—

'एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः ।
शतं शतसहस्राणि, तस्माद् दुर्गं विशिष्यते' ॥ ५२ ॥

कारयाय = आश्रित्य. महान्तमपि परैर्दत्तं सहेत = सहेत । प्राप्तकालस्तु = प्राप्तावसरस्तु । क्रूरसर्प इव सहसा उत्तिष्ठेत् = शत्रौ प्रहरेत् ॥ ५० ॥

उपायज्ञः = उपायकुशलः, महति = बलवति । स्वल्पे = निर्बलेऽपि च, सममेव = तुल्यमेव, क्षमः = समर्थो भवति । उन्मूलयितुं क्षमः = विनाशयितुं शक्तो भवेत् । यथा नदीरयः = नदीवेगः, लघून तृणानीव, महतो वृक्षानपि उत्पाटयत्येव नीतिकुशलस्तु, निर्बलान् प्रबलांश्च शत्रून् नाशयितुं शक्तः इत्यर्थः ॥ ५१ ॥

आश्वास्य = सान्त्ववचनैराश्वास्य । ध्रियताम् = इहावस्थाप्यताम् । एकोऽपि धनुर्धरो दुर्गप्राकारस्थः शतं योधयति,—एवमेव प्राकारस्थाः शतं भटाश्च शतसहस्राणि परसैन्यानरान् योधयन्ति, तस्मात् दुर्गं प्रशस्तम् । (प्राकारः='किले का परकोटा' 'किले की दीवाल') ॥ ५२ ॥

बड़ों को भी सहन करे और अपना समय प्राप्त होने पर क्रूर सर्प के समान खड़ा हो, और शत्रु पर आक्रमण कर दे ॥ ५० ॥

और उपाय का जानने वाला, बड़े और छोटे सभी शत्रुओं के दबाने में बराबर समर्थ होता है । जैसे नदी का वेग छोटे छोटे तिनकों के समान ही बड़े से बड़े वृक्षों को भी उखाड़ने में समर्थ होता ही है ॥ ५१ ॥

इसलिये जब तक हमारा किला लड़ाई के लिये सब सामग्रियों से सुसज्जित हो जाय, तब तक हम दूत को भी आश्वासन दे करके (इधर उधर की मीठी मीठी बातों में बहला कर) ठहरा रखना चाहिये ।

क्योंकि—किले में स्थित एक ही धनुर्धारी योद्धा एक सौ शत्रुओं के साथ लड़ सकता है, और सौ योद्धा लाखों के साथ युद्ध कर सकते हैं । इस लिए लड़ाई के लिये किले का बड़ा महत्त्व है ॥ ५२ ॥

---

१. 'प्रत्यदूतोऽप्याश्वास्य' । २. 'दुर्गः' ।

किञ्च—

'अदुर्गविषयः कस्य नारेः परिभवाऽऽस्पदम् ।
अदुर्गोऽनाश्रयो राजा पोतच्युतमनुष्यवत्' ॥ ५३ ॥
'दुर्गं कुर्यान्महाखातमुच्चप्राकारसंयुतम् ।
सयन्त्रं, सजलं, शैल-सरिन्मरुवनाऽऽश्रयम्' ॥ ५४ ॥
'विस्तीर्णताऽतिवैषम्यं, रसधान्येध्मसंग्रहः ।
प्रवेशश्चापसारश्च सप्तैता दुर्गसम्पदः' ॥ ५५ ॥

अदुर्गविषयः=दुर्गरहित-कोट्टादिरहितो राजा । कस्य अरेः=कस्य शत्रोः परिभवाऽऽस्पदम्=तिरस्कार्यः, तिरस्कृतः, न भवति । अपि तु स सामान्यस्य रिपोः पदं गच्छति । यतो हि—अदुर्गः=दुर्गरहितः अत एव अनाश्रयो राजा पोतच्युतमनुष्यवत्=पतितपोतविप्लववत् । (जहाज से गिरे हुए यात्री की तरह) आश्रयविरहितो ऽत एव शीघ्रनाशो भवेन्निरालम्बो भवति ॥ ५३ ॥

महाखातं=महापरिखोपेतम् । प्राकारः=दुर्गभित्तिः । सयन्त्रं=युद्धोपयोगि-यन्त्रादिसहितम् । सजलं=जलाशययुक्तम् । शैलेति । पर्वत-नदी-मरुस्थल-वनानामन्यतम-दुर्गमभूमिस्थितमित्यर्थः ॥ ५४ ॥

विस्तीर्णता=विशालता । अतिवैषम्यम्=अतिदुर्गमत्वम् । रसधान्ये

और भी—किले से रहित राजा का कौन शत्रु तिरस्कार नहीं करता है ? क्योंकि किले से रहित होने से, जहाज से रहित राजा जहाज से गिरे हुए मनुष्य के समान ही अनाथ होता है, और साधारण शत्रु से भी अपमानित हो जाता है ॥ ५३ ॥

और किले के चारों ओर चौड़ी खाई तथा ऊँची दीवार होनी चाहिए और यन्त्रों (तोप आदि) से और जल से किले को सुसज्जित रखना चाहिए और पहाड़, नदी, मरुस्थल और वन इनमें कुछ दुर्गम स्थान में ही किला बनवाना चाहिए ॥ ५४ ॥

और विस्तार (चौड़ा बड़ा होना,) अतिविषमता (शत्रुओं को दुर्गम दुर्ग जैसा होना) रस, अन्न तथा ईंधन आदि जो उपयोगी वस्तुएँ हैं उनके सं

राजाऽह—'दुर्गाऽनुसन्धाने को नियुज्यताम्?।' चक्रवाको ब्रूते—

'यो यत्र कुशलः कार्ये तं तत्र विनियोजयेत्।
कर्मस्वदृष्टकर्मा यः शास्त्रज्ञोऽपि विमुह्यति' ॥ ५६ ॥

तदाहूयतां सारसः।' तथाऽनुष्ठिते सति समागतं सारसमवलोक्य राजोवाच—'भोः सारस! त्वं सत्वरं दुर्गमनुसन्धेहि।'

सारसः प्रणम्योवाच—देव! दुर्गं तावदिदमेव चिरात्सुनिरूपित-

द्वारः=सत्र जल भाग्य-काल दिशद्वारः। प्रवेशः=निर्गूढनानाप्रवेशमार्गाः। अप-सारः=नानाविधा गूढपलायनमार्गाः। एताः सप्त दुर्गसम्पदः=प्रशस्तदुर्ग-रचने शेषाः ॥ ५५ ॥

दुर्गानुसन्धाने=दुर्गभूमिनिरीक्षणपरीक्षणादौ, दुर्गसञ्जीकरणे च। यः कार्येषु=कर्तव्यकर्मसु। अदृष्टकर्मा=अकृतकर्मा। स खलु शास्त्रज्ञोऽपि=शास्त्रविदपि, मुह्यति=कर्तव्ये कर्मणि व्याकुलो भवति ॥ ५६ ॥

सारस=मत्दुर्गरचनाकर्तारं सारसम्। सुनिरूपित=सुपरीक्षितम्।

...न, और जाने और आने के गुप्त द्वार—ये किले की सात सम्पत्तियाँ हैं। ...—इन सात बातों से किला उत्तम कोटि का कहलाता है ॥ ५५ ॥

तब वह राजा बोला कि—दुर्ग (किले) के निश्चित करने और उसकी ...रक्षा में कौन व्यक्ति नियुक्त किया जाए? तब चकवा बोला कि—

जो जिस कार्य में चतुर हो उसको उसी कार्य में लगाना चाहिए। क्योंकि जिसने काम न किया हो, और न देखा हो, तो वह यदि शास्त्र का जानने वाला भी हो तो भी उस काम में अवश्य गड़बड़ा जाता है ॥ ५६ ॥

इस लिये सारस को बुलवाइये। वैसा किये जाने (सारस को बुलवाने) पर आये हुए उस सारस को देखकर वह राजा बोला—हे सारस! तुम शीघ्र ही दुर्ग की (किला) ठीक करो। सारस प्रणाम कर बोला—महाराज! दुर्ग ...) यह किला तो यह बड़ा सरोवर ही उत्तम है, और यह दुर्ग बहुत काल

---

१. 'वर्तुं'।

मास्ते महत्सरः । किन्त्वेतन्मध्यद्वीपे¹ द्रव्यसंग्रहः क्रियताम्² । यतः—

'धान्यानां सङ्ग्रहो राजन्नुत्तमः सर्वसङ्ग्रहात् ।
निक्षिप्तं हि मुखे रत्नं न कुर्यात्प्राणधारणम्' ॥ ५७ ॥

किञ्च—

'ख्यातः सर्वरसानां हि लवणो रस उत्तमः ।
गृहीयात्तं, विना तेन व्यञ्जनं गोमयायते' ॥ ५८ ॥

राजाऽऽह—'सत्वरं गत्वा सर्वमनुष्ठीयताम्³ ।' पुनः प्रविश्य प्रतीहारो ब्रूते—'देव ! सिंहलद्वीपादागतो मेघवर्णो नाम वायसः सपरिवारो द्वारि ⁴वर्तते । स च देवपादान् द्रष्टुमिच्छति ।' राजाऽऽह-⁴'काक

एतन्मध्यद्वीपे=एतत्सरोवरमध्यवर्तिनि द्वीपे । प्राणधारणम्=[illegible] द्वारा प्राणरक्षणम् ॥ ५७ ॥ ख्यातः=प्रसिद्धः । तं गृहीयात्=तद्गृहीयात्, तेन विना=लवणं विना । व्यञ्जनं=सूपशाकादिकं सर्वमपि । गोमय इव आचरति—गोमयायते=गोमय इवास्वादरहितं भवतीत्यर्थः ॥ ५८ ॥

पहिले ही से हमलोगों का यह [illegible] ठीक हुआ है । किन्तु इस सरोवर के बीच के द्वीप में आवश्यक द्रव्य अन्न आदि वस्तुओं का संग्रह कर लेना चाहिये ।

क्योंकि, हे राजन् ! धान्यों का संग्रह करना सब संग्रहों से उत्तम है । क्योंकि मुँह में रक्खा हुआ भी रत्न (हीरा पन्ना एवं सोना चाँदी) प्राणों को नहीं बचा सकता है ॥ ५७ ॥

और भी—सब रसों में लवण (निमकीन) रस सब रसों में उत्तम कहा है, क्योंकि निमक के बिना सभी भोजन गोबर के समान स्वादरहित हो जाते हैं ॥ ५८ ॥

इस बात को सुन यह राजा बोला—तुम शीघ्र जाकर इन सब आवश्यक वस्तुओं का संग्रह करके दुर्ग को पूर्ण रूप से तैयार करो । फिर द्वारपाल ने आकर कहा—देव ! सिंहलद्वीप से आया हुआ मेघवर्ण नाम का कौआ परिवार सहित द्वार पर उपस्थित है, वह आपके चरणों का दर्शन करना चाहता है । राजा बोला-

१. 'मिलन्च संग्रहः' पाठः । २. 'क्रियतां' । ३. '[illegible]' ४. 'काकः पुनः [illegible], [illegible]' ।

प्राज्ञो, बहुदृश्वा च, तद्भवति स समाश्रयः ।

चक्रवाको ब्रूते—'देव ! अस्त्येवं, किन्तु अस्मद्विपक्षः काकः स्थलचरः। तेनास्मद्विपक्षपक्षे नियुक्तः कथं ¹संगृह्यते ?! तथा चोक्तम्—

'आत्मपक्षं परित्यज्य, परपक्षेषु यो रतः ।
स परैर्हन्यते मूढो, नीलवर्णशृगालवत्' ॥ ५९ ॥

राजोवाच—'कथमेतत् ?' । मन्त्री कथयति—

७. नीलवर्णशृगालकथा ।

[²अस्त्यरण्ये] कश्चिच्छृगालः स्वेच्छया नगरोपान्ते ³भ्राम्यन्नीलीभाण्डे निपतितः । पश्चात्तत उत्थातुमसमर्थः, प्रातरात्मानं मृत-

प्राज्ञः = पण्डितः । बहुदृश्वा = बहुश्रुतश्च ।
विपक्ष = स्थलचरतया जलचराऽस्माद्विपक्षभूतः । रतः = अनुरक्तः । परैः = अन्यैः ॥ ५९ ॥ स्वेच्छया = यदृच्छया । नगरोपान्ते = नगरसमीपे । नीलसन्धानभाण्डे = नीलीरागनिर्माणपात्रे । (नील रंग बनाने के बर्तन में 'नांद में') ।

—निश्चय ही कौवे सब कार्यों के जानने वाले और बहुश्रुत तथा दूरदर्शी एवं चतुर होते हैं । इसलिये इसको अपने आश्रय में रखना उचित ही है । तब चक्रवाक बोला कि—हे देव ! यह तो ठीक है, परन्तु कौवा तो स्थल पर चलने वाला होता है, और हम लोग जलचर हैं, अतः यह तो हमारा विपक्षी है, अतः यह कैसे रखने योग्य हो सकता है ? । अर्थात् इसे यहाँ नहीं रखना चाहिये । जैसा कहा भी है—

अपने पक्ष को छोड़कर जो परपक्ष में प्रीति करता है, वह मूर्ख नीले रङ्ग-रंगे हुए उस शृगाल के समान ही दूसरों से मारा जाता है ॥ ५९ ॥

राजा ने पूछा कि—यह कथा कैसे है ? । मन्त्री बोला कि—

एक वन में कोई सियार रहता था । वह अपनी इच्छा से नगर के पास घूमता-फिरता नील रंग से भरे हुए कुण्डे में गिर पड़ा । फिर जब वह उससे

१. 'सद्ग्राह्यः' । २. क्वचित् पाठः । ३. 'भ्रमन्' ।

घटमन्तरस्थं स्थितः। अथ नीलीभाण्डस्वामिना 'मृत' इति ज्ञात्वा, तस्मात्समुत्थाप्य, दूरे नीत्वाऽसौ परित्यक्तः, तस्मात्पलायितः[1]।

ततोऽसौ वने गत्वा आत्मानं नीलवर्णमवलोक्याऽचिन्तयत्—'अहमिदानीमुत्तमवर्णः, [2]तदहं स्वकीयोत्कर्षं किं न साधयामि'—इत्यालोच्य शृगालानाहूय, तेनोक्तम्—'अहं भगवत्या वनदेवतया स्वहस्तेनाऽरण्यराज्ये सर्वौषधिरसेनाऽभिषिक्तः। [[3]पश्यन्तु मम वर्णम्]। तदद्यारभ्याऽस्मदाज्ञयाऽस्मिन्नरण्ये व्यवहारः कार्यः।'

शृगालाश्च तं विशिष्टवर्णमवलोक्य, साष्टाङ्गपातं प्रणम्योचुः—'यथाऽऽज्ञापयति देवः' इति। अनेन क्रमेण सर्वेष्वरण्यवासिष्वाधिपत्यं

घटः=नीलीभाण्डम्। नीलीभाण्डस्वामिना=रजकेन। (नीलगर ने) असौ=शृगालः। उत्तमवर्णः=श्रेष्ठवर्णः। (नहीं तो नीले रंग का)। वनदेवतया=वनाधिष्ठात्र्या देव्या। अभिषिक्तः=राज्ये स्थापितः। व्यवहारः=व्यापारः (कुल [illegible]) निर्णयः,

में गया। निश्चल होकर, जब वह सुबह होने पर अपने को मरे हुए के समान दिखा कर पड़ गया। तब उस नील रंग के कुण्डे के स्वामी नीलगर ने 'यह तो मर गया है' ऐसा जान कर उस कुण्डे में से उसे निकाल कर दूर ले जा कर वहीं फेंक दिया, तब वह वहाँ से उठकर भाग गया। फिर वह वन में जाकर अपने को नीला रंग हुआ देखकर विचार करने लगा कि—'मैं तो अब उत्तम नील रङ्गवाला बन गया हूँ। अतः अब मैं अपनी प्रतिष्ठा क्यों न बढ़ाऊँ?'। ऐसा विचार कर उसने दूसरे सब शृगालों को बुलाकर कहा, कि—भगवती वनदेवी ने अपने हाथों से वन के राज्य पर सब औषधियों के रस से मेरा अभिषेक कर दिया है। अतः आज से इस वन में मैं ही राजा हूँ और तुम सब लोग अब मेरी आज्ञा से ही सब काम किया करो।

यह सुन कर सब शृगाल उसको विचित्र, विशिष्ट वर्ण से नीले रङ्गवाला देख कर, साष्टाङ्ग प्रणाम करके बोले कि—देव की आज्ञा जैसी हो हम वैसे

१. 'नीलवर्णं [illegible]' इति क्वचित्पाठः। २. 'तदहं [illegible] किमु कथं न [illegible] कर्षं क०'। ३. क्वचिन्न।

हस्य बभूव। ततस्तेन स्वज्ञातिभिरावृतेनाऽऽधिपत्यं साधितम्। ततस्तेन व्याघ्रसिंहादीनुत्तमपरिजनान्प्राप्य, सदसि शृगालानवलोक्य लज्जमानेनाऽवज्ञया[1] स्वज्ञातयः सर्वे दूरीकृताः। ततो विषण्णान् शृगालानवलोक्य केनचिद् वृद्धशृगालेनैतत्प्रतिज्ञातं—'मा विषीदत, यदनेनाऽनीतिज्ञेन वयं [2]मर्मज्ञा [स्वसमीपात्] परिभूतास्तद्यथाऽयं नश्यति तथा विधेयम्। यतोऽमी व्याघ्रादयो वर्णमात्रविप्रलब्धाः शृगालमज्ञात्वा राजानमिमं मन्यन्ते। तद्यथाऽयं [3]परिचीयते तथा कुरुत। [4]तत्र चैवमनुष्ठेयं, यथा वदामि-सर्वे सन्ध्यासमये तत्सन्निधाने महारावमेकदैव

कार्योऽस्यैवं निर्वाहः। आधिपत्यं=स्वामित्वम्। साधितम्=कृतम्, अधिगतम्। उत्तमपरिजनान्=उत्तमा सेवकान्। अनुचरपरिवारवर्गान्। तेन=शृगालेन। सदसि=सभायाम्। अवज्ञया=तिरस्कृत्य।

विषण्णान्=दुःखितान्। स्वज्ञातयः=स्वबान्धवाः शृगालाः। मर्मज्ञाः=रहस्यविदोऽपि। परिभूताः=तिरस्कृताः। वर्णमात्रविप्रलब्धाः=रूपपरिवर्तनमात्रवञ्चिताः। परिचीयते=व्याघ्रादिभिः स्वरूपतो ज्ञायते। महारावं=महान्तं

करेंगे। इसी क्रम से सिंह, व्याघ्र आदि सब वनवासियों पर भी उसका स्वामित्व हो गया।

इस प्रकार अपने बन्धु बान्धव शृगालों से घिरा हुआ वह नील शृगाल अपने को बहुत बड़ा आदमी समझने लगा। और उसने व्याघ्र, सिंहादि उत्तम परिजनों को पाकर सभा में शृगालों को देखकर लज्जा से [ल]ज्जित होकर अपने जाति भाई सब शृगालों को अपमान करके सभा से निकलवा दिया। फिर सभी शृगालों को अत्यन्त दुःखी देख कर किसी एक बूढ़े शृगाल ने प्रतिज्ञा की कि—तुम लोग खेद मत करो। क्योंकि इस अज्ञानी ने नीति और धर्म के जानने वाले हम लोगों को अपने पास से निकाल दिया है, अतः जैसे भी यह नष्ट होगा वैसा ही मैं करूँगा। क्योंकि—ये सिंह व्याघ्र आदि इसके नीले रङ्ग से ही वंचित होकर (भुलावे में आकर) इसको शृगाल नहीं जानकर राजा मान रहे हैं। सो जैसे यह सिंह व्याघ्र आदि से पहचाना जाय ऐसा

१. 'अवज्ञया दूरीकृताः सर्वे स्वज्ञातयः'। २. 'अनभिज्ञेन नीतिविदो मर्मज्ञा-स्ते'। ३. 'परिचितो भवति'। ४. 'तथैवमनुष्ठेयं यत'।

करिष्यथ। ततस्तं शब्दमाकर्ण्य जातिस्वभावात्तेनापि शब्दः कर्तव्यः' यतः—

'यः स्वभावो हि [1]यस्यास्ति स नित्यं दुरतिक्रमः।
श्वा यदि क्रियते राजा, [2]तत्किं नाऽश्नात्युपानहम्' ? ॥६०॥

ततः शब्दादभिज्ञाय स व्याघ्रेण हन्तव्यः। [3]ततस्तथाऽनुष्ठिते सति तद् वृत्तम्॥ तथा चोक्तम्—

'छिद्रं, मर्म च, वीर्यं च, सर्वं वेत्ति निजो रिपुः।
दहत्यन्तर्गतश्चैव शुष्कं वृक्षमिवाऽनलः' ॥ ६१ ॥

शब्दम्। जातिस्वभावात्=शृगालजातिस्वभावात्। दुरतिक्रमः=दुर्लङ्घ्यः। उपानह=चर्मपादत्राणम् ॥ ६० ॥

ततः=शब्दे कृते सति। विज्ञाय=शृगालोऽयमिति ज्ञात्वा।

निजः=स्वजनः। रिपुः=शत्रुः। छिद्रम्=[illegible]। मर्म=रहस्यम्। वीर्यं

ही उपाय करो। और इस विषय में ऐसा करना चाहिये कि तुम सब सं सायङ्काल में उसके पास ही में जाकर एक साथ सब मिल कर चिल्लाओ तो उस शब्द को सुन कर जाति के स्वभाव के कारण वह भी शब्द जरूर करेगा।

इसके अनन्तर उन लोगों शृगालों के एक साथ मिलकर चिल्लाने से वैसा ही हुआ, अर्थात् उस नील शृगाल ने भी अपनी जातियों के सा मिलकर चिल्लाना प्रारम्भ किया।

क्योंकि—जो जिसका स्वभाव है, वह कठिनता से भी बदला नहीं जा सक है। क्योंकि यदि कुत्ता कभी राजा भी कर दिया जाय, तो भी क्या वह जू (जूता चप्पल, चमड़े इत्यादि) नहीं चबा लेता है। जरूर चबावेगा ॥ ६०

फिर शब्द से पहचान कर उसे सिंह, व्याघ्र आदि सब मिल कर म डालेंगे। ऐसा कहा भी है—

जो अपना शत्रु—अपने छिद्र और मर्म और पराक्रम (बल) आदि क

---

1. 'यस्य स्वभावस्तु [illegible]'। 2. 'स किं [illegible] पुरानहम्'। 3. सर्व का कथित [illegible]।

'ततस्तथाऽनुष्ठिते सति तद् वृत्तम्। अतोऽहं ब्रवीमि—'आत्मपक्षं परित्यज्य' इत्यादि ॥ ७ ॥

राजाऽऽह—'यद्येवं, तथापि दृश्यतां तावदयं दूरादागतः। तत्संग्रहे विचारः कार्यः'। चक्रो ब्रूते—'देव! प्रणिधिस्तावत् प्रहितो, दुर्गं च सज्जीकृतम्। अतः शुकोऽप्यानीय प्रधार्यताम्। किन्तु 'योधबलसमन्वितो भूत्वा, दूरादेव तमवलोकय'। यतः—

…ज्ञ वेत्ति=जानाति। अन्तर्गतश्चैव=अन्तःस्थित एव, शुष्कं वृक्षमन्तर्गतोऽनल इव दहति ॥ ६१ ॥

तथाऽनुष्ठिते=सम्भूय सर्वैः शब्दे कृते सति। तद्वृत्तं='जम्बुकोऽय'मिति निश्चित्य व्याघ्रेण हतोऽसौ वराको जम्बुकः। दृश्यतां=दर्शनं तावदस्य दीयताम्। तत्संग्रहविषये पश्चाद्विचारं करिष्याम इत्यर्थः। प्रणिधिः=शत्रुराज्ये प्रधानो दूतचरः। आनीय=राजसभामानीय। प्रधार्यतां=निश्चीयताम्। योधबलैः=योधैर्बलेन सह. दूरादेव=विप्रकृष्टदेशस्थित एव। तं=दूतम्। चाक्षुषः=

जानता है, वह भीतर प्रवेश कर के वैसे ही जला देता है, जैसे सूखे हुए वृक्ष को अग्नि जला देता है ॥ ६१ ॥

तब उन सियारों ने उसके पास आकर चिल्लाना आरम्भ किया। तब वह शृगाल भी चिल्लाने लगा। तब सिंह, व्याघ्र आदि ने उसे शृगाल जानकर मार डाला।

इसलिए मैं कहता हूँ कि—अपने पक्ष को छोड़कर जो दूसरे पक्ष के लोगों से अनुराग करता है, वह उस शृगाल की तरह ही मारा जाता है—इत्यादि। तब राजा बोला कि—यद्यपि यह बात ऐसी ही है, तो भी हमसे मिलना जरूर चाहिये, क्योंकि यह बहुत दूर से आया है। फिर इसको अपने पक्ष में रखने के विषय में विचार करेंगे। तब चकवा कहा कि—हे देव! दूत भेजा जा चुका है, और किला भी तैयार हो गया है। अब उस तोते को भी बुला भेजिये। परन्तु अपने मन्त्री आदि पूरे दलबल के साथ और सेना को सज्जित करके दूर से ही उससे बात चीत करिये।

---

1. अयं पाठोऽत्र नास्ति पुस्तके। 2. 'योधबलैः सह दूरादेव'।

आज्ञापय, हन्मि चैनं दुष्टशुकम्।' सर्वज्ञो राजानं, काकं च सान्त्वयन् ब्रूते—'भद्र! मा मैवं। शृणु तावत्—

'न सा सभा, यत्र न सन्ति वृद्धा,
वृद्धा न ते, ये न वदन्ति धर्मम्।
धर्मः स नो, यत्र न सत्यमस्ति,
सत्यं न [1]तद्यच्छलमभ्युपैति' ॥ ६३ ॥

यतो [2]राजधर्मश्चैषः—
'दूतो म्लेच्छोऽप्यवध्यः स्याद्राजा दूतमुखो यतः।
उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु दूतो वदति नाऽन्यथा' ॥ ६४ ॥

आज्ञापय=आज्ञा देहि। सर्वज्ञः=तन्नामा मयूरस्य मन्त्री। मा मैवं=मा एवं कुरु।
न सेति। यस्यां सभायां वृद्धा न सन्ति, सा सभेति नोच्यते। ये च धर्मं वदन्ति ते 'वृद्धा' न। यत्र च सत्यं नास्ति स धर्मो न। छल=कपटम्। उपैति=तेन सहितो भवति। तत् सत्यं न, यत् छलेनानुविद्धमित्यर्थः ॥ ६३ ॥
म्लेच्छः=अस्पृश्यजातिः, दुर्भाषी, हीनजातिरपि च। किं पुनरवाच्यः। दूतमुखा हि राजानो भवन्ति। अतः—शस्त्रेषूद्यतेषु=उत्पातितेष्वपि शस्त्रेषु, नाऽन्यथा=मिथ्या, नैव वदति ॥ ६४ ॥

न। आज्ञा दें तो मैं इस दुष्ट तोते को मार डालूँ।' तब यह सर्वज्ञ (प्रधान मन्त्री का) राजा और कौए को शान्त करता हुआ बोला कि—हे भद्र! ऐसा मत करो। जो वह सभा—सभा नहीं है, जहाँ वृद्ध लोग नहीं हैं। और जो धर्म न बतावें, वे वृद्ध नहीं हैं। और जिसमें सत्य नहीं है, वह धर्म नहीं है। और वह सत्य नहीं है, जो छल से मिला हुआ है ॥ ६३ ॥

क्योंकि यह राजाओं का धर्म है, कि—दूत म्लेच्छ (कटुभाषी, दुष्ट, नीच) भी हो तो भी वह अवध्य है, क्योंकि दूत राजा का मुख है, अतः शस्त्रों के (नंगे हथियारों के) तानने पर भी दूत कभी झूठ नहीं बोलता है ॥ ६४ ॥

१. 'छलमभ्युपैति' पा०। २. 'यतो धर्मभेदः'।

[1]अन्वय—

'स्वाऽपकर्षं, परोत्कर्षं दूतोक्तैर्मन्यते तु कः ?।
सदैवाऽवध्यभावेन दूतः सर्वं हि जल्पति' ॥ ६५ ॥

ततो राजा, काकश्च स्वां प्रकृतिमापन्नौ। शुकोऽप्युत्थाय चलितः। पश्चाच्चक्रवाकेणाऽऽनीय, प्रबोध्य, कनकाऽलङ्कारादिकं दत्त्वा, सम्प्रेषितः स्वदेशं ययौ। शुकोऽपि [2]विन्ध्याऽचलं गत्वा, स्वस्य राजानं चित्रवर्णं प्रणतवान्।

तं विलोक्य [3]राजोवाच—'शुक ! का वार्त्ता ?, कीदृशोऽसौ देशः' ?। शुको ब्रूते—'देव ! संक्षेपादियं वार्त्ता,—सम्प्रति युद्धोद्योगः

दूतोक्तैः=दूतवाक्यैः। स्वापकर्षं=स्वन्यूनतां। परोत्कर्षं=शत्रोरुत्कर्षं। कः=को विद्वान् मन्यते ?। न कोऽपीत्यर्थः। हि=यतः। सदैव=सर्वदैव [illegible]। अवध्यभावेन=अवध्यतया, निर्भयः सन्। दूतः सर्वं=सर्वं [illegible], (मिथ्या, सत्यं वा) जल्पति=भाषते ॥ ६५ ॥

प्रकृतिमापन्नौ=[illegible] जातौ। प्रबोध्य=समाश्वास्य, सान्त्वयित्वा।

और भी—अपनी नीचता और दूसरे (शत्रु) की उन्नति (बड़ाई) केवल दूत के कहने से ही भला कौन मानेगा ?। क्योंकि सदा अवध्य होने से दूत सभी कुछ कह सकता है ॥ ६५ ॥

यह सुन कर वह राजा और कौआ अपनी प्रकृति पर आगये (शान्त हो गये)। और वह तोता भी क्रोध से उठ कर चल पड़ा, परन्तु चकवे ने उसे बुलाकर तथा समझा बुझाकर, सोने के आभूषण आदि देकर उसे प्रसन्न कर विदा किया। और वह अपने देश को चला गया। फिर तोते ने भी विन्ध्याचल के राजा को जाकर प्रणाम किया। राजा बोला कि—हे शुक ! कहो वहाँ का क्या हाल है ?, वह देश कैसा है ?। तोता बोला कि—हे देव ! संक्षेप में यही बात है, कि अब [illegible]

१. 'विश्व'।   २. 'विन्ध्याचलगतश्चित्रवर्णं प्रणतवान्।'
३. 'तमालोक्य चित्रवर्णो राजाऽपृच्छत्'।

क्रियताम् । देशश्चाऽसौ कर्पूरद्वीपः स्वर्गैकदेशः, राजा च द्वितीयः स्वर्गपतिः कथं वर्णयितुं शक्यते ।' ततः 'सर्वान्सुहृदानाहूय राजा मन्त्रयितुमुपविष्टः । आह च तान्—'सम्प्रति[1] कर्त्तव्ये विग्रहे यथाकर्त्तव्यमुपदेशं मत । विग्रहः पुनरवश्यं कर्त्तव्यः' । तथा चोक्तम्—

> 'असन्तुष्टा द्विजा नष्टाः, सन्तुष्टाश्च महीभुजः ।
> सलज्जा गणिका नष्टा, निर्लज्जाश्च 'कुलाङ्गनाः' ॥ ६६ ॥

दूरदर्शी नाम गृध्रो मन्त्री ब्रूते—'देव ! व्यसनितया विग्रहो न विधिः' । यतः—

> 'मित्राऽमात्यसुहृद्वर्गा यदा स्युर्दृढभक्तयः ।
> शत्रूणां विपरीताश्च, कर्त्तव्यो विग्रहस्तदा' ॥ ६७ ॥

प्रदत्तवान् = समर्थके । विष्टन् = आसन्नम् । मन्त्रणः । तान् = मन्त्रिणः ॥
द्विजाः = ब्राह्मणाः । नष्टाः = विनष्टप्राया भवन्ति । महीभुजः = राजानः ॥ ६६ ॥
व्यसनितया = प्रकृतिविरोधादिविपद्ग्रस्ततया । अर्थात्-स्वराष्ट्रे प्रकृति विरोधे ... सति ॥ मित्रे ते । यदा स्वस्य मित्रादयो दृढमनुरक्ताः, शत्रोश्च मित्रादयो यदा तद्विपरीताः = अननुरक्तास्तदा,

---

उद्योग कीजिये । और यह कर्पूरद्वीप देश तो स्वर्ग का एक टुकड़ा ही है । और यहाँ का राजा भी दूसरा स्वर्ग का स्वामी इन्द्र ही है, उसका शब्दों से वर्णन असम्भव है ।' यह सुन कर सब भेदों (मन्त्रियों) को बुला कर वह राजा उनसे बैठा और बोला—'अब युद्ध में जो करना चाहिये, वह आप लोग उपदेश दीजिये । और युद्ध तो हमें अवश्य ही करना है । जैसा कि कहा है—

असन्तुष्ट ब्राह्मण, सन्तुष्ट राजा और लज्जा वाली वेश्या एवं निर्लज्ज कुलाङ्गना—ये सब नष्ट हो जाते हैं ॥ ६६ ॥

तब दूरदर्शी नामक गृध्र बोला कि—'देव ! अपनी प्रजा और अपने मित्र मन्त्री-आदि जब अपने अनुकूल नहीं हों, तब कदापि युद्ध करना नहीं चाहिए । क्योंकि अपने मित्र, मन्त्री और सुहृद्गण जब अपने में दृढ़भक्त हों,

---

१. 'साम्प्रतम्' पा० । २. 'सम्प्रति कर्त्तव्यं ब्रूत' । ३. 'कुलस्त्रियः' ।

अन्यच—

'भूमिर्मित्रं, हिरण्यं च, विग्रहस्य फलं त्रयम् ।
यद्येतन्निश्चितं भावि, कर्तव्यो विग्रहस्तदा' ॥ ६८ ॥

राजाऽऽह—'सहुलं' तावदवलोकयतु मन्त्री । सर्वैतेषामुपयोगि ज्ञायताम् । एवमाहूयतां मौहूर्तिकः । स 'यात्रार्थं शुभलग्नं निर्णीय ददातु' । मन्त्री ब्रूते—'देव ! तथाऽपि सहसा यात्राकरणमनुचितम्'' यतः—

'विशन्ति सहसा मूढा येऽविचार्य द्विषद्बलम् ।
खड्गधारापरिष्वङ्गं लभन्ते ते सुनिश्चितम्' ॥ ६९ ॥

विग्रहः=युद्ध [illegible] ॥ ६७ ॥ [illegible] ॥ ६८ ॥

[illegible]

[illegible]

और [illegible] (अवश्य) निश्चित हों, तभी राजा को युद्ध करना चाहिये ॥ ६७ ॥

[illegible] पृथ्वी, (सोना), मित्र व सुवर्ण (धन) ये तीन ही युद्ध के फल हैं। [illegible] निश्चित हों, तभी युद्ध करना चाहिये ॥ ६८ ॥

राजा बोला कि—हे मन्त्रिन्! पहले आप अपनी सेना को देखिए, और उसे देखकर [illegible] मन्त्री बोला—तो भी एकाएक युद्ध के लिये यात्रा करना उचित नहीं है।

क्योंकि—जो मूर्ख [illegible] बिना विचारे [illegible]

१. [illegible] । २. [illegible] । ३. [illegible]
४. [illegible] । ५. [illegible] ।

राजाऽऽह—'मन्त्रिन्! ममोत्साहभङ्गं सर्वथा मा कृथाः। विजिगीषुर्यथा परभूमिमाक्रामति' तथा कथय।' [2]गृध्रो ब्रूते—'देव[3]! तत्कथयामि। किन्तु तदनुष्ठितमेव फलप्रदम्'। तथा चोक्तम्—

'किं मन्त्रेणाननुष्ठाने शास्त्रवित्पृथिवीपतेः।
न ह्यौषधपरिज्ञानाद्व्याधेः शान्तिः क्वचिद्भवेत्' ॥ ७० ॥

राजाऽऽदेशश्चाऽनतिक्रमणीयः। —[4]इति यथाश्रुतं [5]निवेदयामि। शृणु—'देव[3]!

करालखड्गधारासु आलिङ्गनपूर्वकं मृत्युं, लभन्ते=प्राप्नुवन्ति ॥ ६९ ॥

सर्वथा=केनाऽपि कारणेन। (बिलकुल ही) । मा कृथाः=मा कार्षीः। (मत करो)। विजिगीषुः=दिग्विजयार्थी। तत्=परभूम्याक्रमणप्रकारमेव। अनुष्ठितमेव=कृतमेव। 'न श्रुतमात्र'मिति शेषः ॥

शास्त्रवित्=शास्त्रवेत्ता। पृथिवीपतेः=राज्ञः। मन्त्रेणाऽपि—अननुष्ठाने=तदनुष्ठानाऽऽचरणे सति—किं=किं फलम्?। न किमपीत्यर्थः। नहि—शास्त्रज्ञानमात्रेण तदुक्तमनाचरन् कश्चित्फली भवति। एवं देवज्ञानेनौषधज्ञानमात्रेण व्याधेः ... शमनं=रोगनाशोऽप्यनुष्ठानमन्तरेणैव न। तदेवाह—नहीति ॥ ७० ॥ राजादेशः= ...शासनम्। अनतिक्रमणीयः=अनुल्लङ्घनीयः। इति=वक्ष्यमाणः। देव=राजन्।

हैं, वे अवश्य ही तलवार की धार पर कट मरते हैं ॥ ६९ ॥

राजा बोला कि—हे मन्त्रिन्, आप किसी प्रकार से भी मेरे उत्साह को भङ्ग ...त करिये। किन्तु जीतने की इच्छा करने वाले राजा जैसे पराई भूमि को जीते ... वही उपदेश करिए। गृध्र बोला—हे देव! कहता हूँ, परन्तु वह करने से ही फल ...गा। ऐसा कहा भी है—

शास्त्र का जानने वाला भी राजा यदि मन्त्र का अनुष्ठान न करे तो उस ...त्र से क्या हो सकता है?। क्योंकि केवल औषधि के जानने ही से रोग और ...न की शांति कभी नहीं होती है। किन्तु उस औषधि के सेवन से ही लाभ ...सकता है ॥ ७० ॥

और राजा की आज्ञा भी उल्लङ्घन नहीं करनी चाहिये, इस लिये जैसा ...ने गुरुजनों से सुना है, वैसा ही कहता हूँ, सुनिए—

1. 'तथोपदिश'। 2. 'गृध्रोऽब्रवीत्'। 3. 'देव' इति क्वाचित्कम्। ...तिः क्वचित्। 5. 'विनिवेदयामि'।

'नद्य-द्रि-वन-दुर्गेषु यत्र यत्र भयं नृप ।
तत्र तत्र च सेनानीर्यायाद्व्यूहीकृतैर्बलैः' ॥ ७१ ॥
'पत्त्यध्यक्षः पुरो यायात्प्रवीरपुरुषाऽन्वितः ।
मध्ये कलत्रं, स्वामी च, कोशः, फल्गु च यद्बलम्' ॥ ७२ ॥
'पार्श्वयोरुभयोरश्वा, अश्वानां पार्श्वतो रथाः ।
रथानां पार्श्वतो नागा, नागानां च पदातयः' ॥ ७३ ॥
'पश्चात्सेनापतिर्यायात्खिन्नानाश्वासयञ्छनैः ।
मन्त्रिभिः सुभटैर्युक्तः प्रतिगृह्य बलं नृपः—॥ ७४ ॥

नद्येति । नद्यद्रिवनदुर्गेषु = नदी-गिरि-वनादिदुर्गमप्रदेशेषु भयस्थानेषु । व्यूहीकृतैः = व्यूहविधिना आकृतिविशेषेण विन्यस्तैर्बलैः=सैन्यैः सह, सेनानीः= पत्त्यध्यक्षः, यायात्=गच्छेत् ॥ ७१ ॥

पत्त्यध्यक्षः=सेनापतिः । पुरः=अग्रे । प्रवीरपुरुषान्वितः= श्रेष्ठयोधैः समन्वितः । कलत्रं = राजान्तःपुरम् । स्वामी=राजा । च = पुनः । फल्गु यद्बलं= निःसारम्, असारसैन्यं, एतद्धि मध्ये [illegible] ॥ ७२ ॥ नागा = गजाः । पदातयः= पादचारिणः । (पैदल सेना) ॥ ७३ ॥ खिन्नान्=श्रान्तान् । शनैः आश्वासयन्=मृदुवाक्यैः सान्त्वयन् ॥ किञ्च—नृपः=राजा, मन्त्रिभिः, सुभटैः

हे राजन्! जहाँ जहाँ नदी, पहाड़, जंगल आदि दुर्ग के स्थान हों, वहाँ सेनापति सेना को पूर्ण रूप से गठन करके और व्यूह बनाकर (दल बाँध कर) चले ॥ ७१ ॥

और वीरजन सब योधों से युक्त होकर सेनापति आगे चले और बीच में स्त्री और राजा (राजा) तथा खजाना और असार (निर्बल) सेना चले ॥ ७२ ॥

और उनके दोनों बगल में घोड़े और घोड़ों के बगल में रथ और रथों के बगल में हाथी, और हाथियों के बगल (दोनों ओर) में पैदल चलें ॥ ७३ ॥

और हे राजन्! फिर सेनापति, मन्त्री और सुभटों को साथ लेकर थके हुए

[illegible]

समेयाद्विषमं नागैर्जलाऽऽढ्यं[1] समहीधरम् ।
सममश्वैर्जलं नौभिः, सर्वत्रैव पदातिभिः ॥ ७५ ॥
हस्तिनां गमनं प्रोक्तं प्रशस्तं जलदाऽऽगमे ।
तदन्यत्र तुरङ्गाणां, पत्तीनां सर्वदैव हि ॥ ७६ ॥
शैलेषु, दुर्गमार्गेषु विधेयं नृपरक्षणम् ।
स्वयोधै रक्षितस्याऽपि शयनं [2]योगनिद्रया ॥ ७७ ॥

दुर्गोपेतश्च युक्तो बलं=सेनां, प्रगृह्य=समादाय, विषमं प्रदेशं, जलाढ्यं प्रदेशं, पर्वतं च (जलाढ्यमार्गं) गजैः, समेयात्=गच्छेत् । समप्रदेशञ्च-अश्वैर्यायात् । जलं=जलप्रदेशं च-नौभिः समेयात् । पत्तिभिश्च सर्वत्र=समे, विषमे वा यायात् ॥ ७५ ॥ एतदेव विशदयति-हस्तिनामिति । तुरङ्गाणाम्=अश्वानाम् । सर्वदैव=सर्वकाले एव ॥ ७६ ॥ शैलादिषु, दुर्गमार्गेषु च राज्ञो रक्षणं सर्वथा विधेयम् स्वपक्षै रक्षितस्याऽपि भूपालस्य च=विजिगीषोः, योगनिद्रया=अप्रगाढनिद्रयैव, शयनं=शयनमुचितम् । 'योगिनिद्रये'ति पाठेऽपि योगिजनवदप्रगाढनिद्रयेत्यर्थः ॥ ७७ ॥

दोनों को आश्वासन देता हुआ सेना को लेकर चले ॥ ७४ ॥

और ऊँचे नीचे, तथा जल से युक्त, और पर्वत वाले बीहड़ प्रदेश में हाथियों से, बराबर समतल प्रदेश में घोड़ों से, पानी में नाव से यात्रा करे। और पैदल सेना से सब जगह यात्रा करनी चाहिये ॥ ७५ ॥

और वर्षा के समय हाथियों से गमन करना अच्छा है, और अन्य समय में घोड़ों से यात्रा उत्तम होती है, और पैदलों का गमन तो सदा ही अच्छा है ॥७६॥

और पर्वतों और कठिन मार्गों में राजा की रक्षा करनी चाहिये। और अपने योद्धाओं से रक्षित होकर भी राजा को योगनिद्रा से ('अप्रगाढ़ निद्रा से' सावधानी से') ही सोना चाहिये ॥ ७७ ॥

१. 'जलाढ्यं महीधरं' मिति पाठ० । २. 'योगिनिद्रया' ।

'नाशयेत्कर्षयेच्छत्रून्' दुर्ग-कण्टक-मर्दनैः[२] ।
परदेशप्रवेशे च कुर्यादाटविकान्पुरः ॥ ७८ ॥
'यत्र राजा तत्र'[३] कोशो, 'विना कोशं न राजता ।
'सुभटेभ्यस्ततो दद्यात्, को हि दातुर्न युध्यते' ॥ ७९ ॥

यतः—
'न नरस्य नरो दासो, दासस्त्वर्थस्य भूपते ! ।
गौरवं, लाघवं वाऽपि धनाऽधननिबन्धनम्' ॥ ८० ॥

शत्रुं नाशयेत्=हन्यादेव । अथवा दुर्गकण्टकमर्दनैः=दुर्ग-भूमि-क[illegible] विनाशनादिभिः, कर्षयेत्=पीडयेत् । निर्बलं कुर्यात् । तत्र कण्टकानि=रि[illegible] शत्रुसेना-सहायादिकाः ॥ 'कटक' इति पाठे-कटकः=सेना । आटविकाः=व[illegible] किरातादयः, वनचराः राजपुरुषाश्च । पुरः=अग्रे, तान् मार्गप्रदर्शकान् कुर्यात् ॥७८॥

[illegible] भवेति । तत्र-कोशः-'धनम्' इति शेषः । राजता=नृपतित्वं । न-'भवती'ति शेषः । ततः=कोशात् । दातुरर्थे को न युध्येत ?, अपि तु सर्वोऽपि युध्ये[illegible] गौरवं=[illegible] लाघवं ॥ ७९ ॥

हे भूपते ! नरो न नरस्य दासः, अपि तु अर्थस्यैव नरो दासः । लाघवं=लघुत्वम्-धनाऽधननिबन्धनम्=धना[illegible] महत्त्वं च लाघवं धननिबन्धनमेव ।

और किले को तोड़कर और मार्ग की [illegible] को नष्ट कर, शत्रुओं का ना[illegible] करे और नाना प्रकार से शत्रु को पीड़ित करे । और शत्रुओं के देश में प्रवेश कर[illegible] के लिये पहले मार्ग शोधन करने वाले जङ्गली भील आदि को आगे करे ॥७८॥

और जहाँ राजा है, वहीं पर कोष-खजाना भी रहना चाहिये क्योंकि खज[illegible] के बिना राजा का राजत्व नहीं हो सकता है । और उस कोष से ही [illegible] सैनिकों को खूब धन देवे, क्योंकि देने वाले के निमित्त कौन युद्ध नहीं करता ? अर्थात्-सब कोई युद्ध करते हैं ॥ ७९ ॥

क्योंकि—हे राजन् ! मनुष्य का—मनुष्य दास नहीं होता है, किन्तु ध[illegible] और मनुष्यों में बड़प्पन और छोटापन भी धन के ही कारण होते हैं ।

१. 'शत्रुं दर्शयेत्' । २. 'कटकमर्दनैः' । ३. 'कोशो' । ४. 'विना कोशं' ।
५. 'सुभटेभ्यः' ।

'अभेदेन च युध्येत, रक्षेच्चैव परस्परम् ।
फल्गु सैन्यं च यत्किञ्चिन्मध्ये व्यूहस्य कारयेत्' ॥ ८१ ॥
'पदातींश्च महीपालः पुरोऽनीकस्य योजयेत् ।
उपरुध्याऽरिमासीत, राष्ट्रं चाऽस्योपपीडयेत्' ॥ ८२ ॥
'स्यन्दनाऽश्वैः समे युध्येदनूपे नौ-द्विपैस्तथा ।
वृक्षगुल्माऽऽवृते चापैरसिचर्माऽऽयुधैः स्थले' ॥ ८३ ॥

…नश्यत्युभेव ॥ ८० ॥ अभेदेन = परस्पर मिलित्वा । अन्योन्य सहत्य । परस्पर …मन्योन्यपरस्पर-रक्षेच्च । फल्गु = असार यत्किञ्चिदपि सैन्य । (जो निर्बल सेना …, उसे) । व्यूहस्य मध्ये कारयेत् = स्थापयेत् ॥ ८१ ॥
…अनीकस्य = सेनायाः । 'अनीकोऽस्त्री रणे सैन्ये' इति मेदिनी । पुरः = …: । अरिं = शत्रुम् । उपरुध्य = पीडयित्वा । ('रोक कर, घेर कर') । …त = तिष्ठेत् । अस्य = रिपोः । राष्ट्रं = राज्यञ्च—उपपीडयेत् = कृष्यादि-…कर्षयेत् ॥ ८२ ॥ स्यन्दनाः = रथाः । अश्वाः = घोटकाः, तैः । समे = …देशे । अनूपे = जलबहुले । 'जलप्रायमनूपं स्या' दित्यमरः । नौद्विपैः = …र्निर्मितैर्वा यथायोग्यम् । वृक्षगुल्माऽऽवृते = तरुलतादिगहने देशे । … = धनुर्भिः । स्थले = समभूमौ, असिचर्मायुधैः = खड्गचर्मरथशस्त्रादिभिः । …—युध = युद्धनिश्चयेत्—कुर्यात् । (युधः स्यच्) ॥ ८३ ॥

…य से और निर्धनता के कारण से ही होती है ॥ ८० ॥
…र सभी सैनिकों को आपुस में मिलकर ही युद्ध करना चाहिये और …के रक्षा भी करनी चाहिये, और जो निर्बल सेना हो उसे व्यूह (दल) …में रखना चाहिये ॥ ८१ ॥
…र युद्ध में राजा पैदल सेना को और सेना के आगे करे । और शत्रु को चारो …घेर कर सेना का पड़ाव डाले और उसके राज्य को भी पीड़ा दे ॥ ८२ ॥
…रथ और घोड़ों से सम देश में युद्ध करे और जलयुक्त देश में नाव …हाथी से युद्ध करे, वृक्ष गुल्म से आच्छादित स्थानों में धनुषों से युद्ध …तलवार और ढाल आदि से स्थल पर युद्ध करे ॥ ८३ ॥

'दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम् ।
भिन्द्याच्चैव तडागानि, प्राकारान्परिखास्तथा' ॥ ८४ ॥
'बलेषु प्रमुखो हस्ती, न तथाऽन्यो महीपते[1] ।
निजैरवयवैरेव मातङ्गोऽष्टायुधः स्मृतः' ॥ ८५ ॥
'बलमश्वश्च सैन्यानां, प्राकारो जङ्गमो[2] यतः ।
तस्मादश्वाधिको राजा विजयी स्थलविग्रहे' ॥ ८६ ॥

अस्य = शत्रोः । यवसान्नोदकं = तृणधान्यान्नजलेन्धनादिकम् । दूषयेत् = विषादिना, उपायान्तरेण च दूषितं कुर्यात् । किञ्च शत्रोर्दुर्गप्राकारपरिखातडागादिकं भिन्द्यात् ॥ ८४ ॥

बलेषु = सैन्येषु मध्ये । प्रमुखः = मुख्यः । मातङ्गः = गजः । निजैः = स्वीयैः । अष्टायुधः = शुण्डादण्ड–पुच्छ—दन्तयुग्म—पादचतुष्टयैः [illegible] अष्टायुधः । स्मृतः = उक्तः ॥ ८५ ॥ सैन्यानां मध्ये अश्वस्य बलत्वं [illegible] जङ्गमः = चलः, प्राकारः = प्राचीरं, यतः = यस्मात् । अतः—अश्वाधिकः = बहुसंख्यकाश्वसमन्वितः, राजा स्थलविग्रहे = स्थलयुद्धे—विजयी भवति ॥ ८६ ॥

और शत्रु की रसद को (अन्न, जल और ईंधन आदि को) बराबर नष्ट करे और सरोवरों को, किले की दीवारों को तथा खाइयों को तोड़ दे ॥८४॥

और हे राजन् ! सेनाओं में हाथी ही मुख्य है, हाथी के समान और कोई दूसरा नहीं है, क्योंकि अपने ही अवयवों से हाथी आठ हथियारों वाला कहा गया है—सूंड, पूंछ, दो दांत, चार पैर—इन आठ अंगों से हाथी युद्ध में [illegible] है ॥ ८५ ॥

और घोड़ा भी सेनाओं का विशेष बल है, क्योंकि वह एक चलने फिरने वाले प्राकार (कोट) के समान ही है। इसलिए बहुत घोड़ों वाला राजा स्थल युद्ध में सदा विजय पाता है ॥ ८६ ॥

१. 'स्मृतो' । २. 'मतः' ।

'तथा चोक्तं—

'युध्यमाना हयाऽऽरूढा देवानामपि दुर्जयाः ।
अपि दूरस्थितास्तेषां 'वैरिणो हस्तवर्त्तिनः' ॥ ८७ ॥
'प्रथमं युद्धकारित्वं, समस्तबलपालनम् ।
दिङ्मार्गाणां विशोधित्वं, पत्तिकर्म प्रचक्षते' ॥ ८८ ॥
'स्वभावशूरमस्त्रज्ञमविरक्तं, जितश्रमम् ।
प्रसिद्धक्षत्रियप्रायं बलं श्रेष्ठतमं विदुः' ॥ ८९ ॥
'यथा प्रभुकृतान्मानाद्युध्यन्ते भुवि मानवाः ।
न तथा बहुभिर्दत्तैर्द्रविणैरपि भूपते' ! ॥ ९० ॥

हयारूढाः=अश्वाऽऽरूढाः । युध्यमानाः=युद्धं कुर्वन्तो, देवानामपि दुर्जयाः, दुरनुभावाः । तेषाम् = अश्वारूढानाम्, दूरस्थिता अपि वैरिणः—हस्तवर्त्तिनः=करस्थिता इव भवन्ति ॥ ८७ ॥
...इव पदातिकर्म निर्दिशति—प्रथममिति । प्रथमम्=अग्रतः । समस्तबलपालनं=...सैन्यरक्षणम् । दिङ्मार्गशोधकत्वञ्च पदातीनां कर्मेत्यर्थः ॥ ८८ ॥
...स्वभावशूरं=प्रकृतिशूरम् । अविरक्तम्=अनुरक्तम् । जितश्रमम्=श्रमसहम् । ...प्रसिद्धक्षत्रियप्रायं = लोकप्रसिद्धक्षत्रियबहुलम् । बलं = सैन्यम् ॥ ८९ ॥
...प्रभुकृतात् = राजकृतात् । मानात्=सत्कारात् । द्रविणैः=धनैरपि ॥ ९० ॥

...सा कहा भी है—घोड़े पर चढ़ कर युद्ध करने वालों को देवता भी जीत नहीं ...। और दूर देश में स्थित शत्रु भी मानो उनके हाथ में ही रहते हैं ॥८७॥
...र सबसे आगे लड़ना, और सब सेना की रक्षा करना और चारों दिशाओं ...को शुद्ध करना—यह पैदल सेना का काम है ॥ ८८ ॥
...स्वभाव से शूर, शस्त्रविद्या के जानने वाले, राजा में अनुराग रखने...न को जीतने (सहने) वाले, ऐसे प्रसिद्ध रणवीर क्षत्रिय जिसमें अधिक ...सेना अतिश्रेष्ठ कहलाती है ॥ ८९ ॥
...हे राजन् ! स्वामी के आदर करने से जगत् में शूर वीर मनुष्य जैसा

...सा स्तुकम्' । २ 'स्थिता येषां' ।

'वरमल्पबलं सारं, न 'कुर्यान्मुण्डमण्डलीम् ।
कुर्यादसारभङ्गो हि सारभङ्गमपि स्फुटम्' ॥ ६१ ॥
'अप्रमादोऽनधिष्ठानं, देयांशाहरणं च यत् ।
कालयापोऽप्रतीकारस्तद्वैराग्यस्य' कारणम्' ॥ ६२ ॥
'अपीडयन् बलं शत्रून् जिगीषुरभिषेणयेत् ।
सुखसाध्यं द्विषां सैन्यं दीर्घयानप्रपीडितम्' ॥ ६३ ॥

'दायादादपरो यस्मान्नास्ति भेदकरो द्विषाम् ।
तस्मादुत्थापयेद्यत्नाद्दायादं तस्य विद्विषः' ॥ ६४ ॥
'सन्धाय युवराजेन, यदि वा मुख्यमन्त्रिणा ।
अन्तःप्रकोपणं कुर्यादभियोक्ता' स्थिरात्मनः' ॥ ६५ ॥

श्रान्तं सैन्य-द्विषां=शत्रुभिः—सुखसाध्यम्=अनायासविनाशनीयं भवति । (ज्यादा दूर चलने से थकी हुई सेना को शत्रु लोग अनायास ही मार गिराते हैं, अतः धीरे २ ही चले) ॥ ६३ ॥

यस्मात्-द्विषां=शत्रूणां, भेदकरः=विघटकः । दायादात्=सपिण्डात् । ('पट्टीदार' 'गोतिया') । अपरः=अन्यः । नास्ति=नैवास्ति । तस्मात्—तस्य=विजेयस्य । विद्विषः=शत्रोः । दायादम्=भागहरम् । यत्नात्=प्रयत्नात् । उत्थापयेत्=तेन सह विरोधयेत् ॥ ६४ ॥

अभियोक्ता=विजीगीषुः—युवराजेन, मुख्यमन्त्रिणा वा सन्धाय=गूढं सन्धिं कृत्वा-स्थिरात्मनः=सुदृढस्य, अभियुज्यमानस्य बलवतः शत्रोः । अन्तःप्रकोपणं कुर्यात् । 'अन्तःप्रकोपणं कार्यमभियोक्तुः स्थिरात्मनः' इति पाठे तु-अभियोक्तुः=युध्यमानस्य, स्थिरात्मनः=दुर्गाद्याश्रयस्य विजेयस्य, अन्तःप्रकोपणं=गृहयुद्धं, विद्रोहं वा कारयेदित्यर्थः । यद्वा—अभियोक्ता=विजिगीषुः, अभियुक्तस्य विजेयस्य स्थिरोऽन्तःप्रकोपणं कुर्यादित्यर्थः ॥ ६५ ॥

पर चढ़ाई करे । क्योंकि ज्यादा दूर मार्ग को तै करके आई हुई शत्रुओं की थकी हुई सेना सुखसाध्य होती है, अर्थात् थकी हुई शत्रुसेना को जीतना सुगम होता है । अतः सेना को जिस प्रकार थकावट न आवे—उतना ही मार्ग चले ॥ ६३ ॥

और शत्रुओं में भेद (विनाश) करने वाला उनके रिस्तेदारों के सिवाय अन्य नहीं होता है । इसलिये यत्न से शत्रु के बन्धु-बान्धवों को भड़काकर उनको अपने पक्ष में करे और उनमें झगड़ा खड़ा करा दे ॥ ६४ ॥

और विजिगीषु को चाहिये कि वह जिस पर चढ़ाई करे उस शत्रु के युवराज या उसके मुख्य मन्त्री से ही मेल करके उस वैरी के घर में ही भीतरी झगड़ा उभाड़ दे ॥ ६५ ॥

१. 'कार्यमभियोक्तुः' पा० । 'अभियोक्ता स्थिरात्मनः' इति तु गौडाः पठन्ति ।

'क्रूराऽमित्रं' रणे चापि भङ्गं दत्त्वा विघातयेत् ।
'अथवा गोग्रहाऽऽकृष्ट्या, तन्मुख्याऽऽश्रितबन्धनात्' ॥९६॥
'स्वराज्यं वासयेद्राजा परदेशाऽपहरणात्'[3] ।
अथवा दान-मानाभ्यां वासितं धनदं हि तत्' ॥ ९७ ॥
अथवा[4] किं बहुनोदितेन—
'आत्मोदयः, परग्लानिर्द्वयं नीतिरितीयती ।
तदूरीकृत्य कृतिभिर्वाचस्पत्यं प्रतायते' ॥ ९८ ॥

क्रूरमित्र रणे इत्यादि । भङ्गः=पराजयः । अथवाऽऽश्रितबन्धनात्=तन्मुख्याश्रितपुत्रादिबन्धनात् । गोग्रहाकृष्ट्या=वत्सबन्धनेन गोर्ग्रहणवत् । यथा वत्से धृते गौः स्वयमेव तमनुयाति, तथा पराश्रितशत्रोः पुत्रादेर्ग्रहणेन शत्रोः स्थिरमानुकूल्यं, तद्बन्धनञ्च सम्पाद्यते । 'क्रूरं मित्र'मिति मुद्रितपाठात् विनयः ॥ ९६ ॥

परदेशाऽपहरणात्=शत्रुदेशमुद्वास्य । (उजाड़कर) । स्वराष्ट्रे=स्वदेशे, वासयेत् । अथवा—शत्रुजनाधिपदानमानादिना वशीकृत्य स्वराष्ट्रे वास कारयेत् । तत्=दान-मानाभ्यां वशीकृत्य वासितं राष्ट्रम् ॥ ९७ ॥

उदितेन=कथितेन । आत्मोदयः=स्ववृद्धिः । परग्लानिः=शत्रुहानिः ।

और क्रूर अमित्र (दुष्ट शत्रु) को जीत करके उसे मरवा डाले । अथवा बछड़े को पकड़ लेने से गौ स्वयं पास में आ जाती है, वैसे ही उसके पुत्र आदि मुख्य सम्बन्धी को बन्धन में करके उसको पकड़े और उसे मारे या अपने अनुकूल कर ले ॥ ९६ ॥

और शत्रुओं के देश से मनुष्य आदिकों को पकड़ लाकर राजा अपने राज्य में बसावे, अथवा शत्रु की प्रजा को दान और मान आदि से अपने अनुकूल करके अपने राज्य में ले जाकर बसावे । क्योंकि दान और सम्मान से बसाया हुआ देश निश्चय करके धन (खजाना) का देने वाला होता है ॥ ९७ ॥

[राजा (या मन्त्री) कैसा—और !] बहुत कहने से क्या है ! ।
अपना उदय (वृद्धि), और शत्रु की हानि दोनों ही तो राजनीति के प्रधान

१. 'क्रूर मित्रं', 'क्रूरमित्र' । २. [illegible] ३. 'परदेशापहरणात्' । ४ क्व-'[illegible]' बहुनोदितेन—आत्मोदय-[illegible] ।

राज्ञा[1] विहस्योक्तं—'सर्वमेतद्विशेषतश्चोच्यते'। किन्तु—

'अन्यदुच्छृङ्खलं सत्त्वमन्यच्छास्त्रनियन्त्रितम्।
सामानाधिकरण्यं हि तेजस्तिमिरयोः कुतः' ? ॥ ९९ ॥

...उत्थाय राजा मौहूर्तिकाऽऽवेदितलग्ने प्रस्थितः।

अथ [2]प्रणिधिप्रहितश्चरो हिरण्यगर्भमागत्य प्रणम्योवाच—'देव !

...=इयमेव। इयती=एतावन्मात्रमेव। नीति.=राजनीतितत्त्वमस्ति। तत्=
...न विस्तरम्। ऊरीकृत्य=स्वीकृत्य। कृतिभिः=विद्वद्भिः। वाचस्पत्य=वाग्मि-
...। प्रताप्यते=प्रख्याप्यते ॥ ९८ ॥
...उच्छृङ्खल=स्वेच्छाप्रवर्तितम्। बलिनः—सत्त्वं=तेजः। अन्यत्=अन्यविषम्।
...नियन्त्रितं=शास्त्रोपदिष्टमार्गानुसारि। निर्बलैरादृतम्—सत्त्व=तेजः।
...। तेजस्तिमिरयोः=विरुद्धयोरन्धकारप्रकाशयोः। सामानाधिकरण्य=
...स्थानं। कुतः=कथं भवेत् ?। नैव तथा सम्भवनीयम्। एवञ्च शास्त्रा-
...लङ्घ्य निर्बलविषयं, नास्माभिरादर्तुं शक्यमित्याशयः ॥ ९९ ॥
...हूर्तिकावेदिते=ज्योतिर्विदोक्ते। प्रणिधिप्रहितः=प्रधानगुप्तचरप्रेषितः।

...है, इन्हें स्वीकार करके ही पण्डित (मन्त्री) जन अपनी पण्डिताई दिखा-
...। अर्थात्—सब राजनीति का विस्तार इन दो सिद्धान्तों पर ही होता है। तब
...है ॥ ९८ ॥

...ने (या राजा) हँस कर बोला कि—विशेष कर यह सब सच ही है—
...अपने मन से कार्य करना और बात है, और शास्त्र से नियत मार्ग
...और काम करना और है। इन दोनों में बड़ा भेद है। क्योंकि प्रकाश
...धकार का एक स्थान में एक साथ रहना कैसे बन सकता है ? ॥ ९९ ॥
...सभा से उठ कर राजा ने ज्योतिषियों के बतलाये हुए शुभलग्न में प्रस्थान
...पर चढ़ाई करदी)। और उधर गुप्तचर बगुले का भेजा हुआ दूत आकर
...गर्भ से बोला कि—हे देव ! राजा चित्रवर्ण आ पहुँचा है। वह इस

...राजा विहस्योक्तं—सर्वं सत्यमेतत्। किन्तु' इति। 'मन्त्रिणा विहस्योक्तं'
...। २. 'प्रहितः प्रणिधिर्हिरण्य' पा०।

समागतप्रायो राजा चित्रवर्णः । सम्प्रति मलयपर्वताऽधित्यकायां समावासितकटको वर्तते । दुर्गशोधनं प्रतिक्षणमनुसन्धातव्यम् । यतोऽसौ गृध्रो महामन्त्री । किं च केनचित्सह तस्य विश्वासकथाप्रसङ्गेनैतदिङ्गितमवगतं मया, यत्—'अनेन कोऽप्यस्मद्दुर्गे प्रागेव नियुक्तः ।' चक्रवाको ब्रूते—'देव ! काक एवाऽसौ सम्भवति ।'

राजाऽऽह—'न कदाचिदेतत् । यद्येवं तदा कथं तेन शुकस्याऽभिभवोद्योग कृतः ? । अपरञ्च शुकस्याऽऽगमनात्तस्य विग्रहोत्साहः । स च चिरादत्राऽऽस्ते ।' मन्त्री [2]ब्रूते—'तथाऽप्यागन्तुकः शङ्कनीयः ।' राजाऽऽह—'आगन्तुका अपि कदाचिदुपकारका दृश्यन्ते' । शृणु—

चरः = गुप्तचरः । गुप्तचरः । मलयपर्वताधित्यकायाम् = दक्षिणसमुद्रतीरस्थितमलय पर्वतस्योर्ध्वदेशे (मलयाचल के पास) । समावासितकटकः = स्थापितशिविरः । (पड़ाव डाल रखा है) । महामन्त्री = महान् षाड्गुण्यज्ञः । इङ्गितम् = मनोभावः । नियुक्तः = गुप्तचरो नियुक्तः कृतः । असौ = शत्रुप्रतिनिधिः । विग्रहोत्साहः = युद्धोत्साहः । चिरात् = बहुकालपूर्वमेव । एतस्य नासौ शत्रुपक्षीयः । च = शङ्कनीयः ।

समय मलयगिरि (मलयाचल) की ऊँची भूमि में अपने कटक (सेना) को ठहरा हुआ है । इसलिये हर क्षण अपने किले की निगरानी करते रहें । क्योंकि उस राजा का मन्त्री गृध्र बड़ा भारी राजनीतिज्ञ है, यह कोई चाल चलकर यहाँ उपद्रव करेगा । और किसी के साथ उसकी गुप्त बात चीत के प्रसङ्ग में यही उसका इरादा मैंने जाना है कि,—उसने कोई गुप्त दूत हमारे किले में नियुक्त भी कर दिया है । चक्रवाक बोला कि—देव ! वह गुप्त दूत यह कौआ ही होगा । राजा बोला कि—यह कभी नहीं हो सकता है । जो ऐसा होता तो इसने तोते को मारने का उद्योग किया था । और तोते के आने के समय से ही उस राजा का युद्ध का उत्साह हुआ है, और यह कौआ तो बहुत काल से ही यहाँ ठहरा हुआ है । मन्त्री बोला—तो भी नये आये हुए से शंका भी होती है । राजा बोला कि—नये आये हुए भी कभी उपकारी होते हैं । सुनो—

१. उ० क० च० पु० । २. 'मन्त्री वदति' ।

'परोऽपि हितवान्बन्धुर्बन्धुरप्यहितः परः ।
अहितो देहजो व्याधिर्हितमारण्यमौषधम्' ॥ १०० ॥

अपरञ्च—

'आसीद्वीरवरो नाम शूद्रकस्य महीभृतः ।
सेवकः, स्वल्पकालेन स ददौ सुतमात्मनः' ॥ १०१ ॥

चक्रवाकः पृच्छति—'कथमेतत् ?।' राजा कथयति—

८. शूद्रक-वीरवर-कथा ।

अहं पुरा शूद्रकस्य राज्ञः क्रीडासरसि कर्पूरकेलिनाम्नो राजहंसस्य
। कर्पूरमञ्जर्या सहाऽनुरागवानभवम् । तत्र वीरवरो नाम [महान्[1]]
ुनः कुतश्चिद्देशादागत्य, राजद्वारमुपगम्य, प्रतीहारमुवाच—'अहं

ःः=दूरतरोऽपि । हितवान्=हितकारकश्चेत्–बन्धुर्भवति । बन्धुरपि अहितश्चेत्परः
वति । देहजोऽपि—अहितः = शत्रुः । आरण्यं = वने भवम् ॥ १०० ॥
ल्पकालेन = स्वल्पकालमात्रपरिचयेनैव । आत्मनः = स्वस्य सुत=पुत्रं,
ाय बलिं ददौ ॥ १०१ ॥ अनुरागवान्=तस्यामनुरक्तः । प्रतीहारं =

ो—यदि शत्रु भी हित करने वाला हो तो वह भी बन्धु ही है, और अहित
ला यदि बन्धु भी है, तो भी वह शत्रु ही है । क्योंकि देह से उत्पन्न
रोग) भी अहित (शत्रुता) करता है, और वन की औषधि भी हित
ी होती है ॥ १०० ॥

 भी सुनिए—शूद्रक राजा का वीरवर नाम का एक सेवक था । उसने
 थोड़े से ही समय में भी अपने स्वामी के लिए अपने पुत्र को भी बलि
ा ॥ १०१ ॥

 ने पूछा कि—यह कथा कैसे है ? । राजा कहने लगा—
मय की बात है—मैं शूद्रक राजा के क्रीड़ा के सरोवर में रहने वाले
ामक राजहंस की पुत्री कर्पूरमञ्जरी के ऊपर आसक्त (अनुरागी)
। वहाँ वीरवर नाम का महान् राजपुत्र किसी देश से आकर राजद्वार

[1] ाधिकः पाठः ।

'तावद्दर्शनार्थी राजपुत्रः, मा राजदर्शनं कारय।' ततस्तेनाऽसौ राजदर्शनं कारितो ब्रूते—'देव! यदि मया सेवकेन प्रयोजनमस्ति, तदाऽस्मद्वर्तनं क्रियताम्'।

शूद्रक उवाच—'किं ते वर्तनम्?।' वीरवरो[1] ब्रूते—'प्रत्यहं सुवर्णपञ्चशतानि देहि'। राजाऽऽह—'का ते सामग्री?।' वीरवरो ब्रूते—'द्वौ बाहू तृतीयश्च खड्गः।' राजाऽऽह—'नैतच्छक्यम्।' तच्छ्रुत्वा वीरवरः प्रणम्य चलितः[2]। अथ मन्त्रिभिरुक्तम्—'देव! दिनचतुष्टयस्य वर्तनं दत्त्वा ज्ञायतामस्य स्वरूपं, किमुपयुक्तोऽयमेतावद् वर्तनं गृह्णाति, अनुपयुक्तो वेति?।' ततो मन्त्रिवचनादाहूय[3] वीरवराय ताम्बूलं दत्त्वा पञ्चशतानि सुवर्णानि दत्तानि।

द्वारपालम्। वर्तनार्थी=जीविकार्थी। (नौकरी के लिए उत्सुक)। राजपुत्रः= क्षत्रियपुत्रः। वर्तनं=वेतन, जीविकाम्। सामग्री=साधनम्। एतद्=एतावद् वेतनम्। उपयुक्तः=योग्यः। स्वरूपम्=तत्त्वम्। [दम]।

पर उत्कण्ठित होकर द्वारपाल से बोला—मैं जीविका (नौकरी) की इच्छा करने वाला एक राजपूत हूँ। अतः मुझे राजा का दर्शन कराओ। फिर जब उसने उसको राजा का दर्शन कराया, तब वह राजपुत्र राजा से बोला कि—हे देव! जो मेरे ऐसे सेवक का आपको काम हो, तो मुझे नौकरी दीजिये। शूद्रक बोला कि—तुम क्या वेतन लोगे?' वीरवर बोला—प्रतिदिन पाँच सौ मोहर (अशर्फियाँ) मुझे दीजिये। राजा बोला—तुम्हारी क्या सामग्री है?। वीरवर बोला—'दो भुजा और तीसरी तलवार'। राजा बोला—इतना वेतन तो नहीं दिया जा सकता है। यह सुनकर वह वीरवर चल पड़ा। तब मन्त्रियों ने कहा—हे देव! चार दिन का वेतन देकर इसका स्वरूप जानना चाहिये, कि यह इतना वेतन जो लेता है, इस के योग्य यह है या नहीं।' तब राजा ने मन्त्रियों के कहने से उसे बुलाकर उस वीरवर को पान देकर पाँच सौ अशर्फियाँ दे दीं और उसका [illegible]

१. [illegible]। २. [illegible]। ३. [illegible]। ४. 'ताम्बूलं दत्त्वा [illegible]'।

[[1]यतः—

'ताम्बूलं कटु, तिक्तमुष्णमधुरं, क्षारं, कषायान्वितं,
वातघ्नं, कफनाशनं, कृमिहरं, दौर्गन्ध्यदोषापहम् ।
वक्त्रस्याऽऽभरणं, मलापहरणं, कामाग्निसन्दीपनं,
ताम्बूलस्य सखे ! त्रयोदश गुणाः स्वर्गेऽप्यमी दुर्लभाः'] ॥

वर्तनाविनियोगश्च[2] राज्ञा सुनिभृतं निरूपितः । तदर्धं वीरवरेण देवेभ्यो, ब्राह्मणेभ्यो दत्तम् । स्थितस्याऽर्द्धं दुःखितेभ्यः, तदवशिष्टं भोज्यविलासव्ययेन । एतत्सर्वं नित्यकृत्यं कृत्वा, राजद्वारमहर्निशं खड्गपाणिः सेवते । यदा च राजा स्वयं समादिशति तदा स्वगृहमपि[3] याति ।

अथैकदा कृष्णचतुर्दश्यां रात्रौ स राजा सकरुणक्रन्दनध्वनिं शुश्राव[4] । [5]तच्छ्रुत्वा राजा ब्रूते—'कः कोऽत्र द्वारि 'तिष्ठति' ?' । तदा तेनोक्तं—'देव ! अहं वीरवरः ।' राजोवाच—'क्रन्दनाऽनुसरणं क्रियताम् ।' वीरवरोऽपि—'यथाऽऽज्ञापयति देवः' इत्युक्त्वा चलितः ।

वर्तनविनियोगः = गृहीतवेतनस्य व्ययप्रकारः । सुनिभृतं = गुप्तरूपेण प्रच्छन्नम् । तदर्धं = वेतनार्धम् । खड्गपाणिः = करधृतकरवालः । समादिशति = आज्ञापयति ।

द्वार के देखने के लिए गुप्तचरों को नियुक्त कर दिया । तब उसने उस वेतन में से आधा तो देवता और ब्राह्मणों को अर्पण कर दिया । बचे हुए का आधा दीन दुखियों को दे दिया । और शेष धन अपने भोजन और विलास की आवश्यक वस्तुओं में खर्च कर दिया । और अपना नित्य का कृत्य कर, रात दिन हाथ में खड्ग लिये वह राजद्वार पर बैठा रहता था । जब राजा स्वयं उसे घर जाने की आज्ञा देता था तभी वह अपने घर जाता था ।

एक समय कृष्णपक्ष की चौदस की अन्धेरी रात में राजा ने बड़े जोर से रोने का शब्द सुना । तब वह राजा शूद्रक बोला—द्वार पर कौन है ? । वह वीरवर बोला—हे देव ! मैं वीरवर उपस्थित हूँ । राजा बोला—इस रोने के शब्द का पता लगाओ । वीरवर बोला—देव ! जो आज्ञा, मैं जाता हूँ । यह कह कर वह चला

१. क्वाचित्कः पाठः । २. 'तद्विनियोगश्च' । ३. 'स्वगृहमेव' । ४. 'सकरुणं क्रन्दनध्वनिं स राजा शुश्राव' । ५. 'शूद्रक उवाच' । ६. 'तिष्ठती'ति क्वचित् ।

राजा च चिन्तितम्¹—'अयमेकाकी राजपुत्रो मया सूचीभेद्ये तमसि² प्रहितः। नैतदुचितम्। तदहमपि गत्वा 'किमेत'दिति निरूपयामि³।'

ततो राजाऽपि खड्गमादाय तदनुसरणक्रमेण नगराद्बहिर्निर्जगाम। ततो गत्वा (च) वीरवरेण रुदती, रूपयौवनसम्पन्ना, सर्वालङ्कारभूषिता काचित्स्त्री दृष्टा, पृष्टा च—'का त्वम्?, किमर्थं रोदिषि'? इति। स्त्रियोक्तम्—'अहमेतस्य शूद्रकस्य राजलक्ष्मीः, चिरादेतस्य भुजच्छायायां महता सुखेन विश्रान्ता, इदानीमन्यत्र⁴ गमिष्यामि।' वीरवरो ब्रूते—'यत्राऽपायः सम्भवति, तत्रोपायोऽप्यस्ति, तत्कथं⁵ स्यात्पुनरिहाऽऽवासो भवत्याः?।'

लक्ष्मीरुवाच—'यदि त्वमात्मनः ⁶पुत्रं शक्तिधरं द्वात्रिंशल्लक्षणोपेतं

कथयति। क्रन्दनं=रोदनम्। सूचीभेद्ये=अतिघने घोरान्धकारे। प्रहितः=प्रेषितः। तदनुसरणक्रमेण=तदनुगमनेनानुसरन्। अपायः=विपत्तिः। द्वात्रिंशल्लक्षणोपेतं=

कहा। पुनः राजा ने सोचा—यह ठीक नहीं कि अकेले इस राजपुत्र को मैं इस सूची-भेद्य घोर महा अन्धकार में भेजूँ। अतः मैं भी पीछे पीछे जाकर देखता हूँ कि यह क्या बात है?। ऐसा विचार करके राजा भी खड्ग लेकर उसके पीछे-पीछे नगर के बाहर निकला। वीरवर ने जाकर, रूप और यौवन से परिपूर्ण, सारे आभूषणों से शोभित, किसी एक रोती हुई स्त्री को देखा और पूछा—तू कौन है?, क्यों रोती है?। स्त्री बोली—मैं इस शूद्रक की राजलक्ष्मी हूँ, बहुत समय से इसकी भुजाओं की छाया में मैं बड़े सुख से रही, अब मैं दूसरी जगह जाऊँगी। क्योंकि देवी दुर्गा (या कालीजी) के अपराध से तीसरे दिन यह राजा मर जाएगा। तब वीरवर बोला कि—जहाँ अपाय (हानि) होता है, वहीं उसका उपाय भी रहता है। तो तुम्हारा पुनः यहाँ रहना कैसे हो सकता है?। लक्ष्मी बोली—जो तू सामुद्रिक शास्त्र कथित लक्षणों (चिह्नों) से युक्त अपने पुत्र शक्तिधर को भगवती

१. 'राजा [illegible]—नैतदुचितम्। यदयमेकाकी'। २. 'प्रेषितः'। ३. 'पश्यामि [illegible]—किमेतदिति'। ४. 'देव्या अपराधेन तृतीयेऽह्नि राजा पञ्चत्वं [illegible]'। (दैवतः=दुर्गायाः, [illegible])। [illegible]। इदानीं [illegible]'। ५. '[illegible] पुनरिह [illegible]?'। ६. '[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।'

भगवत्याः सर्वमङ्गलाया उपहारीकरोषि, तदाऽहं पुनरत्र सुचिरं निवसामि'। इत्युक्त्वाऽदृश्याऽभवत् ।

ततो वीरवरेण स्वगृहं गत्वा, निद्रायमाणा[1] स्ववधूः प्रबोधिता, पुत्रश्च । तौ निद्रां परित्यज्योत्थायोपविष्टौ । वीरवरस्तत्सर्वं लक्ष्मीवचनमुक्तवान् । तच्छ्रुत्वा साऽऽनन्दः[2] शक्तिधरो ब्रूते–'धन्योऽहमेवंभूतः, स्वामिराज्यरक्षार्थं यस्योपयोगः । तात ! [3]तत्कोऽधुना विलम्बस्य हेतुः ? । एवंविधे कर्मणि देहस्य विनियोगः श्लाघ्यः । यतः—

महापुरुषलक्षणशालिनः । तानि च—नेत्रान्तभाग–करतल–पादतल–तालोष्ठ–शिखा–नखानि सप्त रक्तानि, वक्षः—स्कन्ध–नख–नासिका–कटि–मुखानि षड् उन्नतानि, मस्तक–ललाटो–रः स्थलानि त्रीणि विस्तृतानि, ग्रीवा–जङ्घा–लिङ्गानि त्रीणि ह्रस्वानि, नाभि–कण्ठस्वर–स्वभावाः त्रयो गंभीराः, भुज–नासिका–नेत्र–जानु–करेणूनि पञ्चदीर्घाणि, त्वक् केश–लोम–दन्ता–ङ्गुलिसन्धयः पञ्च सूक्ष्मा भवन्तीति महापुरुषाणां द्वात्रिंशच्चिह्नानि सामुद्रिकशास्त्रोक्तानि बोध्यानि । सर्वमङ्गलायाः= पार्वत्याः, भीमदा इत्यपि वा । निद्रालसा = निद्राऽलसलोचना । स्ववधूः = स्वप्रिया । प्रबोधिता = उत्थापिता । पुत्रश्च उत्थापितः । उपयोगः = विनियोगः ।

सर्वमङ्गला (पार्वती) को भेंट करे, तो मैं फिर यहाँ चिरकाल तक रह सकती । यह कह कर यह राजलक्ष्मी तो अन्तर्धान हो गई ।

अनन्तर वीरवर ने अपने घर आ कर सोती हुई अपनी स्त्री को और अपने [पुत्र] को जगाया । वे दोनों भी नींद से जागकर उठ बैठे । तब वीरवर ने उनसे लक्ष्मी के उन सब वचनों को कहा । यह सुन कर शक्तिधर आनन्दित होकर बोला —हे पिताः ! मैं धन्य हूँ, स्वामी के राज्य की रक्षा के लिये मेरी मृत्यु भी [उपयोगी हो सकती है, तो] [फिर देर का] क्या काम है ? । इस प्रकार के कार्य में देह का [अर्पण करना] सर्वोत्तम कार्य है ।

१. 'निद्राऽलसा' । २ 'शक्तिधरः सानन्दं ब्रूते' । ३ 'तात ! कोऽधुना [विलम्बः । कि]मत्र विलम्ब[स्य हेतु]रः । ... यदस्मि शान्देर्षनिये' ।

'धनानि, जीवितञ्चैव परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत् ।
तन्निमित्तो वरं त्यागो, विनाशे नियते सति' ॥ १०२ ॥

शक्तिधरमातोवाच[1]—'यद्येतन्न कर्तव्यं, तत्केनाऽन्येन कर्मणा गृहीतस्य महावर्तनस्य निष्क्रयो भविष्यति ।' इत्यालोच्य सर्वे सर्वमङ्गलायाः [2]स्थानं गताः । तत्र सर्वमङ्गलां सम्पूज्य, वीरवरो ब्रूते—'देवि ! प्रसीद, विजयतां शूद्रको महाराजः, गृह्यतामयमुपहारः ।'—इत्युक्त्वा पुत्रस्य शिरश्चिच्छेद । ततो वीरवरश्चिन्तयामास—'गृहीतराजवर्तनस्य निस्तारः कृतः । अधुना निष्पुत्रस्य मे जीवनेनाऽलम्'[3] । इत्यालोच्याऽऽत्मनः शिरश्चिच्छेद ।

ततः स्त्रियाऽपि स्वामि-पुत्रशोकाऽऽर्तया तदनुष्ठितम् । तत्सर्वं [4]श्रु

निस्तारः = आनृण्यम् । प्रसीद = प्रसन्ना भव । उपहारः = बलिः । गृहीत[illegible] [illegible] । तदनुष्ठितम् = [illegible]

क्योंकि—बुद्धिमान् पुरुष को उचित है, कि अपने धन और जीवन को पराये उपकार के लिये त्याग करे । क्योंकि इन सब का अवश्य नाश होनेवाला ही है, उनका दूसरों के निमित्त त्याग करना ही श्रेष्ठ है ॥ १०२ ॥

और शक्तिधर की माता भी बोली कि—जो यह कार्य नहीं किया जायेगा तो फिर कौन से दूसरे कर्म से हमलोग राजा से बहुत सारे वेतन लेने का बदला चुकावेंगे ! । यह विचार कर के सब सर्वमङ्गला (काली, दुर्गा) के स्थान पर गये । वहाँ सर्वमङ्गला (काली) की अच्छी प्रकार पूजा करके वीरवर बोला—हे देवि ! प्रसन्न होओ । महाराजा शूद्रक की सदा विजय हो । और यह उपहार ग्रहण करो । यह कह कर उसने अपने पुत्र का सिर काट डाला । फिर वीरवर ने सोचा कि—राजा की नौकरी में जो धन मैंने लिया था, उसका बदला तो मैंने चुका दिया, अब मेरा पुत्रहीन का संसार में जीना व्यर्थ ही है—यह सोच कर उसने अपना सिर भी काट डाला । फिर स्त्री ने भी स्वामी और पुत्र के शोक से दुःखी होकर भी वैसा ही किया । (अपना सिर काटकर अपने को मार डाला) । यह स

१. 'क'-[illegible] [illegible]' । २ '[illegible]' । ३ '[illegible]' । ४ '[illegible]'

राजा साऽऽश्चर्यं चिन्तयामास—

''जायन्ते च, म्रियन्ते च मद्विधाः क्षुद्रजन्तवः[1] ।
अनेन सदृशो लोके न भूतो, न भविष्यति' ॥ १०३ ॥

तदेतत्परित्यक्तेन मम राज्येनाऽपि किं प्रयोजनम्[2] ।' [3]ततः शूद्र-केणापि स्वशिरश्छेत्तुं खड्गः समुत्थापितः । अथ भगवत्या सर्वमङ्गलया [4]प्रत्यक्षभूतया राजा [5]हस्ते धृत, उक्तश्च—'पुत्र ! प्रसन्नाऽस्मि ते, [6]एतावता साहसेनाऽलम् । जीवनान्तेऽपि तव राजभङ्गो नास्ति ।'

राजा [7]च साष्टाङ्गपातं प्रणम्योवाच—'देवि ! [8]किं मे राज्येन ?,

मद्विधाः=मादृशाः ॥ १०३ ॥ एतत्परित्यक्तेन = वीरवरशून्येन । उत्थापितः =

कर राजा आश्चर्य से चकित होकर विचार करने लगा—

मेरे समान क्षुद्र जीव तो बहुत से जन्मते हैं और मरते हैं । परन्तु इस वीरवर के समान महासत्त्व मनुष्य संसार में न तो कोई हुआ है और न आगे होगा ही है ॥ १०३ ॥

अतः इस वीरवर के बिना मेरे को इस राज्य से भी क्या प्रयोजन है ? । विचार कर उस शूद्रक राजा ने भी अपना सिर काटने के लिए खड्ग उठाया । तब भगवती सर्वमङ्गला (काली) ने प्रत्यक्ष होकर उस राजा का हाथ पकड़ कर कहा—हे पुत्र ! मैं तुमसे प्रसन्न हूँ । तू ऐसा साहस मत कर । और जीवन के उपरान्त भी तेरा यह राज्य भङ्ग नहीं होगा । तब वह राजा साष्टाङ्ग प्रणाम कर बोला—हे देवि ! मुझे राज्य से क्या प्रयोजन है, और इस जीवन से

१ 'म्रियन्ते च' । २ 'राज्येनाऽप्यप्रयोजनं' । ३ 'ततः स्वशिरश्छेत्तुं ... खड्गः शूद्रकेणापि' । ४. क्वचिदयं पाठः । ५. 'करे धृतः । उक्तश्च' । एतावता साहसेन । इदानीं ते राजभङ्गो (राज्यभङ्गो) नास्ति' । ७. 'राजा प्रणम्योवाच' । ८. 'न मे राज्येन, जीवितेन, श्रिया वा प्रयोजनमस्ति । ... अनुकम्पा क्रियते तदा' ।

जीवितेन वा किं प्रयोजनम्?। यद्यहमनुकम्पनीयस्तदा ममाऽऽयुःशेषेणाप्ययं महाराजपुत्रो वीरवरो जीवतु। अन्यथाऽहं यथाप्राप्तां गतिं गच्छामि।' भगवत्युवाच—'पुत्र! अनेन ते सत्त्वोत्कर्षेण, भृत्यवात्सल्येन च सर्वथा संतुष्टाऽस्मि। गच्छ विजयी भव। अयमपि सपरिवारो राजपुत्रो जीवतु।' इत्युक्त्वा देव्यदृश्याऽभवत्। ततो वीरवरः सपुत्रदारः प्रतिजीवनः स्वगृहं गतः। राजाऽपि तैरलक्षितः सत्वरमन्तःपुरं प्रविष्टः।

अथ प्रभाते वीरवरो द्वारस्थः पुनर्भूपालेन पृष्टः सन्नाह—'देव! सा रुदती मामवलोक्याऽदृश्याऽभवत्। न काऽप्यन्या वार्ता विद्यते।' तद्वचनमाकर्ण्य सन्तुष्टो राजा स आश्चर्यं चिन्तयामास—'कथमयं

उत्थापितः। (उठाया)। भिया = [illegible]। अनुकम्पनीयः = [illegible]। महाराजपुत्रः = [illegible]। यथाप्राप्तां = [illegible]। गतिं = मृत्युम्। [illegible] = [illegible]। अन्तःपुरम् = [illegible]। [illegible]। [illegible] = [illegible]। [illegible] = [illegible]।

[illegible] की क्या प्रयोजन है?। [illegible] आपकी कृपा है, तो [illegible] आयु से [illegible] यह वीरवर [illegible] जीवित हो जाय, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] में, और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हूँ। [illegible] [illegible] दर्शन [illegible] [illegible] [illegible] उठेगा। [illegible] [illegible] होगा। और [illegible] पर [illegible] गया। [illegible] हो गये। [illegible] [illegible] से [illegible] गया।

[illegible]

[illegible]

1. [illegible] 2. [illegible] 3. [illegible] 4. [illegible] 5. [illegible] 6. [illegible] 7. [illegible]

श्लाघ्यो महासत्त्वः' । यतः—

'प्रियं ब्रूयादकृपणः, शूरः स्यादविकत्थनः ।
'दाता नाऽपात्रवर्षी च, प्रगल्भः स्यादनिष्ठुरः' ॥ १०४ ॥

एतन्महापुरुषलक्षणमेतस्मिन्सर्वमस्ति ।' ततः स राजा प्रातः शिष्ट-सभां कृत्वा, सर्ववृत्तान्तं प्रस्तुत्य, प्रसादात्तस्मै कर्णाटराज्यं ददौ ॥ ॐ ॥
... तत्किमागन्तुको[2] जातिमात्राद्दुष्टः ? । तत्राऽप्युत्तमाऽधममध्यमाः सन्ति । चक्रवाको ब्रूते—

'योऽकार्यं कार्यवच्छास्ति स किंमन्त्री नृपेच्छया ।
वरं स्वामिमनोदुःखं, तन्नाशो न त्वकार्यतः ॥ १०५ ॥

...न्तुम् । श्लाघ्यः=प्रशंसनीयः । महासत्त्वः=उदारचेताः । प्रियमिति । ...=मधुरभाषी । शूरोऽपि—आत्मश्लाघारहितः । दाताऽपि—सत्पात्रप्रदः । ...=प्रतिभासम्पन्नोऽपि । अनिष्ठुरः=अक्रूरः, अकठोरश्च ॥ १०४ ॥ ...सभा=गोष्ठीम् । (दर्बार) । तत्रापि=आगन्तुकेष्वपि । ...चेति । यो मन्त्री नृपेच्छया=राजाभिप्रायानुरोधेन, अकार्यमपि—कार्यवत्=

...राजा ने सोचा कि—अहो ! यह कैसा प्रशंसनीय महापुरुष है ! । क्योंकि—उदार दानी को प्रिय बोलना उचित है, शूरवीर को आत्मश्लाघी ... होना चाहिये, दाता को अपात्रवर्षी नहीं होना चाहिए और प्रगल्भ को ...र नहीं होना चाहिए ॥ १०४ ॥

इसमें ये सभी महापुरुष के लक्षण विद्यमान हैं। फिर उस राजा ने ...शिष्ट पुरुषों (मन्त्रियों आदि) की सभा करके रात्रि का सब वृत्तान्त ...र प्रसन्नता से उसे पारितोषिक में कर्णाटक देश का राज्य दे दिया। ...इनकी कथा सुनाकर वह राजा राजहंस बोला—क्या दूर से आया हुआ ...र से ही दुष्ट हो जाता है ? । उनमें भी उत्तम, मध्यम और अधम होते ...। चक्रवाक बोला कि—

...मन्त्री राजा की इच्छा से ही अकार्य को भी कार्य के समान बताता है, वह

...'दाता सत्पात्रवर्षी स्यात्' । २. 'किमागन्तुरेव विरुद्धः' ।

'वैद्यो, गुरुश्च, मन्त्री च, यस्य राज्ञः प्रियंवदाः'।
शरीर-धर्म-कोशेभ्यः' क्षिप्रं स परिहीयते' ॥ १०६ ॥

शृणु—देव !

'पुण्याल्लब्धं यदेकेन तन्ममाऽपि भविष्यति ।
हत्वा भिक्षुं यतो मोहान्निध्यर्थी नापितो 'हतः' ॥ १०७

राजा पृच्छति—'कथमेतत् ?'। मन्त्री कथयति—

कार्यनिःस्पृहतायामपि, स किम्मन्त्री=कुत्सितो मन्त्री । यतः—स्वामिमनोदुःखं स्वामिमनोदुःखं, वरं=किञ्चिच्छ्रेष्ठं । तु=परन्तु । अकार्येण=अकार्याचरणेन समुत्पन्नः=राज्यविनाशो, न=न वरम् ॥ १०५ ॥ प्रियंवदाः=चाटुकाराः । प्रि निवारणेऽकार्यदर्शिनः (खुशामदी) स्युः, स राजा क्रमशः शरीरेण, धर्मे ऽपचयेन च हीनो भवति । अथवा तस्य नाश-अवश्यं ॥ १०६ ॥ यत्—एकेन पुरु सर्वं लब्धं, तत् ममापि भविष्यति इति विचार्य भिक्षुं हत्वा, निध्यर्थी=निधिप्रेप्सुः नापितो राजपुरुषैर्व्यापादितः ॥ १०७ ॥

अयोग्य मन्त्री है। क्योंकि स्वामी के मन में थोड़ी देर के लिए खेद दु होना तो ठीक है, परन्तु अकार्य से उसका विनाश होना तो कथमपि नहीं है ॥ १०५ ॥

और—जिस राजा के वैद्य, गुरु, और मन्त्री, ये तीनों प्रिय बोलने वाले होते हैं, अर्थात् हाँ में हाँ मिलाने वाले होते हैं, वह राजा शीघ्र ही क्रमशः शरीर धर्म कोश से हीन हो जाता है। अर्थात् मन्त्री, वैद्य, गुरु ये सब खुशामदी हों तब राजा के हित की हानि ही होगी। इनको तो हित की सच्ची बात ही कहनी चाहिये, इसी से राजा का हित है ॥ १०६ ॥

और भी हे देव ! सुनिए, जो वस्तु किसी ने पुण्य से पाया, अतः और पुरुष पाते हैं, वही वस्तु मुझे भी मिल जायगी, ऐसा कदापि नहीं सोचना चाहिए, देखिए, दूसरे को देखा देखी निधि का चाहने वाला यह मोही नाई—भिक्षु को मार कर स्वयं भी मारा गया था ॥ १०७ ॥

राजा ने पूछा कि—यह कथा कैसे है ? । मन्त्री कहने लगा—

१. 'प्रियंवदः' । २. 'कोशेभ्यः' । ३. 'हतः' ।

९. निधिलुब्धनापितकथा ।

अस्त्ययोध्यायां पुरि चूडामणिर्नाम क्षत्रियः । तेन धनाऽर्थिना महता क्लेशेन भगवांश्चन्द्रार्धचूडामणिश्चिरमाराधितः । ततः क्षीणपापोऽसौ स्वप्ने दर्शनं दत्त्वा, भगवदादेशाद्यक्षेश्वरेणाऽऽदिष्टो[1] यत्-त्वमद्य प्रातः क्षौरं [2]कारयित्वा, लगुडहस्तः सन् स्वगृहद्वारि निभृतं स्थास्यसि, [3]ततो यमेवाऽऽगतं भिक्षुकं प्राङ्गणे पश्यसि, तं निर्दयं लगुडप्रहारेण हनिष्यसि । ततोऽसौ भिक्षुकस्तत्क्षणात् सुवर्णकलशो भविष्यति । तेन त्वया यावज्जीवं सुखिना भवितव्यम्[3] । ततस्तथाऽनुष्ठिते तद् वृत्तम् ।

तत्र[4] क्षौरकरणायाऽऽनीतेन नापितेन तत्सर्वमालोक्य[5] चिन्तितम्–'अये[6] निधिप्राप्तेरयमुपायः ! । [7]तदहमप्येवं किं न करोमि' ? । ततः

पुरि=पुर्याम् । चन्द्रार्धचूडामणिः=चन्द्रशेखरः शिवः । यक्षेश्वरेण=कुबेरेण । [निभृ]तः=शान्तः । तथाऽनुष्ठिते=भिक्षुके हते सति । तद्वृत्तं=यथोक्तं कुबेरेण तथाऽऽसम् ।

अयोध्या नगरी में चूडामणि नाम का एक क्षत्रिय रहता था । उसने धन [की इ]च्छा से बड़े क्लेश से चन्द्रार्द्धचूडामणि (जिन के शिरपर आधा चन्द्रमा [शोभा दे]ता है) भगवान् शिव जी की बहुत समय तक सेवा की । जब वह पापरहित [होक]र शुद्ध हो गया, तब भगवान् की आज्ञा से स्वप्न में दर्शन देकर यक्षों के [स्वामी] कुबेर जी ने उसे आज्ञा दी कि–तू घर पर जा कर और क्षौर कराकर लकड़ी [हाथ] में लेकर, छिपकर बैठ रहना । तब तुम अपने घर के आङ्गन में आये हुए [जिस] भिक्षुक को देखोगे तब उसे तुम निर्दय होकर लकड़ी से मार डालना । [फिर वह सो]ने का घड़ा हो जायगा । उससे तू जीवन पर्यन्त सुखी होगा । [फिर कुबेर जी की आ]ज्ञा से ऐसा करने पर वैसा ही हुआ । अर्थात् वह साधु डण्डे से मारने पर [सोने से] भरा हुआ खजाना बन गया । और वहाँ क्षौर करने को आये हुए नाई ने [यह देख] कर सोचा–अहो, खजाना मिलने का सर्वोत्तम उपाय यह है, मैं भी

1. 'यक्षेश्वरेणादिष्टः' क्वचित् । २. 'क्षौरं कृत्वा लगुडं हस्ते कृत्वा स्थितः' । [३. 'यमेवा]गतं प्राङ्गणे समागतं भिक्षुं पश्यसि, तं निर्दयं लगुडप्रहारेण हनिष्यसि । [ततोऽसौ भिक्षुः सु]वर्णकलशो भविष्यति । तेन त्वं यावज्जीवं सुखी भविष्यसि' । ४. 'ततः [क्षौरकरणाय समानीतेन]' । ५. 'नापितेनाऽऽलोक्य' । ६. 'अहो, निधि' । ७. 'अहमप्येवं' ।

प्रभृति स नापितः 'प्रत्यह तथाविधो लगुडहस्तः सुनिभृतं भिक्षोरागमनं प्रतीक्षते । एकदा तेन प्राप्तो भिक्षुर्लगुडेन व्यापादितः । तस्मात् [illegible] पराधात्सोऽपि नापितो राजपुरुषैर्व्यापादितः । अतोऽहं ब्रवीमि—'पुण्यालब्धं यदेकेने'-त्यादि ॥ ❀ ॥

राजाऽऽह—

'पुरावृत्तकथोद्गारैः कथं निर्णीयते परः ।
स्यान्निष्कारणबन्धुर्वा, किं वा विश्वासघातकः' ? ॥१०८॥

"यातु, प्रस्तुतमनुसन्धीयताम् । [illegible] चेच्चित्रवर्णस्तदधुना किं विधेयम् ? ।' मन्त्री वदति-'देव ! आगतप्रणिधिमुखान्मया [illegible]

निर्णीयते=अवगम्यते । परः=

पुरावृत्तकथोद्गारैः=पुरावृत्तकथानामुद्गारैः [illegible] । यातु=यातु तावत् । (जाने भी दो) । घातकः ॥ १०८ ॥

वही क्यों न करूँ ? । तब से लेकर वह नाई प्रतिदिन वैसे ही लकड़ी हाथ में लिये हुए छिपकर भिक्षुक के आने का मार्ग देखता रहा । एक समय [illegible] आने पर से आए हुए भिक्षुक को लकड़ी से मारा । तब वह भिक्षु मर गया और वह राजा [illegible] इस अपराध से उस नाई को राजपुरुष पकड़ कर ले गये और [illegible] एक ने जो [illegible] दण्ड से मारा गया । इससे मैं कहता हूँ कि—'पुण्य [illegible] से एक ने जो [illegible] चाहिए' इत्यादि ॥

यह सुनकर भी ऐसा—वह कभी नहीं समझना चाहिए [illegible] कहने मात्र से ही किसी का निर्णय है [illegible]

राजा बोला कि—पुरानी कथाओं के [illegible] वा विश्वासघाती है ॥ १०८ ॥

हो गया है, कि—वह निष्कारणबन्धु ही है, [illegible] उसी का अनुसन्धान करो । [illegible]

[illegible] जाने दो, जो वर्तमान है, [illegible] अब क्या उपाय करना चाहिये ऊँची भूमि तक तो चित्रवर्ण आ गया है, [illegible]

१. '[illegible] प्रतिदिनं' । २. '[illegible]' । ३. [illegible] । ४. '[illegible]' । ५. '[illegible]' । ६. '[illegible]' ।

श्रुतं, यत्—महामन्त्रिणो गृध्रस्योपदेशे चित्रवर्णेनाऽनादरः कृतः। ततोऽसौ मूढो जेतुं शक्यः'। तथा चोक्तम्—

'लुब्धः, क्रूरोऽलसोऽसत्यः, प्रमादी, भीरुरस्थिरः।
मूढो, योधाऽवमन्ता च सुखच्छेद्यो रिपुः स्मृतः' ॥ १०९ ॥

ततोऽसौ यावदस्मद्दुर्गद्वाररोधं[1] न करोति, तावन्नद्यद्रिवनवर्त्मसु तद्बलानि हन्तुं सारसादयः[2] सेनापतयो नियुज्यन्ताम्'। तथा चोक्तम्—

'दीर्घवर्त्मपरिश्रान्तं, नद्यद्रिवनसङ्कुलम्।
घोराग्निभयसन्त्रस्तं, क्षुत्पिपासाऽर्दितं तथा ॥ ११० ॥

चित्रवर्णेन=मयूरेण राज्ञा। मूढः=मूढत्वात्। योधावमन्ता=सैनिकतिरस्कर्ता। सुखच्छेद्यः=अनायासेन विनाशयितुं शक्यः ॥ १०९ ॥ असौ=चित्रवर्णः। नद्यद्रिवनवर्त्मसु=दुर्गेषु सरित्पर्वतकान्तारमार्गेषु। तद्बलानि=चित्रवर्णबलानि। दीर्घवर्त्मपरिश्रान्तं=दूरवर्त्मागमनश्रान्तम्। नद्यादिव्याकुलं, भीषणवनाऽग्निभीतम्, क्षुत्पिपासापीडितं, प्रमत्तम्=असावधानम्, भोजनप्रसक्तं, व्याध्यादिपीडितम्,

[सुना] होता कि—देव! आये हुए दूत के मुँह से मैंने सुना है, कि महामंत्री गृध्र के उपदेश पर उस चित्रवर्ण ने अनादर किया है, अतः (इस कारण से) वह मूढ़ [आसानी से] जीता जा सकता है।

जैसा कहा भी है कि—लोभी, क्रूर, आलसी, झूठा, प्रमादी, डरपोक, [अस्थि]र, मूर्ख और सैनिकों का अपमान और तिरस्कार करने वाला शत्रु सुख से [जीत]ा जा सकता है ॥ १०९ ॥

इसलिये वह जब तक हमारे किले के द्वार को आकर न रोके, तब तक ही [नदी,] पहाड़ तथा वन के मार्गों में उसकी सेना को मारने के लिये सारस आदि [सेनाप]तियों को भेज देना चाहिये।

जैसा कहा भी है, कि—राजा को चाहिये, कि—लम्बा मार्ग चलने से थके [हुए], नदी पहाड़ तथा दुर्गम वन में फंसे हुए, घोर अग्नि के भय से दुःखित [और] भूख व प्यास से पीड़ित, एवं-प्रमत्त, भोजन बनाने, खाने आदि में फंसे

1. 'दुर्गद्वारोधं न विदधाति'। 2. 'सारसादयो नियुज्यन्तां सेनापतयः'।

प्रमत्तं, भोजनव्यग्रं, व्याधिदुर्भिक्षपीडितम् ।
असंस्थितमभूयिष्ठं, वृष्टिवातसमाकुलम् ॥ १११ ॥
पङ्कपांशुजलाऽऽच्छन्नं, सुव्यस्तं, दस्युविद्रुतम् ।
एवम्भूतं महीपालः परसैन्यं विघातयेत् ॥ ११२ ॥

अन्यच—

'अवस्कन्दभयाद्राजा प्रजागरकृतश्रमम्' ।
दिवा सुप्तं 'समाहन्यान्निद्राव्याकुलसैनिकम्' ॥ ११३ ॥

अतस्तस्य प्रमादिनो बलं गत्वा यथावकाशं दिवानिशं घ्नन्त्वस्मत्सेनापतयः ।' तथाऽनुष्ठिते चित्रवर्णस्य सैनिकाः, सेनापतयश्च बहवो निहताः । ततश्चित्रवर्णो विषण्णः स्वमन्त्रिणं दूरदर्शिनमाह—'तात

अस्वस्थ्यम्=अनवस्थितमनस्कम्, व्यस्तम्, वृष्टिवातादिपीडितम्, पङ्कादि–पूर्णाम्, पीडितं, दस्युविद्रुतं (दस्यु=डाकू) च । परसैन्यं=शत्रुबलं,–महीपालः=राजा विघातयेत्=विनाशयेत् ॥ ११२ ॥ अवस्कन्दभयात्=प्राकभिन्नाऽऽक्रमणभयात् प्रजागरकृत=निद्राविघातदुःखितं । दिवासुप्तं=दिवसनिद्रितं । निद्रया व्याकुल सैनिका यस्मिन्नद्–तत्सैन्यं–राजा हन्यात् ॥ ११३ ॥ प्रमादिनः=प्रमत्तस्य अनवहितस्य । मन्त्रिवाक्यानुवर्तिनः । बलं=सैन्यम् । यथावकाशं=यथावसरम् तथाऽनुष्ठिते=तस्मिन्नन्तरे कृते सति । निहताः=मृताः । तात ।

हुए, व्याधि और दुर्भिक्ष से पीड़ित, अस्थिर, संख्या में कम, तथा वर्षा और हवा से व्याकुल—॥ १११ ॥

पंक, धूली व जल आदि से घिरे हुए, बड़े व्याकुल, तथा डाकुओं से पीड़ित एवं घबराए हुए शत्रु के सैनिकों का विनाश करे ॥ ११२ ॥

और भी—राजा को उचित है, कि शत्रु के छापे के भय से रात्रि में जागने के परिश्रम से दिन में सोये हुए और निद्रा से व्याकुल हुए शत्रु की सेना का अच्छी प्रकार से विनाश करे ॥ ११३ ॥

इसलिये उस प्रमादी की सेना को हमारे सेनापति जाकर समय पाकर दिन रात घेर कर और उसे मारें । ऐसा करने से चित्रवर्ण की सेना और बहुत से सेनापति भी मारे गये । तदनन्तर चित्रवर्ण ने दुःखी होकर अपने मंत्री दूरदर्शी

१. 'प्रजागरकृतं तथा' । २. 'सदा हन्यात्' ।

[1]किमित्यस्मदुपेक्षा क्रियते ?। [2]किं क्वाप्यविनयो ममाऽ
तथा चोक्तम्—

> 'न राज्यं प्राप्त'मित्येव वर्तितव्यमसाम्प्रतम् ।
> श्रियं ह्यविनयो हन्ति जरा रूपमिवोत्तमम्' ॥ ११४ ॥

[3]अपि च—

> 'दक्षः श्रियमधिगच्छति, पथ्याशी कल्यतां, सुखमरोगी
> उद्युक्तो विद्याऽन्तं, धर्मार्थयशांसि च विनीतः' ॥ ११

मयोःय। तातेति—पितृतुल्येत्यर्थकं वा। किमिति=कुतो हेतोः। अवि
चाऽर्थम्।

नेति। मया राज्यमधिगतमित्येवायता, असाम्प्रतम्=अयुक्तं, न
तव्यम्। 'युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने' इत्यमरः। हि=यतः। श्रियं=राजलक्ष
अविनयः=औद्धत्यम्। हन्ति=विनाशयति। जरा=वार्धक्यम् ॥ ११४ ॥
दक्षः। कल्यतां=नीरोगताम्। 'कल्यो नीरोगदक्षयो'रिति कोशः। उद्यं

कहा कि—हे तात! इस प्रकार आप हमारी उपेक्षा क्यों कर रहे हैं ?
किसी बात में मैंने कोई अविनय (भूल, त्रुटि, गलती, उच्छृङ्खलता) किया

जैसे कहा है, कि—'मैंने राज्य पालिया है' ऐसा समझ कर राज
अनुचित व्यवहार न करे, क्योंकि अविनय लक्ष्मी को ऐसे ही नष्ट कर दे
जैसे सुन्दर रूप को वृद्धावस्था नष्ट कर देती है ॥ ११४ ॥

और भी—चतुर मनुष्य—लक्ष्मी को पाता है, पथ्य भोजन करने व
आरोग्यता को पाता है, निरोगी-सुख को पाता है, उद्योगी पुरुष-विद्या के प
पाता है, और नम्र पुरुष-धर्म, अर्थ तथा यश को पाता है ॥ ११५ ॥

तब गिद्ध बोला कि—हे देव! सुनिये—

गृध्रोऽवदत्—'देव ! शृणु'

'अविद्वानपि भूपालो विद्यावृद्धोपसेवया ।
परां श्रियमवाप्नोति जलाऽऽसन्नतरुर्यथा' ॥ ११६ ॥

अन्यच्च—

'पानं, स्त्री, मृगया, द्यूतमर्थदूषणमेव च ।
वाग्दण्डयोश्च पारुष्यं, व्यसनानि महीभुजाम्' ॥ ११७ ॥

किञ्च—

'न साहसैकान्तरसाऽनुवर्तिना,
न चाप्युपायोपहतान्तरात्मना ।
विभूतयः शक्यमवाप्तुमूर्जिता,
नये च, शौर्ये च वसन्ति सम्पदः' ॥ ११८ ॥

उद्योगशीलः । छद्म = पर्वसमानम् ॥ ११५ ॥ अविद्वान् = मूर्खोऽपि । विद्यावृद्धाः = विद्वांसः । उपसेवया = सेवनेन, पराम् = उत्कृष्टाम् ॥ ११६ ॥

पानं = मद्यपानम् । अर्थदूषणम् = अर्थापव्ययः, [illegible] [illegible] । वाक्पारुष्यं = [illegible] । दण्डपारुष्यं = [illegible] [illegible] । [illegible] । [illegible] [illegible] ॥ ११७ ॥ साहसे [illegible] [illegible] [illegible], तमनुवर्ततु शीलमस्य, तेन । [illegible] । [illegible] । उपायोपहतान्तरात्मना = उपायचिन्ता [illegible]

मूर्ख राजा भी विद्वान् पण्डितों की सेवा करने से, अर्थात् उनके मत के अनुसार कार्य करने से, जल के समीप में स्थित हुए वृक्ष के समान ही बड़ी (शोभा और सम्पत्ति) को पाता है ॥ ११६ ॥

और भी—मद्यपान, स्त्री, मृगया (शिकार), जूआ, धन को व्यर्थ नष्ट करना, कटु वचन बोलना, और दण्ड में कठोरता,—ये राजाओं के ७ दोष हैं ॥ ११७ ॥

और—जो मनुष्य केवल साहस करने वाला हो, पर सब उपाय करने में

१. 'मृदुत्वम्' ।

त्वया स्वबलोत्साहमवलोक्य, साहसैकरसिकेन मयोपन्यस्तेष्वपि मन्त्रेष्वनवधानं, वाक्पारुष्यं च कृतम्। अतो दुर्नीतेः फलमिदमनुभूयते। तथा चोक्तम्—

> 'दुर्मन्त्रिणं कमुपयान्ति न नीतिदोषाः, ?
> सन्तापयन्ति कमपथ्यभुजं न रोगाः ? ।
> कं श्रीर्न दर्पयति, कं न निहन्ति मृत्युः, ?
> कं स्त्रीकृता न विषयाः परितापयन्ति' ? ॥ ११९ ॥

पतचेतसा । चेयद्वं नीतिनिर्णाय-तद्विचारादिमात्रप्रमादेन । ऊर्जिताः = विपुलाः । विभूतयः = सम्पदः । अवाप्तुं = प्राप्तुं, न शक्यं = न शक्याः । 'शक्य'—निर्दिष्टविप्रतिरूपकमव्ययम् । यतः—नये = नीतौ, शौर्ये = साहसे च । उभयत्र लक्ष्मीर्निवासो, नत्वेकत्रेति भावः ॥ ११८ ॥

मया = अयेण मन्त्रिणा । मन्त्रेषु = नीतिविधिषु । अनवधानम् = अनादरः ।

नीतिदोषाः = मन्त्रदोषाः पक्ष-च-घ-विनाशादयः । अपथ्यभुजम् = अपथ्याशिनम् । दर्पयति = मदयति । स्त्रीकृताः = स्त्रीसम्बन्धिनः । विषयाः = शब्दादयः । परितापयन्ति = संक्षोभयन्ति ॥ ११९ ॥

प्रमादवान हो, तो वह कभी विपुल ऐश्वर्य को नहीं पा सकता है, क्योंकि सम्पत्तियाँ नीति और शूरता में ही निवास करती हैं ॥ ११८ ॥

और आपने अपने बल और उत्साह के अनुसार साहस करके मेरी कही हुई बात में अनादर किया है, और मेरे प्रति आपने कठोर वचनों का भी प्रयोग किया है, अतः उसी दुर्नीति (भूल) का यह फल आप भोग रहे हैं। कहा भी है, कि—

किस दुष्ट मन्त्री को नीति के दोष नहीं प्राप्त होते हैं ? । किस अपथ्य भोजन करने वाले को रोग नहीं सताते हैं ? । और लक्ष्मी किसको घमण्डी नहीं बना देती है। मृत्यु किसको नहीं मारती है ? । और स्त्री के सम्बन्ध से किए हुए विषय किसे संताप (दुःख) नहीं देते हैं ? ॥ ११९ ॥

अपरं च—

'शुचं विषादः, शरदं हिमागम-
स्तमो विवस्वान्, सुकृतं कृतघ्नता ।
प्रियोपपत्तिः शुचमापदं नयः,
श्रियः' समृद्धा अपि हन्ति दुर्नयः' ॥ १२० ॥

ततो मयाऽप्यालोचितम्—'प्रज्ञाहीनोऽयं राजा, न चेत्कथं नीतिशास्त्रकथाकौमुदीं वागुल्काभिस्तिमिरयति'[२] । यतः—

'यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम् १ ।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति' १ ॥ १२१ ॥

शुचः=दुःखं, विषादो हन्ति । शरदं—हिमागमः=हेमन्तर्तुर्हन्ति । तमः=अन्धकारं, विवस्वान्=सूर्यः । प्रियोपपत्तिः=प्रियप्राप्तिः । शुचं=शोकं हन्ति । आपदं=[illegible], नयः=नीतिर्हन्ति । समृद्धा अपि श्रियं—दुर्नयः=दुर्नीतिर्हन्ति ॥१२०॥

प्रज्ञा=[illegible] । नीतिशास्त्रकथाकौमुदी=नीति[illegible]चन्द्रिकाम् । वागुल्काभिः=[illegible] । (उल्का='लुक' 'लुआठ') । [illegible] कोषिके पाठे तु—[illegible], [illegible] । [illegible] ।

[illegible] प्रज्ञा=बुद्धिर्नास्ति, तस्य शास्त्रं किम् उप[illegible] ।

[illegible]—[illegible] को विषाद नष्ट कर देता है, शरद् ऋतु की शोभा को—हिम ऋतु (जाड़ा) का आना नष्ट कर देता है, इसी प्रकार अँधेरे को सूर्य, पुण्य को कृतघ्नता, शोक को प्रिय की प्राप्ति, आपत्ति को नीति, और बड़ी हुई लक्ष्मी को दुर्नीति (अनुचित कार्य) नष्ट कर देती है ॥ १२० ॥

और इसके बाद मैंने भी सोचा कि—यह राजा निर्बुद्धि है, नहीं तो नीतिशास्त्र की कथारूपी इस चाँदनी को अपनी वाणीरूपी उल्काओं से क्यों [illegible] करता ।

क्योंकि—जिसकी स्वयं बुद्धि नहीं है, उसका शास्त्र क्या उपकार कर सकता [illegible]

१. '[illegible]' । २ '[illegible]' ।

—इत्यालोच्याऽहमपि तूष्णीं स्थितः[1]। अथ राजा बद्धाऽञ्जलिराह— 'तात! अस्त्ययं ममाऽपराधः, इदानीं यथाऽहमवशिष्टबलसहितः प्रत्यावृत्त्य विन्ध्याचलं गच्छामि, तथोपदिश।' गृध्रः स्वगतं चिन्तयति— 'क्रियतामत्र[2] प्रतीकारः'। यतः—

'देवतासु, गुरौ, गोषु, राजसु, ब्राह्मणेषु च।
नियन्तव्यः सदा कोपो, बाल-वृद्धा-ऽऽतुरेषु च' ॥ १२२ ॥

[3]मन्त्री प्रहस्य ब्रूते—'देव! मा भैषीः, समाश्वसिहि। शृणु देव!

'मन्त्रिणां भिन्नसन्धाने, भिषजां सांनिपातिके।
कर्मणि व्यज्यते प्रज्ञा, सुस्थे को वा न पण्डितः'? ॥१२३॥

करोति। नैव किमपीत्यर्थः। लोचनाभ्याम्=नेत्राभ्याम्, विहीनस्य=अन्धस्य, दर्पणः किं करिष्यति=किमुपकरिष्यति, न किमपीत्यर्थः ॥ १२१ ॥

बद्धाञ्जलिः—बद्धकरसम्पुटः। प्रतीकारः=उपायः। देवतासु=देवेषु। गुरौ=गुरुविषये। आतुरः=रोगी। नियन्तव्यः=निग्रहीतव्यः। (रोकना चाहिए)। ॥ १२२ ॥ मन्त्रिणाम्=अमात्यानाम्। भिन्नसन्धाने=विकृतसमाकरणाऽवसरे।

है?। आँखों से रहित अन्धे को भला दर्पण क्या उपकार करेगा? ॥ १२१ ॥

यह सोच कर मैं चुप हो रहा। इसके बाद यह राजा हाथ जोड़ कर बोला कि—हे तात! अवश्य ही यह मेरा एक अपराध है। अब जैसे भी हम बाकी बची थोड़ीसी सेना सहित लौट कर विन्ध्याचल को जासकें वैसा ही उपदेश आप करिये। तब गिद्ध मन में सोचने लगा कि—अब इसका उपाय करना ही उचित होगा।

क्योंकि—देवता, गुरु, गौ, राजा, ब्राह्मण, बालक, वृद्ध और आतुर, इन पर क्रोध को सदा रोकना ही चाहिये। अर्थात् इन पर क्रोध नहीं करना चाहिये ॥ १२२ ॥

तब मन्त्री हँस कर बोला कि—हे देव! आप डरिये मत। थोड़ा धैर्य धारण करिए। हे महाराज! सुनिये—

बिगड़ी बातों को बनाने में, अर्थात् शत्रुओं की नीति को (असाधारण बातों

[1] 'तेनाऽहमपि तूष्णीं स्थितः'। 'इत्यालोच्य तूष्णीं स्थितः' पा०। [2] 'क्रियतामत्र प्रतीकारः'। [3] 'ब्रूते च विहस्य'।

अपरञ्च—

'आरभन्तेऽल्पमेवाज्ञाः, कामं व्यग्रा भवन्ति च ।
महाऽऽरम्भाः कृतधियस्तिष्ठन्ति च निराकुलाः' ॥ १२४ ॥

'तदत्र भवत्प्रतापादेव दुर्गं भङ्क्त्वा, कीर्तिप्रतापसहितं त्वामचिरेण कालेन विन्ध्याचलं नेष्यामि ।' राजाऽऽह—'कथमधुना स्वल्पबलेन तत्सम्पद्यते ? ।' गृध्रो वदति—'देव ! सर्वं भविष्यति । यतो विजिगीषो-

(किसी चीज को पुनः बनाने में हो) । [illegible] = [illegible] । [illegible] = वैद्यान् । कर्मणि = [illegible] । [illegible] = [illegible] । [illegible] = [illegible] तु । सः पण्डितो न ? । ननु सर्वोऽपि पण्डितः ॥ १२३ ॥

अज्ञाः = मूढाः । अल्पमेवाऽऽरभन्ते, कामं = यथेष्टं, व्यग्राः = व्याकुलाश्च भवन्ति । कृतधियः = पण्डितास्तु, महारम्भाः सन्ति—निराकुलाः = अव्याकुला एव तिष्ठन्ति ॥ १२४ ॥

दुर्गं = शत्रुदुर्गम् । कीर्तिप्रतापाभ्यां सहितं = समन्वितं त्वां, [illegible] प्रति, कालेन नेष्यामि [illegible] । स्वल्पबलेन = [illegible] । [illegible] = [illegible] । [illegible] = [illegible] । [illegible]

को) [illegible] में [illegible] की [illegible] देखी जाती है, [illegible] की [illegible] देखी जाती है, [illegible] ([illegible]) में कौन पण्डित नहीं होता है ? ॥ १२३ ॥

[illegible] ([illegible]) ही कार्य [illegible] करते हैं, [illegible] है । [illegible] बड़े बड़े कामों का [illegible] करते हैं [illegible] नहीं है ॥ १२४ ॥

[illegible] ([illegible] और [illegible]) के साथ [illegible] [illegible] हो सकता है ? । [illegible]—हे देव ! [illegible]

१. [illegible] । २. [illegible]

रदीर्घसूत्रता विजयसिद्धेरवश्यंभावि लक्षणम् । [1]तत्सहसैव दुर्गद्वाराऽवरोधः क्रियताम् ।'

[2]अथ (प्रहित—)प्रणिधिना बकेनाऽऽगत्य हिरण्यगर्भस्य [3]कथितं-देव ! स्वल्पबल एवाऽयं राजा चित्रवर्णो गृध्रस्य [4]वचनोपष्टम्भादागत्य दुर्गद्वाराऽवरोधं करिष्यति ।' [5]राजहंसो ब्रूते—भोः सर्वज्ञ ! किमधुना विधेयम् ? । चक्रवाको ब्रूते-"स्वबले साराऽसारविचारः क्रियताम् । तज्ज्ञात्वा सुवर्णवस्त्रादिकं यथाऽर्हं प्रसादप्रदानं च क्रियताम्' । यतः—

चिरकारिता । 'दीर्घसूत्रश्चिरक्रियः' इत्यमरः । दुर्गद्वारावरोधः=शत्रुदुर्गद्वारावरोधः ।

पाठान्तरे-प्रहितेन = पूर्वं प्रेषितेन, प्रणिधिना = प्रधानेन गुप्तचरेण बकेन । वचनोपष्टम्भात् = वाक्यबलात् । साराऽसारविचारः = योग्याऽयोग्यविमर्शः । सारा-ऽसारा = योग्यमयोग्यश्च श्रा... । यथाऽर्हं = यथायोग्यम् । प्रसाद-प्रदानं = पारितोषिकवितरणम् ॥

...करने वाले राजा को कालक्षेप विलम्ब नहीं करना चाहिये, यही विजय की सिद्धि का निश्चय लक्षण है, इस लिए अब शत्रु के किले को शीघ्र ही घेर लेना चाहिए ।

इसी समय पहिले से नियुक्त किए गए दूत (गुप्तचर) बगुला ने आकर हिरण्य-गर्भ से कहा कि—हे देव ! अब अपनी बची हुई थोड़ी सी सेना लेकर ही यह राजा चित्रवर्ण अपने मन्त्री गिद्ध की सम्मति से आकर के किले को घेरेगा । राजहंस—सर्वज्ञ ! अब क्या करना चाहिये ? । चकवा बोला—अपनी सेना में सबलों व दुर्बलों का विचार करना चाहिये । और जो शूरवीर हों उन्हें प्रसन्नता से सुवर्ण वस्त्र आदि पुरस्कार यथायोग्य देकर उत्साहित करना चाहिये ।

1. 'तत्सहसैव दुर्गावरोधो विधीयताम्' पा० । 2. 'प्रहिते'ति क्वचिन्नास्ति । ... 'प्रहितेन प्रणिधिना' पा० । 3. 'कथितं' । 4. "वचनोपष्टम्भेन दुर्गावरोधं' ...ष्टम्भेन' । 5 'राजाऽऽह—'सर्वज्ञ' । 6 पाठ—'देव' ।

'यः काकिणीमप्यपथप्रपन्नां
समुद्धरेन्निष्कसहस्रतुल्याम् ।
कालेषु[1] कोटिष्वपि मुक्तहस्त—
स्तं राजसिंहं न जहाति लक्ष्मीः' ॥ १२५ ॥

अन्यच्च—

'क्रतौ, विवाहे, व्यसने, रिपुक्षये,
यशस्करे कर्मणि, मित्रसंग्रहे ।
प्रियासु नारीष्वधनेषु [2]बान्धवे—
ष्वतिव्ययो नास्ति नराधिपाऽष्टसु' ॥ १२६ ॥

य इति । यो राजा काकिणीमपि = एकां वराटिकामपि । (काकिणी='कौड़ी' या 'दुकड़ा' ३ पैसा=२० कौड़ी) । अपथप्रपन्नाम् = अपात्रपतिताम्, निष्कसहस्रतुल्यामिव मन्यमानः । (निष्क=सोने की मोहर या चांदी का रुपया) । समुद्धरेत् = उपार्जयेत् । कालेषु = समयावसरे च । कोटिष्वपि = सुवर्णरूप्यककोटिष्वपि (करोड़ों रुपयों को भी) । मुक्तहस्तः = तद्व्यये विचारं न करोति । (खुले हाथ खर्च करता है) । तं राजसिंहं = राजश्रेष्ठं, राजकुलोत्पन्नं लक्ष्मीश्च यं: ॥ १२५ ॥

हे नराधिप ! अष्टसु कर्मसु अतिव्ययो न भवति इत्यर्थः । क्रतौ = यज्ञे । व्यसने = विपदि । रिपुक्षये = शत्रुनाशे । यशस्करे = कीर्तिप्रदे । कर्मणि = कार्ये । अधनेषु = दरिद्रेषु ॥ १२६ ॥

क्योंकि—जो अनुचित मार्ग में खर्च होती हुई एक कौड़ी को भी हजार अशर्फियों के समान ही बचाता है, और समय पड़ने पर करोड़ों रुपये भी पानी की तरह ही खर्च कर देता है, उस राजसिंह को लक्ष्मी कभी नहीं छोड़ती है ॥ १२५ ॥

और दूसरे—हे राजन् ! यज्ञ, विवाह, आपत्ति, शत्रुनाश, यश बढ़ाने वाला कर्म, मित्रसंग्रह, प्रिय स्त्री को प्रसन्न, और निर्धन भाई बन्धु की सहायता, इन आठों कार्यों के विषय में द्रव्य लगाना (देना या खर्च करना) अतिव्यय नहीं है, अर्थात् इसका खर्च नहीं कहलाता है ॥ १२६ ॥

१ 'काले तु' । २. 'अधनेषु बन्धुषु, अपि' ।

'मूर्खः स्वल्पव्ययत्रासात्सर्वनाशं करोति हि।
कः सुधीः सन्त्यजेद्भाण्डं शुल्कस्यैवाऽतिसाध्वसात्' ॥१२७॥

राजाऽऽह—'कथमिह समयेऽतिव्ययो युज्यते ?।' उक्तञ्च—'आपदर्थे धनं रक्षेत्' इति। मन्त्री ब्रूते—'श्रीमतां कथमापदः?'। राजाऽऽह—'कदाचिच्चलिता[1] लक्ष्मीः।' मन्त्री ब्रूते—'सञ्चितापि[2] विनश्यति।' तद्देव! कार्पण्यं विमुच्य [3]स्वभटा दान-मानाभ्यां पुरस्क्रियन्ताम्'। तथा चोक्तम्—

स्वल्पव्ययत्रासात्=स्वल्पव्ययभीत्या। (थोड़े से खर्च के डर से ही)। सर्वनाशं=निपुणधनविनाशम्। सुधीः=पण्डितः। भाण्डं=वित्तम्। (माण्ड=माल)। शुल्कस्य=राजदेयकरस्य। (चुंगी)। साध्वसात्=भयात्। (क्या 'चुंगी' व 'जकात' के डर से अपने बहुमूल्य माल को कोई समझदार मनुष्य फेंक देता है?)॥१२७॥ इह=अस्मिन् विपत्तिसमये। श्रीमतां=धनिनां, भाग्यशालिनाञ्च। सञ्चितापि=सञ्चितापीत्यर्थः। 'सञ्चितार्थं' इति पाठे—सञ्चितार्थः=सञ्चितवित्तोऽपि। 'सञ्चितोऽपि नश्यता'वि तु गौडाः पठन्ति॥

क्योंकि—मूर्ख तो थोड़े खर्च के डर से ही अपने सर्वस्व का भी नाश कर देता है। पर कौन पण्डित मनुष्य शुल्क अर्थात् राजदेय कर (चुंगी) के डर से अपनी बहुमूल्य वस्तुओं को फेंक देता है ?॥१२७॥

राजा बोला कि—इस विपत्ति के समय बहुत खर्च करना कैसे उचित होगा ?। कहा भी है कि—आपत्ति के लिए धन की रक्षा करनी चाहिए। मन्त्री बोला कि—श्रीमानों को (भाग्यशालियों को) आपत्ति कैसे प्राप्त हो सकती है ?। तब राजा बोला—यदि कभी लक्ष्मी चली जाए तो ?। मन्त्री बोला—तब तो संचय किया हुआ धन भी नष्ट हो ही जायगा। अतः हे देव! लोभ छोड़कर इस समय दान और मान आदि से अपने शूर वीरों का सत्कार करना चाहिये।

१ 'कुपिता'। २ 'सञ्चितार्थो विनश्यति'। ३ 'दानमानाभ्यां स्वसुभटाः'।

'परस्परज्ञाः, संहृष्टास्त्यक्तुं प्राणान् सुनिश्चिताः ।
कुलीनाः, पूजिताः सम्यग्विजयन्ते 'द्विषद्बलम्' ॥ १२८ ॥

अपरञ्च—

'सुभटाः, शीलसम्पन्नाः, संहताः, कृतनिश्चयाः ।
अपि पञ्चशतं शूरा मृद्नन्ति 'रिपुवाहिनीम्' ॥ १२९ ॥

किञ्च—

'शिष्टैरप्यविशेषज्ञ, उग्रश्च, कृतनाशकः ।
त्यज्यते, किं पुनर्नान्यैर्यश्चाप्यात्मम्भरिर्नरः'' ॥ १३० ॥

कार्दमं = कर्दमजम् । विमुच्य = त्यक्त्वा । (कनूरी छोड़ कर) । परस्परज्ञा = संहताः, परस्परहितैषिणः । संहृष्टा = प्रसन्नाः । प्राणत्यागे कृतनिश्चयाः । कुलीनाः = सत्कुलप्रसूताः । सम्यक्पूजिताः = सत्कृताश्च भटाः शत्रुसैन्यं जयन्ते इत्यर्थः ॥ १२८ ॥

सुभटा इति । शीलयुताः, कुलीनाः परस्परं मिलिताः, प्राणपरित्यागे कृतनिश्चयाः पञ्चशतमपि शूराः रिपुवाहिनीं = शत्रुसेनामपि, मृद्नन्ति = मर्दयन्ति ॥१२९॥

अविशेषज्ञः = गुणदोषविचारशून्यः । उग्रः = क्रूरः । कृतनाशकः = कृतघ्नः । आत्मम्भरिः = स्वोदरमात्रपूरकः । नरः = राजादिः । 'भृत्यैः' इति शेषः । शिष्टैरपि = सज्जनैरपि । त्यज्यते = परित्यज्यते । किं पुनः-अन्यैः = इतरैः, नान्यैरेव-न = नैव त्यज्यते । अपि तु सुतरामेव त्यज्यते ॥ १३० ॥

ऐसा कहा भी है—परस्पर के जानने वाले, (एक मत रखने वाले), प्रसन्न, प्राणों को छोड़ने का निश्चय किए हुए, कुलीन, सत्कृत हाथी सहित शत्रु की सेना को अच्छी तरह से (बात की बात में) जीत लेते हैं ॥ १२८ ॥

और भी—शीलयुक्त, परस्पर मिले हुए, प्राणत्याग का निश्चय किये हुए, ऐसे पाँच सौ शूरवीर भी शत्रु की बड़ी भारी सेना को भी मार सकते हैं ॥१२९॥

और भी—जो मनुष्य विशेषज्ञ नहीं है, उग्र स्वभाव का है, तथा कृतघ्न और अपना ही पेट भरने वाला है, उसे शिष्ट पुरुष भी त्याग देते हैं फिर और साधारण मनुष्यों का तो कहना ही क्या है ? ॥ १३० ॥

१. 'द्विषद्बलम्' । २ 'निघ्नन्ति रिपुवाहिनीम्' । ३ 'शूरः' ।

यतः—

'सत्यं, शौर्यं, [1]दया, त्यागो नृपस्यैते महागुणाः[2] ।
एतैस्त्यक्तो[3] महीपालः प्राप्नोति खलु वाच्यताम्' ॥१३१॥

[4]ईदृशि प्रस्तावेऽमात्यास्तावदवश्यमेव पुरस्कर्तव्याः । तथा चोक्तम्—

'यो येन प्रतिबद्धः स्यात्सह [5]तेनोदयी, व्ययी ।
स विश्वतो नियोक्तव्यः, प्राणेषु च, धनेषु च' ॥ १३२ ॥

यत—

'धूर्तः, स्त्री वा, शिशुर्यस्य मन्त्रिणः स्युर्महीपतेः ।
अनीतिपवनक्षिप्तः [6]'कार्याब्धौ स निमज्जति' ॥ १३३ ॥

त्यक्तः=शून्यः । वाच्यतां=निन्दनीयताम् ॥१३१॥ तावत्=प्रथमम् । यः=... । येन=राजादिना । प्रतिबद्धः । तेन=राजादिना सह च । उदयी=...स्वार्थी, व्ययी=हानियुक्तश्च भवति, स सचिवः, प्राणेषु=स्वशरीररक्षादिषु च, ...नियोक्तव्यः=अधिकारी कर्तव्यः ॥ १३२ ॥ धूर्तः=वञ्चकः । अनीतिपवन-...=अनीतिवायुक्षिप्तः । अनीतिपरवशः सन् । अकार्याब्धौ=अकृत्यमहार्णवे । ...'कार्याब्धौ' इति पाठे—कृत्यसंशयसागरे । निमज्जति=मग्नो भवति । (डूब जाता ...)॥ १३३ ॥

क्योंकि—सत्य, शूरता, दया और उदारता पूर्वक दान—ये चार राजा के बड़े ...गुण हैं । इन गुणों के बिना राजा अवश्य निन्दा को प्राप्त होता है ॥ १३१ ॥
...और ऐसे प्रसङ्ग में (ऐसे मौके पर) मन्त्रियों को भी अवश्य पुरस्कार देना ...चाहिए । क्योंकि—
...ऐसा कहा है, कि—जो जिसके साथ संबद्ध है, और जिसकी उन्नति या ...अवनति उसी के साथ होती है, वही सच्चा विश्वासपात्र है, इसलिए उसी को ...प्राणों की रक्षा में और धन की रक्षा के कार्य में लगाना चाहिये ॥१३२॥
...और जिस राजा के स्त्री, या बालक, या धूर्त ही मन्त्री हों, वह राजा अनीति ...रूपी वायु से फेंका हुआ कार्य संशय के समुद्र में डूब जाता है ॥ १३३ ॥

१ 'दया त्यागः' । २ 'स्त्रयो गुणाः' । ३ 'एभिर्मुक्तो' । ४ 'ईदृशि प्रस्तावे' ...र । ५ 'तेनोदयी' । ६ 'विमोऽकार्याब्धौ' ।

शृणु देव !

'हर्षक्रोधौ यतौ यस्य, 'कोशः स्वल्पव्ययेन च ।
नित्यं भृत्यान्ववेक्षा[2] च, तस्य स्याद्धनदा धरा' ॥१३४

येषां राज्ञा सह स्यातामुच्चयापचयौ ध्रुवम् ।
'अमात्या' [3]इति तान् राजा नावमन्येत्कदाचन' ॥१३५

'महीभुजो मदान्धस्य [4]सङ्कीर्णस्येव दन्तिनः ।
[5]स्खलतो हि कराऽऽलम्बः '[6]सुशिष्टैरेव दीयते' ॥ १३६

यतौ = संयतौ, स्वाधीनौ । 'समौ' इति पाठान्तरः । कोशः-खजाना संचयः = स्वाधीनः । नित्यं च यो भृत्यान् पर्यवेक्षते, तस्य राज्ञो धरा = पृथ्वी धनदा = वित्तदा भवति ॥ १३४ ॥

येषाम् = अमात्यानाम् । उच्चयापचयौ = वृद्धिह्रासौ । ध्रुवं = नूनं नीतिमान् = नीतिनिपुणः । कदाचित् = कदाचिदपि, नावमन्येत = न [illegible] कुर्यात् ॥ १३५ ॥

मदान्धस्य = [illegible] । सङ्कीर्णस्य =

और भी सुनिए महाराज ! जिस के हर्ष और क्रोध संयत हैं, और कम खर्च करने से जिसका कोश (खजाना) भी भरा पूरा है (और जिसे [illegible] के [illegible] है), और जिसे सदा सेवकों की चिन्ता है, उसको यह पृथ्वी धन देनेवाली होती है ॥ १३४ ॥

और जिनकी राजा के साथ ही वृद्धि और हानि होती है, वे ही अमात्य कहे जाते हैं । अतः राजा उनका अनादर और उनकी उपेक्षा कभी न करे ॥ १३५ ॥

क्योंकि—मदमत्त हाथी के समान गिरते हुए, मद से अन्धे राजा

१. [illegible] । २. 'भृत्यानुवेक्षा च' । ३ [illegible] । ४ [illegible] । 'सङ्कीर्णस्येव दन्तिनः' पा० । [illegible] । [illegible] । 'सङ्कीर्णस्येव दुर्गतः' [illegible] । ५ 'स्खलतो हि [illegible] दीयते' [illegible] । ६ 'सुहृद्भिरपि [illegible]' पा० ।

अथाऽऽगत्य प्रणम्य मेघवर्णो ब्रूते—'देव! दृष्टिप्रसादं कुरु। 'इदानीं विपक्षो दुर्गद्वारि वर्त्तते। तद्देवपादादेशाद्बहिर्निःसृत्य स्वविक्रमं दर्शयामि। तेन[२] देवपादानामानृण्यमुपगच्छामि।'

चक्रवाको ब्रूते—'मैवं, यदि बहिर्निःसृत्य योद्धव्यं, तदा दुर्गाश्रयणमेव निष्प्रयोजनम्'। अपरञ्च—

'विषमोऽपि[३] यथा नक्रः सलिलान्निःसृतोऽवशः[४]।
'वनाद्विनिर्गतः शूरः सिंहोऽपि स्याच्छृगालवत्' ॥ १३७ ॥

नष्टस्य, स्खलतः=विपन्नस्य, पङ्कादिमग्नस्य, दन्तिनः=दन्तिन-इव, सुहृद्भिः=अमात्यैः, बान्धवैर्हस्तिभिः, शिष्टैरमात्यैश्च, करालम्बः=हस्तालम्बः—दीयते इत्यर्थः। पाठान्तरे सत्संसारे=अकस्मात्ऽन्धो निमज्जतः, महीभुजः=राज्ञः। स्खलतः=भूमितः,—अपयात्, सुहृद्भिः=साधुसमाचारैरमात्यादिभिरेव। करालम्बः=हस्तावलम्बः। दीयते=निर्दिश्यते। अन्यस्यापि जले निमज्जतस्तीरवर्तिभिः सज्जनैर्हस्तावलम्बो दीयते एव ॥ १३६ ॥

मेघवर्णः=वायसप्रधानमन्त्री। दृष्टिप्रसादं=दर्शनानुग्रहम्। विपक्षः=शत्रुः। विषमः=भीषणः। नक्रः=मकरादिः ('नाका' 'मगर')। सलिलात्=जलात्।

रहे, उनको अमात्य आदि मित्र वर्ग ही हाथ का सहारा देते हैं, और उन (सहायक अमात्य) आदि का समुचित सामयिक कर्त्तव्य ही उस राजा के हाथ के सहारे के समान है ॥ १३६ ॥

इसके बाद आकर प्रणाम कर मेघवर्ण कौआ बोला कि—हे देव! दयादृष्टि (इधर कृपा कीजिए)। अब शत्रु किले के द्वार पर आ गया है, अतः यदि आज्ञा हो तो बाहर निकल कर मैं अपना पराक्रम दिखाऊँ, जिससे आप के ऋण से छूटूँ। ऐसा सुन कर प्रधान मन्त्री चकवा बोला कि—ऐसा मत करना। जो बाहर निकल कर ही युद्ध करना होता तो फिर किले का आश्रय ही क्यों करते? अर्थात् किले में फिर क्यों आकर बैठते? और भी—जैसे विषम (भयंकर) नाका (मगर मच्छ, ग्राह, घड़ियाल)

1. 'एष शत्रुर्दुर्गद्वारि तिष्ठति'। २ 'तेन देवस्मादनृणतां व्रजामि'। ३ 'विषमो ...'। ४ 'निर्गतोऽवशः'। ५ 'वनात्तु मन्दुरः स्वयम्' इति क्वचित् पुस्तके—पाठः।

['वायसो ब्रूते—'] 'देव ! स्वयं गत्वा दृश्यतां युद्धम्' । यतः—

'पुरस्कृत्य बलं राजा योधयेदवलोकयन् ।
स्वामिनाऽधिष्ठितः श्वाऽपि किं न सिंहायते ध्रुवम्' ॥१२८॥

[१]अथ ते सर्वे दुर्गद्वारं गत्वा महाऽऽहवं कृतवन्तः । [२]अपरेद्युश्चित्रवर्णो राजा गृध्रमुवाच—'तात ! स्वप्रतिज्ञातमधुना[३] निर्वाहय ।'

गृध्रो ब्रूते—'देव ! शृणु तावत्'—

निर्गतः = बहिर्निर्गतः । अशक्तः = स्वरक्षणेऽप्यसमर्थो भवति । [illegible] [illegible] = [illegible]—[illegible] [illegible], [illegible] च, तथैव दुर्ग- निर्गतो वीरो, राजाऽप्यशक्तः स्यादित्यर्थः ॥ १२७ ॥

बलं = सेनाम् । पुरस्कृत्य = अग्रकृत्य, [illegible] च । अवलोकयन् = [illegible] [illegible] । योधयेत् = युद्धे नियोजयेत् । स्वामिना = प्रभुणा । अधिष्ठितः = [illegible] [illegible] = कुक्कुरोऽपि । सिंहायते = सिंह इवाचरति ॥ १२८ ॥ [illegible] [illegible], [illegible] । अपरेद्युः = परस्मिन् दिने । पाठान्तरे—परेद्यु- [illegible]

[illegible] जल से निकलने पर पराधीन और निर्बल हो जाता है, और जैसे [illegible] निकला हुआ परम शूरवीर सिंह भी शृगाल (गीदड़) के समान ही निर्बल [illegible] जाता है, वैसे ही किले से निकला हुआ शूरवीर योद्धा भी निर्बल और पर- [illegible] जाता है ॥ १२७ ॥

तब कौआ बोला हे देव ! आप स्वयं चलकर युद्ध को देखिये, क्योंकि— राजा को चाहिए कि वह आप स्वयं देखता हुआ सेना को आगे करके युद्ध कराये । क्योंकि स्वामी से अधिष्ठित होने पर और उत्साहित किए जाने पर कुत्ता भी क्या सिंह की तरह आचरण नहीं दिखाता है ? । अवश्य दिखाता है ॥ १२८ ॥

इसके बाद वे राजा आदि सब किले के द्वार पर जाकर घमासान युद्ध करने लगे । दूसरे दिन चित्रवर्ण राजा गिद्ध से बोला कि—हे तात ! अपनी प्रतिज्ञा को अब निबाहिए । तब गिद्ध बोला कि—हे देव ! पहले दुर्ग (किले) के दोषों (बुराइयों) को सुनिये—

१ [illegible] पा० । २. [illegible] । ३ [illegible] । ४ [illegible]

'अकालसहमत्यल्पं, मूर्खव्यसनि-नायकम् ।
अगुप्तं, भीरुयोधं च दुर्गव्यसनमुच्यते' ॥ १३९ ॥

तावदत्र नास्ति ।

'उपजापश्चिराऽऽरोधोऽवस्कन्दस्तीव्रपौरुषम् ।
दुर्गस्य लङ्घनोपायाश्चत्वारः कथिता इमे' ॥ १४० ॥

अत्र यथाशक्ति क्रियते यत्नः । 'कर्णे कथयति—[2]एवमेवम् ।' ततोऽनुदित एव भास्करे चतुर्ष्वपि दुर्गद्वारेषु प्रवृत्ते युद्धे, दुर्गाभ्यन्तरगृहेष्वेकदा[3]

व्यसनि-नायकम्-इत्यर्थः । अकालसहम् = कालविलम्बाऽसहम् । अत्यल्पं = स्वल्पम् । मूर्खनायकं, धूतमद्यपानप्रमदादिव्यसनाऽऽसक्तनायकम्, अगुप्तम् = अरक्षितम्, भीरुयोधम् = कातरभटश्चेति-दुर्गविपद उच्यन्ते ॥ १३९ ॥ अत्र = शत्रुदुर्गे । उपजापः = भेदः । चिरारोधः = बहुकालावरोधः । अवस्कन्दः = सहसा आक्रमणम् । (धावा) । तीव्रपौरुषम् = अतिपराक्रमः । लङ्घनोपायाः = विजयोपायाः ॥ १४० ॥

अत्र = दुर्गलङ्घने । अनुदिते = अनभ्युदिते । एकदा = एककालमेव, युगपत् ।

[जो] बहुत समय तक घिरे रहने में असमर्थ हो, अतिक्षुद्र (छोटा) हो, और मूर्ख (हानके लेने) तथा व्यसनी (द्यूत खेलने वाला, मद्य पीने वाला) जिस किले का स्वामी हो, और जिस किले की ठीक रक्षा न की गई हो, तथा जिसमें डरपोक योद्धागण रहते हों, वह दुर्ग शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, क्योंकि ये सब दुर्ग के दोष हैं ॥ १३९ ॥

परन्तु ये दोष तो यहाँ हैं नहीं । अतः ऐसे समय में किले को लेने के ये उपाय हैं—किले की भीतरी फौज में किसी प्रकार जासूसों द्वारा फूट करा देना, चिरकाल तक किले को घेरे रहना, तथा चारों ओर से एक साथ धावा बोल देना और जबरदस्त सामर्थ्य दिखाना,—ये चार ही किले को जीतने के उपाय हैं ॥ १४० ॥

अतः इस विषय में यथायोग्य यत्न किया जा रहा है । (फिर कान में बोला—) मैंने [ये] सो सोचकर पहिले से ही ऐसा गुप्त प्रबन्ध कर दिया है । फिर सूर्य के उदय होने के पहिले ही किले के चारों द्वारों में सहसा घनघोर युद्ध छिड़ गया ।

१. 'विग्रहः कथयति-एवमेव' । २ 'मया प्रथममेव शत्रुदुर्गे स्थापितैः स्वो नूतनमार्ग कार्यसाधको मॉस्पदर्शि-दर्पः । दुर्गाभ्यन्तरे गृहे काष्ठैरेकदाऽग्निर्निर्दिष्टः' ।

काकैरग्निर्निक्षिप्तः । ततः 'गृहीतं गृहीतं दुर्गम्' इति कोलाहलं श्रुत्वा ¹सर्वतः प्रदीप्ताऽग्निमवलोक्य, राजहंससैनिकाः, ²बहवो दुर्गवासिनश्च सत्वरं ह्रदं प्रविष्टाः । यतः—

'सुमन्त्रितं, सुविक्रान्तं, सुयुद्धं, सुपलायितम् ।
कार्यकाले यथाशक्ति कुर्यान्न तु विचारयेत्' ॥ १४१ ॥

³राजा हंसश्च स्वभावान्मन्दगतिः, ⁴सारसद्वितीयश्चित्रवर्णस्य सेनापतिना कुक्कुटेनाऽऽगत्य वेष्टितः । हिरण्यगर्भः सारसमाह—'सेनापते !

कोलाहलं=शत्रुसेना-[illegible]-कलकलम् । पावकं=वह्निम् । ह्रदं= सरोवरं, जलदुर्गम् । प्रविष्टाः=प्राप्य प्रविष्टाः ।

कार्यकाले=प्रसङ्गे सम्प्राप्ते । यथाशक्ति त्वरितमेव यथायोग्यमेतानि कुर्यात् । सुमन्त्रितं= सुष्ठु मन्त्रणम् । सुविक्रान्तं=पराक्रमातिशयप्रदर्शनम् । सुयुद्धं= [illegible] यथाऽवसरं समागतानामुपायं [illegible] कुर्यात् [illegible] पलायनम् । [illegible] नालोचिता [illegible] ॥ १४१ ॥

सारसद्वितीयः=दुर्गाध्यक्षेण सेनाधिपतिना सारसेन सहितः । वेष्टितः [illegible]

और इतने में ही किले के भीतरी घरों में कौओं ने अवसर पाकर एक साथ आ[ग] लगा दी ॥ तदनन्तर 'किला ले लिया, किला ले लिया' ऐसा कोलाहल सुन कर चा[रों ओर] जलती हुई अग्नि को देखकर राजहंस की सेना और किले के निवा[सी] शीघ्र ही बड़ी बड़ी झीलों और तालाबों में भागकर घुस गये ।

क्योंकि—कार्य के समय-अच्छी सलाह, अच्छा पराक्रम, अच्छा युद्ध औ[र] मौका आ पड़ने पर अच्छी तरह से भागना, ये चार बातें समय पर यथाश[क्ति] करे, इनमें विचार (आगा पीछा) बिलकुल न करे ॥ १४१ ॥

और वह राजा राजहंस स्वभाव ही से धीरे-धीरे चलने वाला था और सारस ही [illegible] उसके साथ था । अतः उस समय चित्रवर्ण के सेनापति मु[र्गे] ने आकर उसे घेर लिया । तब वह हिरण्यगर्भ सारस से बोला—[illegible]

१ [illegible] । २ [illegible] । ३ [illegible] । ४ [illegible] ।

सारस' ! ममाऽनुरोधादात्मानं कथं व्यापादयसि । ('अधुनाऽहं गन्तुमसमर्थः), त्वं गन्तुमधुनाऽपि समर्थः । तद्गत्वा जलं प्रविश्याऽऽत्मानं परिरक्ष । [3]अस्मत्पुत्रं चूडामणिनामानं सर्वज्ञस्य संमत्या राजानं करिष्यसि' ।

सारसो ब्रूते—'देव ! न वक्तव्यमेवं दुःसहं वचः, यावच्चन्द्रार्कौ[4] दिवि तिष्ठतस्तावद्विजयतां देवः । अहं देव ! दुर्गाधिकारी । [5]तन्मम मांसाऽसृग्विलिप्तेन द्वारवर्त्मना तावत्[6] प्रविशतु शत्रुः' । अपरञ्च-देव !

'दाता, क्षमी, गुणग्राही स्वामी दुःखेन लभ्यते' ।

राजाऽऽह—[7]'सत्यमेवैतत्' । किन्तु—

'शुचिर्दक्षोऽनुरक्तश्च जाने भृत्योऽपि दुर्लभः' ॥ १४२ ॥

...परिवेष्टितः । (घेर लिया गया) । अनुरोधात्=अपेक्षणात् । अनुवर्त्तनात् । दुःसहं= ...तुमशक्यम् । देवः=महाराजः । भवान् । दुर्गाधिकारी = दुर्गपतिः । मांसासृग्वि-...लिप्तेन=रुधिरमांसकर्दमलिप्तेन । द्वारवर्त्मना=दुर्गद्वारमार्गेण । क्षमी=क्षमावान् । गुणग्राही=गुणानुरक्तः । शुचिः=शुद्धः । दक्षः=

...सारस ! मेरे कारण से अपने को क्यों विपत्ति में डालते हो, तुम तो अभी भी भागने में समर्थ हो । अतः जल में (सरोवर, झील आदि में) घुसकर तुम तो अपनी रक्षा कर लो । और चूडामणि नामक मेरे पुत्र को सर्वज्ञ मन्त्री की संमति से राजा बना देना । सारस बोला कि—हे देव ! आप ऐसा दुःसह वचन मत कहिए, जब तक सूर्य और चन्द्र एवं आकाश में रहें, तब तक आपकी विजय हो (आप राज्य करें) । हे देव ! मैं दुर्ग का अधिकारी हूँ, अतः मेरे मांस और रक्त से लिप्त द्वार के मार्ग से ही शत्रु किले में प्रवेश कर सकते हैं, ऐसे नहीं । अर्थात् मेरे मरने पर ही शत्रु यहाँ आ सकते हैं, इसके पहले तो मैं शत्रुओं को कभी नहीं आने दूँगा । और भी—दाता क्षमावान् और गुणों का ग्रहण करने वाला स्वामी बड़े भाग्य से मिलता है, इस लिये उसे छोड़कर अपनी रक्षा करना कभी उचित नहीं है । राजा बोला—यह तो सत्य (ठीक) है । परन्तु—पवित्र, (सच्चा), चतुर, और अनुरागी (भक्त, प्यारा) भृत्य भी दुर्लभ है ।

१ ...पाठः । २ 'त्वमधुना गन्तुं शक्तः' । ३ 'मत्पुत्रं' । ४ 'चन्द्रार्कौ' ... ५ 'मन्मांस' । ६ तावदिति पाठान्तरम् । ७ 'सत्यमेव, किन्तु' ।

सारथी ब्रूते—'शृणु देव !

'यदि समरमपास्य नास्ति मृत्यो-
र्भयं, मिति युक्तमितोऽन्यतः प्रयातुम् ।
अथ मरणमवश्यमेव जन्तोः,
किमिति मुधा' मलिनं यशः क्रियेत' ? ॥ १४३ ॥

अन्यच्च—

'भवेऽस्मिन्पवनोद्भ्रान्तवीचिविभ्रमभङ्गुरे ।
जायते पुण्ययोगेन परार्थे जीवितव्ययः' ॥ १४४ ॥

पुरुषः । अनुगः=भटः । जाने=अहमेवं मन्ये, जानामि ॥ १४२ ॥

समरं=युद्धम् । अपास्य=परित्यज्य, पलायने कृते सति । मृत्योर्भयं नास्ति यदि चेत्, तर्हि-इतः=समरभूमेः, अन्यतः=अन्यत्र । प्रयातुं=गन्तुं, पला[illegible] युक्तम्=उचितम् । भवेदपि कदाचित् । अथ=यदि । जन्तोः=प्राणिनः [illegible] अवश्यमेव मरणमस्ति, तर्हि-किमिति=कुतः, मुधा=वृथैव मलिनं=म्लानं, क्रियेत । [illegible] ॥ १४३ ॥

पवनोद्भ्रान्तवीचिविभ्रमभङ्गुरे=पवनात्प्रेरिततरङ्गविलासवत्क्षणभङ्गुरे । अस्मिन् इह, भवे=संसारे । पुण्ययोगेन=पुण्यप्रकर्षेणैव । परार्थे=परोपकारार्थम् जीवितव्ययः=प्राणत्यागः । जायते=भवति ॥ १४४ ॥

है,-ऐसा मैं मानता हूँ ॥ १४२ ॥

तब सारथी बोला कि—हे देव ! सुनिये—

यदि युद्धस्थल को छोड़ कर भागने पर अन्यत्र जाने से मृत्यु का भय न होता हो तब तो कदाचित् दूसरी जगह पर भाग जाना ठीक भी हो सकता है पर जब प्राणि का मरना अवश्य है, तो फिर वृथा भागकर अपने निर्मल यश को भी क्यों मलिन करें ? ॥ १४३ ॥

और—जैसे वायु के वेग से समुद्र की लहरें उठती और नष्ट होती हैं, वैसे ही नष्ट होने वाले इस संसार में बड़े ही पुण्य से परोपकार के लिये जीवन का त्याग होता है ॥ १४४ ॥

१. 'किमिति मुधा । मलिनं यशः कुरुध्वे' पा० ।

[1]'स्वाम्यमात्यश्च, राष्ट्रं च, दुर्गं, कोशो, बलं, सुहृत् ।
राज्याङ्गानि प्रकृतयः, पौराणां श्रेणयोऽपि च' ॥ १४५ ॥

देव ! त्वं च स्वामी, सर्वथा रक्षणीयः । यतः—

[2]'प्रकृतिः स्वामिनं त्यक्त्वा समृद्धाऽपि न जीवति ।
अपि धन्वन्तरिर्वैद्यः, किं करोति गताऽऽयुषि' ? ॥ १४६ ॥

[3]अपरञ्च—

'नरेशे जीवलोकोऽयं निमीलति, निमीलति ।
उदेत्युदीयमाने च रवाविव सरोरुहम्' ॥ १४७ ॥

स्वामी=राजा । राष्ट्रं=राज्यम् । पौराणां=पुरनिवासिनाम् । श्रेणयः=... मण्डलानि-एतानि अष्टौ राज्याङ्गानि-'प्रकृति'पदेनोच्यन्ते ॥ १४५ ॥

समृद्धाऽपि=धनधान्यादिसम्पन्नाऽपि, प्रकृतिः=राष्ट्रादिरूपा पूर्वोक्ताष्टाङ्गा प्रकृतिः । स्वामिनं=राजानं—विहाय न जीवति । यतः—गतायुषि=क्षीणायुषि पुंसि । प्राणेषु च गतेषु । मृते वा रोगिणि । धन्वन्तरिरपि किं करोति ? । न किमपीत्यर्थः ॥ १४६ ॥

नरेशे=नृपे । निमीलति=सङ्कुचति सति, मृते, खिन्ने च सति । जीवलोकोऽयम्=

स्वामी, मन्त्री राज्य, किला, खजाना, सेना, सुहृद् और नगरवासी (प्रजा) जनों का समूह ये आठ राज्य के अङ्ग हैं । ये आठों प्रकृति कहलाते हैं ॥१४५॥

हे देव ! (इन आठों प्रकृतियों में भी मुख्य) आप स्वामी हो, इसलिये पहले आप की ही रक्षा सब प्रकार से करनी चाहिये ।

क्योंकि—यदि प्रकृति (मन्त्री, राष्ट्र, प्रजा आदि) समृद्ध होने पर भी स्वामी को छोड़ दे, तो वह जी नहीं सकती है । जैसे आयु क्षीण होने पर धन्वन्तरि वैद्य भी क्या कर सकता है, अर्थात् कुछ नहीं । अतः राजा ही राज्य का मूल है ॥ १४६ ॥

और भी—राजा के नेत्र मूँदने पर सारा संसार (प्रजा) भी आँखें मूँद लेता है,

1. 'देव ! त्वं च स्वामी सर्वथा रक्षणीयः । यतः—स्वाम्यमात्यश्च' । 2 क्वचित् 'प्रकृतिः स्वामिनं त्यक्त्वा' । 3 क्वचन ।

[1]अथाऽपि प्रधानाऽङ्गं राजा ।

अथ कुक्कुटेनाऽऽगत्य राजहंसस्य शरीरे खरतरनखाऽऽघातः कृतः । [2]तदा सत्वरमुपसृत्य सारसेन स्वदेहाऽन्तरितो राजा जले क्षिप्तः[3] ।

[4]अथ कुक्कुटनखप्रहारजर्जरीकृतेनाऽपि सारसेन कुक्कुटसेना बहुशो हता । पश्चात्सारसोऽपि बहुभिः पक्षिभिः समेत्य[5] चञ्चुप्रहारेण विभिद्य व्यापादितः । अथ चित्रवर्णो दुर्गं प्रविश्य, दुर्गाऽवस्थितं द्रव्यं ग्राहयित्वा, बन्दिभिर्जयशब्दैरानन्दितः[6] स्वस्कन्धाऽऽवारं जगाम ।

प्राणिमात्रलोऽयम् । निमीलति=म्रियते । उदीयमाने=प्रकाशमाने, अभ्युदयमापन्ने च नृपे, रवौ—सरोरुहमिव=कमलमिव, उदेति=वर्धते, विकसति च । यथा सूर्योदये कमलानां विकासः, सूर्यास्तगमने च तेषां सङ्कोचो भवति, तथैव राज्ञोऽभ्युदये हि प्रजाभ्युदयः, तन्नाशे च प्रजानाश इत्याशयः ॥ १४० ॥

खरतरनखाऽऽघातः=तीक्ष्णनखप्रहारः । स्वदेहान्तरितः=स्वशरीरेणाऽऽच्छादितः । विभिद्य=विदार्य । व्यापादितः=हतः । समेत्य=समागत्य । पाठान्तरे—सम्भूय=मिलित्वा । दुर्गं=राजहंसरक्षितदुर्गम् । ग्राहयित्वा=ग्राहय । स्वस्कन्धावारं=

अर्थात् राजा के नष्ट होने पर प्रजा भी नष्टप्राय हो जाती है । और राजा के उदय (सुखी, प्रसन्न) होने पर (प्रजा) उदयशाली (सुखी) होती है । जैसे सूर्य के उदय तथा अस्त होने से कमल खिलता और बन्द होता है ॥ १४० ॥

इसके बाद कुक्कुट ने आकर राजहंस के शरीर में अपने बड़े बड़े तीक्ष्ण नखों से प्रहार किया । तब शीघ्रता करके सारस ने अपनी देह से छिपाकर राजा को जल में फेंक दिया । कुक्कुट के नख के प्रहार से पीड़ित होकर भी उस सेनापति सारस ने बहुत सी कुक्कुटों की सेना को मार गिराया । फिर सारस को भी बहुत से पक्षियों ने अपनी चोंचों के प्रहार से छेद कर मार डाला । उसी समय चित्रवर्ण किले में घुस कर वहाँ की सब धन सम्पत्ति को लेकर बन्दीजनों के जय जयकार शब्दों से आनन्दित होता हुआ अपने सैन्यशिविर (पड़ाव, छावनी, डेरा) को चला गया ।

---

१. क्वचित् पाठोऽयम् । २. 'नखाऽऽघातः' । ३. । 'तदनन्तरं कुक्कुटेन नखप्रहारजर्जरीकृतेन सारसेन स्वदेहान्तरितो राजा जले क्षिप्तः' । ४ 'कुक्कुटसैन्यं [illegible] [illegible] चञ्चुप्रहारेण विभिद्य [illegible]' । ५ 'सम्भूय व्यापादितः' । ६ 'जयशब्दैरानन्दितः' ।

अथ राजपुत्रैरुक्तम्—'तस्मिन्राजहंसबले[1] पुण्यवान् स सारस[2] एव, येन स्वदेहत्यागेन स्वामी रक्षितः'। [3]यतः—

'जनयन्ति सुतान् गावः सर्वा एव[4] गवाऽऽकृतीन्।
विषाणोल्लिखितस्कन्धं [5]काचिदेव गवां पतिम्' ॥१४८॥

विष्णुशर्मोवाच—'स [6]तावत्सत्त्वक्रीतानक्षयलोकान् विद्याधरीपरिवृतो[7]ऽनुभवतु महासत्त्वः'। तथा चोक्तम्—

'आहवेषु च ये शूराः [8]स्वाम्यर्थे त्यक्तजीविताः।
भर्तृभक्ताः, कृतज्ञाश्च, ते नराः स्वर्गगामिनः' ॥ १४९ ॥

स्कन्धावारसंनिवेशे। पुण्यवान्=पुण्यात्मा। स्वामी=राजहंसो राजा। गवाकृतीन्=स्वसमानाकृतीन्। बलीवर्दान्। विषाणोल्लिखितस्कन्धं=शृङ्गघर्षणमन्दर्शनजन्मानरोषावेशेन विषाणविदारितवृक्षस्कन्धम्। यद्वा विषाणैरुल्लिखितौ स्कन्धौ यस्येति वा। एतेन तस्य भौमाग्यातिशयः सूचितः। गवां पति=गोसमुदायमुख्यम्। (साँड को) ॥१४८॥

सत्त्वक्रीतान्=स्वसत्त्वबल-पौरुषक्रीतान्। अक्षयलोकान्=अक्षयस्वर्गादिलोकान्। विद्याधरीपरिवृतः=विद्याधरसुन्दरीगणपरिवृतः। महासत्त्वः=महानु-

इसके बाद यह कथा सुन कर राजपुत्रों ने विष्णुशर्मा से कहा कि—'उस राजहंस की सेना में तो यह सारस ही बड़ा पुण्यात्मा था, जिसने अपने देह को त्याग कर भी अपने स्वामी की रक्षा की। जैसे कहा भी है—

यद्यपि सभी गायें बैलों के समान ही पुत्रों को पैदा करती हैं, परन्तु जिसके कन्धे (ककुद में) सींगों से छिन्न-भिन्न हों ऐसे गोपति (साँड) को तो कोई कोई गाय ही उत्पन्न करती है। सब गौ नहीं ॥ १४८ ॥

तब विष्णुशर्मा बोले कि—वह महापुरुष (सारस) तो अब विद्याधरियों के साथ साथ स्वर्ग का अनुपम आनन्द भोग रहा है।

जैसे कहा भी है कि—स्वामी के भक्त और किये उपकार को मानने वाले जो संग्राम में स्वामी के लिये अपना जीवन छोड़ते हैं (प्राण त्याग करते हैं) वे मनुष्य सीधे स्वर्ग में जाते हैं ॥ १४९ ॥

१ 'तस्मिन् राजबले'। २ 'पुण्यवान् सारस एव'। 'स पुण्यवान् सारस एव'। ३ 'उक्तंचैतत्'। ४ 'सर्वत्रैव'। ५ 'कश्चिदेव' पा०। ६. 'स तावद्विद्याधरीपरिवृतः स्वर्गसुखमनुभवति महासत्त्वः'। ७ 'विद्याधरीपरिजनोऽनुभवतु'। ८ 'स्वाम्यर्थे'।

'यत्र तत्र हतः शूरः शत्रुभिः परिवेष्टितः ।
अक्षयाँल्लभते लोकान्यदि क्लैब्यं न गच्छति' ॥ १५०

अथ विष्णुशर्मा प्राऽऽह—
विग्रहः श्रुतो भवद्भिः । राजपुत्रैरुक्तम्—'श्रुत्वा सुखिनो भूता वयम् ।'
विष्णुशर्माऽब्रवीत्—'अपरमप्येवमस्तु—

'विग्रहः करितुरङ्गपत्तिभि—
र्नो कदापि भवतान्महीभुजाम् ।
नीतिमन्त्रपवनैः समाहताः
संश्रयन्तु गिरिगह्वरं द्विषः' ॥ १५१ ॥

इति श्रीनारायणपण्डितकृते हितोपदेशे—
नीतिशास्त्रे विग्रहो नाम तृतीयः कथासंग्रहः ॥३॥

[illegible] । [illegible] = युद्धेषु । यत्रतत्र = यत्र कुत्रापि स्थाने । परिवेष्टितः = आक्रान्तः । अक्षये = [illegible] । [illegible] । अक्षयान् = नित्यान् । लोकान् = स्वर्गादिलोकान् । [illegible] । क्लैब्यं = कातरताम् ॥ १५० ॥

करितुरङ्गपत्तिभिः = [illegible] [illegible], कदाचिदपि विग्रहः = युद्धं, [illegible] । [illegible] = भवतु । नीतिमन्त्रपवनैः = नीतिगुप्तमन्त्रणवायुभिः—आहताः । [illegible] = शत्रवः । संश्रयन्तु । गिरिगह्वरं = पर्वतकन्दराणि समाश्रयन्तु ॥ १५१ ॥

इति [illegible] हितोपदेशस्याभिनवराजलक्ष्म्यां विग्रहो नाम तृतीयं तन्त्रम् । [illegible] ।

[illegible] शत्रुओं से घिरा हुआ जहाँ कहीं भी मारा जाता है, पर यदि कायरता न करे (पीठ न दिखावे), तो अक्षय हो कर [illegible] लोकों को पाता है ॥ १५० ॥ पुनः विष्णुशर्मा बोले— [illegible] ने [illegible] 'विग्रह' को [illegible] सुन ही ली है । [illegible] हुए हैं । [illegible] बोले—[illegible] को सुनकर [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ([illegible] [illegible]) [illegible] [illegible] [illegible] ॥ १५१

[illegible] का विग्रह [illegible] समाप्त ।

अथ सन्धिः ।

पुनः कथाऽऽरम्भकाले राजपुत्रैरुक्तम्—'आर्य ! विग्रहः श्रुतोऽस्माभिः । सन्धिरधुनाऽभिधीयताम् ।' विष्णुशर्मणोक्तम्—'श्रूयताम्, सन्धिमपि कथयामि । यस्याऽयमाद्यः श्लोकः—

वृत्ते महति संग्रामे राज्ञोर्निहतसेनयोः ।
स्थेयाभ्यां गृध्र-चक्राभ्यां वाचा सन्धिः कृतः क्षणात्' ॥१॥

राजपुत्रा ऊचुः—'कथमेतत् ?' । विष्णुशर्मा कथयति—
'ततस्तेन राजहंसेनोक्तम्—केनाऽस्मद्दुर्गे निक्षिप्तोऽग्निः? । किं पारक्येण ?, किं वाऽस्मद्दुर्गवासिना केनापि विपक्षप्रयुक्तेन ?।' चक्रवाको

• श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिकृता अभिनवराजलक्ष्मीः •

कथाऽऽरम्भकाले = पुनः कथारम्भसमये । आर्य = हे पूज्य । विग्रहः = युद्धम् । [सन्धिः] = मेलनम् । तदनुबन्धी कथाप्रसङ्ग इति यावत् । वृत्ते इति । महति संग्रामे = [महति] युद्धे । वृत्ते = निष्पन्ने । सञ्जाते सति । निहतसेनयोः = हतसेनयोः । [राज्ञोः] = चित्रवर्ण-राजहंसयोः । स्थेयाभ्यां = मध्यस्थाभ्याम् । 'स्थेयो विवादस्थानस्य [निर्णे]तरि, पुरोहिते' इत्यमरः । गृध्रचक्राभ्यां = गृध्र-चक्रवाकाभ्यां मुख्यमन्त्रिभ्याम् । [क्षणे]नैव—वाचा = वाङ्मात्रेणैव । सन्धिः = सन्धानम् । कृतः = निष्पादितः ॥१॥
[तत]स्तेन = हतसेनेन कथञ्चिद्विजितेन हिरण्यगर्भेण । पारक्येण = परकीयेण,

[इसके बाद] फिर पुनः कथा के आरम्भ समय में वे राजा के पुत्र बोले कि—हे आर्य ! इन दोनों के विग्रह तो प्यार से सुना, अब सन्धि अर्थात् मेल का भी आप वर्णन कीजिये । तब [वि]ष्णुशर्मा बोले कि—'सुनिये, सन्धि भी कहता हूँ । जिसका पहला श्लोक यह है—
उन दोनों राजाओं में बड़ा युद्ध हो जाने पर और उसमें दोनों पक्षों की बहुत सी [से]नाओं के मारे जाने पर प्रधानमन्त्री गिद्ध और चकवे ने मध्यस्थ होकर पल भर [में बात]चीत करके मेल कर लिया ॥ १ ॥
राजपुत्र बोले कि—यह कथा कैसे है ? । विष्णुशर्मा बोले—
इसके बाद उस राजहंस ने मन्त्री चकवे से पूछा कि—हमारे किले में किसने

१. 'वैनयिक' ।

ब्रूते॰—देव ! भवतो निष्कारणबन्धुरसौ मेघवर्णः सपरिवारो न॰ स्वयं [illegible]
मन्ये तस्यैव विचेष्टितमिदम् ।'

राजा एवं विचिन्त्याऽऽह—'अस्ति तावदेवं, मम ³दुर्दैवमेतत्
तथा चोक्तम्—

'अपराधः स दैवस्य, न पुनर्मन्त्रिणामयम् ।
कार्यं ⁴सुचरितं क्वापि दैवयोगाद्विनश्यति' ॥ २ ॥

मन्त्री ब्रूते—'उक्तमेतत्—

'विषमां हि दशां प्राप्य दैवं गर्हयते नरः ।
आत्मनः कर्मदोषांश्च नैव जानात्यपण्डितः ॥ ३ ॥

[illegible] । निष्कारणबन्धुः=अकारणसुहृत् । [illegible] । [illegible]=[illegible] । [illegible]=[illegible] । दुर्दैवं=दुर्भाग्यम् । [illegible] ।
[illegible] । [illegible]=[illegible] । [illegible] । नाय मन्त्रिणां दोषः । [illegible] ॥२॥
[illegible]=[illegible] । दैवस्यापराधः=दैवदुर्विलसितम् । [illegible] । गर्हयते=
सुचरितम्=[illegible] । [illegible]=[illegible] । दशाम्=दुर्दशाम् । दैवं=भाग्यम् ।
[illegible]=[illegible] । आत्मनः=स्वस्य । कर्मदोषान्=[illegible] । [illegible]

[illegible] । [illegible] । [illegible]—देव ! [illegible] ।
[illegible] । [illegible] [illegible] है । [illegible] ।
[illegible] [illegible] ।
[illegible] है ।
[illegible] ॥
[illegible] है—
[illegible] है ॥

१. '[illegible]' । २ '[illegible]' । ३ '[illegible]' । ४ '[illegible]'
[illegible] । ५ '[illegible]' ।

अपरञ्च—

'सुहृदां हितकामानां यो वाक्यं नाऽभिनन्दति ।
स कूर्म इव दुर्बुद्धिः काष्ठाद्भ्रष्टो विनश्यति' ॥ ४ ॥

[१अन्यच्च—

'रक्षितव्यं सदा वाक्यं, वाक्याद्भवति नाशनम् ।
हंसाभ्यां नीयमानस्य कूर्मस्य पतनं यथा' ॥ ५] ॥

राजाऽऽह—'कथमेतत् ?' । मन्त्री कथयति—

१ हंस-कूर्म-कथा ।

अस्ति मगधदेशे फुल्लोत्पलाभिधानं सरः । तत्र२ चिरं सङ्कटविकट-नामानौ हंसौ निवसतः । तयोर्मित्रं कम्बुग्रीवनामा कूर्मश्च प्रतिवसति ।

अविमृश्य = अविमृश्यकारी, मूर्खः ॥ ३ ॥

हितकामानां = हितैषिणाम् । सुहृदां = मित्रबन्धुबान्धवानाम् । न अभिनन्दति = [illegible], न तदनुकूलमाचरति च । कूर्मः = कच्छपः । दुर्बुद्धिः = दुष्टमतिः । [illegible] = काष्ठखण्डात् । भ्रष्टः = पतितः । विनश्यति = विनाशमुपयाति । [illegible] ४ ॥ वाक्यं = वचनं । रक्षितव्यं = न वृथा वक्तव्यम् । केनाऽपि सह वृथा [illegible] न कार्यः । नाशनं = विनाशः ॥ ५ ॥

और भी—हित चाहने वाले अपने मित्रों के वचनों को जो नहीं मानता है, वह दुर्बुद्धि (खोटी बुद्धिवाला), कछुए की तरह ही लकड़ी (अपने [illegible]स्थान) से गिर कर नष्ट हो जाता है ॥ ४ ॥

और भी—मनुष्य को ज्यादा नहीं बोलना चाहिए, क्योंकि अधिक बोलने से विनाश (हानि) ही होता है, जैसे दो हंसों से ले जाया जाता हुआ यह कछुआ [illegible] बोलने से ही गिर कर मर गया था ॥ ५ ॥

राजा बोला कि—'यह कथा कैसे है ?' । मन्त्री कहने लगा—

मगधदेश में फुल्लोत्पल नाम का एक सरोवर है । वहाँ बहुत समय से संकट [और] विकट नाम के दो हंस रहते थे । और उन दोनों का एक मित्र कम्बुग्रीव [नाम का कछुआ भी रहता था ।]

१. अयं ग्रन्थः क्वचिदेव दृश्यते । २ 'चिरात्' ।

अथैकदा धीवरैरागत्य तत्रोक्तं, यत्—'अत्राऽस्माभिरद्योषित्वा प्रा[illegible] मत्स्यकूर्मादयो व्यापादयितव्याः'। तदाकर्ण्य कूर्मो हंसावाह—'सुहृदौ श्रुतोऽयं धीवराऽऽलापः। अधुना किं मया कर्तव्यम्?'। हंसावाहतु[illegible] १'ज्ञायतान्तावत्, पुनस्तावत्प्रातर्यदुचितं तत्कर्तव्यम्'। कूर्मो ब्रू[illegible] 'मैवम्। यतो दृष्टव्यतिकरोऽहमत्र'। तथा चोक्तम्—

'अनागतविधाता च, प्रत्युत्पन्नमतिस्तथा।
द्वावेतौ सुखमेधेते, यद्भविष्यो विनश्यति' ॥ ६ ॥

तावाहतु—'कथमेतत्?'। कूर्मः कथयति—

धीवरैः=मत्स्यघातिभिः। (धीवर)। तत्र=प्रतिमन्सरसि। उषित्वा=[illegible] [illegible]। व्यापादयितव्याः=हन्तव्याः। आकर्ण्य=श्रुत्वा। हंसौ=हंसौ प्रति। [illegible] [illegible]। तावत्=यावत्। ज्ञायताम्=ज्ञायते कुर्वन्ति, तत्प्रतीकारमनागतम्। [illegible] उचितम्=योग्यं प्रतिविधानम्। दृष्टव्यतिकरः=उपेक्षते आपत्ति या दर्शिः [illegible] [illegible] यद्भविष्यमरणविनाशकरा मया दृष्टा। [illegible] [illegible]। एतौ=वर्धमानौ भवतो। सुखं [illegible] [illegible]। [illegible]=सुखं जीवतः, वर्धते च ॥ ६ ॥

[illegible] का कछुआ भी वहीं रहता था। एक समय धीवरों (मछुओं) ने वहाँ आकर [illegible] कि—हम लोग यहीं रह कर प्रातः काल मछली, कछुए आदि मारेंगे और [illegible] [illegible]। यह सुन कर वह कछुआ हंसों से बोला कि—हे मित्रों! [illegible] [illegible]। धीवरों का यह कहना सुन तो लिया होगा। बताइए अब हम क्या उपाय करें? [illegible] हंस बोले कि—इनको करने दीजिये, फिर प्रातःकाल जो योग्य होगा सो [illegible] कछुआ बोला कि—ऐसा न करो, क्योंकि ऐसे मामले में उपेक्षा करने [illegible] [illegible] चुका हूँ।

जैसा कि कहा भी है—अनागतविधाता (दूरदर्शी,) और प्र[illegible] (समय के अनुसार कार्य करने वाला) ये दोनों तो सुख से रहते [illegible] यद्भविष्य (होनहार का विश्वास करने वाला) नष्ट हो जाता है ॥ ६ ॥ [illegible] कछुए से कहा कि—यह कथा कैसी है?। कछुआ कहने [illegible]

१. '[illegible]'।

२. अनागतविधात्रादिमत्स्यत्रयकथा ।

पुराऽस्मिन्नेव[1] सरस्येवंविधेष्वेव[2] धीवरेषूपस्थितेषु मत्स्यत्रयेणाऽऽलोचितम् । तत्राऽनागतविधाता नामैको मत्स्यः । तेनोक्तम्—'अहं तावज्जलाशयाऽन्तरं गच्छामि' । इत्युक्त्वा स ह्रदान्तरं गतः । अपरेण प्रत्युत्पन्नमतिनाम्ना मत्स्येनाऽभिहितं—'भविष्यदर्थे प्रमाणाऽभावात्कुत्र मया गन्तव्यम् ? । [3]तदुत्पन्ने यथाकार्यं तदनुष्ठेयम्' । तथा चोक्तम्—

'उत्पन्नामापदं यस्तु समाधत्ते स बुद्धिमान् ।
वणिजो भार्यया जारः प्रत्यक्षे निह्नुतो यथा' ॥ ७ ॥

यद्भविष्यः पृच्छति—'कथमेतत् ?' । प्रत्युत्पन्नमतिः कथयति—

पुरा=पूर्वकाले । (पहिले भी) । एवंविधेषु=ईदृशेषु । उपस्थितेषु=मत्स्यान्वेषणार्थमागतेषु । भविष्यदर्थे=आगामिनि विषये । प्रमाणाभावात्=निश्चयाभावात् । तत्=तस्मात् । उत्पन्ने=भये समापतिते । यथाकार्यं=कार्यमनुसृत्य । ...विधानं करणीयम् । समाधत्ते=दूरीकरोति । वणिजः=वैश्यस्य । प्रत्यक्षे=पत्युः पुरतोऽपि । निह्नुतः=अपनीतः । (छिपा लिया) ॥ ७ ॥

पहले भी इसी सरोवर में ऐसे ही धीवरों के आनेपर, यहाँ रहनेवाली तीन मछलियों ने भी विचार किया था । उनमें से अनागतविधाता नामकी एक मछली थी । उसने कहा कि—मैं अभी दूसरे जलाशयको जाती हूँ । ऐसा कह कर वह दूसरे तालाब में चली गई । दूसरी प्रत्युत्पन्नमति नाम की मछली ने विचार किया कि—होने वाले भावी कार्य में प्रमाण (निश्चय) न होने से अभी मैं कहाँ जाऊँ ? । अतः समय पड़ने पर जैसा करना योग्य होगा वैसा ही करूँगी । ऐसा ही कहा भी है—बुद्धिमान् वह है, जो आई हुई आपत्ति का तत्काल प्रतिकार करके उसे मिटा देवे । जैसे बनिये की स्त्री ने अपने पति के सम्मुख में जार (उपपति) को छिपा लिया था ॥ ७ ॥

यद्भविष्य ने पूछा कि—यह कथा कैसे है ? । प्रत्युत्पन्नमति कहने लगा कि—

१ 'दर्शितमेव' । २ 'धीवरेषु' । ३. 'तदुत्पन्ने कार्ये यथाकार्यमनुष्ठेयम्' ।

३. वणिग्भार्याजारकथा ।

'पुरा' विश्रमपुरे समुद्रदत्तो नाम वणिगस्ति । तस्य[२] रत्नप्रभा नाम गृहिणी स्वसेवकेन सह सदा रमते । यतः—

'न स्त्रीणामप्रियः कश्चित्, प्रियो वाऽपि न विद्यते ।
गावस्तृणमिवारण्ये प्रार्थयन्ते नवं नवम्' ॥ ८ ॥

अथैकदा सा रत्नप्रभा तस्य सेवकस्य मुखे चुम्बनं ददती समुद्रदत्तेनाऽवलोकिता[३] । ततः सा बन्धकी सत्वरं भर्तुः समीपं [४]गत्वाऽऽह—'नाथ ! एतस्य सेवकस्य महती निर्वृतिः । [५]यतोऽयं 'चौरिकां कृत्वा कर्पूरं खादती'ति मयाऽस्य मुखमाघ्राय ज्ञातम् । तथा चोक्तम्—

गृहिणी=भार्या । रमते=सुरतसुखमनुभवति । नवं=नवीनं [illegible] । [illegible] प्रार्थयन्ते=[illegible] ॥ ८ ॥ बन्धकी=[illegible] । ('छिनाल' 'कुलटा') । सत्वरं=शीघ्रमेव । निर्वृतिः=[illegible] (बड़ी सुखता है) । [illegible]

पहले विश्रमपुर में समुद्रदत्त नाम का एक वैश्य था, उसकी रत्नप्रभा नाम [illegible] थी। [illegible] अपने सेवक से [illegible] थी, और उसके साथ [illegible] । क्योंकि—स्त्रियों का न तो कोई प्यारा प्रिय है, और न कोई [illegible] ही है। किन्तु जैसे वन में गायें नई नई घास को ढूंढ ढूंढ कर चरती हैं, वैसे ही स्त्रियाँ सदा नए नए पुरुषों को चाहती हैं ॥ ८ ॥

[illegible] एक दिन [illegible] उस सेवक को [illegible] के मुख में चुम्बन देते हुए समुद्रदत्त ने देख लिया । तब वह [illegible] अपने स्वामी के समीप जाकर [illegible] । [illegible] (सुख) है । क्योंकि—यह चोरी करके [illegible] कपूर [illegible] खाता है।

[illegible]

'आहारो द्विगुणः स्त्रीणां, बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा ।
षड्गुणो व्यवसायश्च, कामश्चाऽष्टगुणः स्मृतः' ॥ ९ ॥

'तच्छ्रुत्वा सेवकेनापि [2]प्रकुप्योक्तं—'नाथ ! यस्य स्वामिनो गृहे एतादृशी भार्या तत्र सेवकेन कथं स्थातव्यम् ? । यत्र च प्रतिक्षणं गृहिणी सेवकस्य मुखं जिघ्रति !' । ततोऽसावुत्थाय चलितः । साधुना च यत्नात्स्थाप्य धृतः । अतोऽहं ब्रवीमि—'उत्पन्नामापदम्' इत्यादि ॥ ॥ ततो यद्भविष्येणोक्तम्—

'यदभावि न तद्भावि, भावि चेन्न तदन्यथा' ।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते' ? ॥ १० ॥

न मङ्गलानुगुणः । (निर्वृतिः=सुखम् । सौख्यम्) । व्यवसायः = उद्यमः ॥९॥ निर्वृतिः=अन्यत्र गच्छे । असौ=सेवकः । यदिति । 'यन्न भविष्यति, तन्नैव भवति, यच्च भविष्यति, तन्नैव केनापि दूरीकर्तुं शक्यते' इत्येवं चिन्ताविषहरः—अगदः=भेषजम्, कुतो न लोकैः पीयते ? । अवश्यमिदं पेयम् ॥१०॥

जैसे किसी ने कहा भी है—स्त्रियों का आहार पुरुषों से द्विगुण होता है, उनकी बुद्धि पुरुषों से चौगुनी होती है, पराक्रम उनका (उद्योग) छे गुना होता है और काम पुरुषों से आठ गुना होता है ॥ ९ ॥

यह सुन कर वह सेवक भी क्रोध करके बोला कि—हे स्वामिन् ! जिस स्वामी के घर में ऐसी स्त्री है, जो प्रतिक्षण सेवकों का मुख ही सूँघती रहती है, वहाँ सेवकों का निर्वाह कैसे हो सकता है । ऐसा कहकर वह सेवक उठकर जाने लगा । तब उसीश्वर ने उसे बड़े यत्न से समझा बुझाकर किसी तरह रक्खा । इसलिये मैं कहता हूँ कि—'विपत्ति आने पर जो उसका तत्काल समाधान कर सके, वही बुद्धिमान् है' इत्यादि । यह सुनकर पुनः वह यद्भविष्य बोला कि—

जो नहीं होनेवाला है, वह कभी हो नहीं सकता है, और जो होनेवाला है, वह टाला नहीं जा सकता है, अर्थात् वह होता ही है ।—चिन्तारूप विष को दूर करनेवाली यह औषधि क्यों नहीं पीते हो ! ॥ १० ॥

१ 'दशाहस्य' । २ 'उपकुप्योक्तं'—यस्य गृहे ईदृशी' ।

ततः प्रातर्जालेन बद्धः प्रत्युत्पन्नमतिर्मृतवदात्मानं सन्दर्श्य स्थितः। ततो जालादपसारितो यथाशक्त्युत्प्लुत्य गभीरं नीरं प्रविष्टः। यद्भविष्यश्च धीवरैः प्राप्तो, व्यापादितः। अतोऽहं ब्रवीमि—'अनागतविधाता च' इत्यादि॥ • ॥

तद्यथाऽहमन्यं ह्रदं प्राप्नोमि तथा[1] क्रियताम्।' हंसावाहतुः—'जलाशयान्तरे प्राप्ते तव कुशलम्। स्थले गच्छतस्ते को विधिः?।' कूर्म आह—'यथाऽहं भवद्भ्यां सहाऽऽकाशवर्त्मना यामि, तथा[3] विधीयताम्। हंसौ ब्रूतः—'कथमुपायः सम्भवति'?। कच्छपो वदति—'युवाभ्यां चञ्चुधृतं काष्ठखण्डमेकं मया मुखेनाऽवलम्बितव्यम्। [4]ततश्च युवयोः पक्षबलेन मयाऽपि सुखेन गन्तव्यम्।' हंसौ ब्रूतः—'सम्भवत्येष उपायः'। किन्तु—

अपसारितः = दूरीकृतः। प्राप्ते = सति गते तु। स्थले = भूमौ। विधिः = उपायः। आकाशवर्त्मना = गगनमार्गेण। सम्भवति = [illegible]।

फिर प्रातःकाल जब वह प्रत्युत्पन्नमति जाल में फँस गया तो वह अपने को मरा हुआ सा दिखाता हुआ श्वास रोककर पड़ गया। तब मछुओं ने उसे मरा हुआ जानकर जाल से निकालकर बाहर फेंक दिया। इसके बाद जाल से निकलने पर वह अपनी सामर्थ्य के अनुसार वेग से उछलकर गहरे जल में जा घुसा और बच गया। परन्तु यद्भविष्य धीवरों से पकड़ा जाकर मारा गया। इसलिये मैं कहता हूँ कि—'अनागतविधाता और प्रत्युत्पन्नमति ये दोनों तो सुख से रहे, और यद्भविष्य मारा गया' इत्यादि। अतः जैसे मैं दूसरे तालाब में पहुँचूँ, ऐसा कोई उपाय करो। तब हंस बोले दूसरे जलाशय में पहुँच जाने पर तो तुम्हारा कुशल है, पर भूमि में चलते हुए तुम्हारे प्राणों की रक्षा के बचने का क्या उपाय है?। कछुआ बोला कि—जैसे मैं भी आपके साथ आकाशमार्ग से आ सकूँ वैसा ही करो। हंस बोले कि—ऐसा क्या उपाय हो सकता है?। कछुआ बोला कि—तुम दोनों चोंच में काठ का एक टुकड़ा पकड़ लेना और मैं उसको मुँह से पकड़ लूँगा और इस प्रकार तुम्हारे पंखों के बल से मैं भी सुख से चला जाऊँगा।' हंस बोले कि—यह उपाय हो सकता है।'

१. '[illegible]'। २. '[illegible]'। ३. 'स उपायो विधीयताम्'। ४ '[illegible]'।

'उपायं चिन्तयन्प्राज्ञो, 'ह्यपायमपि चिन्तयेत् ।
पश्यतो बकमूर्खस्य नकुलैर्भक्षिताः प्रजाः'[2] ॥ ११ ॥

...नः पृच्छति—'कथमेतत् ?।' तौ कथयतः—

४. बक-नकुल-कथा ।

...स्त्युत्तरापथे [3]गृध्रकूटनाम्नि पर्वते महान्पिप्पलवृक्षः । तत्राऽनेके ...का निवसन्ति । तस्य[4] वृक्षस्याऽधस्ताद्विवरे सर्पस्तिष्ठति । स च बकानां ...लानाऽपत्यानि खादति । अथ[5] शोकार्त्तानां विलापं श्रुत्वा, [6]केनचिद्वृद्ध-...केनाऽभिहितम्[7]—'भो एवं कुरुत, यूयं मत्स्यानुपादाय[8], नकुलविवरा-...रभ्य सर्पविवरं यावत्पङ्क्तिक्रमेण [9]एकैकशो विकिरत । ततस्तदा-...रलुब्धैर्नकुलैरागत्य सर्पो द्रष्टव्यः, स्वभावद्वेषाद्व्यापादयितव्यश्च ।'

...ों, यह उपाय है तो, परन्तु) । प्राज्ञः = विद्वान् । अपायं=हानिमपि । प्रजाः= ...त्यानि । 'मुग्धा' इति, 'बकाः' इति च बहुत्र पाठः ॥ ११ ॥ विवरे = छिद्रे । ...रत = विकिरत । (बखेर दो) । तदाहारलुब्धैः=मत्स्याऽऽमिषभोजनलुब्धैः ।

परन्तु-विद्वान् मनुष्य उपाय को सोचता हुआ अपाय (हानि) को भी पहिले ...ही सोचे । अपाय का विचार न करने से ही उस मूर्ख बगले के देखते हुए ही ...देखते नेवलों ने उनकी प्रजा (सन्तान) खा डाली थी ॥ ११ ॥

...मयूर ने पूछा कि—यह कथा कैसे है ? । वे दोनों कहने लगे—

...उत्तर दिशा में गृध्रकूट नामक पर्वत पर एक बड़ाभारी पीपल का वृक्ष है । उसपर ...र से बगुले रहते थे । और उस वृक्ष के नीचे बिल में एक काला साँप भी ...ता था । और वह सदा उनके बच्चों को खा जाता था । एक दिन उन दुःखी ...लों का रोना सुन कर किसी बगुले ने कहा कि—ऐसा उपाय करो, तुम लोग ...लियों को लाकर नेवले के बिल से लेकर यहाँ साँप के बिल तक कतार बाँध-...कर रख दो । फिर उसके खाने के लोभ से नेवलें यहाँ तक आ जायेंगे । और ...साँप को देख कर स्वाभाविक वैर के कारण उसे मार डालेंगे । तब बगुलों

१ 'ह्यपायमपि' । २ 'बकाः' इति, 'मुग्धाः' इति च पा० । ३ 'गृध्रकूटो नाम ... । तत्र रेवातीरे न्यग्रोधपादपे बका निवसन्ति' । ४. 'तस्य वटस्य' । ५ 'ततः ...' । ६ 'केनचिद्वृद्धेना' । ७ 'भिहितम्—एवं' । ८ 'मत्स्यानानीय' । ९ विकिरत ।

तथाऽनुष्ठिते सति¹ तद् वृत्तम् ।

अथ नकुलैर्वृक्षोपरि बकशावकानां रावः श्रुतः । पश्चात्तैर्वृक्षमारुह्य, बकशावकाः खादिताः । अत आवां ब्रूवः—'उपायं चिन्तयन्'—इत्यादि ॥ ● ॥

आवाभ्यां नीयमानं त्वामवलोक्य² लोकैः किञ्चिद्वक्तव्यमेव । यदि त्वमुत्तरं ³दास्यसि, तदा त्वन्मरणम् । तत्सर्वथाऽत्रैव स्थीयताम् ।'

कूर्मो वदति—'किमहमप्राज्ञः⁴, नाऽहमुत्तरं दास्यामि । न किमपि मया वक्तव्यम् ।' ⁵तथाऽनुष्ठिते तथाविधं कूर्ममालोक्य, सर्वे गोरक्षकाः पश्चाद्धावन्ति, वदन्ति च । अहो ! ⁶महदाश्चर्यं ! पक्षिभ्यां कूर्मो नीयते ।

तद्वृत्तं=नकुलैः सर्पवधं कृतम् । पक्षिशावकानां=पक्षिडिम्भानाम् । रावः= आरवः । शब्दः । तैः=नकुलैः ।

किञ्चित्=उचितमनुचितं, विषमविषं वा । सर्वथा=सर्वप्रकारेण । (पुन

के ऐसा करने पर वैसा ही हुआ । अर्थात् मछलियाँ रखने पर नेवले वहाँ आए और साँप को वहाँ देखकर उन्होंने उसे मार डाला । परन्तु उसी वृक्ष पर नेवलों ने बगुलों के बच्चों का शब्द भी सुन लिया । पीछे उन्होंने वृक्ष पर चढ़ कर उन बगुलों के बच्चों को भी खा लिया । इसीलिये मैं कहता हूँ कि—'पण्डित को चाहिए कि वह उपाय को सोचता हुआ अपाय (हानि) को भी सोचे' इत्यादि ।

अतः हम दोनों (हंसों) के साथ आकाश मार्ग से जाते हुए तुमको देख कर लोग कुछ जरूर ही कहेंगे । उसे सुनकर जो तुम उत्तर दोगे, तो उसी समय गिर पड़ोगे और मर जाओगे । अतः सब प्रकार से तुम्हारा यहीं रहना ही ठीक है । कछुआ बोला कि—'क्या मैं मूर्ख हूँ, जो उत्तर दूँगा । मैं उत्तर ही नहीं दूँगा । मैं कुछ भी न बोलूँगा । तब वे कछुए को उसी प्रकार (चोंच द्वारा) ले जाने लगे । कछुए को ऐसे ले जाते हुए देखकर, सब ग्वाले पीछे से उसके)

१. 'ख' पदं । २. 'तौ दृष्ट्वा' । ३. 'त्वमुत्तरं ददासि, तदा तव मरणं भविष्यति' । ४. 'किमहमज्ञः' । ५. 'तत एवमनुष्ठिते' । ६. 'महदाश्चर्यं, पक्षिभ्यां कूर्मः स्फुटं' ।

[1]कश्चिद्वदति—'यद्ययं कूर्मः पतति, तदाऽत्रैव पक्त्वा खादितव्यः'। [2]कश्चिद्वदति—'सरस्तीरे दग्ध्वा खादितव्योऽयम्।' कश्चिद्वदति—'गृहं नीत्वा भक्षणीयः' इति। [3]तद्वचनं श्रुत्वा स कूर्मः कोपाऽऽविष्टो विस्मृतपूर्वसंस्कारः प्राह—'युष्माभिर्भस्म भक्षितव्यम्'।—इति [4]वदन्नेव पतितस्तैर्व्यापादितश्च। अतोऽहं ब्रवीमि—'सुहृदां हितकामानाम्' इत्यादि ॥ ● ॥

अथ प्रणिधिर्बकस्तत्राऽऽगत्योवाच—'देव! प्रागेव मया निगदितं, दुर्गशोधनं हि प्रतिक्षणं कर्त्तव्यमिति। तच्च युष्माभिर्न कृतं, तदनवधानस्य [5]फलमिदमनुभूतम्। [6]दुर्गदाहो मेघवर्णेन वायसेन गृध्रप्रयुक्तेन कृतः।' राजा निःश्वस्याऽऽह—

...हो कर)। जडः = मूर्खः। तद्वचनं = पक्षिवचनं, क्रूरवाक्यानि। विस्मृतपूर्वसंस्कारः = विस्मृतस्वदशः, विस्मृतस्वमनिशो वा।

दुर्गशोधनं = दुर्गपरीक्षणम्। तदनवधानस्य = मदुक्तोपेक्षणस्य। इदं = दाहप्रभृतिकम्।

नीचे दौड़ते हुए यों बात करने लगे। किसी ने कहा कि—'जो यह कछुआ गिर पड़े तो यहीं ही हम इसे पका कर खा जावें।' कोई बोला—'इसे हम इसी तीर पर भून कर खावेंगे।' कोई बोला—'इसे घर ले जाकर खाना चाहिये'।

उनकी ये सब बातें सुनकर वह कछुआ क्रोध में भरकर पहली बात भूलकर बोला कि—तुम सब राख खाओ। यों कहते ही मुख में से लकड़ी छूट जाने से वह गिर पड़ा और उनसे मारा गया। इसीलिये मैं कहता हूँ कि—'जो मनुष्य हित चाहनेवाले मित्रों का वचन नहीं सुनता है, वह काठ से गिरे कछुए के समान नष्ट हो जाता है' इत्यादि।

फिर गुप्तदूत बगुले ने वहाँ आकर कहा कि—हे देव! पहले ही मैंने कहा था, कि किले का शोधन प्रतिक्षण करना चाहिये। सो आपने नहीं किया, उसी असावधानी का यह फल (पराजय) हुआ है। गिद्ध के भेजे हुए मेघवर्ण नामक कौवे

---

१ 'तत्र कश्चिदाह'। २ 'कोऽपि निगदति—अहं नेष्यामि। कश्चिद्वदति—... पक्त्वा'। ३ 'तत्परवचनमाकर्ण्य कोपाविष्टविस्मृतपूर्वसंस्कारः कूर्मोऽवदत्'। ४ 'वदन्नेव काष्ठाद्भ्रष्टो गोरक्षकैः व्यापादितः'। ५ 'फलमनुभूतं'। ६ 'दुर्गदाहश्चायं मेघवर्णेन्ना वायसेन'।

'प्रणयादुपकाराद्वा यो विश्वसिति शत्रुषु ।
स सुप्त इव वृक्षाग्रात्पतितः प्रतिबुध्यते' ॥ १२ ॥

अथ प्रणिधिरुवाच—इतो दुर्गदाहं विधाय, यदा गतो मेघवर्णस्तदा चित्रवर्णेन प्रसादितेनोक्तम्–'अयं मेघवर्णोऽत्र कर्पूरद्वीपराज्येऽभिषिच्यताम्'। तथा चोक्तम्—

'कृतकृत्यस्य भृत्यस्य कृतं नैव प्रणाशयेत् ।
फलेन, मनसा, वाचा, दृष्ट्या चैनं प्रहर्षयेत्' ॥ १३ ॥

प्रणयात्=स्नेहात् । उपकारात्=हिताचरणाद्वा, भ्रान्तः सन् यः शत्रुषु विश्वसिति, स पूर्वं वृक्षाग्रे सुप्तः–पश्चात् वृक्षाग्रात्पतितः सन् प्रतिबुध्यते । वृक्षाग्रे सुप्तस्य पतनमिव तस्य विनाशो ध्रुव इत्यर्थः ॥ १२ ॥ प्रसादितेन=परितोषितेन । अभिषिच्यताम्=राज्ये स्थाप्यताम् । कृतकृत्यस्य=सम्पादितस्वामिकार्यस्य । कृतम्=उपकारम् । न प्रणाशयेत्=न विस्मरेत् । किन्तु फलेन=पारितोषिकादिना । मनसा=हर्षेण, सौहार्देन । वाचा=प्रशंसावाक्येन । प्रहर्षयेत्=तं कृतार्थं [illegible] ॥ १३ ॥

से ही किले में अग्नि लगाई थी ।

तब वह राजा (राजहंस) लम्बी साँस लेकर बोला कि—

स्नेह से या उपकार करने से जो शत्रुओं पर विश्वास करता है, वह वृक्ष की शाखा पर सोने वाले की तरह वहाँ (वृक्ष) से गिर जाने पर ही जागता है। अर्थात् [illegible] के पीछे ही वह सावधान होता है ॥ १२ ॥

इसके अनन्तर वह दूत बोला—जब मेघवर्ण यहाँ से दुर्ग जलाकर चित्रवर्ण के पास गया तब प्रसन्न होकर चित्रवर्ण ने कहा कि इस मेघवर्ण को यहाँ कर्पूरद्वीप के राज्य पर अभिषिक्त कर देना चाहिये ।

क्योंकि ऐसा कहा भी है—जिसने अपना काम अच्छी तरह से पूरा किया है, उस भृत्य के कार्य की उपेक्षा कभी नहीं करनी चाहिये । किन्तु उसे धन, प्रसन्नता और प्रशंसा आदि से पूर्ण सन्तुष्ट करना चाहिये ॥ १३ ॥

चक्रवाको ब्रूते–'देव ! श्रुतं यत्प्रणिधिः कथयति' ? । राजा 'प्राऽऽह–
ततः ? ।' प्रणिधिरुवाच–'ततः प्रधानमन्त्रिणा गृध्रेणाऽभिहितम्–'देव !
नुचितं, प्रसादाऽन्तरं किमपि क्रियताम्' । यतः—

"अविचारयतो युक्तिकथनं तुषखण्डनम् ।
नीचेषूपकृतं राजन्वालुकास्विव 'मूत्रितम्' ॥ १४ ॥

महतामास्पदे नीचः कदाऽपि न कर्त्तव्यः । तथा चोक्तम्—

ततस्ततः=अग्रे किं जातं, यथार्थं तद्वद । प्रसादान्तरम्=अभिषेकाति-
रिक्तमनुग्रहान्तरम् । तुषखण्डनम्=तुषावघातः, वृथा प्रयास इति यावत् । वालु-
कासु मूत्रितमिवाऽचिरविनाशीत्याशयः । अत्र–'अधिकारेण यो युक्तः कथं तस्या-
तखण्डनम् । नीचेषूपकृतं राजन् वालुकास्विव मुद्रितम्' । इति क्वचि-
त्पाठः । तत्र यः=मूर्खो राजादिः । तस्य–खण्डनम्=प्रत्याख्यानम् । राज्यादवरो-
पणम् । मुद्रितम्=स्थापितम् । मुद्राप्रदानम् । वालुकायां मुद्राचिह्नं नैव स्थापि
भवति, विशीर्णत्वात्तस्याः ॥ १४ ॥ आस्पदे=स्थाने ।

तब वह प्रधान मन्त्री चकवाक राजहंस से बोला—महाराज ! आपने गुप्त
दूत बगुले की बात (मेघवर्ण की करतूत आदि) सुन ली जो वह गुप्तदूत कह
रहा है ।

तब वह राजा बगुले से बोला–हाँ हाँ, कहो—फिर क्या हुआ ? । तब वह गुप्त-
दूत बोला—तब प्रधान मन्त्री गिद्ध ने फिर कहा कि—हे देव ! यह उचित नहीं
है । इस मेघवर्ण को आप कोई दूसरा ही पुरस्कार दीजिये ।

क्योंकि–विचार रहित पुरुष के लिये कोई युक्तियुक्त बात कहना तुष (भूसी)
कूटने के समान ही निरर्थक है, और नीच पुरुष पर उपकार करना भी
रेत पर मूतने के समान ही निष्फल (क्षणस्थायी) है ॥ १४ ॥

और बड़ों के स्थान में नीच को कभी नहीं स्थापित करना चाहिये
का स्थान नीच पुरुष को कभी नहीं देना चाहिये ।

१. 'प्राऽऽह' । २ 'अधिकारेण यो युक्तः कथं ...
मुद्रितम्' ।

'नीचः श्लाघ्यपदं प्राप्य स्वामिनं हन्तुमिच्छति ।
मूषिको व्याघ्रतां प्राप्य मुनिं हन्तुं गतो यथा' ॥ १५ ॥

चित्रवर्णः पृच्छति—'कथमेतत् ?' । मन्त्री कथयति—

५. मुनि-मूषिक-कथा ।

अस्ति गौतमस्य[1] महर्षेस्तपोवने महातपा नाम मुनिः । तेन[2] आश्रमसंनिधाने मूषिकशावकः काकमुखाद् भ्रष्टो दृष्टः । ततो [3]दयायुक्तेन तेन मुनिना नीवारकणैः संवर्द्धितः । [4]ततो बिडालस्तं मूषि

स्वामिनम् = उपकारकमपि राजादिकम् ॥ १५ ॥

शावकः = शिशुः । भ्रष्टः = पतितः । दयायुक्तेन = कारुण्ययुक्तेन । पाठान्तरे स्वभावदयात्मना = स्वभावसिद्धदयायुक्तेन । नीवारकणैः = श्यामाकादितृण

जैसा कहा भी है—नीच पुरुष उत्तम पद (प्रशंसा के योग्य पद) को पाकर भी अपने स्वामी को ही मारना चाहता है। जैसे यह चूहा व्याघ्र बनकर अपने को व्याघ्र बनाने वाले उस मुनि को ही मारने गया था ॥ १५ ॥

चित्रवर्ण ने पूछा कि—यह कथा कैसे है ? । मन्त्री कहने लगा कि—

गौतम महर्षि के तपोवन में महातपा नाम के मुनि रहते थे। वहाँ उस आश्रम के पास मुनि ने कौवे के मुख से गिरे हुए एक चूहे के बच्चे को देखा। फिर स्वभाव ही से दयालु उस मुनि ने तिन्नियों के कण (तिन्नि के चावल आदि) के दानों से उसे पाला। उसके अनन्तर एक दिन एक बिलाव उस चूहे को खाने

१ 'अस्ति गौतमस्य महर्षेस्तपोवने महातपा नाम मुनिः । तेन आश्रम' । २. 'तेन मुनिना [illegible] मूषिकशावको दृष्टः' । ३ 'स्वभावदयात्मना' । ४ [illegible] मूषिकं [illegible] बिडालो मुनिना दृष्टः । पश्चात् तपःप्रभावेन मुनिना स मूषिको बलिष्ठो बिडालः कृतः । स बिडालः कुक्कुराद् बिभेति । ततोऽसौ कुक्कुरः कृतः । कुक्कुरस्य व्याघ्रान्महद्भयम् । तदनन्तरं व्याघ्रः कृतः । अथ [illegible] मूषिकनिर्विशेषं पश्यति । अतः सर्वे [illegible] [illegible] मुनिना मूषिकोऽयं व्याघ्रतां नीतः ।' इत्यादि ।

क्षादितुमुपधावति । तमवलोक्य मूषिकस्तस्य मुनेः क्रोडे प्रविवेश । ततो मुनिनोक्तम्-'मूषिक ! त्वं मार्जारो भव ।' ततः स बिडालः कुक्कुरं दृष्ट्वा पलायते । ततो मुनिनोक्तम्-'कुक्कुराद्बिभेषि, त्वमेव कुक्कुरो भव'। स च कुक्कुरो व्याघ्राद्बिभेति । ततस्तेन मुनिना कुक्कुरो व्याघ्रः कृतः ।

अथ तं व्याघ्रं मुनिर्मूषिकोऽयमिति पश्यति । अथ तं मुनिं, व्याघ्रञ्च दृष्ट्वा सर्वे वदन्ति—'अनेन मुनिना मूषिको व्याघ्रतां नीतः'।

एतच्छ्रुत्वा 'सव्यथो व्याघ्रोऽचिन्तयत्-'यावदनेन मुनिना स्थीयते, तावदिदं मे स्वरूपाऽऽख्यानमकीर्तिकरं न पलायिष्यते' ।—[2]इत्यालोच्य मूषिकस्तं मुनिं हन्तुं गतः । ततो मुनिना तज्ज्ञात्वा 'पुनर्मूषिको भव'-इत्युक्त्वा मूषिक एव कृतः । अतोऽहं ब्रवीमि-'नीचः श्लाघ्यपदं प्राप्य'

पञ्चमी. । सम्वर्द्धितः = पालितः । स = मूषक. । सव्यथः = दुःखित. । स्वरूपाख्यानं = मन्नरूपरिचायकमाख्यानम् । अकीर्तिकरं = अयशस्करम् । निरीक्ष्य =

ीहा । यह देखकर वह चूहा डरके मारे उस मुनि की गोद में जा घुसा । तब नि बोले कि—अरे चूहे ! तू बिलार हो जा । तब वह बिडाल हो गया । बिलार ने ही वह कुत्ते को देखकर डरके मारे भागने लगा । तब मुनि बोले कि—'जो ं कुत्ते से डरता है, तो तूं भी कुत्ता हो जा' । तब वह कुत्ता हो गया । तब वह कुत्ता व्याघ्र (बाघ) से डरने लगा । तब फिर मुनि ने उस कुत्ते को व्याघ्र बना दिया । परन्तु मुनिकी दृष्टिमें तो वह व्याघ्र चूहा ही था । इसके बाद उस मुनि को और उस व्याघ्र को देखकर सब लोग कहते थे कि—देखो, इस मुनिने इस चूहे को व्याघ्र बना दिया है । यह सुनकर उस व्याघ्र (चूहे) ने व्यथित होकर सोचा कि—जब तक यह मुनि जीते रहेंगे तब तक मेरे इस व्याघ्र रूप का अपयश करने वाला यह अपवाद भी कभी दूर नहीं होगा । यह सोचकर वह चूहा (जो अब मुनि की कृपा से व्याघ्र योनि में था) उस मुनि को ही मारने दौड़ा । तब मुनि ने यह जान कर-'तूं फिर चूहा हो जा' ऐसा कहकर उसे फिर चूहा ही बना दिया । इसी लिए मैं कहता हूँ कि—'नीच पुरुष प्रशंसनीय पद पाकर भी अपने स्वामी को

१ 'स व्याघ्रः स व्यथोऽचिन्तयत्-'यावदनेन मुनिना जीवितव्यं तावदिदं ... स्यात्'। २ 'इति समालोच्य मुनिं हन्तुं समुद्यतः । मुनिस्तस्य चिकीर्षितं ज्ञात्वा पुनर्मूषिको भव' पा० ।

इत्यादि ॥ ७ ॥

अपरञ्च देव[1]—'सुकरमिद'मिति न मन्तव्यम् । शृणु—

'भक्षयित्वा बहून्मत्स्यानुत्तमाधममध्यमान् ।
'[2]अतिलोभाद्बकः पश्चान्मृतः कर्कटकग्रहात्' ॥ १६ ॥

पिङ्गलकः पृच्छति—'कथमेतत् ?' । मन्त्री कथयति—

६. बक-कर्कट-कथा ।

अस्ति[3] मालवविषये पद्मगर्भाऽभिधानं सरः । तत्रैको[4] वृद्धो बकः सामर्थ्यहीन उद्विग्नमिवाऽऽत्मानं दर्शयित्वा स्थितः । स च केनचित्कुलीरेण दूरादेव[5] दृष्टः, पृष्टश्च—'किमिति भवानत्राऽऽहारत्यागेन तिष्ठति' ? ।

मनोरमम् । इदं=सेवकस्य राज्ये स्थापनम् । उत्तमाः=महान्तः । अधमाः=क्षुद्राः । पाठान्तरे—अतिलौल्यात्=अतिलोभादित्यर्थः । कर्कटकग्रहात्=कर्कट-ग्रहणात् । (केकड़े को पकड़ने से) । पाठान्तरे—कर्कटसंग्रहात्=कर्कटसंग्रहणात्-इत्यर्थः ॥ १६ ॥

विषये=देशे । पद्मगर्भाऽभिधानं=पद्मगर्भनामधेयम् । सरः=सरोवरः ।

ही जाना जाता है' इत्यादि । और भी 'इसको राजा बना देना यह बात सहज है',—ऐसा कभी नहीं मानना चाहिए । क्योंकि सुनिए, ऐसा करने पर हमारा वही हाल होगा जैसे एक बगुला बड़ी छोटी और मध्यम प्रकार की बहुत सी मछलियों को खाकर भी अतिलोभ से केकड़े के हाथ से मारा गया था ॥ १६ ॥

पिङ्गलक ने पूछा कि—'यह कथा कैसे है ?' । मन्त्री कहने लगा ।

मालव देश में पद्मगर्भ नाम का एक सरोवर है । वहाँ एक बूढ़ा बगुला असमर्थ होने से दुःखों के मारे उदास होकर कुत्सित ढंग बनाकर बैठा था । उसे किसी केकड़े ने दूर से ही देखा और पूछा कि—आप यहाँ इस तरह

१. 'अतिलौल्या' । २ 'अतिलोभेनाप्यसौ मूर्खो मृतः कर्कटकग्रहात्' । ३ 'मालव-देशे पद्मगर्भाभिधाने सरसि' । ४ 'तत्रैकः' । ५ 'कुलीरेण दृष्टः' ।

यकेनोक्तम्—'मत्स्या मम जीवनहेतवः । [1]ते 'कैवर्तैरागत्य व्यापाद-यितव्या'-इति वार्त्ता नगरोपान्ते मया श्रुता । [2]अतो 'वर्त्तनाऽभावादेवा-ऽस्मन्मरणमुपस्थितमिति ज्ञात्वाऽऽहारेऽप्यनादरः कृतः । [3]ततो मत्स्यैरालो-चितम्—इह समये तावदुपकारक एवाऽयं [4]लक्ष्यते, तदयमेव यथा-कर्त्तव्यं पृच्छ्यताम् । तथा चोक्तम्—

'उपकर्त्राऽरिणा सन्धिर्न मित्रेणाऽपकारिणा ।
उपकारा-ऽपकारौ हि लक्ष्यं लक्षणमेतयोः' ॥ १७ ॥

(भील) । सामर्थ्यहीनः=भोजनोपार्जनशक्तिरहितः । कुलीरकः = कर्कटः । कैवर्तैः=धीवरैः । वर्त्तनाऽभावात्=जीविकाविच्छेदात् । उपकारकः = सहायकः । यथाकर्त्त-व्यम् = अवसरोचितं करणीयम् ।

अरिणा = शत्रुणा । सन्धिः = मेलनम् (मेल) । हि = यतः, एतयोः= शत्रुमित्रयोः । लक्ष्यं=चिह्नम् । लक्षणं=ज्ञेयम् । उपकर्त्ता हि-मित्रापदाभिधेयः, अपकर्त्ता च शत्रुरित्याशयः ॥ १७ ॥

जन छोड़कर क्यों बैठे हैं ? । तब वह बगुला बोला कि–'मछली ही मेरे जीवन आधार है, और उन्हें धीवर लोग कल यहाँ आकर मारेंगे, यह बात मैंने नगर के पास मछुओं की बातों से सुनी है । इसलिए वृत्ति के (मछलियों के) न रह जाने से मेरी भी मृत्यु उपस्थित हुई है, यही जानकर मैंने अभी से भोजन छोड़ दिया है । तब मछलियों ने सोचा कि—'इस समय तो यह उपकारी ही दीखता है, इसलिये इसी से हम पूछें कि—हमें क्या करना चाहिए ।

ऐसा कहा है भी कि—उपकारी शत्रु से भी सन्धि करे परन्तु अपकारी मित्र से भी कभी सन्धि न करे । क्योंकि इन दोनों (मित्र और शत्रु) के उपकार और अपकार ये ही दो पहचान में कारण हैं ॥ १७ ॥

१ 'मत्स्याभावादस्माकमेव कैवर्तैर्व्यापादयितव्या इति नगरोपान्ते धीवरोपचार-चर्चित'। २ 'तदितो वर्त्तना' । ३. 'ततः सर्वैर्मत्स्यै' । ४ 'सहनेऽस्माकम्' ।

मत्स्या ऊचुः—'भो बक! कोऽत्र 'अस्माकं रक्षणोपायः'?। बको ब्रूते—'अस्ति रक्षणोपायो जलाशयान्तराश्रयणम्। तत्राहमेकैकशो युष्मान्नयामि'। 'मत्स्या आहुः—'एवमस्तु।' ततोऽसौ 'दुष्टबकस्तान्मत्स्यानेकैकशो नीत्वा' खादति। अनन्तरं कुलीरस्तमुवाच—'भो बक, मामपि तत्र नय।' ततो बकोऽप्यपूर्वकुलीरमांसार्थी सादरं तं नीत्वा स्थले धृतवान्। कुलीरोऽपि मत्स्यकण्टकाकीर्णं "तत्स्थलमालोक्याचिन्तयत्—'हा हतोऽस्मि मन्दभाग्यः। भवतु। इदानीं समयोचितं 'व्यवहरिष्यामि'। यतः—

'तावद्भयेन' भेतव्यं यावद्भयमनागतम्।
आगतन्तु भयं दृष्ट्वा प्रहर्तव्यमभीतवत्' ॥ १८ ॥

[illegible]=[illegible]। [illegible]=[illegible]। [illegible]=[illegible]। प्रहर्तव्यं=[illegible] ॥

तब मछलियाँ बोलीं—हे बक! इस स्थिति में हमारी रक्षा का उपाय कौन सा है?। तब वह बगला बोला कि—'रक्षा का उपाय तो यहाँ से किसी दूसरे जलाशय में जाना ही है। और मैं तुम में से एक एक को वहाँ पहुँचा भी दूँगा।' तब सब मछलियाँ बोलीं कि—अच्छा, ऐसा ही करो। फिर वह बगला उन मछलियों में से एक एक को ले जाकर मार्ग में खा जाता था।

कुछ समय के बाद एक दिन केकड़े ने भी उससे कहा कि—'हे बक! मुझे भी वहाँ ले चलो।' तब [illegible] ऐसे केकड़े के मांस को [illegible] वहाँ से [illegible] उस बगले ने आदरपूर्वक उसे ले जाकर उस [illegible] भूमि में रखा। केकड़ा भी उस भूमि में मछलियों के काँटों (हड्डियों) को इधर उधर पड़े हुए देखकर [illegible] कि—'हाय! मैं [illegible] मारा गया। अच्छा जो हो सो हो, अब [illegible] समय के अनुसार ही [illegible] (उपाय) करूँगा। क्योंकि [illegible]

१ [illegible]। २ [illegible]। ३ [illegible]। ४ [illegible]। ५ [illegible]। ६ [illegible]। ७ [illegible]।

[1]किञ्च—

'अभियुक्तो यदा पश्येन्न किञ्चिद्गतिमात्मनः[2] ।
युध्यमानस्तदा प्राज्ञो म्रियेत रिपुणा सह' ॥ १९ ॥

—इत्यालोच्य स कुलीरकस्तस्य [3]बकस्य ग्रीवां चिच्छेद । [4]अथ स बकः पञ्चत्वं गतः । अतोऽहं ब्रवीमि—'भक्षयित्वा बहून्मत्स्यान्' इत्यादि ॥ ॥

[5]ततश्चित्रवर्णोऽवदत्—'शृणु तावन्मन्त्रिन् ! मयैतदालोचितम्—(-अस्ति[6]-) यद्—अत्राऽवस्थितेनाऽनेन मेघवर्णेन राज्ञा यावन्ति वस्तूनि कर्पूरद्वीपस्योत्तमानि तावन्त्यस्माकमुपनेतव्यानि । [7]तेनाऽस्माभिर्महासुखेन विन्ध्याचले स्थातव्यम्' । दूरदर्शी विहस्याऽऽह—'देव !

अभियुक्तः=परैराक्रान्तः ॥ १९ ॥ आलोचित = विचारितम् । अत्र = कर्पूरद्वीपे । उपनेतव्यानि = उपढौकितव्यानि । ('भेंट दिया करेगा', 'भेजता रहेगा') ।

...चाहिए, जब तक भय आवे नहीं । परन्तु भय को सिर पर आया हुआ देखकर ...पुनः निर्भय चित्त होकर उस पर प्रहार (प्रतीकार) ही करना चाहिए ॥१८॥

और भी—शत्रु आक्रान्त मनुष्य अपनी दूसरी गति न देखे तो शत्रु से ...लड़ता हुआ ही अपने प्राण त्याग करे—इसी में बुद्धिमानी है ॥ १९ ॥

यह सोच कर केकड़े ने उस बगले की गर्दन काट डाली, जिससे वह बगला ...गया । इसलिये मैं कहता हूँ कि—'बहुत सी मछलियों को खाकर भी लोभ से बगला केकड़े के हाथ से मारा गया' इत्यादि ।

तब वह चित्रवर्ण बोला कि—हे मन्त्रिन् ! सुनिये, मैंने तो यह सोचा है कि—यह मेघवर्ण यहीं का राज्य करता हुआ जितनी उत्तम उत्तम वस्तु कर्पूरद्वीप की ...होंगी, उन सबको हमारे पास पहुँचाया करेगा, इससे हम विन्ध्याचल में बड़े सुख से रहेंगे । तब दूरदर्शी हँसकर बोला कि—हे देव !

१ 'अपरं च' । २ 'किञ्चिद्धितमात्मनः' । ३ 'तस्य ग्रीवां' । ४ 'अथेति ...' । ५ 'ततः पुनरपि स राजा चित्रवर्णोऽब्रवीत्—शृणु तावन्महामन्त्रिन् !' । ...इव । ७. 'तेन महता विलासेन अस्माभिर्विन्ध्याचले' ।

'अनागतवतीं चिन्तां कृत्वा यस्तु प्रहृष्यति ।
स तिरस्कारमाप्नोति भग्नभाण्डो द्विजो यथा' ॥ २० ॥

राजाऽऽह—'कथमेतत् ?' । [1]मन्त्री कथयति—

७ ब्राह्मण—सक्तुशराव—कथा ।

अस्ति[2] देवीकोट्टनाम्नि नगरे देवशर्मा नाम ब्राह्मणः । तेन महाविषुवत्संक्रान्त्यां [3]सक्तुपूर्णशराव[4] एकः प्राप्तः । [5]ततस्तमादायाऽसौ [6]कुम्भकारस्य भाण्डपूर्णमण्डपैकदेशे रौद्रेणाऽऽकुलितः सुप्तः । ततः सक्तुरक्षार्थं हस्ते [7]दण्डमेकमादायाऽचिन्तयत्—'यद्यहं सक्तुशरावं विक्रीय दश कपर्दकान्प्राप्स्यामि, [8]तदाऽत्रैव तैः कपर्दकैर्घटशरावादिक-

अनागतवतीम्=अनागामिविषयिणीम् । प्रहृष्यति=मोदते ॥ २० ॥ 'देवकोटे'ति पाठान्तरम् । महाविषुवत्संक्रान्तौ=मासे वैशाखमासे, मेषसंक्रान्तिदिने । (मधुमासकान्ति) । शरावः=वर्धमानकः । ('सरइ' 'परइ' 'पुरवा') । भाण्डपूर्णमण्डपैकदेशे=भाण्डपूर्णगृहकोणे । रौद्रेण=घर्मेण । 'रौद्रो घर्मे रसे, भक्तौ, तीव्रे ऽप्यसह्ये त्रिषु' इति मेदिनी । (रौद्र='धूप' 'घाम' 'धूप') । कपर्द-

जो मनुष्य भविष्य की चिन्ता करके मनोमोदकों से ही प्रसन्न होता है, वह उसी तरह अनादर और श्रेष्ठ पाता है, जैसे कुम्हार के बर्तन फूट जाने से उस ब्राह्मण ने अनादर पाया था ॥ २० ॥

राजा बोला कि—यह कथा कैसे है ? । मन्त्री कहने लगा—

देवीकोट्ट नामक नगर में देवशर्मा नाम का एक ब्राह्मण रहता था । उसने मेष की संक्रान्ति को सत्तू से भरा हुआ एक मिट्टी का कसोरा पाया । वह उसे लेकर एक बर्तनों से भरे हुए कुम्हार के घर के एक कोने में धूप से व्याकुल होकर जाकर सो गया । फिर सत्तू की रक्षा के लिए हाथ में डण्डा लेकर वह सोचने लगा कि—जो मैं इस सत्तू के सिकोरे को बेचकर दस कौड़ी पाऊँगा, तो उन कौड़ियों

१ 'दृष्टान्तो ब्राह्मणः' । २ 'देवकोट्टे' । ३ 'सक्तुभृतं' । ४ 'ततः प्राप्तः' । ५ [illegible] । ६ [illegible] । ७ [illegible] । ८ [illegible] ।

मुपक्रीयाऽनेकधा वृद्धैस्तद्धनैः[1] पुनः पुनः पूगवस्त्रादिकमुपक्रीय, विक्रीय, [2]लक्षसङ्ख्यानि धनानि कृत्वा, विवाहचतुष्टयं करिष्यामि[3] । [4]अनन्तरं तासु स्वपत्नीषु या रूपयौवनवती तस्यामधिकाऽनुरागं [5]करिष्यामि । [6]सपत्न्यो यदा द्वन्द्वं करिष्यन्ति, तदा कोपाऽऽकुलोऽहं ताः[7] सर्वा लगुडेन ताडयिष्यामी'त्यभिधाय तेन लगुडः प्रक्षिप्तः । तेन सक्तुशरावश्चूर्णितो, भाण्डानि च [8]बहूनि भग्नानि । [9]ततस्तेन शब्देनाऽऽगतेन कुम्भकारेण तथाविधानि भाण्डान्यवलोक्य, ब्राह्मणस्तिरस्कृतो, मण्डपाद्बहिष्कृतश्च । अतोऽहं ब्रवीमि—'अनागतवतीं चिन्ताम्' इत्यादि ॥ ❀ ॥

-न् = काकिणीः । (कौड़ी) । अनेकधा = वारं वार-क्रयविक्रयादिव्यवहारेण । तद्धनैः = तन्मूल्यलब्धधनैः । पूगवस्त्रादिकं = द्वीपान्तरानीतपूगीफलवस्त्रादिकम् । क्रयविक्रयं वस्त्रादिकमिति चार्थः । द्वन्द्वं = कलहम् । चूर्णितः = भग्नः । भाण्डानि = कुम्भकारभाण्डानि । (बर्तन) । तेन शब्देन = भग्नभाण्डशब्देन । तथाविधानि = भग्नानि । तिरस्कृतः = कटुवाक्य भाषितः । धिक्कृतः ।

...से दाँ ही से घड़े, सकोरे आदि खरीद लूँगा, और उन्हें बेच-बेचकर उससे अनेक प्रकार से बढ़े हुए द्रव्य से बारबार सुपारी, कपड़े आदि लेकर, उसे बेचकर लाखों रुपये कमाकर चार विवाह करूँगा । फिर उन चारों स्त्रियों में से जो रूपवती तथा ...युवती होगी, उससे ही मैं अधिक प्रेम करूँगा । और जब वे सब सपत्नियाँ (सौत) ...आपस में लड़ाई करेगी, तब मैं क्रोध में भरकर उन्हें लाठी से मारूँगा, ऐसा ...विचारकर ज्यों ही उसने लाठी मारी, त्यों ही वह सत्तू का कसोरा चूर चूर हो गया ...और कुम्हार के बहुत से बर्तन भी फूट गये । इसके बाद उस शब्द को सुनकर ...कुम्हार भी वहाँ आ गया और इस प्रकार अपने बर्तनों को टूटा हुआ देख कर ...ब्राह्मण का अनादर कर उसे मण्डप से बाहर निकाल दिया । इसलिये मैं ...कहता हूँ कि—'भविष्य की वृथा चिन्ता को जो करता है—इत्यादि ।

1. 'दैर्घ्ने.' । 2 'वाणिज्यं कृत्वा लक्षसङ्ख्यधनान्युपार्ज्य' । 3 'करोमि' । ...धिकं च' । 5 'तदनन्तरं सपत्नीभ्योऽतिः सपत्न्यो यदाऽन्योन्यं' । 6 'ता... ' । 7 'ततो भग्नभाण्डशब्दश्रवणात् च कुम्भकारेण गले हस्तं दत्त्वा ...निष्कासितो, मण्डपाद्बहिष्कृतश्च' ।

ततो राजा रहसि गृध्रमुवाच—'तात ! यथा कर्तव्यं तथोपदिश।' गृध्रो ब्रूते[1]—

'मदोद्धतस्य नृपतेः प्रकीर्णस्येव दन्तिनः।
गच्छन्त्युन्मार्गयातस्य नेतारः खलु वाच्यताम्' ॥ २१ ॥

'शृणु देव ! किमस्माभिर्बलदर्पाद् दुर्गं भग्नम् ?, उत[2] तव प्रतापाऽधिष्ठितेनोपायेन ? ।' राजाऽऽह—'भवतामुपायेन।' गृध्रो ब्रूते—'यद्यस्मद्वचनं क्रियते, तदा स्वदेशो गम्यताम्। अन्यथा [3]वर्षाकाले प्राप्ते [4]पुनस्तुल्यबलेन विग्रहे सत्यस्माकं परभूमिष्ठानां स्वदेशगमनमपि दुर्लभं

रहसि=एकान्ते। उपदिश=वद। मदोद्धतस्य=उन्मत्तस्य। प्रकीर्णस्य=मदाकुलस्य, मदप्रभिन्नगण्डस्थलस्य। मदोन्मत्तस्य। उन्मार्गयातस्य=कुपथप्रवृत्तस्य। दन्तिनः=हस्तिनः। नेतारः=उपदेशको मन्त्री, महामात्राश्च (महावत)। वाच्यताम्=निन्दनीयताम् ॥ २१ ॥ बलदर्पात्=पराक्रमोत्कर्षात्। प्रतापाधिष्ठितेन=प्रतापोपस्थितेन। तुल्यबलेन=समानबलेन। विग्रहे=युद्धे। परभूमिष्ठानां=

तब राजा एकान्त में गिद्ध से बोला—हे तात ! जो फिर यहाँ जैसा करना चाहिये, वैसा आप ही उपदेश करिए। तब वह गिद्ध बोला कि—

मद से मतवाले गज के उपद्रव करने पर जैसे उसके महावत ही दोषी होते हैं, उसी तरह मत्त हाथी के समान मद से उद्धत, कुमार्ग में जाने वाले राजा के भी नायक (मन्त्री आदि) जगत् में निश्चय ही निन्दा को पाते हैं ॥ २१ ॥

और हे देव ! सुनिये। क्या हमने अपने बल के घमण्ड से ही इस किले को तोड़ा है ?, या आपके प्रताप से अधिष्ठित उपाय से ही तोड़ा है ?। राजा बोला कि—'आपके उपाय से ही यह किला टूटा है।' तब गिद्ध बोला कि यदि हमारा वचन मान लेते हैं, तो इस राजा से सन्धि करके स्वदेश (अपने नगर) को चलिए। नहीं तो वर्षा समय में समानबल शत्रु से युद्ध होने पर पराई भूमि में

१ 'वदति'। २. 'किं वा मत्प्रतापाधिष्ठितेन'। ३ 'वर्षाकाले प्राप्ते'। ४ 'पुनर्विग्रहे'

परितुष्टः 'सन् 'वरं वरयतम्' इत्युवाच । अनन्तरं तयोः [2]कण्ठा- ग्रवस्थितायाः सरस्वत्याः प्रभावात्तावन्यद्वक्तुकामावन्यदभिहितवन्तौ- 'यद्यावयोर्भवान्परितुष्टस्तदा स्वप्रियां पार्वतीं परमेश्वरो ददातु ।'

अथ भगवता क्रुद्धेन वरदानस्याऽऽवश्यकतया, [3]विचारमूढयोः पार्वती प्रदत्ता । ततस्तस्या रूपलावण्यलुब्धाभ्यां, जगद्घातिभ्यां, मनसो- त्सुकाभ्यां, पापतिमिराभ्यां, 'ममे'त्यन्योन्यं कलहायमानाभ्यां 'प्रमाण- पुरुषः कश्चित्पृच्छ्यता' मिति मतौ कृतायां, स एव भट्टारको वृद्धद्विजरूपः

तुष्टः सन् । भगवान् = परमेश्वरः । वरयतं = गृह्णीतम् । याचेथामिति वा । स्वप्रियां= स्वभार्याम् । मूढतया=किंकर्तव्यविमूढतया । विचारमूढयोरितिपाठे—मूर्खयोरित्यर्थः । जगद्घातिभ्यां=जगत्पीडकाभ्यां दैत्याभ्याम् । उत्सुकाभ्यां=औत्सुक्यमनोयु- क्ताभ्याम् । पापतिमिराभ्यां = पापान्धकारदूषितलोचनाभ्याम् । पापमतिभ्यामिति क्वचित्पाठः । 'ममेयं', 'ममेयं'मित्यन्योन्य कलहायमानाभ्याम् । प्रमाणपुरुषः= निर्णायकः पुरुषः कश्चिन्मध्यस्थः । पृच्छ्यतां=निर्णयार्थं पृच्छ्यताम् । सः=भगवान् शङ्कर एव । भट्टारकः=परमेश्वरः । 'राजा भट्टारको देवः' इत्यमरः । छद्मवेशेन—

(तपस्या) की । उससे उन दोनों के ऊपर भगवान् शङ्कर ने प्रसन्न हो कहा कि— 'वर माँगो ।' तब उनके वाणी में स्थित सरस्वती ने उनकी बुद्धि को फेर दिया और अन्य ही कुछ करने की इच्छा करने वालों से भी और ही कुछ कहला दिया कि—'हे भगवान् आप हम पर प्रसन्न हैं, तो अपनी प्रिया भार्या पार्वती जी को हमें दे दीजिये ।' ऐसी बात सुन कर क्रोधित होकर भी भगवान् शिवजी ने वरदान देने के वचन के पालन के लिए उन दोनों मूर्खों को पार्वती दे दी । फिर उसके रूप लावण्य के लोभी, जगत् घाती और मन से उत्सुक ये दोनों पापी दैत्य 'यह मेरी है' 'यह मेरी है' ऐसे आपुस में कलह (झगड़ा) करने लगे । और इस प्रकार लड़ते हुए उन्होंने 'किसी प्रमाणित पुरुष से पूछना चाहिये'—ऐसा निश्चय किया । तदनन्तर वे ही शिवजी बूढ़े ब्राह्मण के रूप में उनके पास आए । तब उन

१ 'दौ वरं' । २ 'तमधिष्ठितया सरस्वत्या वारन्द' । ३ 'तया ——'

(३) 'धार्मिकस्याऽभियुक्तस्य सर्व एव हि युध्यते ।
प्रजाऽनुरागाद्धर्माच्च दुःखोच्छेद्यो हि धार्मिकः' ॥२९॥
(४) 'सन्धिः कार्योऽप्यनार्येण विनाशे समुपस्थिते ।
विना तस्याऽऽश्रयेणाऽऽर्यो न कुर्यात्कालयापनम्' ॥ ३०
(५) 'संहतत्वाद्यथा वेणुर्निविडैः कण्टकैर्वृतः ।
न शक्यते समुच्छेत्तुं, भ्रातृसङ्घातवांस्तथा' ॥ ३१ ॥

नीचजन् । नाप्नोति = न प्राप्नोति ॥ २८ ॥ अभियुक्तस्य = आक्रान्तस्य । [illegible] एव = सकलोऽपि लोकः । प्रजानुरागात् = प्रजाप्रेम्णः, धर्मात् = धर्मभयत्वात् [illegible] दुःखोच्छेद्यः = दुरुच्छेद्यः ॥ २९ ॥

विनाशे = राज्यविनाशे । अनार्येण = म्लेच्छादिनाऽपि । तस्य = अनार्यस्य [illegible] आश्रयेण = सम्पातेन । कालयापनं = समययापनम् । (दिन बिताना) ॥३०

संहतत्वात् = निबिडत्वात् । निबिडैः = घनैः । कण्टकैः = पार्श्वकण्टकैः [illegible] आवृतो । वेणुः = वंशः । (बाँस) । तथा = दुरुच्छेद्यः ॥ ३१ ॥

अनार्य (नीचजन) को प्राप्त नहीं होते हैं, यह बात स्पष्ट है ॥ २८ ॥

और धार्मिक राजा पर शत्रु की चढ़ाई होने पर उस के लिये सभी प्रजा [illegible] करके [illegible] सकती है, अतः प्रजा के प्रेम से और धर्म के बल से [illegible] धार्मिक राजा बड़ी कठिनाई से ही वश में होता है ॥ २९ ॥

और अपना विनाश उपस्थित होते देखकर अनार्य (नीच) से भी मेल करे, क्योंकि उसके आश्रय के बिना आर्य (सज्जन राजा) भी कालक्षेप (समय निर्वाह) नहीं कर सकता है ॥ ३० ॥

और जैसे अनेक बाँसों के साथ साथ एक स्थान ही उगने वाला और काँटों के समूह से घिरा हुआ बाँस, [illegible] बाँसों से [illegible] में मिले रहने के कारण, [illegible] और अलग नहीं जा सकता है, वैसे ही भाइयों का समूह रखने वाला राजा भी [illegible] नहीं जा सकता है ॥ ३१ ॥

'अथ राजा हिरण्यगर्भश्चक्रवाकं पृष्टवान्—'मन्त्रिन् ! अ...
कति ?, तान्श्रोतुमिच्छामि ।' मन्त्री ब्रूते—'देव ! कथयामि' । अ...

'बालो, वृद्धो, दीर्घरोगी, तथा ज्ञातिबहिष्कृतः ।
भीरुको, भीरुकजनो, लुब्धो, लुब्धजनस्तथा ॥ ३५ ॥
विरक्तप्रकृतिश्चैव, विषयेष्वतिसक्तिमान् ।
अनेकचित्तमन्त्रस्तु,[2] देव-ब्राह्मण-निन्दकः ॥ ३६ ॥
दैवोपहतकश्चैव, तथा[3] दैवपरायणः ।
दुर्भिक्षव्यसनोपेतो, बलव्यसनसङ्कुलः ॥ ३७ ॥

मन्त्रिगुणैः । उपेतः = सहितः । अवगम = पुनरपि । अमन्त्रेयाः = मन्त्रानाऽ...
ज्ञातिबहिष्कृतः = बन्धुबान्धवपरित्यक्तः । जातिबहिष्कृतः । भीरुक = भीरुस्व...
भीरुकजनः = भीरुसैन्यः । भीरुभटः । लुब्धः = लोभी । लुब्धजनः = लुब्धानुचरः ।
विरक्तप्रकृतिः = अननुरक्तप्रजः । विषयेषु = कामिन्यादिभोगेषु । अतिसक्ति...
= अत्यासक्तचित्तः । कामी । अनेकचित्तमन्त्रः = चपलचित्तः, चपलचित्त...
परिहृत्य । दैवोपहतकः = दुर्भाग्योपहतः । दैवपरायणः = दैववादी । अनुर...

अब तो तुम जाओ । अपना कार्य करो । फिर आना ।' उस दूत के जाने के...
राजा ने चकवे से पूछा कि हे मन्त्री ! कितने मनुष्य सन्धि करने के योग्य नहीं...
उन्हें भी मैं सुनना चाहता हूँ । मन्त्री बोला कि—हे देव ! मैं कहता हूँ, सुनि...

(१) बालक, (२) बूढ़ा, (३) बहुत दिनों का रोगी, (४) ...
धर्म और कुटुम्बियों से बाहर निकाला हुआ, (५) डरपोक, (६)
(डरपोक) सैनिक सुभट आदि पुरुषों वाला, (७) लोभी, (८) लोभी पु...
वाला । अर्थात् जिसके सेवक लोभी हों ॥ ३५ ॥

और (९) जिसके मन्त्री आदि प्रजा से विरक्त हों, (१०) जिसे...
बहुत मौज हुआ, (११) अनेक चित्त वाला, चपल मन (चित्त) वा...
(१२) देवता और ब्राह्मणों की निन्दा करने वाला ॥ ३६ ॥

और (१३) दैव अर्थात् भाग्य का मारा हुआ, (१४) भाग्य ही को मुख्य मा...

१ 'अथ हिरण्यगर्भः' । २. 'अनेक...' । ३ 'दैवोपहतक एव च' ।

अदेशस्थो, बहुरिपुर्युक्तः कालेन यश्च न ।
सत्यधर्मव्यपेतश्च, विंशतिः पुरुषा अमी ॥ ३८ ॥
एतैः सन्धिं न कुर्वीत, विगृह्णीयात्तु केवलम् ।
एते विगृह्यमाणा हि क्षिप्रं यान्ति रिपोर्वशम्' ॥ ३९ ॥
(ग्रो) बालस्याऽल्पप्रभावत्वान्न लोको योद्धुमिच्छति ।
युद्धा-ऽयुद्धफलं' यस्माज्ज्ञातुं शक्तो न बालिशः' ॥४०॥

व्यसनम् । दुर्भिक्षव्यसनोपेतः = दुर्भिक्षोपहतराष्ट्रः । बलव्यसनसङ्कुलः = सेनाविरोध-
सङ्कुलः ॥ ३७ ॥ अदेशस्थ इति । दूरदेशस्थितः । बहुशत्रुः, अनुपयुक्त देश-
...स्थितः, सत्यधर्माभ्यां रहितश्चेत्यमी पुरुषा न सन्धेयाः, किन्तु एभिर्युद्धमेव
...न् । यत एते विगृह्यमाणाः = युद्ध्यमानाः सन्तः । क्षिप्रं=त्वरितमेव, शत्रुवशगा
...न्ति ॥ ३९ ॥
'एवमेते क्षिप्रं पराजिता भवन्ती'ति विशदं प्रदर्शयति—बालस्येति । लोकः =
...। यस्मात्=यतः । बालिशः = बालो, मूर्खश्च । युद्धाऽयुद्धफल=युद्धाऽयुद्ध-

..., (१५) जिसके राज्य में दुर्भिक्ष पड़ा हुआ हो, (१६) तथा सेना जिसकी न
...गी हो ॥ ३७ ॥
...और (१७) अयोग्य स्थान में रहने वाला, (१८) बहुत शत्रुओं वाला,
...) समय पर युद्ध करने वाला और (२०) सत्य व धर्म से विमुख रहने वाला,
...ये पुरुष (राजा) हैं—॥ ३८ ॥
—इनसे कभी मेल न करे, किन्तु इनसे तो केवल युद्ध ही करे, क्योंकि ये
...ष (राजा) युद्ध करने से शीघ्र शत्रु के वश में हो जाते हैं ॥ ३९ ॥
...र दुर्बल असन्धेय बीस पुरुष असन्धेय क्यों हैं, और इनका पराजय शीघ्र
...से होता है, यह कहते हैं—
...१) बालक अल्पतेज (अल्प पराक्रम) होने से उसके सहायक लोग
...कर ठीक ठीक युद्ध करना नहीं चाहते हैं, क्योंकि युद्ध और अयुद्ध के फल
...ने की बालक में सामर्थ्य ही नहीं होती है ॥ ४० ॥

...योद्धुं समरमथवस्य पराये को हि युद्धयते' इति ग्र कामन्दकीये पाठः ।

(२) 'उत्साहशक्तिहीनत्वाद्वृद्धो, दीर्घाऽऽमयस्तथा ।
(३) स्वैरेव परिभूयेते द्वावप्येतावसंशयम्' ॥४१॥
(४) 'कुलोच्छेद्यो हि भवति सर्व-ज्ञाति-बहिष्कृतः ।
त एवैनं विनिघ्नन्ति ज्ञातयस्त्वात्मसात्कृताः' ॥४२॥
(५) 'भीरुर्युद्धपरित्यागात्स्वयमेव प्रणश्यति' ।
(६) तथैव[1] भीरुपुरुषः[2] संग्रामे तैर्विमुच्यते' ॥४३॥
(७) 'लुब्धस्याऽसंविभागित्वान्न युध्यन्तेऽनुजीविनः'[4] ।
(८) 'लुब्धाऽनुजीवी तैरेव दानभिन्नैर्निहन्यते' ॥४४॥

प्रमाद[illegible] ॥ ४० ॥ उत्साहशक्तिहीनत्वात् = उत्साह-[illegible] [illegible]त्वात् । दीर्घाऽऽमयः = दीर्घरोगी । स्वैः = आत्मीयैः [illegible]दिभिः । परिभू[illegible] ॥ ४१ ॥ कुलोच्छेद्यः = कुल[illegible]नीयः । आत्मसात्कृताः = [illegible] [illegible], स्वपक्षे स्थापिताः । एनं = [illegible] । विनिघ्नन्ति = उच्छेद[illegible] ॥ ४२ ॥ युद्धपरित्यागात् = युद्ध[illegible] । तैः = [illegible] ॥ ४३ ॥ असंविभागित्वात् = [illegible], [illegible]

(२, ३) 'वृद्ध' उत्साहशक्ति के न होने से, और बहुत दिनों का रोगी [illegible] ही अपने ही मनुष्यों से बात ही अनादर (पराभव) पाते हैं—यह निश्चित है ॥[illegible]

(४) अपनी जाति से बाहर निकाला हुआ पुरुष भी कुल से नष्ट [illegible] [illegible] है, क्योंकि शत्रु यदि उसके जाति वालों को अपने पक्ष में करले तो वे [illegible] ही उसे मार देते हैं ॥ ४२ ॥

(५) भीरु पुरुष—युद्ध के डर से अपने ही नष्ट हो जाता है। ([illegible] [illegible] [illegible] एक भी [illegible] है, यह राजा भी संग्राम के [illegible] [illegible] उन [illegible] से (अपनों से) छोड़ दिया जाता है ॥ ४३ ॥

(७) लोभी के अनुजीवी (सेवक)—उसकी [illegible] [illegible] [illegible] न देने [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] से) ठीक-ठीक युद्ध नहीं करते [illegible]

१. '[illegible]' । २. '[illegible]पुरुष' । ३. '[illegible]' ।
४. '[illegible]' । ५. '[illegible]' ।

(९) 'सन्त्यज्यते प्रकृतिभिर्विरक्तप्रकृतिर्युधि ।

(१०) सुखाऽभियोज्यो भवति विपद्येष्वातिमक्तिमान्' ॥४५॥

(११) 'अनेकचित्तमन्त्रस्तु द्वेष्यो' भवति मन्त्रिणाम् ।
अनवस्थितचित्तत्वात्कार्यतः[२] स उपेक्ष्यते' ॥४६॥

...प्रकार्तिविकलत्वात् । अनुजीविन = सेवका । ते =पुरोऽनुजीवि न, दान-
...ते=प्रबुद्धचेतोभिरवशीभूतैः । पाठान्तरे—एन = नु । ॥ ४४ ॥
...प्रकृतिभि = अमात्यादिभिः । अतिमक्तिमान = [illegible] ।
...न्ती । सुखाभियोज्य=अनायासमाप्य ॥४५॥ अनेक चित्तमन्त्र=[illegible] कामिन्यादि-
...ज्ञानपरः । प्रजुणा सह सन्धान मन्त्रान्तरेण, स द्वेष्य = [illegible] । [illegible]
...=राजा, उपेक्ष्यते—मन्त्रिभिरिति शेष । [illegible] —स = [illegible] । कार्य न =कार्यं
...के, कार्यस्थानात् । उपेक्ष्यते—तदुक्तमन्त्रानुष्ठानादुपेक्ष्य न राजा । अतो मन्त्र-
...सम्बन्धैः स राजा मेयो विनाश्यश्च भवति ।

(८) जिस राजा के सेवक लोभी हैं, वह राजा भी उनसे [illegible]
...हें अच्छी प्रकार न देने से उन्हीं लोगों से मारा जाता है ॥ ४४ ॥

(९) जिस राजा से मन्त्रिगण तथा प्रजा अप्रसन्न हैं, उस राजा को मन्त्री
...प्रजा आदि ही युद्ध में छोड़ देते हैं। (१०) और [illegible] में [illegible]
...वह भी सुख से पराजित हो सकता है, क्योंकि वह [illegible] में [illegible]
...ठीक-ठीक युद्ध नहीं कर सकता है ॥ ४५ ॥

(११) और जिसका चित्त चञ्चल हो, और जिसकी सलाह [illegible] हो,
...ने मन्त्रियों से ही परित्याग कर दिया जाता है, [illegible] उसका अपने
...ट हो जाती है। [illegible]—अनवस्थित (चञ्चल) चित्त होने से
...उसी कार्यों के समय उपेक्षा ही करते हैं ॥ ४६ ॥

...भवति मन्त्रिणाम्', 'मेधो भवती'[illegible] पा० । २. 'कार्ये [illegible]'।

(१२) 'सदा धर्मबलीयस्त्वाद्देव-ब्राह्मण-निन्दकः ।
(१३) 'विशीर्यते स्वयं[1] ह्येष, दैवोपहतकस्तथा' ॥ ४७ ॥
(१४) 'सम्पत्तेश्च, विपत्तेश्च दैवमेव हि कारणम्' ।
इति दैवपरो ध्यायन्नात्मना[2] न विचेष्टते' ॥ ४८ ॥
(१५) 'दुर्भिक्षव्यसनी चैव स्वयमेव[3] विषीदति ।
(१६) 'बलव्यसनसक्तस्य[4] योद्धुं शक्तिर्न जायते' ॥ ४९ ॥
(१७) 'अदेशस्थो हि रिपुणा स्वल्पकेनापि हन्यते ।
ग्राहोऽल्पीयानपि जले गजेन्द्रमवकर्षति'[5] ॥ ५० ॥

अधर्मबलीयस्त्वात् = पापस्य बलवत्त्वात् । विशीर्यते = स्वयमेव नश्यति ॥४७॥ स हि सर्वस्मिन्नपि दैवमेव हेतुरिति निश्चयं [illegible] कर्मणि न प्रयतते ॥ ४८ [illegible] विषीदति = [illegible] नश्यति । व्याकुलो भवति ॥ ४९ ॥ अदेशस्थः = स्वदुर्गदेशादि[illegible] [illegible] । स्वल्पकेन = क्षुद्रेण, सामान्येन । अल्पीयान् = [illegible]

(१२) अधर्म के बलवान् होने से ही देवता और ब्राह्मणों की निन्दा करने वाला राजा आप ही नष्ट हो जाता है ।

(१३) दैव की प्रारब्ध से मारा हुआ दैवाधीन पुरुष भी स्वयं [illegible] ही नष्ट हो जाता है ॥ ४७ ॥

(१४) 'सम्पत्ति और विपत्ति का कारण भाग्य ही है' ऐसा सदा सोचने वाला, भाग्य को मुख्य माननेवाला मनुष्य भी ठीक ठीक प्रयत्न नहीं करता । इसलिये वह भी नष्ट हो जाता है ॥ ४८ ॥

(१५) दुर्भिक्ष से दबा हुआ राजा भी आप ही दुःखी रहता है ।

(१६) और जिसकी दुष्ट सेना वाले राजा से युद्ध करने की सामर्थ्य ही नहीं होती है ॥ ४९ ॥

(१७) अदेश और अप्रतिकूल स्थान में रहने वाला पुरुष भी छोटे से शत्रु से मारा जाता है । क्योंकि स्थान ही प्रधान होता है, स्थान के बल से जैसे छोटे

१. '[illegible]' । २. '[illegible]' ख॰ । ३. '[illegible]' ४. '[illegible]' । ५ '[illegible]' ।

(१८) 'बहुशत्रुस्तु सन्त्रस्तः श्येनमध्ये कपोतवत् ।
येनैव गच्छति पथा तेनैवाऽऽशु[1] विपद्यते' ॥५१॥
(१९) 'अकालयुक्तसैन्यस्तु हन्यते कालयोधिना ।
कौशिकेन हतज्योतिर्निशीथ इव वायसः' ॥५२॥
(२०) 'सत्यधर्मव्यपेतेन[2] सन्दध्यान्न कदाचन ।
स सन्धितोऽप्यसाधुत्वादचिरायाति विक्रियाम्' ॥५३॥

तेऽपि, महाकाय हस्तिराजमपि आस्पर्शति ॥ ५० ॥
सन्त्रस्त=बहुशत्रुसन्त्रस्तः सन् । येनैव मार्गेण गच्छति तेनैव गच्छन् सद्यस्ते। शेनः=शत्रो । (बाज-पक्षी) ॥ ५१ ॥ अकालयुक्तसैन्यः=नानाऽनुचितावसरे- नियोजितसैन्यः । कालयोधिना = अनुकूलावसरेण शत्रुणा-हन्यते । कौशिकेन = उलूकेन । हतज्योतिः= हतनेत्रशक्तिः । निशीथे=मध्यरात्रे । वायसः= काक इव । 'कालयुक्तसैन्यस्तु' इत्यपि क्वचित् पाठः ॥ ५२ ॥ सत्येति । असत्यधर्मेण, अधा- र्मिकेण । न सन्दध्यात् = सन्धिं न कुर्यात् । असाधुत्वात् = दुष्टत्वात् । विक्रियाम् = विकारं, विरोधम् ॥ ५३ ॥

कर (मगर) भी जल में पड़े बड़े हाथियों को भी खींच लेता है ॥ ५० ॥
(१८) बहुत शत्रुवाला पुरुष भी अनेक बाजों के बीच में पड़े हुए कबूतर की तरह डरता हुआ जिस मार्ग से जिधर भी जाता है, वहीं पर शीघ्र ही मारा जाता है ॥ ५१ ॥
(१९) जो राजा असमय में ही दूसरे पर चढ़ाई करता है वह राजा समय पर आक्रमण करनेवाले अपने उस शत्रु से उसी प्रकार से मारा जाता है, जैसे अर्धरात्रि में दृष्टि के नष्ट हो जाने के कारण उल्लू से कौआ मारा जाता है ॥ ५२ ॥
(२०) जो सत्यधर्म से विरुद्ध हो उससे भी कभी सन्धि नहीं करे, क्योंकि वह सन्धि करने पर भी असज्जन होने के कारण ही थोड़े ही समय में बिगड़ जाता है। (अर्थात् सन्धि को तोड़ देता है) ॥ ५३ ॥

1. 'ह्येनैवाशु' । 2. 'न सन्दध्यात्' ।

अपरमपि कथयामि,—सन्धि-विग्रह-याना-ऽऽसन-संश्रय-द्वैधीभाव षाड्गुण्यम्। (१) कर्मणामारम्भोपायः, (२) पुरुष-द्रव्य-सम् (३) देशकालविभागः, (४) विनिपातप्रतीकारः, (५) कार्यसिद्धिश्च (इ पञ्चाङ्गो मन्त्रः। साम-दान-भेद-दण्डाश्चत्वार उपायाः। (१) उत्साहशा (२) मन्त्रशक्तिः (३) प्रभुशक्तिश्चेति शक्तित्रयम्। एतत्सर्वमालोच्य नि विजिगीषवो भवन्ति महान्तः। यतः—

'या हि प्राणपरित्यागमूल्येनाऽपि न लभ्यते।
सा श्रीर्नीतिविदं पश्य चञ्चलाऽपि प्रधावति' ॥ ५४ ॥

सन्धिः=सन्धानम्। विग्रहः=युद्धम्। यानं=शत्रुं प्रति यानम् (चढ़ाई)। आस दुर्गादौ सन्नद्धतया स्थितिः। संश्रयः=बलवत आश्रयणम्। द्वैधीभावः=द्विधा भवन एते नीतेः षड्गुणा भवन्ति। आरम्भोपायः=कार्यस्यारम्भस्य उपायः। पुरुषाः सहायकानां सैन्यादीनां, द्रव्यस्य=धनधान्यादेश्च, सम्पत्=समृद्धिः। देश विभागः=इदं, इदं, इदं कार्यं करणीयमिति देशकालभेदेन कर्त्तव्यविनिर्दे विनिपातप्रतीकारः=आपद्विनिवारणम्। विजिगीषवः=विजयेच्छुकाः।

पश्य—त्वं हि पश्य। श्रीः—श्रीः। प्राणपरित्यागमूल्येनापि=प्राणपरित्यागेनापि अलभ्यापि। नीतिविदं=नीतिज्ञपुरुषम्। प्रधावति=स्वयमेव गच्छ

हे राजन्! राजनीति की और भी कुछ २ बातें मैं आपसे कहता हूँ कि—सन्धि, वि गमन (चढ़ाई), समय की प्रतीक्षा में बैठना, दूसरे का आश्रय लेना और द्वै भाव (दुरंगी चाल,) ये राजनीति के छः गुण हैं। और मन्त्र के भी पांच होते हैं। जैसे कार्यों के आरम्भ का उपाय, सहायक मनुष्यों का और आवश्यक (द्रव्य) का संग्रह, देश और काल का विभाग, तथा आकस्मिक का प्र अर्थात् विघ्न का प्रतीकार, और कार्यों की सिद्धि, ये पांच मन्त्र के अङ्ग (भाग) होते हैं। साम, दान, भेद और दण्ड ये चार उपाय हैं। उत्सा शक्ति, मन्त्रशक्ति, और प्रभुशक्ति ये तीन राजा की शक्तियाँ हैं। इन सब बातों पर भी विचार कर ही महापुरुष किसी पर चढ़ाई करते हैं और श शत्रुओं के जीतने की इच्छा करते हैं।

क्योंकि—जो लक्ष्मी प्राण त्यागकर मूल्य से भी, अर्थात् प्राणों के

तथा चोक्तम्—

'वित्तं सदा¹ यस्य समं विभक्तं,
गूढश्चरः,² संनिभृतश्च मन्त्रः ।
न चाऽप्रियं प्राणिषु यो ब्रवीति,
स सागरान्तां पृथिवीं प्रशास्ति' ॥५५॥

किन्तु देव³ ! यद्यपि महामन्त्रिणा गृध्रेण सन्धानमुपन्यस्तं, तथापि तेन राज्ञा सम्प्रति भूतजयदर्पान्न मन्तव्यम् । (देव⁴ !) तदेवं क्रियताम्— 'सिंहलद्वीपस्य महाबलो नाम सारसो राजाऽस्मन्मित्रं जम्बुद्वीपे कोपं जनयतु । यतः—

र=त्रिलोक्य ॥ ५४ ॥

यन्वेति । यस्य राज्ञो वित्तं=धनं, सेवकेषु समं=तुल्यं, विभक्तम् । यस्य चरः सर्वत्र गूढं चरति । यस्य मन्त्रश्च निभृतः=गुप्तः, यश्च सर्वं प्रियवाक् । स समुद्रान्तां पृथ्वीं शास्ति=स चक्रवर्ती राजा भवति ॥ ५५ ॥

सन्धानं=सन्धिः । उपन्यस्तं=प्रस्तावितम् । भूतजयदर्पात्=पूर्वस्य विग्रहस्य गर्वेण । न मन्तव्यं=स न मस्यते । (यह नहीं मानेगा) ।

भी कहीं किसी को नहीं मिलती है, वही लक्ष्मी—यत्न न करने पर भी नीति-मंत्री के पास तो स्वयं दौड़कर आती है ॥ ५४ ॥

लोगों ने कहा भी है—जिसका धन सदा अपने भृत्यों में यथायोग्य बराबर २ बँटा हो, जिसका गुप्तदूतविभाग दृढ़ हो, जिसका मन्त्र अत्यन्त गुप्त रहता है, और जो प्राणीमात्र को कभी अप्रिय वचन नहीं कहता हो, वह राजा समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का शासन कर सकता है । अर्थात् उसके पास चक्रवर्ती सार्वभौम होता है ॥ ५५ ॥

किन्तु हे देव ! यद्यपि महामन्त्री गिद्ध ने अपने राजा चित्रवर्ण से सन्धि की बात की है, तो भी वह राजा विजयी होने के घमण्ड से इस बात को नहीं मानेगा । अतः हे देव ! ऐसा उपाय करें कि सिंहलद्वीप का राजा महाबल नाम का सारस जो हमारा मित्र है, वह जम्बुद्वीप पर चढ़ाई कर दे ।

---

१ 'वित्तं यस्य' । २ 'गूढश्च चारो, निभृतश्च मन्त्रः' पाठा० । ३. 'किन्तु—' ४ दृश्यते । ५ 'अस्मन्मित्रं सिंहलद्वीपस्य' ।

'सुगुप्तिमाधाय, सुसंहतेन
बलेन वीरो विचरन्नरातिम् ।
सन्तापयेद्येन समं सुतप्त-
स्तप्तेन सन्धानमुपैति तप्तः' ॥ ५६ ॥

राज्ञा[1] 'एवमस्तु' [2]इति निगद्य विचित्रनामा चरः सुगुप्तलेखं सिद्धनद्वीपं प्रहितः[3] ।

अथ[4]प्रणिधिः पुनरागत्योवाच—'देव ! श्रूयतां [5]तावत्तत्रत्यप्रक्ता

[illegible] ॥ सुगुप्तिमाधाय = गुप्तां स्थितिं [illegible] । [illegible]

[illegible] । सुसंहतेन = [illegible], [illegible], बलेन = सैन्येन, [illegible]

[illegible] । ([illegible]) । अरातिम् = शत्रुं ।

[illegible] । येन स समं = [illegible] । [illegible] । सुतप्तः = [illegible]

[illegible] । [illegible] ॥ ५६ ॥

[illegible] । प्रहितः = प्रेषितः । प्रणिधिः = [illegible]

[illegible] = [illegible] ।

[illegible]—[illegible] ([illegible]) [illegible], [illegible]

[illegible]

[illegible] ॥ ५६ ॥

[illegible]

[illegible] ।

[illegible]—'देव ! [illegible]

१. [illegible] । २. [illegible]

[illegible]

—एवं तत्र गृध्रेणोक्तं—'देव ! 'मेघवर्णोऽत्र चिरमुषितः, स वेत्ति कि सन्धेयगुणयुक्तो हिरण्यगर्भो राजा, न वा' ?–इति। ततोऽसौ मेघवर्ण-स्त्रिवर्णेन राज्ञा समाहूय पृष्टः—'वायस ! कीदृशोऽसौ हिरण्यगर्भो राजा, ?। चक्रवाको मन्त्री वा कीदृशः' ?। वायस उवाच–'देव ! 'स हिरण्यगर्भो राजा युधिष्ठिरसमो महाशयः, सत्यवाक्। चक्रवाक-समो मन्त्री न क्वाऽप्यवलोक्यते।' राजाऽऽह—'यद्येवं तदा कथमसौ त्वया वञ्चितः ?। विहस्य मेघवर्णः प्राह–'देव !

'विश्वासप्रतिपन्नानां वञ्चने का विदग्धता ?।
अङ्कमारुह्य सुप्तं हि हत्वा किं नाम पौरुषम्' ? ॥ ५७ ॥

अत्र=यत्रदुर्गे। कीदृशः = कीदृशगुणकः। महाशयः = उदाराशयः। एवम्=... गुणशाली, महात्मा।
विश्वासं प्रतिपन्नानाम्=विश्वासमुपगतानाम्। वञ्चने = प्रतारणे। ... = का गतु। विदग्धता = कौशलम्। अङ्क = क्रोडम्। आरुह्य = आगत्य। किं नाम ...

... भी सुनिये—तब गृध्र ने कहा कि—'देव ! मेघवर्ण भी वहाँ बहुत समय तक ... युक्त है। अतः वह भी जानता है कि–हिरण्यगर्भ राजा सन्धि करने के योग्य ... गुणों से युक्त है, या नहीं। तब राजा ने उस मेघवर्ण को बुलाकर पूछा कि—... रहे कौवे ! वह हिरण्यगर्भ राजा कैसा है ?। और उसका मन्त्री कैसा है ?। कौवा ... कहा कि—'देव ! हिरण्यगर्भ राजा युधिष्ठिर के समान उदारचेता और सत्यवादी है, ... चकवे के समान मन्त्री भी अन्यत्र कहीं नहीं देख पड़ता है।' यह सुन कर ... कहा कि—जो ऐसी बात है, तो तूने उसे कैसे ठगा ?। मेघवर्ण हँस ... कहा कि—हे देव !

... विश्वास दिखाए हुए लोगों का ठगना क्या बड़ी बात है ?। क्योंकि गोद में ... पर सोते हुए को मारने में क्या पुरुषार्थ है ?। अर्थात् वह तो बड़ी ... से ही मारा जा सकता है ॥ ५७ ॥

'मेघवर्णः' । २ राजेति क्वचिन्न । ३ 'मेघवर्णो ब्रूते' । ४ 'देव ! हिरण्य-... क्वचिन्न' । ६ 'तदा' । ७ 'मेघवर्णो विहस्य ब्रूते' ।

शृणु देव ! तेन मन्त्रिणाऽहं प्रथमदर्शने एव विज्ञातः । कि(न्तु) महाशयोऽसौ राजा, तेन मया विप्रलब्धः । तथा चोक्तम्—

'आत्मौपम्येन यो वेत्ति दुर्जनं सत्यवादिनम् ।
स तथा वञ्च्यते धूर्तैर्ब्राह्मणश्छागतो यथा' ॥ ५८ ॥

राजोवाच—'कथमेतत् ?' । मेघवर्णः कथयति—

९ ब्राह्मण–च्छाग–धूर्त्तत्रय–कथा ।

अस्ति गौतमस्यारण्ये प्रस्तुतयज्ञः कश्चिद् ब्राह्मणः । स च या(ज्ञार्थं) [1]ग्रामान्तराच्छागमुपक्रीय, स्कन्धे नीत्वा, गच्छन्धूर्तत्रयेणावलोकि(तः)

(गोद में) । गुणे जाते सति किं नाम चोद्यम्, न किमपीत्यर्थः ॥ ५७ ॥ ते(न) मन्त्रिणैव । प्रथमदर्शने=प्रारम्भ दर्शने । (देखते ही) । विज्ञातः=ज्ञातः । महाशयः=उदारप्रकृतिः । विप्रलब्धः=वञ्चितः । आत्मौपम्येन=आत्मवत् (अपने ही समान), यो दुर्जनमपि सत्यवादिनं जानाति, स वञ्च्यते । यथा छागग्रहणेन स ब्राह्मणो धूर्तैर्वञ्चितः ॥ ५८ ॥

प्रस्तुतयज्ञः=विस्तारितः, उपक्रमितो वा । छागम्=अजम् (बकरा

और सुनिये महाराज ! उस प्रधान मन्त्री ने तो पहले ही दर्शन में (देखते ही) मुझको पहिचान लिया था, परन्तु यह राजा बड़ा उदार हृदय और [illegible] है, इसी कारण से मेरे से यह ठगा गया ।

ऐसा कहा भी है—जो दुष्ट को अपने समान ही सच्चा जानता है, वह [illegible] से ऐसे ही ठगा जाता है, जैसे उन धूर्तों ने बकरे के विषय में एक ब्राह्मण ठग लिया था ॥ ५८ ॥

राजा ने कहा—यह कथा कैसे है ? । मेघवर्ण कहने लगा—

गौतम ऋषि के वन में किसी ब्राह्मण ने यज्ञ करने का विचार कि(या) और उस यज्ञ के लिए दूसरे ग्राम से बकरा मोल लेकर कन्धे पर लिये जाते हुए तीन धूर्तों (ठग) ने देखा । तब उन धूर्तों ने सोचा कि—यह बक(रा)

१. '[illegible]' । २. '[illegible]' ।

ततस्ते धूर्ताः—'यद्येष च्छागः केनाप्युपायेन लभ्यते, तदा मतिप्रकर्षो[1] भवती'ति समालोच्य, '[2]वृक्षत्रयतले क्रोशान्तरेण तस्य ब्राह्मणस्याऽऽगमनं प्रतीक्ष्य, [3]पथि स्थिताः।

तत्रैकेन धूर्तेन गच्छन्स ब्राह्मणोऽभिहितः—'भो ब्राह्मण! किमिति त्वया कुक्कुरः स्कन्धेनोह्यते'?। विप्रेणोक्तं-'नाऽयं श्वा, किन्तु यज्ञच्छागः।' [4]अथाऽनन्तरस्थितेनाऽन्येन धूर्तेन तथैवोक्तम्। तदाकर्ण्य ब्राह्मणश्छागं भूमौ [5]निधाय, मुहुर्निरीक्ष्य, पुनः स्कन्धे कृत्वा, दोलायमानमतिश्चलितः। यतः—

'मतिर्दोलायते [6]सत्यं सतामपि खलोक्तिभिः।
ताभिर्विश्वासितश्चाऽसौ' म्रियते चित्रकर्णवत्' ॥ ५९ ॥

[illegible]=मूल्येन गृहीत्वा। मतिप्रकर्षः=बुद्धिकौशलम्। (हम लोगों की बुद्धि-[illegible]नी प्रकट हो। 'तभी हमारी हिम्मत हो')। वृक्षत्रयतले=त्रयाणां वृक्षाणां [illegible]ने। (कोस २ भर के अन्तर पर वे तीनों ठग वृक्षों के नीचे खड़े हो कर उसको [illegible]र देखने लगे)। ऊह्यते=नीयते। अनन्तरस्थितेन=निकटस्थितेन। द्वितीयेनापि। [illegible]=पुनः। दोलायमानमतिः=संशयाऽऽकुलचित्तः। खलोक्तिभिः=दुष्टोक्तवाक्यैः। [illegible]मर्थ—मतिः दोलायते=नूनं चञ्चला भवति। ताभिः=खलोक्तिभिः।

[illegible] लोग किसी उपाय से इससे छीन सकें तो हमारी बुद्धि की कुशलता सिद्ध होगी। [illegible] यह सोचकर वे तीनों ठग तीन वृक्षों के नीचे कोस कोस भर के अन्तर पर [illegible] अलग उस ब्राह्मण की बाट देखते मार्ग में बैठ गये। तब एक धूर्त ने जाते [illegible] उस ब्राह्मण से पूछा कि—हे ब्राह्मण, आपने यह कुत्ता कन्धे पर क्यों रख लिया [illegible] है?। ब्राह्मण बोला कि—भाई! यह कुत्ता नहीं है, किन्तु यह तो यज्ञ का पशु [illegible] बकरा है। फिर दूसरे दूर बैठे हुए धूर्त ने भी यों ही कहा। यह सुन कर ब्राह्मण [illegible] बकरे को रख कर, बारबार देखकर, फिर उसे कन्धे पर रखकर, मन ही मन सन्देह [illegible] में पड़ा चलने लगा। क्योंकि—दुष्टों के कहने से सज्जनों की बुद्धि भी सचमुच विचलित हो जाती

१ 'मतिप्रकर्षः' पा०। २ 'ग्रामान्तरप्रत्यवदे'ति पाठान्तरे-ग्रामान्तरं=दूरस्थग्रामो [illegible]। ३ 'वर्त्मनि उपविश्य स्थिताः'। ४ 'अनन्तरं पुनर्द्वितीयेन धूर्तेन क्रोश-[illegible] स्थितेन तदेवोक्तम्'। ५ 'मुक्त्वा'। ६ 'विश्वासितोऽपि सोऽसौ'।

'राजाऽऽह—कथमेतत् ?। स कथयति—

१०. चित्रकर्ण-काकादि-कथा ।

अस्ति कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे मदोत्कटो नाम सिंहः। तस्य सेवकास्त्रयः काको, व्याघ्रो, ²जम्बुकश्च। अथ तैर्भ्रमद्भिः ³सार्थभ्रष्टः कश्चिदुष्ट्रो दृष्टः पृष्टश्च—'कुतो भवानागतः सार्थाद् भ्रष्टः' ?। स चाऽऽत्मवृत्तान्तमकथयत्, ततस्तैर्नीत्वा सिंहायाऽसौ समर्पितः। तेन चाऽभयवाचं दत्त्वा, 'चित्रकर्ण' इति नाम कृत्वा, स्थापितः।

⁴अथ कदाचित्सिंहस्य शरीरवैकल्याद्भूरिवृष्टिकारणाच्चाऽऽहारमलभमानास्ते व्यग्रा बभूवुः। ⁵ततस्तैरालोचितम्—'चित्रकर्णमेव यथ

विश्वासितः=विश्वास करने से ॥ ५६ ॥

वनोद्देशे=वनप्रदेशे। सार्थात्=वणिक्समूहात्।

स च=उष्ट्रः। शरीरवैकल्यात्=शरीरास्वास्थ्यात्। आहारं=भोज्य (शिकार)। ते=काकादयः। व्यग्राः=चिन्तिताः, व्याकुलाश्च। व्याराःकृ=

है। और उन पर विश्वास करके उनसे धोखा दिया हुआ मनुष्य भी उ[न] चित्रकर्ण की तरह ही नष्ट हो जाता है ॥ ५६ ॥

तब राजा बोला कि—'यह कथा कैसे है ?।' वह कौआ कहने लगा—

किसी वन में मदोत्कट नाम का एक सिंह रहता था। उसके कौआ, व्या[घ्र] और शृगाल ये तीन सेवक थे। एक समय घूमते हुए उन्होंने किसी ऊँट को देखा और उससे पूछा कि—तुम अपने समूह से छूट कर यहाँ कहाँ से आ[ये] हो ?। तब उस ऊँट ने अपना सब वृत्तान्त कहा। फिर उन्होंने उसे ले जाकर सिंह को सौंप दिया। उसने उसे अभय वचन देकर, चित्रकर्ण नाम रखकर, अपने पास रख लिया। बाद में किसी दिन सिंह का शरीर अस्वस्थ होने के कारण और बहु[त] वृष्टि होने के कारण भोजन न मिलने से वे सभी बहुत दुर्बल हुए। तब उन्होंने सोचा कि कैसे स्वामी सिंह इस चित्रकर्ण को मारे, ऐसा ही उपाय करना चाहिये

१. 'राजोवाच कथमेतत्'। २. 'काकव्याघ्रजम्बुकाः'। ३. [illegible]। ४. [illegible]
५. [illegible]। ६. [illegible]।

स्वामी व्यापादयति तथाऽनुष्ठीयताम्। किमनेन [1]'कण्टकभुजाऽस्माकम्'?।

व्याघ्र उवाच—'स्वामिनाऽभयवाचं दत्त्वाऽनुगृहीतोऽयं, तत्कथमेवं सम्भवति'?। काको ब्रूते—'इह समये परिक्षीणः स्वामी पापमपि करिष्यति'। यतः—

'त्यजेत्क्षुधाऽऽर्त्ता महिला[2] स्वपुत्रं,
खादेत्क्षुधार्त्ता भुजगी स्वमण्डम्।
बुभुक्षितः किं न करोति पापं,
क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति' ॥ ६० ॥

अन्यच्च—

'मत्तः, प्रमत्तश्चोन्मत्तः, श्रान्तः, [3]क्रुद्धो, बुभुक्षितः।
लुब्धो, भीरुस्त्वरायुक्तः, कामुकश्च न धर्मवित्' ॥ ६१ ॥

इति। कण्टकभुजा=वर्षादिकण्टकभोगिना। किं=किमस्माकं प्रयोजनम्। न किमपीत्यर्थः। अनुगृहीतः=अनुकम्पितः। इह=भोजनाऽभावसमये। क्षीणः=खिन्नः। पापम्=अनुचितमपि।

क्षुधार्त्ता=बुभुक्षिता सती। महिला=स्त्री। त्यजेत्=जह्यात्। भुजगी=सर्पी। अण्डम्=स्वाण्डं, स्वपुत्रम्। क्षीणाः=निर्धनाः। निष्करुणाः=निर्दयाः ॥ ६० ॥

मत्तः=गर्वितः। प्रमत्तः=अनवहितः। (असावधान)। उन्मत्तः=विक्षिप्तः,

है। इस काँटे के खाने वाले से हमारा लाभ ही क्या है?'। व्याघ्र बोला—'स्वामी ने इसे अभय वचन देकर इस पर कृपा की है, अतः यह अब कैसे हो सकता है?'। कौआ बोला कि—इस समय दुःखी और भूखा स्वामी पाप भी कर लेगा।

क्योंकि—भूखी स्त्री अपने पुत्र को भी छोड़ देती है, भूखी सर्पिणी अपने अण्डों को भी खा जाती है, भूखा आदमी कौनसा पाप नहीं करता है?। क्योंकि क्षीण (भूखा, दरिद्र) मनुष्य निर्दयी हो जाते हैं ॥ ६० ॥

और भी—मत्त (घमण्डी), प्रमत्त (असावधान), उन्मत्त (पागल),

१ 'कण्टकभुजा। व्याघ्रो ब्रूते'। २. 'महिलाऽपि'। ३ 'क्रोधी'।

—इति [1]सञ्चिन्त्य सर्वे सिंहाऽन्तिकं जग्मुः। सिंहेनोक्तम्—'आहारार्थं किञ्चित्प्राप्तम्[2], ?'। तैरुक्तम्—'देव ! यत्नादपि न प्राप्तं किञ्चित् !'। सिंहेनोक्तम्—'कोऽधुना जीवनोपायः ?।' काको वदति—'देव ! स्वाधीनाऽऽहारपरित्यागात्सर्वनाशोऽयमुपस्थितः' ?। सिंहेनोक्तम्—'अत्राऽऽहारः कः स्वाधीनः ?।' काकः कर्णे कथयति—'चित्रकर्णः' इति सिंहो भूमिं स्पृष्ट्वा, कर्णौ स्पृशति। [4]अब्रवीच्च—'अभयवाचं दत्त्वा धृतोऽयमस्माभिः, तत्कथमेवं सम्भवति' ?। [5]तथा हि—

(वायस)। भ्रान्ताः=परिभ्रान्ताः (थका हुआ)। क्षुद्रः=क्षुधितः। बुभुक्षितः=क्षुधातुरः। भीरुः=भयातुरः। त्वरायुक्तः=त्वरावान्। कामुकः=कामी। एते धर्मं न पश्यन्तीत्यर्थः ॥ ६१ ॥

सिंहान्तिकं=सिंहसमीपम्। जीवनोपायः=प्राणधारणोपायः। स्वाधीनाऽऽहारपरित्यागात्=स्वायत्तभोजनत्यागात्। सर्वनाशः=सर्वेषामस्माकं विनाशः। कर्णे=श्रवणे। भूमिमिति। पापनिवारणार्थमनौचित्यं दर्शयितुं भूमिं स्पृष्ट्वा। अभयवाचम्=अभयवचनम्। तत्=तस्मात्। एवं=इत्थम्।

थका हुआ, क्रोधी, भूखा, डरपोक, लोभी, त्वरायुक्त, (जल्दबाज) और कामी, ये लोग धर्म को नहीं जानते (देखते) हैं ॥ ६१ ॥

यह विचार कर वे सब सिंह के पास गये। उन्हें देखकर सिंह बोला कि—'भोजन के लिये कुछ मिला ?'। वे बोले कि—'यत्न करने पर भी कुछ नहीं मिला'। सिंह बोला कि—'तो अब जीने का क्या उपाय है ?'। कौआ बोला कि—'देव ! अपने अधीन जो भोजन है, उसको छोड़ देने से ही यह सब कष्ट उपस्थित हुआ है।' सिंह बोला कि—'यहाँ अपने अधीन भोजन क्या है ?'। कौए ने कान में कहा कि—यह चित्रकर्ण है। सिंह ने भूमि छूकर कान छूआ और कहा कि—राम, राम इसे तो अभय वचन देकर रक्खा है, अतः ऐसा कैसे हो सकता है ?।

१. 'मिलित्वा'। २ 'किञ्चित् विदितम्'। ३ कथितम्। ४ 'उक्तं च—अभयवाचं दत्त्वाऽनन्तरम्'। ५ 'उक्तं च'।

'न भूप्रदानं, न सुवर्णदानं,
न गोप्रदानं, न तथाऽन्नदानम् ।
यथा वदन्तीह महाप्रदानं,
सर्वेषु दानेष्वभयप्रदानम्' ॥ ६२ ॥

अन्यच—

'सर्वकामसमृद्धस्य अश्वमेधस्य यत्फलम् ।
तत्फलं लभते सम्यग् रक्षिते शरणागते' ॥ ६३ ॥

काको भूते—'नाऽसौ स्वामिना व्यापादयितव्यः, किन्त्वस्माभिरेव तथा कर्तव्यं, यथाऽसौ स्वदेहदानमङ्गीकरोति'।

सिंहस्तच्छ्रुत्वा तूष्णीं स्थितः। ततोऽसौ लब्धाऽवकाशः कूटं कृत्वा,

नयेति। सर्वान्नृपस्तनभूम्यादिदानापेक्षयाऽपि अभयप्रदानं महादानं वदन्ति विद्वांसः॥ ६२ ॥

सर्वकामसमृद्धस्य = सर्वाभीष्टप्रदानोत्तमस्य। शरणागते=शरणमागते। रक्षिते= सति। सम्यक् = परिपूर्णम् ॥ ६३ ॥ असौ=उष्ट्रः। तूष्णीमिति। अनुमतिसूचनार्थं मौनम्। 'मौनं संमतिलक्षण'मित्युक्तेः।

असौ=काकः। कूटं=कपटं। (षड्यन्त्र)। सर्वान्=व्याघ्रजम्बुकादीन्।

और किसी ने कहा भी है कि—न ऐसा पृथ्वी का दान है, न सुवर्ण का दान है, न गौ का दान है, और न ऐसा अन्न का दान ही है, जैसा कि सब दानों से बड़ा अभय दान है ॥ ६२ ॥

और भी—सब कामनाओं को पूर्ण करने वाले अश्वमेध यज्ञ से जो फल होता है, वही फल शरण में आये हुए को अच्छी प्रकार रक्षा करने से भी प्राप्त होता है ॥ ६३ ॥

कौआ बोला कि—आप उसे मत मारिये। परन्तु हमलोग ही ऐसा उपाय करेंगे, कि जिससे वह ऊँट अपने शरीर को दान ही आपको देना स्वीकार कर लेगा।'

शेर यह सुन चुप हो रहा। इसके उपरान्त वह कौआ अवसर पाकर छल करके

सर्वानादाय[1] सिंहाऽन्तिकं गतः। अथ काकेनोक्तं—'देव! यत्नादप्याहारो न प्राप्तः, अनेकोपवासक्लिष्टश्च[2] स्वामी, तदिदानीं मदीयमांसमुपभुज्यताम्'। यतः—

> 'स्वामिमूला भवन्त्येव[3] सर्वाः प्रकृतयः खलु।
> समूलेष्वपि वृक्षेषु प्रयत्नः सफलो नृणाम्' ॥ ६४ ॥

सिंहेनोक्तम्—'भद्र[4]! वरं प्राणपरित्यागो, न पुनरीदृशे कर्मणि प्रवृत्तिः।' जम्बुकेनाऽपि तथोक्तम्। ततः सिंहेनोक्तं—'मैवम्'। अथ 'व्याघ्रेणोक्तं—'मद्देहेन जीवतु स्वामी।' सिंहेनोक्तं—'न कदाचिदेवमुचितम्

अथ=अनन्तरम्। यत्नात्=प्रयत्नेऽपि। आहारः=भोज्यं प्राप्तम्। अनेकोपवासक्लिष्टः=अनेकदिनपर्यन्तोपवासेन, कृशश्च। स्वामी=देवः। स्वामीति। सर्वाः अपि प्रकृतयो राजानिमित्तमूला एव भवन्ति। समूलेषु च वृक्षेषु यत्नेन ततः फलप्राप्तिर्भवति, तद्वदेवात्र प्रयत्नश्च सफलो भवति ॥ ६४ ॥

वरं=किञ्चिदिष्टम्। ईदृशे=स्वामिपरिचितभोजनप्रवृत्तिरूपे। जम्बुकेन=शृगालेन। मद्देहेन=मदेहेन प्राणयात्रा करणीयेत्युक्तम्। जीवतु=प्राणान् ध

सबको लेकर सिंह के पास गया और बोला कि—हे देव! यत्न करने से भी भोजन (शिकार) नहीं मिला। और आप भी बहुत दिनों से भोजन किये बिना दु(र्बल) हो रहे हैं, अतः अब आप मेरे ही मांस को खाकर अपना प्राण बचाइए।

क्योंकि सब प्रजा (राष्ट्र) की भी जड़ तो स्वामी (राजा) ही होता है और मूल (जड़) वाले वृक्ष में ही मनुष्यों का यत्न सफल होता है। (उसी प्रकार सब की रक्षा भी राजा से होती है) ॥ ६४ ॥

तब सिंह बोला कि—भद्र! मरना अच्छा है, पर ऐसा काम करना (अपने आश्रितों को खाना, यह राजा को) कभी अच्छा नहीं है। तब शृगाल ने भी वही कहा। फिर सिंह बोला कि—ऐसा मत करो। मैं ऐसा कभी नहीं कर सकता हूँ।

१. [illegible]। २. [illegible]। ३. [illegible]। ४. [illegible] ५. [illegible]। ६. [illegible]।

अथ चित्रकर्णोऽपि 'जातविश्वासस्तथैवाऽऽत्मदेहदानमाह'[1] । तदस्तद्वचनात्तेन व्याघ्रेणाऽसौ कुक्षिं विदार्य्य, व्यापादितः, सर्वैर्भक्षित- व । अतोऽहं ब्रवीमि—'मतिर्दोलायते सत्यम्' इत्यादि ॥ ●॥

'तदनन्तरं तृतीयधूर्तवचनं श्रुत्वा,[5] स्वमतिभ्रमं निश्चित्य, छागं त्यक्त्वा, ब्राह्मणः स्नात्वा, गृहं ययौ । 'छागश्च तैर्धूर्तैर्नीत्वा भक्षितः । अतोऽहं ब्रवीमि—'आत्मौपम्येन यो वेत्ति'—इत्यादि ॥●॥

राजाऽऽह—'मेघवर्ण ! कथं शत्रुमध्ये त्वया सुचिरमुषितम् ?, कथं वा तेषामनुनयः कृतः !' । मेघवर्ण उवाच—'देव ! स्वामिकार्यार्थितया,

थः । जातविश्वासः = 'स्वामी न मां भक्षयिष्यती'ति जातविश्वासः । तथैव=काक- विदेव । आत्मदेहदानम्=आत्मदेहदानवार्तां कथयन्नेव । द्वीपिना=व्याघ्रेण । निश्चित्य= इङ्क्ष्वोऽयं, न तु छागः' इति निश्चित्य । व्यापादितः = मारितः ।

सुचिरं = बहुकालम् । उषितं = निवासः कृतः । अनुनयः=अनुरञ्जनम् ।

थ ने भी कहा कि—'हे स्वामी, मेरे शरीर से ही आप अपना जीवन धारण कीजिए ।' सिंह बोला कि—'यह कभी उचित नहीं है ।' यह सुनकर विश्वास करके चित्रकर्ण भी ऐसे ही अपना शरीर देने को कहने लगा । उसके कहने पर तुरन्त ही उस व्याघ्र ने उस ऊँट का पेट फाड़ कर उसको मार डाला और सबने खा डाला । इसलिए मैंने कहा कि—'दुष्टों के कहने से विश्वास में आकर बुद्धिमानों की बुद्धि भी चलित हो जाती है' इत्यादि ॥ आगे कुछ दूर जाने पर तीसरे धूर्त ने भी वही बात कही । तब उसका वचन सुन, अपनी बुद्धि का ही भ्रम जानकर (अर्थात् यह कुत्ता ही है' ऐसा निश्चय कर), उस बकरे को छोड़कर, स्नान कर वह ब्राह्मण घर पर चला गया । तब उस बकरे को ले जाकर उन धूर्तों ने खा लिया । इसलिए मैंने कहा कि—'जो दुष्टों को भी अपने समान सदा ही समझता है, वह धूर्तों से ठगा जाता है' इत्यादि ॥

राजा बोला कि—हे मेघवर्ण ! तू बहुत दिनों तक शत्रुओं के बीच में कैसे रहा और किस प्रकार तूने उनसे मेल-मिलाप किया ? । मेघवर्ण बोला कि—

'जातप्रत्ययः' । २. 'आत्मदानमाह' । ३. 'तदनन्तरमेवाऽसौ व्यापादितः' । ...तुतीय' । ४.'श्रुत्वा स विप्रो मनं निश्चित्य, छागं त्यक्त्वा ... ...तैर्धूर्तैर्नीत्वा भक्षितः' ।

स्वप्रयोजनवशाद्वा किं किं न क्रियते'। पश्य—

'लोको वहति किं राजन्न मूर्ध्ना दग्धुमिन्धनम्।
घालयन्त्यपि 'वृक्षाङ्घ्रिं नदीवेला निकृन्तति' ॥ ६५ ॥

तथा चोक्तम्—

'स्कन्धेनापि 'वहेच्छत्रून् कार्यमासाद्य बुद्धिमान्।
यथा वृद्धेन सर्पेण मण्डूका विनिपातिताः' ॥ ६६ ॥

राजाऽऽह—'कथमेतत्?'। मेघवर्णः कथयति—

११. मन्दविष–मण्डूक–कथा।

अस्ति जीर्णोद्याने मन्दविषो नाम सर्पः। सोऽतिजीर्णतया [illegible]

(सुधाकरः)। [illegible]=[illegible] प्रयत्नमानेन। स्वप्रयोजनवशात्=स्वार्थवशात्। हे राजन्=हे नृप। लोकः=जनः, इन्धनं=काष्ठं, दग्धुं=[illegible], किं मूर्ध्ना=शिरसा न वहति?, किन्तु वहत्येव। वृक्षाङ्घ्रिं=[illegible]। क्षालयन्ती=[illegible], [illegible] च। नदीवेला=नदीपूरः। ([illegible])। वृक्षाङ्घ्रिं निकृन्तति=उन्मूलयत्येव ॥ ६५ ॥ कार्यमासाद्य=कार्य[illegible] [illegible] ॥ ६६ ॥

जीर्णोद्याने=पुराने बगीचे। (पुराने बगीचे में)। अतिजीर्णतया

देव! राजाओं के काम के लिए और अपने प्रयोजन के वश से क्या २ नहीं कि-या जाता है? देखिए—हे राजन्! क्या जलाने के लिए ईन्धन को मनुष्य सिर पर नहीं ढोता है? और नदी की धारा भी वृक्षों के पैरों (जड़) को धो-धो कर काट देती है ॥ ६५ ॥

और कहा भी है—बुद्धिमान् मनुष्य काम पड़ने पर अपने शत्रुओं को कन्धे पर भी ढो ले, जैसे उस बूढ़े सांप ने मेंढकों को कन्धे पर चढ़ाकर ही मारा था ॥ ६६ ॥

राजा ने पूछा [illegible] 'कैसे'? मेघवर्ण कहने लगा—

एक पुराने बगीचे में [illegible] एक सांप रहता था। वह बहुत बूढ़

१. '[illegible] वृक्षपादं नदीवेला' पा०। २. 'दग्धुं'। ३ '[illegible]'

ऽऽहारमप्यन्वेष्टुमक्षमः सरस्तीरे पतित्वा स्थितः। ततो दूरादेव केनचिन्मण्डूकेन दृष्टः, पृष्टश्च—'किमिति [1]त्वमाहारं नाऽन्विष्यसि'?। [2]सर्पोऽवदत्—'गच्छ भद्र! किन्ते मम मन्दभाग्यस्य वृत्तान्तप्रश्नेन'? ततः सञ्जातकौतुकः स च भेकः 'सर्वथा कथ्यताम्' [3]इत्याह। [4]सर्पोऽप्याह—भद्र! [5]ब्रह्मपुरवासिनः श्रोत्रियस्य कौण्डिन्यस्य पुत्रो विंशतिवर्षदेशीयः, सर्वगुणसम्पन्नो, दुर्दैवान्मया नृशंसेन दष्टः[6]। ततस्तं[7] सुशीलनामानं पुत्रं मृतमवलोक्य, शोकेन मूर्च्छितः कौण्डिन्यः पृथिव्यां लुलोठ[8]। अनन्तरं ब्रह्मपुरवासिनः सर्वे बान्धवास्तत्राऽऽगत्योपविष्टाः। तथा चोक्तम्—

...त्वा। अन्वेष्टुम्=अर्जयितुम्। मन्दभाग्यस्य=मन्दभाग्यस्य। सञ्जातकौतुकः=आश्चर्यान्वितः। सर्वथा=अवश्यमेव। श्रोत्रियस्य=वेदाध्यायिनः। विंशतिवर्षदेशीयः=ईषदसमाप्तविंशतिवर्षः। दुर्दैवात्=दुर्भाग्यात्। नृशंसेन=...दुरेव। लुलोठ=पपात। ('पछाड़ खाकर गिरा' 'जमीन पर लोटने लगा')। बन्ध=

...ने के अपने लिए भोजन ढूँढने में भी असमर्थ होकर नदी के किनारे पर आकर ...पड़ा हुआ था। उसे दूर से ही किसी मेंढक ने देखा और पूछा कि—'तुम अपना भोजन क्यों नहीं ढूँढते हो'?। साँप बोला कि—भाई! जाओ, मुझ मन्दभागी के वृत्तान्त को पूछने से भी तुमको क्या लाभ है?। तब कौतुकपूर्वक उस मेंढक ने पुनः पूछा कि—'नहीं २ जरूर कहिए, क्या बात है।' साँप बोला—भाई! ब्रह्मपुर के निवासी विद्वान् कौण्डिन्य नामक वेदपाठी के प्रायः बीस वर्ष की अवस्था वाले ...वान पुत्र को अपने दुर्भाग्य से और अपने स्वभाव की कठोरता से ही मैंने काट लिया। तब सुशील नामक अपने पुत्र को मरा हुआ देख कर मूर्छित होकर वह कौण्डिन्य पृथ्वी पर लोट गया। अनन्तर ब्रह्मपुर के रहने वाले उसके सब बन्धु-बान्धव वहाँ आए।

---

१ 'मामाहारं नाऽन्विष्यसि'। २ 'सर्पो ब्रूते—भद्र! गच्छ मम मन्दभाग्यस्य ...प्रश्नेन किम्'। ३ 'इति तं सर्पमाह'। ४ 'सर्पो ब्रूते'। ५ 'अत्र ब्रह्मपुरे ...नाम्नः श्रोत्रियस्य पुत्रो विंशतिवर्षीयः'। ६ '[illegible]'। ७ 'पुत्रं सुशीलनामानं मृतमालोक्य'। ८ 'पृथिवीतले'।

'उत्सवे, व्यसने, युद्धे, दुर्भिक्षे, राष्ट्रविप्लवे ।
राजद्वारे, श्मशाने च यस्तिष्ठति, स बान्धवः' ॥ ६७ ॥

¹तत्र कपिलो नाम स्नातकोऽवदत्—'अरे कौण्डिन्य ! मूढोऽसि येनैवं विलपसि' । शृणु—

'क्रोडीकरोति प्रथमं यदा जातमनित्यता ।
धात्रीव, जननी पश्चात्, तदा शोकस्य कः क्रमः' ? ॥६८॥

²तथा च—

'क्व गताः पृथिवीपालाः ससैन्यबलवाहनाः ।
वियोगसाक्षिणी येषां भूमिरद्यापि तिष्ठति' ! ॥ ६९ ॥

कौण्डिन्य । व्यसने = विपत्ति । राष्ट्रविप्लवे = राज्यविप्लवे । (राज्यक्रान्ति में) राजद्वारे = राजदरबार । (कचहरी में) । तिष्ठति = उपस्थितो भवति ॥६७॥ [illegible] [illegible] मूढः = मूर्खः । एवम् = इत्थम् । [illegible] ॥ क्रो— [illegible] = उत्पन्न बालकम्, धात्री = उपमाता । अनित्यता प्रथमं क्रोडीकरोति = [illegible] । पश्चात् जननी = माता, [illegible] क्रोडीकरोति । तदा शोकस्य कः क्रमः ? ॥ ६८ ॥

पृथिवीपालाः = राजानः । [illegible] ॥

कहा भी है—उत्सव में, विपत्ति और संकट में, युद्ध में, दुर्भिक्ष में, राज्य के उलट पुलट में, राजद्वार (कचहरी) में और श्मशान (मरघट) में जो साथ दे, वही सच्चा बन्धु है ॥ ६७ ॥

और वहाँ कपिल नामक एक स्नातक भी आया था, वह बोला कि—'अरे कौण्डिन्य ! तू बड़ा मूर्ख है, इसलिये तो तू इस तरह रोता है ।

सुन—अरे ! [illegible] पुत्र को प्रथम तो धाय की तरह अनित्यता ही [illegible] है और पीछे से उसको माता उसको गोद में लेती है, इसलिये [illegible] शोक का कौन सा क्रम है ? ॥ ६८ ॥

और कहाँ सेना, वाहन और [illegible]

१. [illegible]

'यथा च—

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
अथ वाऽब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः' ॥७०॥

अपरञ्च—

'कायः संनिहितापायः, सम्पदः पदमापदाम् ।
समागमाः सापगमाः, सर्वमुत्पादि भङ्गुरम्' ॥ ७१ ॥

'प्रतिक्षणमयं कायः क्षीयमाणो न लक्ष्यते ।
आमकुम्भ इवाऽम्भःस्थो विशीर्णः सन्निभाव्यते' ॥७२॥

वैत वियोगसाक्षिणी=वियोगं सूचयन्ती । दैवविमुक्ता । ध्रुः=इति । सकारि= दशनीमि ॥ ६९ ॥ ध्रुवः=निश्चितः । वै-इति निश्चये । प्राणिनां=प्राणिनाम् ॥ ७० ॥ कायः=शरीरम् । संनिहितापायः=सन्निकृष्टविनाशः । निरन्तरम् इव । आपदां=विपदाम् । पदं=स्थानम् । समागमाः = दृष्टसङ्गमाः, विशेषाः । सापगमाः=सवियोगाः, वियोगसंयुक्ताः । उत्पादि=उत्पद्यमानम् । भङ्गुरं=विनश्वरम् ॥ ७१ ॥

प्रतिक्षणं = प्रतिपलम् । आमकुम्भ=अपक्वो घटः । अम्भःस्थः=जलस्थितः ।

रात बीत गई है, जिनके वियोग की साक्षिणी पर सूर्य ग्रास भी दिया है ॥६९॥

और भी—जन्मे हुए प्राणी की मृत्यु निश्चित है, और मरे हुए का पुनः जन्म निश्चित है । और आज, या सौ वर्ष के बाद भी प्राणियों की मृत्यु निश्चित ॥ ७० ॥

और—शरीर तो प्रतिक्षण नाशमान् है, सम्पत्तियाँ भी आपत्तियों का स्थान हैं, मिलन भी वियोग के साथ है, और उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थ नष्ट होने वाले हैं ॥ ७१ ॥

और—यह शरीर प्रतिक्षण क्षीण होता हुआ भी क्षीण नहीं पड़ता है, परन्तु जल में रखे हुए कच्चे घड़े के समान नष्ट जाने पर ही दिखाई देता है ॥ ७२ ॥

---

१. दर्शित ।

'आसन्नतरतामेति मृत्युर्जन्तोर्दिने-दिने ।
आघातं नीयमानस्य वध्यस्येव पदे-पदे' ॥ ७३ ॥

यतः—

'अनित्यं यौवनं, रूपं, जीवितं, द्रव्यसञ्चयः ।
ऐश्वर्यं, प्रियसंवासो, मुह्येत्तत्र न पण्डितः' ॥ ७४ ॥

'यथा काष्ठञ्च काष्ठञ्च समेयातां महोदधौ ।
समेत्य च व्यपेयातां, तद्वद्भूतसमागमः' ॥ ७५ ॥

'यथा हि पथिकः कश्चिच्छायामाश्रित्य तिष्ठति ।
विश्रम्य च पुनर्गच्छेत्तद्वद्भूतसमागमः' ॥ ७६ ॥

[illegible]=मतः (छूने पर दो मनुष्य होता है) ॥ ७२ ॥ आसन्नतरताम्=[illegible] । आघातं=वध्यस्थानम् । नीयमानस्य=[illegible] ॥ ७३ ॥

अनित्यमिति । यौवनादिकं [illegible], तत्र पण्डितो न मोहं [illegible] ॥ ७४ ॥

यथा [illegible] महोदधौ [illegible] सह [illegible]. पुनश्च [illegible] [illegible], [illegible] भूतानां [illegible] ॥ ७५ ॥

पथिकः=पान्थः । [illegible] ॥ ७६ ॥

और मृत्यु प्राणियों के [illegible] दिन प्रतिदिन उसी तरह निकट आती रहती है, जैसे वधस्थान में ले जाया जाता हुआ वध्य जीव पद २ में मृत्यु के पास ही पहुँचता है ॥ ७३ ॥

क्योंकि—यौवन (जवानी), रूप, जीवन, धन का संग्रह, ऐश्वर्य और प्रियजनों के साथ रहना—ये सभी अनित्य हैं, इसलिये इनमें पण्डित को कभी मोह नहीं करना चाहिए ॥ ७४ ॥

जैसे—[illegible] महासागर में [illegible] मिलते हैं, और [illegible] अलग हो जाते हैं, वैसे ही प्राणियों का भी [illegible] है । ([illegible]) ॥ ७५ ॥

जैसे कोई [illegible] (पथिक) [illegible] के सहारे

अन्वय—

'पञ्चभिर्निर्मिते देहे, पञ्चत्वं च पुनर्गते ।
स्वां स्वां योनिमनुप्राप्ते, तत्र का परिदेवना' ? ॥ ७७ ॥
'यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान्मनसः प्रियान् ।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः' ॥ ७८ ॥
'नाऽयमत्यन्तसंवासो लभ्यते येन केनचित् ।
अपि स्वेन शरीरेण, किमुताऽन्येन केनचित्' ॥ ७९ ॥

पञ्चभिः=पृथिव्यादिपञ्चभूतैः । पञ्चत्वं=विनाशम् । स्वां=स्वकीयाम् । योनिं=कारणं,=पृथिव्यादिकम् । अनुप्राप्ते=गते सति । परिदेवना=विलापः, शोकः ॥७७॥

जन्तुः=प्राणी । मनसः प्रियान्=हृद्यान् । शोकशङ्कवः=शोककीलकाः । निखन्यन्ते=आरोप्यन्ते । प्रियवियोगे शोकस्याऽवश्यम्भावित्वात् ॥ ७८ ॥

स्वशरीरेणापि सह सम्य अत्यन्तसंवासः=स्थिरसम्बन्धः, न लभ्यते, अन्येन

मे वहीं बैठता है, और फिर विश्राम करके आगे चला जाता है, इसी प्रकार इस संसार में भी प्राणियों का यह समागम है ॥ ७६ ॥

और भी—पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँच भूतों से ही यह शरीर बना है। और फिर अपनी २ योनि में अर्थात् ५ तत्वों में तत्वोंके मिल जाने पर (मरजाने पर) इसमें शोक क्या करना है ? ॥ ७७ ॥

और यह शरीरधारी जीव मन को प्रिय वस्तुओं (बन्धु-बान्धवों) से जितना ही सम्बन्ध स्थापित करता है, उतनी ही शोक की कीलें इसके हृदय में गड़ती हैं। अर्थात्—क्योंकि उन्हीं प्रियबान्धवों के लिए उसे शोक भी करना पड़ेगा। क्योंकि एक दिन वे सब नष्ट होंगे ही ॥ ७८ ॥

और किसी के साथ भी इस प्राणी का समागम (मेल) बहुत दिन तक नहीं रह सकता है। इतना ही नहीं, किन्तु कोई भी प्राणी अपने शरीर से भी बहुत समय तक संयुक्त नहीं रह सकता है, यह शरीर भी नष्ट होगा ही, फिर दूसरों से सदा संयोग की बात का तो कहना ही क्या है ? ॥ ७९ ॥

१. 'दम्पत्योर्द्दीः' ।

अपि च—

> 'संयोगो हि वियोगस्य संसूचयति सम्भवम् ।
> अनतिक्रमणीयस्य जन्म मृत्योरिवाऽऽगमम्' ॥ ८० ॥
> 'आपातरमणीयानां संयोगानां प्रियैः सह ।
> अपथ्यानामिवान्नानां परिणामोऽतिदारुणः' ॥ ८१ ॥

अपरञ्च—

> 'व्रजन्ति, न निवर्तन्ते स्रोतांसि सरितां यथा ।
> आयुरादाय मर्त्यानां 'तथा रात्र्यहनी 'सदा' ॥ ८२ ॥

सह तु विगुण=गुणहीने । न सम इत्यर्थः ॥ ७९ ॥ संयोगः=सम्बन्धः । सम्भवम्=उत्पत्तिम् । यथा जन्म—[illegible] ॥ ८० ॥ प्रियैः सह—आपातरमणीयानां=प्रारम्भमधुराणाम्, पर्यन्ते [illegible] । अतिदारुणः=[illegible] ॥ ८१ ॥

सरितां=नदीनाम् । स्रोतांसि=प्रवाहाः । व्रजन्ति=[illegible] । न निवर्तन्ते=न प्रत्यागच्छन्ति । (कभी भी वापिस नहीं लौटते हैं) । तथा मनुष्याणाम् आयुः=[illegible], आदाय, रात्र्यहनी [illegible], न च ते पुनर्निवर्तेते ॥ ८२ ॥

और भी—जब संयोग (मिलना) होता है, तभी वह जुदाई के होने की सूचना को करता है । जैसे मनुष्य का जन्म ही उसकी अवश्यम्भावी मृत्यु के आगमन को भी सूचित करता है ॥ ८० ॥

और प्रियजनों के साथ मिलाप यद्यपि आरम्भ में देखने में तो बहुत रमणीय होता है, परन्तु अपथ्य अन्न के भोजन के समान उसका परिणाम अन्त में बड़ा ही दारुण (भयङ्कर) होता है ॥ ८१ ॥

और भी—जैसे नदियों के प्रवाह आगे बढ़ते चले जाते हैं, पर वे कभी लौटते नहीं हैं, (वापिस पुनः कभी नहीं आते हैं), वैसे ही ये रात और दिन निरन्तर चले जाते हैं, और मनुष्यों की आयु को लेकर चले जाते हैं । [illegible] आयु क्षीण हो जाती है ॥ ८२ ॥

१. [illegible] । २. [illegible] ।

'सुखाऽऽस्वादपरो यस्तु संसारे सत्समागमः ।
स वियोगावसानत्वाद् दुःखानां धुरि युज्यते' ॥ ८३ ॥
'अत एव हि नेच्छन्ति साधवः सत्समागमम् ।
यद्वियोगासिलूनस्य मनसो नास्ति भेषजम्' ॥ ८४ ॥
'सुकृतान्यपि कर्माणि राजभिः सगरादिभिः ।
अथ तान्येव कर्माणि, ते चाऽपि, प्रलयं गताः' ॥ ८५ ॥

यः सतां=सज्जनानां समागमः=मेलनम्,—स एव सुखास्वादपरः—सुखास्वादस्य परं परायणं । नितरां सुखास्वादप्रद इति यावत् । स एव च वियोगावसानतया नितरां दुःखजनक इत्यर्थः । धुरि=अग्रे ॥ ८३ ॥

साधवः=सज्जनाः । सत्समागममपि नेच्छन्ति । यत्सज्जनवियोग एव—असिः=खड्गः, तेन लूनस्य छिन्नस्य मनसो,—भेषजम्=औषधमेव नास्ति ॥ ८४ ॥

सगरादिभिः पुरुषश्रेष्ठैर्नृपतिभिः बहूनि सुकृतानि कृतानि, परं कियता कालेन ते सगरादयश्च तेषां कर्माणि सर्वाण्यपि नष्टानि । प्रलयः=विनाशः ॥ ८५ ॥

और संसार में जो उत्कृष्ट सुखास्वाद का देने वाला सज्जनों का समागम है, वह भी अन्त में वियोगप्रद ही होने से, दुःखों की कोटि में सबसे आगे ही गिना जाता है ॥ ८३ ॥

इसीलिए साधु लोग सज्जनों के मिलाप को भी नहीं चाहते हैं, क्योंकि उनके वियोग रूपी तलवार से घायल हुए मन के आराम के लिए संसार में कोई भी औषध नहीं है ॥ ८४ ॥

और राजा सगर, नहुष, ययाति आदि ने यज्ञ, दान आदि बहुत से पुण्यकर्म किये, परन्तु वे राजा और उनके वे सब कर्म भी अन्त में नष्ट हो गये । आज उनका जाननेवाला भी कोई नहीं है ॥ ८५ ॥

'सञ्चिन्त्य सञ्चिन्त्य तमुग्रदण्डं,
मृत्युं मनुष्यस्य विचक्षणस्य ।
वर्षाम्बुसिक्ता इव चर्मबन्धाः,
सर्वे प्रयत्नाः शिथिलीभवन्ति' ॥ ८६ ॥

'यामेव रात्रिं प्रथमामुपैति
गर्भे निवासं नरवीरलोकः ।
ततः प्रभृत्यस्खलितप्रयाणः,
स प्रत्यहं मृत्युसमीपमेति' ॥ ८७ ॥

अतः संसारं विचारय, शोकोऽयमज्ञानस्य प्रपञ्चः । पश्य—
'अज्ञानं कारणं न स्याद्, वियोगो यदि कारणम् ।
शोको दिनेषु गच्छत्सु वर्द्धतामपयाति किम्' ॥ ८८ ॥

उग्रदण्डं=तीव्रदण्डं । विचक्षणस्य=विदुषः । चर्मबन्धाः=चर्मर [illegible] । प्रयत्नाः=मनोरथाः । [illegible] ॥ ८६ ॥ [illegible] ॥ ८७ ॥

संसारं=[illegible] । प्रपञ्चः=[illegible] । शोकः=[illegible] ([illegible]

और विद्वान् मनुष्यों के [illegible] उस उग्रदण्ड मृत्यु (काल) को [illegible] करके, वर्षा के पानी से भीगे हुए चमड़े की तरह ही, शिथिल (ढीले) हो जाते हैं। [illegible] ॥ ८६ ॥

और हे [illegible]! [illegible] ॥ ८७ ॥

[illegible] । और यह शोक अज्ञान का ही प्रपञ्च है ।

[illegible] ॥

[illegible]

'भद्र भद्र ! भद्र आत्मानमनुसन्धेहि, शोकचर्चां च परिहर'। यतः—

'अकाण्डपातजातानां, गात्राणां मर्मभेदिनाम्।
गाढशोकप्रहाराणामचिन्तैव महौषधम्' ॥ ८९ ॥

ततस्तद्वचनं निशम्य, प्रबुद्ध इव कौण्डिन्य उत्थायाऽब्रवीत्—'तदलमिदानीं गृह-नरक-वासेन, वनमेव गच्छामि।'

वियोगे शोकोऽयं वर्द्धतां, किं तु न वर्द्धते, अतो भेदकर्मैवाऽत्र शोको, ननु वियोग-समय इत्याशयः ॥ ८८ ॥

अनुसन्धेहि=समाहितं कुरु। अकाण्डपातजातानाम्=अनिमित्तागतानाम्। गात्राणाम्=शरीराणां, मर्मभेदिनाम्=मर्मच्छेदकानाम्। गाढशोकप्रहाराणाम्=दृढशोकप्रहाराणाम्। अचिन्तैव=चिन्ताभावः। एव। महौषधम्=सर्वश्रेष्ठौषधम् ॥ ८९ ॥

तद्वचनं=कपिलस्य वचनम्। निशम्य=श्रुत्वा। प्रबुद्धः=प्रबोधितः। गृहमेव नरकं, तत्र वासेन=स्थित्या।

अलग हो तो फिर कुछ दिन बीतने पर, पुराना पड़ने पर, वह शोक घटता क्यों है, बढ़ता क्यों नहीं है?। क्योंकि वियोग तो उस समय भी है ही ॥ ८८ ॥

अतः अपने आत्मा का अनुसन्धान करो। अर्थात् विचार करो, और इस शोक की इस विशेष चर्चा को दूर करो।

क्योंकि—बिना समय में अकस्मात् आए हुए और मर्मस्थल का भेदन करने वाले बड़े २ शोक के प्रहारों की तो औषधि—उनकी चिन्ता नहीं करना ही है ॥ ८९ ॥

इस प्रकार उस कपिल के वचन सुनकर उस कौण्डिन्य को कुछ प्रबोध हुआ और वह उठकर बोला कि—अच्छा, तो अब इस घररूपी नरक में रहना ही उचित नहीं है, अतः अब मैं वन को ही जाता हूँ।

---

१. 'तदत्र चात्मानमनु' । २ पश्चात् कपिल । ३ '[illegible]' ।

कपिलः [१]पुनराह—

'वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां,
गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः ।
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्त्तते,
निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम्' ॥ ९० ॥

यतः—

'[२]दुःखितोऽपि चरेद्धर्मं, यत्र कुत्राऽऽश्रमे रतः ।
समः सर्वेषु भूतेषु, न लिङ्गं धर्मकारणम्' ॥ ९१ ॥

[illegible] = [illegible] । वनेऽपि दोषाः = कामक्रोधादयो दोषाः [illegible] । [illegible] । गृहेऽपि पुनः-पञ्चेन्द्रियनिग्रहः [illegible], निग्रहः = [illegible] । यः [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], कर्मणि [illegible], [illegible] तपोवनमेव [illegible] ॥ ९० ॥

दुःखितोऽपि = [illegible] । 'दुःखितोऽपि' इति पाठान्तरम् । [illegible] । यत्र कुत्राश्रमे = [illegible] । [illegible] । [illegible]

उक्तञ्च—

> 'वृत्त्यर्थं भोजनं येषां, सन्तानार्थं च मैथुनम् ।
> वाक्सत्यवचनार्थाय, दुर्गाण्यपि तरन्ति ते' ॥ ६२ ॥

तथा हि—

> 'आत्मा नदी संयमपुण्यतीर्था,
> सत्योदका, शीलतटा, दयोर्मिः ।
> तत्राऽभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र !
> न वारिणा शुध्यति चाऽन्तरात्मा' ॥ ६३ ॥

। धर्मशास्त्रं=नैव धर्मदः ॥ ६१ ॥

वृत्त्यर्थं=प्राणधारणार्थम् । सन्तानार्थं=सन्तानोत्पत्तये एव,—नतु रागेण—मैथुन=सुरतम् । सत्यवचनार्थाय येषां वाक् प्रवर्तते, महान्तो जनाः—तेऽपि दुर्गाणि—कष्टानि । तरन्ति=समुत्तरन्ति । पारं गच्छन्ति ॥ ९२ ॥

संयम एव पुण्यं तीर्थं यत्रासौ—संयमपुण्यतीर्था=मनोनिग्रहादिसंयमरूपपवित्रतीर्थ-॥ 'तीर्थं शास्त्राध्वरक्षेत्रोपायोपाध्यायमन्त्रिषु । योनौ जलावतारे च' इत्यमरः । (तीर्थं...) । सत्यमेव उदकं=जलं यस्यां सा । शील=सुस्वभाव-सदाचारः, तदेव तटा यस्याः सा तथा । दयैव—ऊर्मयः=तरङ्गा यस्यां सा तथाभूता । अभिषेकं=स्नानम् । हे पाण्डुपुत्र=युधिष्ठिर । केवलेन वारिणा=बाह्येन जलेन ।

धर्म तो चाहे जहाँ रहकर भी किया जा सकता है ॥ ६१ ॥

क्योंकि कहा भी है—केवल जीवन (शरीर धारण) के लिए ही जिनका भोजन है, सन्तान के लिए ही जिनका मैथुन (स्त्रीगमन) है, और सत्य बोलने के लिए ही जिनकी वाणी है, वे महापुरुष दुर्गम विपत्तियों से भी अनायास ही पार हो जाते हैं ॥६२॥

श्रीकृष्णचन्द्र ने युधिष्ठिर से कहा है, कि—संयम, नियमरूप पुण्य तीर्थवाली, सत्यरूप जलवाली, शीलरूप तटवाली, दयारूप तरङ्गोंवाली, इस आत्मारूपी नदी में स्नान करो। हे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर ! केवल जल के स्नान से ही आत्मा शुद्ध नहीं होता है ॥६३॥

१ 'वचनार्थं' ।

विशेषतश्च—

'जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-वेदनाभिरुपद्रुतम्' ।
संसारमिममुत्पन्नमसारं त्यजतः सुखम्' ॥ ६४ ॥

यतः—

'दुःखमेवास्ति, न सुखं, यस्मात्तदुपलक्ष्यते ।
दुःखार्तस्य प्रतीकारे सुखसंज्ञा विधीयते' ॥ ६५ ॥

कौण्डिन्यो ब्रूते—'एवमेव'। ततोऽहं तेन शोकाऽऽकुलेन ब्राह्मणेन शप्तो, यद्—'अद्यारभ्य मण्डूकानां वाहनं भविष्यसि'—इति। कपिलो ब्रूते—

सम्प्रत्युपदेशाऽसहिष्णुर्भवान्, शोकाऽऽविष्टं मे हृदयम्। तथापि [illegible]र्यं शृणु—

'सङ्गः सर्वाऽऽत्मना त्याज्यः, स चेत्त्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्त्तव्यः, सतां सङ्गो हि भेषजम्' ॥ ९६ ॥

अन्यच्च—

'कामः सर्वाऽऽत्मना हेयः, स चेद्धातुं न शक्यते।
स्वभार्यां प्रति कर्त्तव्यः, सैव तस्य हि भेषजम्' ॥ ९७ ॥

एवच्छ्रुत्वा स कौण्डिन्य, कपिलोपदेशाऽमृतप्रशान्त[illegible]
विधि दण्डग्रहणं कृतवान्। अतो' [illegible]

[illegible]न=धर्मोपकरणम्। उपदेशाऽसहिष्णु=[illegible]
[illegible]विष्टं=शोकग्रस्तम्। हृदयं=मानसम्। [illegible]
[illegible]=सङ्गः। हि=यतः। भेषजं=समाधान[illegible]म् ॥ ९६ ॥
कामः=विषयाऽभिलाषः। स=काम[illegible]
[illegible]व। तस्य=कामस्य। भेषजं=शमनौषधि ॥ ९७ ॥
कपिलोपदेश एव अमृतं=पीयूष[illegible]

[illegible] पुनः बोला कि—यद्यपि [illegible] क्योंकि इस समय आपका हृदय शोक से [illegible]
[illegible] इस बात को सुनिए—
बुद्धिमान् पुरुष को सङ्ग सर्वथा छोड़ देना चाहिए। परन्तु यदि [illegible]
[illegible] सके, तो वह (सङ्ग) केवल सज्जनों से ही करना चाहिए, क्योंकि [illegible]
[illegible] ही औषधि (निवारक) है ॥ ९६ ॥
और बुद्धिमान् पुरुषों को काम (विषयभोग) को छोड़ देना चाहिए।
[illegible] वह सर्वथा छोड़ा नहीं जा सके, तो वह (विषयभोग) [illegible] अपनी
[illegible] करना चाहिए। क्योंकि वही उस कामवासना की औषधि है ॥ ९७ ॥
[illegible] उस कौण्डिन्य को शोकाग्नि कपिल के उपदेशरूपी [illegible] (जल)
[illegible] [illegible] यथाविधि [illegible]।

नितुमि' । अनन्तरं तेन मण्डूकेन गत्वा मण्डूकनाथस्य जालपाद-नाम्नोऽग्रे कथितम् । ततोऽसावागत्य मण्डूकनाथस्तस्य[1] सर्पस्य पृष्ठ-मारूढवान् । स च सर्पस्तं पृष्ठे कृत्वा चित्रपदक्रमं बभ्राम ।

परेद्युश्चलितुमसमर्थं तं मण्डूकनाथोऽवदत्–'किमद्य[2] भवान्मन्द-गतिः' ? सर्पो ब्रूते–'देव ! आहारविरहादसमर्थोऽस्मि[3] ।'

मण्डूकनाथोऽवदत्–'अस्मदाज्ञया मण्डूकान्भक्षय ।' ततः 'गृहीतोऽयं महाप्रसाद' इत्युक्त्वा, क्रमशो[4] मण्डूकान् खादितवान् । अथ निर्मण्डूकं

वाहनो बभूव । चचालेति = विचित्रपदम् । ददर्श = कम्पायमानपदम् । अग्रे = स्थानस्थानान्तरं गेतुम् । अत्र = सरोवरे । मण्डूकनाथस्य = मण्डूकराजस्य । उपविष्टस्य = सर्पोऽपि । तं = मण्डूकराजम् । पृष्ठे = पृष्ठे संस्थाप्य । (पीठ पर चढ़ाकर) । चित्रपदक्रमं = विचित्रगतिभिः ।

परेद्यु = दूसरे दिन । आहारविरहात् = भोजनाभावात् । महाप्रसादः =

ततो विलोक्य मण्डूकनाथोऽपि तेन खादितः' । अतोऽहं ब्रवीमि—'स्कन्धेनापि वहेच्छत्रून्' इत्यादि ॥ ० ॥

'देव ! यात्विदानीं पुरावृत्ताऽऽख्यानकथनं, 'सर्वथा' सन्धेयोऽयं हिरण्यगर्भो राजा, सन्धीयता'मिति मे मतिः । राजोवाच—'कोऽयं भवतो विचारः ? । यतो जितस्तावदयमस्माभिः । ततो यद्यस्मत्सेवया वसति, तदाऽऽस्ताम् , नो चेद्विगृह्यताम्' ।

अत्रान्तरे जम्बूद्वीपादागत्य शुकेनोक्तं–'देव ! सिंहलद्वीपस्य सारसो राजा सम्प्रति जम्बूद्वीपमाक्रम्याऽवतिष्ठते । राजा ससम्भ्रमं ब्रूते—'किं किम्' ? । शुकः पूर्वोक्तं कथयति ।

यातु=आस्ताम् तावत् (जाने दीजिए) । पुरावृत्ताख्यानं=पूर्वकथाकथन-वचनम् । जितः=पराजितः । सेवायाम्=अनुगतत्वे । आक्रम्य=[illegible] । विगृह्यताम्=युद्ध्यताम् । अवतिष्ठते=तिष्ठति । ससम्भ्रमं=सत्वरम् । (जल्दी से) ।

...रे धीरे उसने उस सरोवर को मेंढकों से रहित कर दिया । फिर मेंढक रहित सरोवर को देखकर मेंढकों के स्वामी को भी वह खा गया । इसीलिए मैंने कहा कि ...समय पड़ने पर शत्रु को कन्धे पर भी चढ़ाया जाता है' इत्यादि ।

और हे देव ! अब पिछली बातों के कहने से क्या प्रयोजन है ? । राजा हिरण्यगर्भ ... प्रकार से सन्धि करने योग्य है, अतः उससे सन्धि अवश्य कीजिये' यही मेरी सम्मति है । तब राजा बोला कि—तुम्हारा यह विचार ठीक नहीं है । क्योंकि इस ...को तो हमने पहले ही जीत लिया है । इसलिये अब यह हमारी सेवा में ...रहे तो रहे, नहीं तो इसके साथ युद्ध ही करना चाहिये, इससे सन्धि करने ...की कोई आवश्यकता नहीं है ।

इसी बीच में जम्बूद्वीप से आकर एक तोता बोला कि—देव ! सिंहलद्वीप के ...सारस ने अब जम्बूद्वीप को घेर लिया है । और सेना सहित पड़ाव डालकर ...डटा हुआ है । तब राजा घबड़ा कर बोला कि—है, है क्या कहा, क्या

---

१. 'छांता' । २. 'ससम्भ्रमम्' ।

शुभः स्वगतमुवाच—'साधु रे चक्रवाक मन्त्रिन्! [सर्वज्ञ[1]!, साधु] साधु।' राजा सकोपमाह—'आस्तां तावदयं, गत्वा तमेव समूलमुन्मूलयामि'। दूरदर्शी विहस्याऽवदत्—

'न शरन्मेघवत्कार्यं वृथैव घनगर्जितम्।
परस्यार्थमनर्थं वा प्रकाशयति नो महान्' ॥९८॥

अपरञ्च—

'एकदा न विगृह्णीयाद् बहून् राजाऽभिघातिनः[2]।
सदर्पोऽप्युरगः कीटैर्बहुभिर्नाश्यते ध्रुवम्' ॥९९॥

'देव! किमितो विना सन्धानं गमनमस्ति? । [3]यतस्तदाऽस्माकं

सर्वज्ञः= [illegible] । आस्तां= [illegible] । ([illegible]) । [illegible] वृथैव=निरर्थकम्। घनगर्जितम्= [illegible] । [illegible] अनर्थम्=अशुभम्, महान्=धनवान्। न प्रकाशयति= [illegible] ॥ ९८ ॥ एकदा=एककाले। बहून् विघातिनः= [illegible] न विगृह्णीयात्। [illegible] उरगः=भुजङ्गः ॥ ९९ ॥ [illegible]

[illegible]

[illegible] ॥ ९८ ॥

[illegible] ॥ ९९ ॥

[illegible]

---

१ [illegible] । २. [illegible] । ३ [illegible]

पश्चात्प्रकोपोऽनेन कर्त्तव्यः'। अपरञ्च—

'योऽर्थतत्त्वमविज्ञाय क्रोधस्यैव वशं गतः।
स तथा तप्यते मूढो, ब्राह्मणो नकुलाद्यथा' ॥१००॥

'राजाऽऽह—'कथमेतत् ?'। दूरदर्शी कथयति—

ब्राह्मण-नकुल-कथा।

अस्त्युज्जयिन्यां माधवो नाम विप्रः[२]। तस्य ब्राह्मणी प्रसूता[३], [सा[४]] बालाऽपत्यस्य रक्षार्थं ब्राह्मणमवस्थाप्य, स्नातुं गता। अथ ब्राह्मणाय राज्ञः पार्वणश्राद्धं दातुमाह्वानमागतम्। तच्छ्रुत्वा ब्राह्मणोऽपि सहजदारिद्र्यादचिन्तयत्—'यदि सत्वरं न गच्छामि, तदाऽन्यः कश्चित् श्रुत्वा[५] श्राद्धं ग्रहीष्यति। यतः—

...ति। सन्धानं=सन्धि—मिलाप। अस्ति=कि सम्भवति। न सम्भवी। पश्चात्=... अनन्तर। प्रकोपः=आक्रमणम्। अर्थतत्त्वं=वस्तुतत्त्व, परिस्थिति। तप्यते=... ॥१००॥

ब्राह्मणी=भार्या। प्रसूता=कुमारं सुषुवे। बालापत्यस्य रक्षार्थं=बालक-

...तथा यह राक्षस हमारे ऊपर पीछे से आक्रमण कर देगा।

और भी—जो अर्थ के तत्त्व को न जानकर केवल क्रोध के ही वश में हो... है, वह मूर्ख उसी प्रकार दुःखी होता है कि—जैसे यह ब्राह्मण नेवले के ... दुःखी हुआ था ॥ १०० ॥

राजा बोला कि—यह कथा कैसे है ?। दूरदर्शी कहने लगा कि—

... उज्जयिनी नगरी में माधव नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्री को ... पुत्र उत्पन्न हुआ। और वह उसी बालक की रक्षा के लिये उस ब्राह्मण को ... स्नान करने के लिये नदी पर गई। उसी समय राजा के यहाँ से उस ब्राह्मण ... श्राद्ध की वस्तुएँ देने के लिये बुलावा आया। उसे सुनकर वह ब्राह्मण ... अपनी दरिद्रता के वश होकर यों सोचने लगा कि—यदि मैं शीघ्र ही नहीं

१ 'यथा दृष्ट्वा'। २ ब्राह्मणः'। ३ 'प्रसूता। सा'। ४. कचित्र। ५ 'अन्यः कश्चिच्छ्राद्धं'।

'आदेयस्य, प्रदेयस्य, कर्त्तव्यस्य च कर्मणः।
क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः, पिबति तद्रसम्' ॥१०१॥

किन्तु [1]बालकस्याऽत्र रक्षको नास्ति। तत्किं करोमि? । [2]भवतु चिरकालपालितमिमं [3]नकुलं [4]पुत्रनिर्विशेषं बालकरक्षायां व्यवस्थाप्य गच्छामि। तथा[5] कृत्वा गतः। [6]ततस्तेन नकुलेन बालकसमीपमागच्छन् कृष्णसर्पो दृष्टो, व्यापाद्य कोपात्खण्डं खण्डं कृत्वा, भक्षितश्च। [7]ततो

पुत्रस्य रक्षार्थम्। पार्वणश्राद्धं = पर्वणि भवं सपिण्डि पितृश्राद्धम्। श्राद्धं=श्रा-द्धेन धनादिकम्।

आदेयस्य = ग्राह्यस्य। प्रदेयस्य = दातव्यस्य। क्षिप्रं = त्वरितम्, तद्रसं = कर्मणः सारम्, तत्त्वं, महत्त्वं, सौभाग्यञ्च। पिबति = आकर्षति। नाशयति। विलम्बः कार्यहानिप्रापकः। 'आदानस्य, प्रदानस्य' इति पाठान्तरम् ॥ १०१ ॥

शिशोः = बालकस्य। पुत्रनिर्विशेषम् = पुत्रतुल्यं, निजं पालितं। व्यवस्थाप्य = नियुज्य। इति = इत्थं विचार्य। तथा = तथैव कृत्वा। नकुलस्तत्र नियुक्तः।

नहीं करूँगा तो कोई दूसरा ब्राह्मण आकर श्राद्ध की वस्तुओं को ले लेगा।

क्योंकि—लेना, देना और करने योग्य कर्म, इनके शीघ्र न करने से इनका रस (स्वाद) काल (समय) पी जाता है, अर्थात् देरी करने से यह काम बिगड़ जाता है।

परन्तु यहाँ बालक की रक्षा करनेवाला भी कोई नहीं है। क्या करूँ? । अच्छा, बहुत काल से पुत्र से भी अधिक प्रेम से पाला हुआ यह नेवला तो यहाँ इसका रक्षक है ही। इसे ही बालक की रक्षा में यहाँ बैठाकर मैं श्राद्ध के यहाँ जाता हूँ। ऐसा विचार करके वह ब्राह्मण उस नकुल को यहीं बैठा (छोड़) कर, बाहर चला गया। पीछे उस नेवले ने बालक के समीप में आते हुए एक काले साँप को देखकर, क्रोध से उसके टुकड़े टुकड़े कर दिए और उसको खा गया। फिर

१ 'बालकस्य रक्षकः कोऽपि नास्ति'। २ 'भवतु तावत्'। ३ 'बहु [illegible] निर्विशेषं नकुलं बालकरक्षायां'। ४ '[illegible] कृत्वा'। ५ '[illegible] नकुलेन'। ६ 'कृष्णसर्पं दृष्ट्वा कोपात्खण्डशः, भक्षितश्च'। ७ 'ब्राह्मणो'।

ऽसौ नकुलो ब्राह्मणमायान्तमवलोक्य, रक्तविलिप्तमुखपादः, सत्वरमुप-
गम्य, तच्चरणयोर्लुलोठ । [1]ततः स विप्रस्तथाविधं तं दृष्ट्वा 'मम [2]बालको-
ऽनेन खादित' इत्यवधार्य नकुलं व्यापादितवान्[3] । अनन्तरं यावदुपसृत्या-
लोक्य[4] पश्यति ब्राह्मणस्तावद्बालकः सुस्थः स्वपिति, सर्पश्च व्यापादित-
स्तिष्ठति । [5]ततस्तमुपकारकं नकुलं निरीक्ष्य, भावितचेताः स ब्राह्मणः
परं विषादमगमत् । अतोऽहं ब्रवीमि—'योऽर्थतत्त्वमविज्ञाय'—
इत्यादि ॥

अपरञ्च—

'कामः, क्रोधस्तथा[6] मोहो, लोभो, मानो, मदस्तथा ।
षड्वर्गमुत्सृजेदेनमस्मिंस्त्यक्ते सुखी [7]नृपः' ॥ १०२ ॥

...न्=मौनम्, अनायासेन । रक्तविलिप्तमुखपादः=रुधिराक्तमुखचरणः ।
...प=रक्तलिप्तमुखम् । अवधार्य=निश्चित्य । उपसृत्य=निकटे गत्वा ।
...=सुखी । भावितचेताः=खिन्नमानसः ।
...ड्वर्गं=रिपुषड्वर्गम् । उत्सृजेत्=त्यजेत् । अस्मिन्=रिपुषड्वर्गे ॥१०२॥

...इस और पैरों में खून से सना हुआ, वह नेवला भट उस ब्राह्मण को आता
देखकर, उसके पैरों में लोटने लगा । अनन्तर उस ब्राह्मण ने उसे इस प्रकार
...रूप से देख कर 'इसने मेरे बालक को खा लिया है' ऐसा जानकर, उस
नेवले को मार डाला । इसके पीछे जब समीप जाकर ब्राह्मण ने उस बालक को
देखा, तब उस बालक को सुखी सोते हुए देखा और साँप को वहीं पर मरा
पड़ा देखा । बाद में उस उपकारी नेवले को याद करके वह ब्राह्मण बड़ा खिन्न
हुआ । इसलिये मैं कहता हूँ कि—'अर्थ के सार (तत्त्व) को बिना जाने ही
...क्रोध करता है, वह अन्त में दुःखी होता है' इत्यादि ।

और भी—राजा को चाहिए कि—काम, क्रोध, मोह, लोभ, अभिमान
...र मद, इन छै को छोड़ दे । इनको छोड़ने से ही राजा सुखी होता है ॥१०२॥

1 'ततोऽसौ ब्राह्मणस्तं तथाविधं दृष्ट्वा'। 2 'मम पुत्रोऽनेन खादितः'।
3 'व्यापादितवान्' । 4 'सुस्थं पश्यति' । 5 'ततोऽसौ ब्राह्मणः परं
...' । 6 'लोभो हर्षो मानो' । 7 'सुखी भवेत्' ।

राजाऽऽह—'मन्त्रिन्! एवं ते निश्चयः ?।' मन्त्री ब्रूते—'एवमेव' यतः—

"स्मृतिस्तत्परतार्थेषु, वितर्को, ज्ञाननिश्चयः।
दृढता, मन्त्रगुप्तिश्च, मन्त्रिणः परमो गुणः' ॥ १०३ ॥

तथा च—

'सहसा विदधीत न क्रिया—
मविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं
गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः' ॥ १०४ ॥

एवं ते निश्चयः = किमयमेव (अभिमतं कार्यं इति) ते मन्त्रिन् निश्चयः ? एवमेव = आम्। (हाँ)। अर्थेषु = शास्त्रपथेषु कर्तव्येषु विषयेषु। परमः = उत्कृष्टः। वितर्कः = ऊहापोहः। ज्ञाननिश्चयः = निश्चयज्ञानम्। मन्त्रगुप्तिः = मन्त्ररक्षा। परमः = उत्कृष्टः ॥ १०३ ॥

सहसा = अविचार्य। क्रियाम् = कर्म। न विदधीत = न कुर्यात्। अविवेकः = अज्ञानम्। [illegible]। पदं = स्थानम्। पदं = [illegible]। हि = यतः। विमृश्यकारिणं = विचार्य कार्यकारिणम्। सम्पदः = श्रियः। गुणलुब्धाः = गुण[illegible]। स्वयमेव वृणुते = स्वयं भजन्ते ॥ १०४ ॥

तब राजा बोला कि—हे मन्त्रिन्! इस दशा में हमें [illegible] होना चाहिए ऐसा क्या तुम्हारा भी निश्चय है? मन्त्री बोला कि—हाँ, मेरा मत तो ऐसा ही है क्योंकि—[illegible] की स्मरणशक्ति, कर्तव्यज्ञान, विचारशक्ति [illegible], ज्ञान का निश्चय, दृढ़ता और मन्त्र (सलाह भेद, गुप्त [illegible]) की रक्षा करना ये मन्त्रियों के परम गुण हैं ॥ १०३ ॥

कहा भी है—सहसा से कोई काम न करे, क्योंकि बिना विचारे का [illegible] आपत्तियों का कारण होता है। और विचार करके कार्य करने वाले को उसके गुणों से लुब्ध हुई सम्पत्तियाँ स्वयमेव प्राप्त होती हैं ॥ १०४ ॥

१. 'स्मृतिस्तत्परतार्थेषु' पा०।

देव ! यदीदानीमस्मद्वचनं क्रियते, तदा सन्धाय गम्यताम्'। यतः—

'यद्यप्युपायाश्चत्वारो निर्दिष्टाः साध्यसाधने ।
संख्यामात्रं फलं तेषां, सिद्धिः साम्नि व्यवस्थिता' ॥१०५॥

राजाऽऽह—'कथमेवं' सत्वरं सम्भाव्यते' ?। मन्त्री ब्रूते—'देव ! ...स्वरं भविष्यति'। यतः—

'मृद्घटवत्सुखभेद्यो, दुःसन्धानश्च दुर्जनो भवति ।
सुजनस्तु कनकघटवद् दुर्भेद्यश्चाऽऽशु सन्धेयः' ॥ १०६ ॥

साध्यसाधनं = कर्तव्यसाधनं । चत्वारः = सामदानदण्डभेदाख्याः । सङ्ख्यामात्रं=सङ्ख्यापूर्तिरेव । सिद्धिः=कार्यसिद्धिस्तु । साम्नि=सामाख्ये प्रथमे उपाये । व्यवस्थिता=स्थिता । न दण्डादौ ॥ १०५ ॥ एवं=सन्धिः । सुखभेद्यः=सुखेन भेदनीयः । दुःसन्धानः—कृच्छ्रात् सन्धेयः । कनकघटवत्=स्वर्णकलशवत् । दुर्भेद्यः=दुःखेन भेदनीयः । आशु सन्धेयः = झटिति सन्धेयश्च ।

अर्थः हे देव ! यदि आप मेरा कहना मानते हो तो यहाँ से सन्धि करके (जल्दी ही) चलिए । क्योंकि—

यद्यपि कार्य की सिद्धि के लिए साम, दान, दण्ड (युद्ध) भेद—ये चार उपाय शास्त्रों में कहे हैं, परन्तु उनका फल केवल गिनतीमात्र दिखाना ही है, सिद्धि तो केवल 'साम' ही से होती है ॥ १०५ ॥

तब राजा बोला कि—यह (सन्धि) इतनी जल्दी कैसे होगी ?। मंत्री बोला—हे देव ! शीघ्र ही सन्धि हो जायगी । क्योंकि—दुर्जन लोग मट्टी के घड़े की तरह ही होते हैं, जो अनायास ही टूट जाते हैं, पर जुड़ते कठिनता से हैं । और सज्जन लोग सुवर्णघट की तरह हैं, जो कठिनता से टूटते हैं, और जल्दी ही जोड़े जा सकते हैं । भावार्थ—सोने आदि धातुओं के पात्र जल्दी टूटते नहीं हैं और टूटने फूटने पर उनकी मरम्मत भी जल्दी ही हो जाती है । और मट्टी के पात्र जल्दी ही टूटते हैं, पर

१. 'कथमेवं सम्भवति' ।

'अज्ञः सुखमाराध्यः, सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रञ्जयति' ॥ १०७ ॥

'विशेषज्ञाराध्यं' धर्मज्ञो राजा, सर्वज्ञो मन्त्री च । ज्ञातमेतन्मया पूर्वं मेघवर्णचपलात्... 'कार्यसन्दर्शनाच्च' । यतः—

'कर्मानुमेयाः सर्वत्र परोक्ष-गुण-वृत्तयः ।
तस्मात्परोक्षवृत्तीनां फलैः 'कर्मानुमाप्यते' ॥ १०८ ॥

...ता मानता है) ॥ १०६ ॥

अज्ञः=मूढ़ः । सुखम्=अनायासेन । आराध्यः=प्रसादयितुं शक्यः । [illegible] ॥१०७॥ [illegible] ॥

[illegible]

[illegible] ॥ १०६ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

१. [illegible] २. [illegible]

राजाऽऽह—'अलमुत्तरोत्तरेण, यथाभिप्रेतमनुष्ठीयताम्'। एवमन्त्रयित्वा गृध्रो महामन्त्री—'तत्र यथाऽर्हं कर्तव्यम्' इत्युक्त्वा, दुर्गाऽभ्यन्तरं चलितः। ततः प्रणिधिबकेनाऽऽगत्य राज्ञो हिरण्यगर्भस्य निवेदितं—'देव! सन्धिं कर्तुं महामन्त्री गृध्रोऽस्मत्समीपमागच्छति'। राजहंसो ब्रूते—'मन्त्रिन्! पुनरभिसन्धिना केनचिदत्राऽऽगमनम्' ?[1]। सर्वज्ञो विहस्याऽऽह—'देव! न शङ्काऽऽस्पदमेतत्। यतोऽसौ महाशयो[2], दूरदर्शी। अथवा स्थितिरियं मन्दमतीनाम्, कदाचिच्छङ्कैव न क्रियते, कदाचित्सर्वत्र शङ्का!।

...स्य दोषः। कर्मानुमेयाः=कर्मभिरनुमातव्याः। फलैः=परिणामैः। कर्म=कार्यं। विभावयेत्=उन्नयेत् ॥ १०८ ॥ उत्तरोत्तरेण=उत्तरप्रत्युत्तराभ्याम्। अलं=न प्रयोजनं। यथाभिप्रेतं=यथा भवते रोचते तथैव। यथेष्टम्। तत्र=तस्मिन् काले। यथाऽर्हं=यथायोग्यं मया करणीयम्। अभिसन्धिना=कपटेन। छलेन। शङ्कास्पदं=शङ्कायोग्यः। महाशयः=उदारचरितः। मन्दमतीनां=मूर्खाणाम्। कदाचिदिति,—सामान्यसरलार्थम्।

जाते हैं। इसलिए परोक्षवृत्ति वालों (राजनीतिज्ञों) के कार्य तो फल देखकर ही अनुमान किए जाते हैं ॥ १०८ ॥

राजा बोला—अच्छा, अधिक उत्तर प्रत्युत्तर से क्या लाभ है। जैसी आपकी इच्छा हो, वैसा ही करिए। यह सलाह करके महामन्त्री गृध्र 'इसमें जैसा योग्य होगा, वैसा ही किया जायगा'—यह कह कर राजहंस के पास सन्धि करने के लिए किले के अन्दर चला। तदनन्तर गुप्तचर बगुले ने आकर राजा हिरण्यगर्भ से निवेदन किया कि—'देव! गीध महामन्त्री सन्धि करने के लिए हमारे पास आ रहा है।' यह सुनकर राजहंस बोला कि—'मन्त्रिन्! यह गृध्र भी उस चोर की तरह ही किसी दुष्ट अभिप्राय से (युद्ध करने के वास्ते) ही यहाँ आता होगा। तब यह महामन्त्री सर्वज्ञ हँसकर बोला कि—देव! यहाँ शङ्का करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह दूरदर्शी बड़ा ही श्रेष्ठ व्यक्ति है। और मन्द-बुद्धियों की तो यही स्थिति होती है कि कभी तो वे शङ्का करते ही नहीं हैं, और कभी सभी जगह शङ्का करने लगते हैं।

१. 'इहागमनम्'। २ 'यतो महाशयोऽसौ'।

यथा हि—

'सरसि बहुशस्ताराच्छायेक्षणात्परिवञ्चितः,
कुमुदविटपान्वेषी हंसो निशास्वविचक्षणः ।
न दशति पुनस्ताराशङ्की दिवाऽपि सितोत्पलं,
कुहकचकितो लोकः सत्येऽप्यपायमपेक्षते' ॥१०९॥
'दुर्जनदूषितमनसः सुजनेष्वपि नाऽस्ति विश्वासः ।
बालः पायसदग्धो दध्यपि फूत्कृत्य भक्षयति' ॥११०॥

तद् देव ! यथाशक्ति तत्पूजार्थं रत्नोपहारादिसामग्री सुसज्जीक्रि

सरसीति । सरसि = सरोवरे । निशासु — ताराच्छायेक्षणात् = [illegible] कुमुदविटपान्वेषी = [illegible] हंसो, बहुशः = बहुवारं, वञ्चितः सन्, दिवाऽपि — [illegible] ताराशङ्की = ताराशङ्कया, न दशति = [illegible] । न भुङ्क्ते । कुहकचकितः = [illegible] । लोकः = जनः । सत्येऽपि = [illegible] । अपायम् = अनिष्टम्, [illegible] । अपेक्षते = [illegible] ॥ १०९ ॥

दुर्जनदूषितमनसः = [illegible] । विश्वासः = [illegible] । पायसदग्धः = [illegible] । ([illegible]) । [illegible] । फूत्कृत्य = [illegible] । (फूँक देकर) ॥११०॥

ऐसा कहा भी है कि—रात में कुमुदिनी को ढूँढनेवाला [illegible] हंस सरोवर में बहुत से तारों की छाया को देखकर और उन्हें कुमुद समझकर ठगे जाने को [illegible] है, [illegible] दिन में भी तारों की शङ्का से [illegible] कमलों को भी नहीं खाता है । ऐसे ही [illegible] [illegible] ही देखते हैं ॥ १०९ ॥

और जिनका मन दुर्जनों द्वारा दूषित हो गया है, वे [illegible] में भी (सन्देह करके) विश्वास नहीं करते हैं । जैसे [illegible] दूध से जला बालक दही को भी फूँककर ही खाता है ॥ ११० ॥

अतः हे देव ! अपनी शक्ति के अनुसार इनकी पूजा (सत्कार) के लिये

याम्। तथाऽनुष्ठिते सति स गृध्रो मन्त्री दुर्गद्वाराच्चक्रवाकेणोपगम्य, सत्कृत्याऽऽनीय, राजदर्शनं कारितो, दत्ताऽऽसने चोपविष्टः[1]। चक्रवाक उवाच—मन्त्रिन्! युष्मदायत्तं सर्वं, स्वेच्छयोपभुज्यतामिदं राज्यम्'। राजहंसो ब्रूते—'एवमेव'। दूरदर्शी कथयति—'एवमेवैतत्, किन्त्विदानीं बहुप्रपञ्चवचनं निष्प्रयोजनम्'। यतः—

'लुब्धमर्थेन गृह्णीयात्, स्तब्धमञ्जलिकर्मणा।
मूर्खं छन्दानुरोधेन, याथातथ्येन पण्डितम्' ॥१११॥

तदुपार्थं = मन्त्रिपूजार्थम्। उपगम्य = सम्प्राप्य, मिलित्वा। युष्मदायत्तं = भवदधीनम्। उपभुज्यताम् = सेव्यताम्। बहुप्रपञ्चवचनम् = विस्तरेण प्रशंसा-वाक्यविन्यासः।

लुब्धं = धनलुब्धम्। अर्थेन = धनेन। गृह्णीयात् = अनुकूलयेत्। स्तब्धं = जडम्। अञ्जलिकर्मणा = अञ्जलिबन्धेन। विनया। छन्दानुरोधः = इच्छानुसरणम्। याथातथ्येन = सत्यभाषणेन ॥ १११ ॥

रत्न आदि भेंट देने की सामग्री तैयार करा दे। यह सुनकर वैसी व्यवस्था करने पर चकवे ने उस मन्त्री के पास जाकर, उसे भेंट आदि देकर अच्छी तरह से उसका सत्कार करके, उसे किले के द्वार पर से अन्दर ले जाकर, राजा का दर्शन कराया; और वह भी दिये हुए आसन पर जाकर बैठ गया। फिर मन्त्री चकवे ने उससे कहा कि—'यह सम्पूर्ण द्वीप का राज्य अब सब आपके अधीन है, अतः आप अपनी इच्छा से अब इस राज्य को भोगिये। राजहंस ने भी कहा कि—'ठीक है।' यह सुनकर वह दूरदर्शी कहने लगा कि यह ठीक ही है, परन्तु इस समय बहुत प्रपञ्च की बातें (राजनीति की लम्बी चौड़ी व्याख्या, तथा परस्पर प्रशंसा आदि बातें) छेड़ना तो निरर्थक ही है। क्योंकि—

लोभी मनुष्य को धन देकर अनुकूल करना चाहिए। और अभिमानी को हाथ जोड़कर, मूर्ख को उसकी इच्छा के अनुसार कार्य करके, अर्थात् उसके कथन मानकर, और पण्डित को सच्ची-सच्ची बात कहकर ही अनुकूल (वश में) करना चाहिए ॥ १११ ॥

१. 'चोपविष्टः'।

अन्वयः—

'सद्भावेन हरेन्मित्रं, सम्भ्रमेण तु बान्धवान् ।
स्त्री-भृत्यौ 'दान-मानाभ्यां, दाक्षिण्येनेतराञ्जनान्' ॥११२॥

तदिदानीं सन्धातुं गम्यताम् । 'महाप्रतापश्चित्रवर्णो राजा ।'

चक्रवाको ब्रूते—'देव! सन्धानं कार्यं, तदभ्युपगम्यताम्' । राजहंसो ब्रूते—'कति प्रकाराः सन्धीनां सम्भवन्ति' ? । गृध्रो ब्रूते—कथयामि । श्रूयताम्'—

'बलीयसाभियुक्तस्तु नृपो नान्यप्रतिक्रियः ।
आपन्नः, सन्धिमन्विच्छेत्कुर्वाणः कालयापनम्' ॥ ११३ ॥

सद्भावेन = सद्व्यवहारेण, सौहार्देन च । हरेत् = वशमानयेत् । सम्भ्रमेण = आदरपरिचयप्रदर्शनेन । दाक्षिण्येन = नम्रतया, अनुकूलत्वेन वा । इतरान् = अन्यजनान् ॥ ११२ ॥

सन्धातुं = सन्धिं कर्तुं । अभियुक्तः = विजिगीषुणा निरुद्धे अथवा आक्रान्तः [illegible] । [illegible] = [illegible] । [illegible] प्रकारेण । (किस प्रकार की सन्धि [illegible] जाती है, कहिए) ।

'कपाल, उपहारश्च, सन्तानः, सङ्गतस्तथा ।
उपन्यासः, प्रतीकारः, संयोगः, पुरुषान्तरः ॥ ११४ ॥
अदृष्टनर, आदिष्ट, आत्माऽऽदिष्ट, उपग्रहः ।
परिक्रयस्तथोच्छिन्नस्तथा च परभूषणः ॥ ११५ ॥
स्कन्धोपनेयः सन्धिश्च, षोडशैते प्रकीर्तिताः ।
इति षोडशकं प्राहुः सन्धिं सन्धिविचक्षणाः' ॥ ११६ ॥
(१) 'कपालसन्धिर्विज्ञेयः केवलं समसन्धितः'[1] ।
(२) सम्प्रदानाद्भवति य उपहारः स उच्यते' ॥ ११७ ॥

[…]न्यायऽभावे। प्रतीकारात्=रहितः सन्। आक्रमः=[…]सम्यग्वादिभिर्विगुण्यतः। […] पराजितः। कालयापनं=समययापनं, दुर्बलः=निर्बलः। सन्धिमन्विच्छेद् ॥ १११ ॥ सन्धिविचक्षणाः=पण्डिताः। इति=इत्थं। षोडशकं=षोडशविधं, सन्धिमाहुः ॥ ११६ ॥ समानदेः सन्धिः—कपालसन्धिः। सम्प्रदानात्—

[…] उपाय उससे बचने का नहीं है, तब आपत्ति में पड़ा हुआ राजा, समय बि[…] लिये, शत्रु से सन्धि करने की इच्छा करे ॥ १११ ॥

और ये सन्धि १६ प्रकार की होती हैं, जैसे—१ कपाल, २ उपहार, ३ सन्तान, ४ संगत, ५ उपन्यास, ६ प्रतीकार, ७ संयोग, ८ पुरुषान्तर, ९ अदृष्टनर, १० आदिष्ट, ११ आत्मादिष्ट, १२ उपग्रह, १३ परिक्रय, १४ उच्छिन्न, १५ परभूषण, १६ स्कन्धोपनेय। इस प्रकार सन्धि जाननेवाले विद्वानों ने षोडश १६ प्रकार की सन्धि कही है ॥ ११४-११६ ॥

अब इन सन्धियों के लक्षण भी क्रम से कहता हूँ—बराबर बलवालों की […]आपस में की गई सन्धि को 'कपालसन्धि' कहते हैं। और, उपहार आदि के द्वारा […] सन्धि (मिलाप) किया जाता है, उसे 'उपहारसन्धि' कहते हैं ॥ ११७ ॥

१. 'समन्वितः'।

(३) सन्तानसन्धिर्विज्ञेयो दारिकादानपूर्वकः ।
(४) सद्भिस्तु सङ्गतः सन्धिर्मैत्रीपूर्व उदाहृतः ॥ ११८ ॥
यावदायुःप्रमाणस्तु समानाऽर्थप्रयोजनः ।
सम्पत्तौ वा, विपत्तौ वा, कारणैर्यो न भिद्यते'.॥ ११९ ॥
सङ्गतः सन्धिरेवाऽयं प्रकृष्टत्वात्सुवर्णवत् ।
तथाऽन्यैः सन्धिकुशलैः 'काञ्चनः' 'समुदाहृतः ॥ १२० ॥
(५) 'आत्मकार्यस्य सिद्धिं तु समुद्दिश्य क्रियेत यः ।
स उपन्यासकुशलैरुपन्यास उदाहृतः ॥ १२१ ॥

(६) 'मयाऽस्योपकृतं पूर्वं, ममाप्येष करिष्यति'।
इति यः क्रियते सन्धिः प्रतीकारः स उच्यते' ॥ १२२ ॥
'उपकारं करोम्यस्य, ममाप्येष करिष्यति'।
अयं चाऽपि प्रतीकारो राम-सुग्रीवयोरिव ॥ १२३ ॥
(७) 'एकार्थां सम्यगुद्दिश्य यात्रां यत्र हि गच्छति।
सुसंहितप्रयाणस्तु' स च संयोग उच्यते' ॥ १२४ ॥
(८) 'आवयोर्योधमुख्यैस्तु मदर्थः साध्यता'मिति—
—यस्मिन्पणस्तु क्रियते, स सन्धिः पुरुषान्तरः' ॥ १२५ ॥

इति=इत्यभिप्रायेण ॥ १२२ ॥ अयम्=अयं सन्धिः,—रामसुग्रीवयोर्यथा—'प्रतीकार'-इत्युच्यते ॥ १२३ ॥

एकेति। एककार्योद्देशेन यात्रामुद्दिश्य यत्र [illegible]। सुसंहितयोः=स्वस्वकार्यनिर्देशेन मिलितयोः, प्रयाणं यात्रा [illegible]—सुसंहितप्रयाणः—सन्धिः संयोगाख्यः ॥ १२४ ॥

योधमुख्यैः=मुख्यवीरैः। मदर्थः=मत्कार्यम्। पणः=पणबन्धः (शर्तं) ॥१२५॥

और मैंने पहले इसके ऊपर उपकार किए हैं, इसलिए मेरे कार्य के अवसर पर यह भी मेरा उसी प्रकार उपकार करेगा',—इस अभिप्राय से जो सन्धि की जाती है, उसे 'प्रतीकारसन्धि' कहते हैं ॥ १२२ ॥

और मैं इस समय इसका उपकार करता हूँ, अतः यह भी आगे—समय पड़ने पर—कभी मेरा भी उपकार करेगा—इस आशय (विचार) से राम और सुग्रीव के समान परस्पर में की हुई सन्धि को भी कोई कोई 'प्रतीकारसन्धि' कहते हैं ॥१२३॥

और समान प्रयोजन सिद्ध करनेवाली दिशा (यात्रा, चढ़ाई) को लक्ष्य करके, जहाँ अच्छे प्रकार से मेल लेकर, चढ़ाई करने के लिए, मेल किया जाता है 'वह संयोगसन्धि' कहलाती है ॥ १२४ ॥

और तुम्हारे और हमारे दोनों के [illegible] द्वारा मिलकर इन दोनों

1. 'सुसंहितप्रयाणस्तु' पा०।

(९) 'त्वयैकेन मदीयोऽर्थः सम्प्रसाध्यस्त्वसा'विति-।
—यत्र शत्रुः पणं कुर्यात्सोऽदृष्टपुरुषः स्मृतः' ॥ १२६ ॥
(१०) 'यत्र भूम्येकदेशेन पणेन रिपुरूर्जितः।
सन्धीयते सन्धिविद्भिः, 'स चाऽऽदिष्ट उदाहृतः'।
(११) स्वसैन्येन तु सन्धानमात्माऽऽदिष्ट उदाहृतः।
(१२) क्रियते प्राणरक्षार्थं सर्वदानादुपग्रहः' ॥ १२८ ॥
(१३) 'कोशांशेनार्धकोशेन, सर्वकोशेन वा पुनः।
शिष्टस्य प्रतिरक्षार्थं, परिक्रय उदाहृतः' ॥ १२९ ॥

[illegible] पणं=[illegible] । पणं=[illegible] ॥ १२६ ॥ ऊर्जितः=बलवान् [illegible] ॥१२७॥ [illegible]—[illegible] [illegible] ॥१२८॥ [illegible]

[illegible] है,—'[illegible]' कहा जाता है ॥ १२५ ॥

और '[illegible]' [illegible] ([illegible]) सन्धि कहते हैं ॥ १२६ ॥

और जिसमें [illegible] (राज्य) का एक [illegible] देकर बलवान् शत्रु से [illegible] की जाती है, उसे सन्धि [illegible] '[illegible]' कहते हैं ॥ १२७ ॥

[illegible] '[illegible]' है । [illegible] के लिए [illegible] ([illegible]) देकर [illegible] सन्धि [illegible] '[illegible]' है ॥ १२८ ॥

और [illegible] के लिए [illegible], [illegible] है, उसको '[illegible]' कहते हैं ॥ १२९ ॥

१. '[illegible]' [illegible]

(१४) 'भुवां सारवतीनां तु दानादुच्छिन्न उच्यते ।
(१५) भूम्युत्थफलदानेन सर्वेण परभूषणः' ॥ १३० ॥
(१६) 'परिच्छिन्नं फलं यत्र प्रतिस्कन्धेन दीयते ।
स्कन्धोपनेयं तं प्राहुः सन्धिं सन्धिविचक्षणाः' ॥ १३१ ॥
(१-४) 'परस्परोपकारस्तु, मैत्री, सम्बन्धकस्तथा ।
उपहारश्च विज्ञेयाश्चत्वारश्चैव सन्धयः' ॥ १३२ ॥

...म् दत्वा केवलं सन्धारणं–कपालः ॥१२९॥ सारवतीनां=गुणवतीनां, भुवां=पृथ्वीनां, दानात्सन्धिः–उच्छिन्नः । भूम्युत्पन्नसमस्तफलदानात्–परभूषणः ॥१३०॥

परिच्छिन्नं=परिमितं । नियतम् । फलं–धनधान्यादिकम् । प्रतिस्कन्धेन=स्कन्धशः [illegible] ('किस्तबन्दी से' 'गन्धी से') । 'दीयते' इत्यत्र 'नीयते' इत्यपि पाठः ॥ १३१ ॥

अन्ये: षोडशभेदानुक्त्वा, संक्षेपेण सन्धेश्चातुर्विध्यं च दर्शयति–परस्परेति । परस्परोपकारः, मैत्री=मित्रता, सम्बन्धः=विवाहादिसम्बन्धः, उपहारः=धनादिकम् । [illegible] चतुर्विधा एव सन्धय इत्यर्थः ॥ १३२ ॥

और सारवती (अर्थात् रत्न, सुवर्ण, धन आदि से परिपूर्ण) पृथ्वी के देने से जो सन्धि हो, उसको 'उच्छिन्नसन्धि' कहते हैं। और भूमि से उत्पन्न सब समान, द्रव्य, रत्न सुवर्ण-धन-धान्यादि) के देने से जो सन्धि हो उसे 'परभूषण-सन्धि' कहते हैं ॥ १३० ॥

और परिच्छिन्न अर्थात् निश्चित [illegible] फल (धन आदि) कहीं किसी [illegible] से लिया जाकर दिया जाता है, उसे सन्धियों को जानने में कुशल लोग 'स्कन्धोपनेय सन्धि' कहते हैं ॥१३१॥

और संक्षेप में चार ही हैं—परस्पर में एक दूसरे का उपकार, मित्रता, सम्बन्ध और उपहार—ये चार ही प्रकार की सन्धियाँ होती हैं ॥ १३२ ॥

(१) 'एक एवोपहारस्तु 'सन्धिरेव मतो मम ।
उपहारविभेदास्तु' स [illegible] मैत्रविवर्जिताः ॥ १३३ ॥
'अभियोक्ता बलीयस्त्वादलब्ध्वा न निवर्तते ।
उपहारादृते तस्मात्सन्धिरन्यो न विद्यते' ॥ १३४ ॥

राजाऽऽह—'भवन्तो 'महान्तः, पण्डिताश्च । तदत्रास्माकं यथाकार्यमुपदिश्यताम्' । दूरदर्शी' ब्रूते–'आः ! किमेवमुच्यते ?—
'आधि-व्याधि-परीतापादद्य' श्वो वा विनाशिने ।
को हि नाम शरीराय धर्मापेतं समाचरेत्' ? ॥ १३५ ॥

अत्र कामन्दकाचार्यः [illegible]–एक एवेति । उपहारप्रधानत्वात्–उपहार एव एकः सन्धिरिति मम मतम् । यतो हि मैत्रसन्धिविभागाः सर्वे सन्धय उपहार-स्वरूपांशा एवेत्याशयः ॥ १३३ ॥ यतः–अभियोक्ता=आक्रमणकारी । निवि-[illegible]: । अलब्ध्वा=उपहारमप्राप्य । अतः–उपहारेणैव सन्धिर्नान्यदेति [illegible] ॥ १३४ ॥ यथाकार्यं=कार्यमनुरूप । आधिः=मानसी व्यथा ।

और हमारे (कामन्दकाचार्य) मत में तो एक उपहार सन्धि ही है, क्योंकि, सन्धी के जितने भी सन्धियों के भेद हैं, वे सब, एक मित्र सन्धि को छोड़कर, इस उपहारसन्धि के ही भेद हैं ॥ १३३ ॥

क्योंकि चढ़ाई करके आया हुआ शत्रु बलवान् होने के कारण से कुछ न कुछ लिये बिना लौटता नहीं है । उसे तो कुछ न कुछ देना ही पड़ता है । और देने से वह उपहार सन्धि ही कहलाता । इसलिए मैं तो जानता हूँ कि उपहार देने के सिवा दूसरी कोई सन्धि है ही नहीं ॥ १३४ ॥

राजा बोला कि आप लोग बड़े हैं और पण्डित हैं । अतः इस समय [illegible] — आः ! [illegible] कहते हैं ! ।

[illegible]

[illegible]

'जलान्तश्चन्द्रचपलं जीवितं खलु देहिनाम् ।
तथाविधमिति ज्ञात्वा शश्वत्कल्याणमाचरेत्' ॥ १३६ ॥

'वाताभ्रविभ्रममिदं वसुधाधिपत्य-
मापातमात्रमधुरो विषयोपभोगः ।
प्राणास्तृणाग्रजलबिन्दुसमानलोला,
धर्मः सखा परमहो ! परलोकयाने' ॥

सन्तानः = सन्तानः । अद्य वः = अचिरादेव । (आजकल में ही) । शरीराय = शरीरार्थम् । धर्मविरुद्धं = धर्मविरुद्धम् ॥ १३५ ॥ जलान्तश्चन्द्रचपलं = जलप्रतिबिम्बितचन्द्रवच्चञ्चलम् । जीवितं = जीवनम् । कल्याणं = शुभकर्म । शश्वत् = निरन्तरम् ॥ १३६ ॥ वाताभ्रविभ्रम = वातचालितघनवच्चपलमिदं [illegible] । वसुधाधिपत्यम् = भूमिस्वामित्वम् । आपातमात्रमधुरः = दर्शनमात्ररमणीयः । परिणामविरसः । (देखने मात्र को सुन्दर) । विषयोपभोगः = विषयास्वादः, कामोपभोगः । तृणाग्रस्थितजलबिन्दुसमचञ्चलाः प्राणाः । धर्म एव शाश्वत परलोकयात्रायां सहायभूतः ॥ १३७ ॥

(कुछ ही काल में) अवश्य नाश होने वाले इस शरीर के लिये, अर्थात् तुच्छ भोगों के लिये, कौन सज्जन पुरुष धर्म के विरुद्ध आचरण करेगा, अर्थात् कोई भी नहीं करेगा । अतः इसको धर्म का ही आचरण करना चाहिये ॥ १३५ ॥

और भी—जल के भीतर पड़ रहे चन्द्र के प्रतिबिम्ब की तरह ही शरीरधारियों का यह जीवन चञ्चल है । इसलिये ऐसा जान कर सदा कल्याण का ही आचरण करना चाहिये ॥ १३६ ॥

और भी—वायु के थपेड़ों से मारे हुये मेघों के समान ही यह राज्य ऐश्वर्य है । विषयों का उपभोग भी देखने मात्र में ही सुन्दर लगने वाला है, परिणाम में तो वह भी दुःखदायी ही है । और प्राण भी—तृण के अग्रभाग पर स्थित जलबिन्दु के समान चञ्चल हैं । अहो ! परलोक यात्रा में तो केवल एक धर्म ही सहायक है ॥१३७॥

'मृगतृष्णासमं वीक्ष्य संसारं क्षणभङ्गुरम् ।
सज्जनैः सङ्गतं कुर्याद्धर्माय च, सुखाय च' ॥ १३८ ॥

तन्मम संमतेन सदैव क्रियताम्' । यतः—

'अश्वमेधसहस्राणि, सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेवातिरिच्यते' ॥ १३९ ॥

अतः सत्याभिधानदिव्यपुरःसरमनयोर्भूपालयोः[१] काञ्चनाभिधानसन्धिर्विधीयताम्'। सर्वज्ञो ब्रूते—'एवमस्तु'। ततो राजहंसेन राज्ञा

मृगतृष्णासमं=मृगमरीचिकातुल्यम् । वीक्ष्य । क्षणभङ्गुरं=क्षणविनश्वरं च [illegible] ॥ १३८ ॥

[illegible]

[illegible]

१. [illegible]

वस्त्रालङ्कारोपहारैः स मन्त्री दूरदर्शी पूजितः प्रहृष्टमनाश्चक्रवाकं गृहीत्वा, [1]राज्ञो मयूरस्य संनिधानं गतः।

[2]तत्र चित्रवर्णेन राज्ञा सर्वज्ञो गृध्रवचनाद्बहुमानदानपुरःसरं सम्भावितस्तथाविधं सन्धिं स्वीकृत्य, राजहंससमीपं प्रस्थापितः।

दूरदर्शी ब्रूते—'देव! सिद्धं नः समीहितम्। इदानीं स्वस्थानमेव विन्ध्याचलं व्यावृत्य प्रतिगम्यताम्'।

अथ सर्वे स्वस्थानं प्राप्य, [3]मनोऽभिलषितं फलं प्राप्नुवन्निति।

विष्णुशर्मणोक्तम्—अपरं किं कथयामि, [4]तदुच्यताम्।'

राजपुत्रा ऊचुः—[5]'आर्य! 'तव [6]प्रसादात्सकलराज्यव्यवहाराङ्गं

दित्यर्थः। सम्भावितः=सम्मानपूर्वेण परितोषितः। 'सम्भावित' इति पाठे सत्कृत इत्यर्थः। समीहितम्=इष्टम्। विजयप्रीतिमथवाशान्तिरूपमभिलषितम्।

सकलराज्यव्यवहाराङ्गं = राजोचितसन्धिविग्रहादिसकलव्यवहारोपदेशसमर्पणीति यावत्। यद्वा-राज्यव्यवहाराङ्गभूतं सन्धिविग्रहादिकमित्यर्थः। (अपरं=और भी)।

राजहंस ने वस्त्र और गहने-रत्न आदि की भेंट देकर उस दूरदर्शी मन्त्री का सत्कार किया। और इस प्रकार वह दूरदर्शी मन्त्री प्रसन्नमन हो, चकवे को साथ लेकर, उस मयूर राजा के पास गया। उसी समय राजा चित्रवर्ण ने भी महामन्त्री गीध के कहने से काञ्चन नामक मैत्री संधि को मानकर, सोने का रत्न आदि दानपूर्वक बहुत सम्मान करके उसे वापिस राजहंस के पास भेज दिया। तब दूरदर्शी बोला कि—हे देव! हमारी इच्छा पूर्ण हो गई। अब अपने स्थान विन्ध्याचल को लौट चलिये। इसके अनन्तर वे सब अपने २ स्थान को पहुँच कर अपने मनोरथों के अनुसार ही अभीष्ट फलों (कीर्ति आदि) को प्राप्त करते हुये।

तब विष्णुशर्मा राजपुत्रों से बोले कि—हे राजपुत्रो! कहो, अब मैं तुम लोगों को और क्या सुनाऊँ? तब राजपुत्र बोले कि—'आपकी कृपा से राज्य के

१ 'मयूरस्य राज्ञः सन्निधौ'। २. 'तत्र'। ३ 'मनो' '[illegible]'। 'इत्यभवन् इति' पा०। ४ 'श्रूयताम्'। ५ आर्य! हर्षितम्। ६ '[illegible]'।

ज्ञातम् । ततः सुखिनो भूता वयम् ।'

विष्णुशर्मोवाच—'यद्यप्येवं तथाप्यपरमपीदमस्तु—

'सन्धिः सर्वमहीभुजां विजयिनामस्तु, प्रमोदः सदा,
सन्तः सन्तु निरापदः, सुकृतिनां कीर्तिश्चिरं वर्द्धताम्
नीतिर्वारविलासिनीव सततं वक्षःस्थले संस्थिता
वक्त्रं चुम्बतु मन्त्रिणामहरहर्भूयान्महानुत्सवः'॥१४०

अन्यच्चास्तु—

''प्रालेयाद्रेः सुतायाः प्रणयनिवसतिश्चन्द्रमौलिः स याव-
द्यावल्लक्ष्मीर्मुरारेर्जलद इव तडिन्मानसे विस्फुरन्ती ।
यावत्स्वर्णाचलोऽयं दवदहनसमो यस्य सूर्यः स्फुलिङ्ग-
स्तावन्नारायणेन प्रचरतु रचितः संग्रहोऽयं कथानाम्' ॥१४१

किञ्च—

'उर्वीमुद्दामसस्यां जनयतु विसृजन् वासवो वृष्टिमिष्टा-
मिष्टैस्त्रैविष्टपानां विदधतु विधिवत्प्रीणनं विप्रमुख्याः।
आकल्पान्तञ्च भूयात्समुपचितसुखः सङ्गमः सज्जनानां,
निश्शेषं यान्तु शान्तिं पिशुनजनगिरो दुर्जया वज्रलेपाः' ॥१४२॥

['सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्' ॥] ॥

उर्वीमिति। इष्टां वृष्टिं कुर्वन् इन्द्रः पृथिवीं सस्यपूर्णां करोतु। विप्रमुख्याः=ब्राह्मणादयः, इष्टैः=यज्ञैः, त्रिविष्टपानां=देवानाम्, प्रीणनं=तृप्तिं, विदधतु=कुर्वन्तु। सज्जनसङ्गमः कल्पान्तं यावत् सुखदः सुखान्वितो भूयात्। दुर्जया वज्रलेपसमाना दुष्टगिरः-निश्शेषं=समूलं, शान्तिं=प्रशमं, विनाशं, यान्तु=गच्छन्तु ॥ १४२ ॥

विराजमान हैं, और जब तक मेघों में बिजली के समान ही भगवान् के हृदय में लक्ष्मी निवास करती हैं, और जिसकी चिनगारी के समान यह सूर्य है, ऐसा दावानल के समान मेरुपर्वत जब तक स्थिर है, तब तक नारायण पण्डित का बनाया हुआ यह हितोपदेशनामक कथाओं का संग्रह पृथ्वी पर प्रचलित रहे और विद्वानों से आदर पाता रहे ॥ १४१ ॥

अपरञ्च—

श्रीमान्धवलचन्द्रोऽसौ जीयान्माण्डलिको रिपून् ।
येनाऽयं संग्रहो यत्नाल्लेखयित्वा प्रचारितः ॥ १४३ ॥

इति हितोपदेशे सन्धिर्नाम चतुर्थः कथासंग्रहः ।
समाप्तश्चाऽयं हितोपदेशः ।

माण्डलिकः = मण्डलस्वामी । [illegible] । धवलचन्द्रः = गुर्जर प्रदेशपो माण्डलिक-राजविशेष । जीयात् = जिवतात् ॥ १४३ ॥

इति श्रीपण्डितराज-[illegible]-
श्री[illegible] पौत्रेण, [illegible]प्रतिपादितपद्धत-
[illegible]-श्रीशिवनारायणशास्त्रिणां पुत्रेण,
[illegible]-श्री'राजलक्ष्मी'-गर्भसम्भूतेन,
[illegible]-श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिणा
विरचिता हितोपदेशाऽभिनवराज-
लक्ष्मी समाप्तिमगमत् ।